विषय-सूची

[गद्य-भाग]

[पद्य-भाग]

[प्रश्नोत्तर और व्याकरण खण्ड]

हिन्दी-गद्य का विकास और उसकी रूपरेखा

हिन्दी की खड़ी बोली मे गद्य का विकास आधुनिक युग की सबसे बड़ी विशेषता है। यद्यपि खड़ी बोली का जन्मस्थान मेरठ और उसके आस-पास के प्रदेश रहे हैं, किन्तु मुसलमानों का सम्पर्क प्राप्त कर यह धीरे-धीरे सारे देश में व्यवहृत होने लगी। प्रारम्भ में तो मुसलमानों ने यहाँ के कुछ प्रचलित शब्दों के रूप विकृत कर तथा फारसी और अरबी के कुछ शब्दों का समावेश कर इसे उर्दू-हिन्दी नाम से अभिहित किया; किन्तु बाद में चलकर उनकी प्रवृत्ति बदली। उसमें हिन्दी एवं संस्कृत के प्रचलित शब्दो का बहिष्कार तथा उनके स्थान पर फारसी और अरबी के शब्दों का प्रचुर समावेश होने लगा तथा हिन्दी के व्याकरण पर भी फारसी और अरबी के व्याकरण का रंग चढ़ाया जाने लगा। इस प्रकार 'उर्दू-हिन्दी' नाम में उर्दू शब्द जो भेदक के रूप मे था वह स्वयं भेद्य बन गया। इस अवस्था में इसके दो रूप हो गए, एक तो हिन्दी कहलाता रहा; दूसरा उर्दू के नाम से कहा जाने लगा। अँगरेजों की प्रेरणा से इसके तृतीय स्वरूप के निर्माण की भी चेष्टा हुई जिसमें हिन्दी और उर्दू दोनों के प्रचलित शब्दो को रखकर उसे हिन्दी के व्याकरण के अनुसार ही संघटित एवं अनुशासित किया गया। इस तीसरे रूप का नाम 'हिन्दुस्तानी' पड़ा। अतएव इस समय खड़ी बोली के तीन रूप हैं—(१) शुद्ध हिन्दी, जो साहित्य में व्यवहृत होती है तथा जो सारे राष्ट्र के व्यवहार के लिए राष्ट्र-भाषा के रूप मे संविधान-परिषद् द्वारा स्वीकृत हुई है। (२) उर्दू जिसका प्रचार मुसलमानों मे ही सर्वाधिक है और इसे पाकिस्तान की राष्ट्र-भाषा घोषित किया गया है। इसमें न केवल फारसी एवं अरबी के शब्दों की ही भरमार है, अपितु यह उसीके व्याकरण से भी अधिकाशतः

अनुशासित एवं प्रभावित है। हिन्दुओं के लिए यह सर्वथा दुर्बोध हो गई है। (२) हिन्दुस्तानी, जिसे हिन्दी-उर्दू की बेमेल खिचड़ी कह सकते हैं। इसके मूल में तो अँगरेजों की गहरी राजनीतिक चाल थी, किन्तु अँगरेजी-राज्य की समाप्ति के साथ इसका भी अस्तित्व लुप्त होता जा रहा है।

कुछ लोगों का यह विश्वास है कि खड़ी बोली गद्य के जन्मदाता लल्लू-लाल हैं। पर यह उनका भ्रम है। संवत् १६२० के लगभग अकबर के दरबारी कवि गंग भाट ने "चंद-छंद बरनन की महिमा" खड़ी बोली के गद्य में लिखा था। यह खड़ी बोली का सर्वप्रथम ग्रन्थ माना जाता है। खड़ी बोली के पद्य में अमीर खुसरो की पहेलियाँ और मुकरियाँ तथा कबीर की अटपटी वाणी में खड़ी बोली के पद्य की कुछ पंक्तियाँ, गंग के पहले की रचनाएँ अवश्य हैं, किन्तु गद्य में तो उसीकी कृति ही सर्वप्रथम मानी जायगी। गंग के बाद संवत् १६८० में जटमल ने गोरा-बादल की कहानी खड़ी बोली के गद्य में लिखी। इस प्रकार लल्लूलाल के पहले ही इसका आविर्भाव हो चुका था। उन्हें इसे आधुनिक रूप भी देनेवाला नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उनके और पहले का मुंशी सदासुख का किया हुआ भागवत का हिन्दी-अनुवाद सुखसागर वर्त्तमान है। मुंशी सदासुख के बाद इंशाअल्ला खाँ, लल्लूलालजी तथा सदल मिश्र की खड़ी बोली-गद्य की रचनाएँ आती हैं। इंशाअल्ला की रचना में तद्भव शब्दों की भरमार है। भाषा के सरल और रोचक होने पर भी उसके वाक्यों की रचना उर्दू ढंग की है। उसे हम हिन्दी का नमूना न मानकर उर्दू का पुराना नमूना मानें तो अधिक समीचीन होगा। इसी काल मे सदल मिश्र ने 'नासिकेतो-पाख्यान' लिखा। इसकी भाषा अधिक पुष्ट और सुन्दर है। लल्लूलाल के प्रेमसागर में पंडिताऊपन बहुत अधिक है। सदल मिश्र में यह बात नहीं है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि फोर्ट विलियम में डा० गिलक्रिस्ट की कृपा से इसे अँगरेजों का प्रोत्साहन मिला और लल्लूलाल ने अधिकृत रूप से इसके परिमार्जन और परिष्कार की परम्परा स्थापित की। इस प्रकार हिन्दी-गद्य के प्रथम प्रतिष्ठापकों में चार व्यक्तियों के नाम सहज ही लिये जा

सकते हैं—सदासुखलाल, इंशाअल्ला खाँ, सदल मिश्र और लल्लूलाल। इनमें भी सदासुखलाल ही अधिक सम्माननीय हैं; क्योंकि ये कुछ पहले हुए भी तथा इन्होंने अधिक साधु भाषा का व्यवहार भी किया है।

लल्लूलाल, सदासुखलाल आदि आचार्यों द्वारा खड़ी बोली के गद्य की प्राण-प्रतिष्ठा होने के बाद इसे हाथ पकड़कर उठाने और बढ़ाने का कार्य कुछ समय तक ईसाई पादरियों और आर्य-समाज के धर्म-प्रचारकों—स्वामी दयानन्द, पं० भीमसेन शर्मा आदि—ने किया। खड़ी-बोली का गद्यरूपी शिशु जैसे ही धरातल पर अवतीर्ण हुआ, वैसे ही मानों उर्दू रूपी पूतना उसके प्राण-शोषण के लिए विरोधी प्रचार का बवण्डर बाँधकर खड़ी हो गई। मुसलमानों ने अपना सांस्कृतिक एवं राजनैतिक प्रभुत्व बनाए रखने के लिए उर्दू को राज्य-भाषा निर्धारित कराने का प्रबल आन्दोलन शुरू किया। कूटनीति-विशारद अँगरेजों ने मुसलमानों को अपनी ओर मिलाकर देश में अखण्ड शासन करने के लिए उर्दू को ही राज्यभाषा स्वीकृत किया और सारे अदालती कामों में उसीका व्यवहार मान्य हुआ। हिन्दी-भाषा और देवनागरी लिपि गलियों में भटकने के लिए छोड़ दी गई। दूसरी ओर उन्होंने यह भी देखा कि देश में ईसाई धर्म के प्रचार के लिए यहाँ की सर्वसाधारण की भाषा हिन्दी में अपने धर्म-ग्रन्थों का अनुवाद एवं प्रकाशन ही श्रेयस्कर है। अतएव बाइबिल एवं अन्य ईसाई-धर्मग्रन्थों का अनुवाद साधु हिन्दी-गद्य में किया गया। इन अनुवादों की भाषा में न तो लल्लूलाल का ब्रज-भाषापन और न सदल मिश्र का पूर्वीपन है। इनमें खड़ी बोली के आगामी प्रसार का पूर्व आभास-सा था। इसी समय छापेखाने के आविष्कार ने इन ग्रन्थों के बहुसंख्यक प्रचार के साथ हिन्दी-गद्य के प्रसार में भी बड़ी सहायता की। ईसाई पादरियों की भाँति आर्य-समाज के जन्मदाता स्वा० दयानन्द एवं उनके अनुयायियों ने देशोत्थान की भावना से प्रेरित होकर अपने धर्म-ग्रन्थ शुद्ध हिन्दी के गद्य में लिखे। भारत के उत्तरी-पश्चिमी भागों—पंजाब आदि—में आर्य-समाज के प्रसार के साथ हिन्दी-गद्य का भी व्यापक प्रचार हुआ।

समस्त भारत पर एकच्छत्र शासन स्थापित कर लेने के बाद उसे सुदृढ़

और स्थायी बनाने के लिए शिक्षित कर्मचारी नियुक्त करने की चिन्ता अँगरेजों को हुई। शासन के छोटे-मोटे पदों पर काम करने के लिए लाखों की संख्या में सुदूर लन्दनवासी तो सुलभ नहीं थे, अतएव भारतवासियों को ही अपने ढंग पर सिखाने-पढ़ाने की आवश्यकता अँगरेजों को प्रतीत हुई। सरकार की ओर से अँगरेजी स्कूल खुले। मुसलमानों ने उर्दू के ही माध्यम से शिक्षा-संप्रदान का आन्दोलन बड़े जोरों से उठाया। एक मुसलमान फ्राँसीसी गार्सां दतासी ने साम्प्रदायिक मनोवृत्ति से उर्दू के आन्दोलन को पेरिस और लन्दन में अपने भाषणों एवं लेखों से बड़ी शक्ति प्रदान की। सर सैयद अहमद खाँ, जो उस समय अँगरेजों की नाक के बाल बने हुए थे, उर्दू को ही स्कूलों में शिक्षण-माध्यम बनाने में बहुत-कुछ सफल भी हुए। परन्तु सत्य का तिरस्कार बहुत दिनों तक नहीं किया जा सकता। अँगरेजों ने भी देवनागरी लिपि की सरलता और हिन्दी के देशव्यापी अस्तिव का अनुभव किया। इसी समय हिन्दी के पक्षपाती राजा शिवप्रसाद युक्तप्रान्त के स्कूलों के इन्सपेक्टर नियुक्त हुए। उनके प्रयास से देवनागरी लिपि स्वीकार की गई तथा युक्त-प्रान्त के स्कूलों में हिन्दी को स्थान मिला। स्कूलों में पढ़ाने के लिए राजा साहब ने कई पुस्तकें लिखीं जिनमें उनका 'गुटका' बहुत प्रसिद्ध है। राजा शिवप्रसाद की लिखी हुई कुछ ही पुस्तकों में अच्छी हिन्दी है; क्योंकि उन्हें समय और नीति के विचार से अपनी अनेक पुस्तकों मे देवनागरी लिपि में अरबी-फारसी-प्रधान हिन्दी लिखनी पड़ी। फिर भी देवनागरी लिपि को शिक्षण-संस्थाओं में प्रविष्ट कराकर उन्होंने हिन्दी की बड़ी सेवा की। इसी समय के लगभग हिन्दी में संस्कृत के शकुन्तला आदि नाटकों का अनुवाद करनेवाले राजा लक्ष्मण सिंह हुए। इनकी रचनाओं में शुद्ध संस्कृत-विशिष्ट खड़ी बोली प्रयुक्त हुई है। दोनों राजा साहबों ने अपने समय में अपने-अपने ढंग से हिन्दी का महान् उपकार किया, यह सर्वथा निर्विवाद है।

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का पदार्पण उसके इतिहास की एक महान् घटना है। उनकी बहुमुखी प्रतिभा के आलोक में खड़ी-बोली के गद्य का रूप निखर उठा। हिन्दी-गद्य-साहित्य के विविध अंग—नाटक, निबंध,

उपन्यास, आख्यायिका आदि उनके तथा उनके सहयोगियों के प्रयास से अंकुरित हो उठे। एक ओर तो उन्होंने खड़ी बोली के गद्य पर से प्रादेशिक एवं विदेशी प्रभावों की धूल झाड़कर उसका परिमार्जित एवं परिष्कृत रूप जनता के सामने रखा तथा दूसरी ओर उन्होंने सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य को शृंगार की संकीर्ण गलियों से निकालकर मानव-जीवन की विस्तृत भाव-भूमि पर खड़ा किया। उनकी कविता और नाटकों में देश-प्रेम के भावों का प्रादुर्भाव हुआ। पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं। 'हरिश्चन्द्र-मैगजीन' और 'हरिश्चन्द्र-पत्रिका' भारतेन्दुजी के पत्र थे। उन्होंने बँगला तथा संस्कृत के नाटकों का अनुवाद किया और कुछ मौलिक नाटक भी लिखे। छोटे-छोटे निबंध भी लिखे गए। नाट्य-कला पर भारतेन्दुजी ने स्वयं एक बड़ा तथ्यपूर्ण आलोचनात्मक लेख लिखा। भारतेन्दु की प्रतिभा एवं आर्थिक सहयोग से प्रेरित होकर उनके समय में ही उच्चकोटि के लेखकों का एक दल खड़ा हो गया। भारतेन्दु के समकालीनों में पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० बदरीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहन सिंह, श्रीनिवासदास, राधाकृष्ण दास, राय देवीप्रसाद पूर्ण आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन महानुभावों ने भारतेन्दु-काल में ही सुन्दर-सुन्दर निबंध, नाटक, उपन्यास, आख्यायिका आदि लिखकर खड़ी बोली के गद्य को सभी ओर से सशक्त किया और उसे अपने पैरों पर साधिकार खड़ा होने की क्षमता प्रदान की। इसमें संदेह नहीं कि गद्य के विभिन्न अंगों को लेकर बड़े ही उत्साहपूर्वक उनमें रचनाएँ करनेवाले हिन्दी के ये उन्नायक बड़े ही शुभ अवसर पर अवतीर्ण हुए थे। देशप्रेम और जातिप्रेम की भावनाओं को लेकर साहित्य-क्षेत्र में आने के कारण इनकी रचनाएँ सर्वत्र समादृत हुईं।

भारतेन्दु के अस्त होते ही हिन्दी-साहित्य की गति फिर रुकती हुई प्रतीत हुई। उनके समकालीन ही उनके बाद भी कुछ रचनाएँ करते रहे। नये लेखकों का प्रादुर्भाव नहीं हो रहा था। भारतेन्दु के बाद उनके फुफेरे भाई राधाकृष्ण दास और बाबू श्यामसुन्दर दास आदि के उद्योग से काशी में नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई तथा उसके तत्त्वावधान में 'सरस्वती'

पत्रिका प्रकाशित हुई। इस सभा और पत्रिका द्वारा हिन्दी के प्रचार और पोषण में बड़ी सहायता मिली। सभा ने तो हिन्दी के बहुसंख्यक प्राचीन ग्रन्थों का शोध करवाकर उन्हें प्रकाशित किया। 'सरस्वती' आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के हाथों में आकर नये लेखकों को प्रोत्साहित करते हुए उन्हें साहित्य-क्षेत्र मे लाने में तथा भाषा को व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध और व्यवस्थित बनाकर उसे सर्वसाधारण के लिए सुबोध बनाने में तत्पर हुई। भारतेन्दु ने साहित्य का जो मार्ग प्रदर्शित किया, द्विवेदीजी ने उसे प्रशस्त कर प्रौढ़ता प्रदान की।

द्विवेदीजी की प्रेरणा से अनेक कवि और लेखक प्रादुर्भूत हुए। उन्होंने खड़ी बोली के गद्य को ही व्याकरण की दृष्टि से सँवारकर सुव्यवस्थित नहीं किया; वरन् उसमें पद्य रचना का भी सूत्रपात किया। इस प्रकार उन्होंने भारतेन्दु के अधूरे कार्य को पूरा किया। भारतेन्दु ने खड़ी बोली के गद्य को अपनाया था। वे पद्य-रचना तो व्रजभाषा में ही करते थे। द्विवेदीजी ने ही खड़ी बोली में पद्यरचना कर दूसरों को भी उसका अनुकरण करने की प्रेरणा दी और उसे पद्यरचना के लिए भी सर्वथा उपयुक्त ठहराया। द्विवेदी-युग में साहित्य के सभी अंगों का सुचारु रूप से प्रणयन खड़ी बोली में होने लगा था और उसके वर्तमान बहुमुखी उत्कर्ष का प्रारम्भिक रूप सुस्पष्ट हो गया था। आज खड़ी बोली में साहित्य के सभी अंगों—नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना, कविता आदि—के उत्तमोत्तम उच्चकोटि के ग्रन्थ उपलब्ध हैं। किंतु आरम्भकाल में साहित्य के सपूतों को प्रत्येक अंग की रचना में जिस प्रकार प्रगति करनी पड़ी, उसका भी इतिहास बड़ा रोचक है। यहाँ पर खड़ी-बोली-गद्य मे साहित्य के विविध अंगों के क्रमिक विकास का संक्षिप्त परिचय देना अनुपयुक्त न होगा।

नाटक—खड़ी-बोली के आधुनिक गद्य की प्रथम झाँकी हमें भारतेन्दु के नाटकों में ही प्राप्त हुई। भारतेन्दु ने अपने बंगाल-भ्रमण के उपरान्त बँगला के नाटकों का अनुवाद किया और कतिपय मौलिक नाटकों की रचना की। उनके मौलिक नाटक हैं—वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, चन्द्रावली,

विषस्य विषमौषधम्, भारतदुर्दशा, नीलदेवी, अंधेर नगरी, प्रेमजोगिनी और सती-प्रताप (अधूरा)। भारतेन्दु ने बँगला और संस्कृत के कई नाटकों के अनुवाद किए, जिनमें विद्यासुन्दर, पाखंडविडंबन, धनंजय-विजय, कर्पूरमंजरी, मुद्राराक्षस, सत्यहरिश्चन्द्र और भारत-जननी सुविख्यात हैं। उन्होंने अपने नाटकों में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से सामग्री ली तथा रचना-शैली में उन्होंने मध्यम मार्ग ग्रहण किया। न तो उन्होंने बँगला के नाटकों की भाँति अँगरेजी नाटकों का सर्वाङ्ग अनुकरण किया और न प्राचीन नाट्यशास्त्र की जटिलता में ही अपने को फँसाया। भारतेन्दु के समकालीनों ने भी नाटक-रचना में उनका हाथ बँटाया। लाला श्रीनिवास दास के 'रणधीर-प्रेममोहिनी', 'संयोगिता-स्वयंवर' आदि नाटक तथा राधाकृष्णदास का 'महाराणा प्रताप' नाटक चाहे अभिनेय न हों, पर वे साहित्यिक दृष्टि से उत्तम ही माने जायँगे। इसी समय पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'भारत-सौभाग्य' नाटक लिखा जो बहुत बड़ा होने पर भी साहित्यिक दृष्टि से सुन्दर ही कहा जायगा। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' का 'चन्द्रकला-भानकुमार' नाटक गद्य-काव्य की शैली मे लिखी गई सुन्दर कृति है।

भारतेन्दु के पश्चात् नाटकों की ओर प्रवृत्ति बहुत कम हो गई। उच्च कोटि के मौलिक नाटकों के स्थान पर बँगला, संस्कृत और अँगरेजी के नाटको के अनुवाद प्रचुर परिमाण में होने लगे। बंगीय नाटकों के अनुवादकों में रामकृष्ण वर्मा, गोपालराम गहमरी तथा पं० रूपनारायण पांडेय अधिक विख्यात हुए। इन लोगों ने दर्जनों बँगला के नाटकों का अनुवाद किया। जयपुर के पुरोहित गोपीनाथ ने 'प्रेमलीला' के नाम से शेक्सपियर के 'रोमियो-जुलियट' का अनुवाद किया तथा 'ऐज यू लाइक इट' और 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' का भी अनुवाद उन्होंने हिन्दी में किया। पं० मथुराप्रसाद चौधरी ने 'मेकबेथ' का अनुवाद 'साहसेन्द्र-साहस' के नाम से प्रस्तुत किया। हैमलेट का भी अनुवाद 'जयंत' के नाम से प्रकाशित हुआ।

लाला सीताराम बी० ए०, पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र और सत्यनारायण

कविरत्न ने संस्कृत के प्रायः सभी उच्चकोटि के नाटकों का अनुवाद कर डाला। संस्कृत के पद्यों के अनुवादों में खड़ी बोली को तो नहीं अपनाया जा सका, पर उनका संस्कृत गद्य-भाग बहुत ही सुन्दर हिन्दी गद्य में अनूदित हुआ जो कि मौलिक ग्रन्थों के सर्वथा अनुरूप है। उनमें संस्कृत की क्लिष्टता और दुर्बोधता के स्थान पर हिन्दी की सरलता और सुबोधता के ही दर्शन हमें होते हैं।

भारतेंदु के पश्चात् अनुवादों के अतिरिक्त मौलिक नाटकों के आलेखन का भी प्रयास हुआ। इनमें से कुछ तो पारसी कम्पनियों के अभिनय-मंचों के लिए लिखे गए और कुछ साहित्य-विधान को दृष्टि में रखकर प्रणीत हुए। पारसी रंग-मंचों के लिए नाटक लिखनेवालों में नारायण प्रसाद 'बेताब', हरिकृष्ण जौहर और राधेश्याम 'कथावाचक' के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में मंच की अनुकूलता तो पर्याप्त थी, पर भाषा, भाव एवं चरित्र-चित्रण आदि की दृष्टि से इनका साहित्यिक मूल्य नगण्य ही था। साहित्यिक नाटकों की रचना में पं० किशोरीलाल गोस्वामी, अयोध्या सिंह उपाध्याय, ज्वालाप्रसाद मिश्र, बा० शिवनन्दन सहाय आदि ने हाथ बँटाया, पर वे अधिक सफल नहीं हो सके। कुछ आगे चलकर प० गोविन्दवल्लभ पंत, पं० बदरीनाथ भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी और श्री जयशंकर 'प्रसाद' को इसमें विशेष सफलता मिली और इनके नाटक हिन्दी-साहित्य में जगमगा उठे। पंतजी का 'वरमाला' नाटक हिन्दी-नाटकों मे सुविख्यात हो चुका है। भट्टजी के नाटकों में व्यंग-विनोद के साथ सरस कथोपकथन, शुद्ध भाषा एव रोचक कथानक हैं जिनसे उनमें साहित्यिकता एवं रोचकता पर्याप्त मात्रा में है। आधुनिक नाटककारों में जयशंकर प्रसाद और हरिकृष्ण प्रेमी का बहुत ऊँचा स्थान है। दोनों ने ही अपने नाटको की कथावस्तु प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय इतिहास के पृष्ठों से ली है। 'प्रसादजी' प्राचीनता की ओर झुके तो 'प्रेमीजी' मध्यकालीन इतिहास की ओर उन्मुख हुए। 'प्रसादजी' ने आठ-नौ नाटक लिखे जिनमें उनके 'चन्द्रगुप्त', 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' और 'कामना' अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। 'प्रेमीजी' द्वारा लिखित 'शिव-साधना' और

'रक्षाबंधन' में मध्यकालीन भारत की सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं सामाजिक अवस्थाओं का सफल नाटकीय निदर्शन है। 'प्रसादजी' के नाटक प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं आदर्शों का सफल नाटकीय सविधान कर सकने के कारण हिन्दी में सर्वोत्कृष्ट स्थान पा चुके हैं। निस्सन्देह वे हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार हैं।

इन महानुभावों के अतिरिक्त भी कुछ और नाटककार हुए, जैसे—पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र, जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद, पं० चतुरसेन शास्त्री आदि; पर इन्हें इस क्षेत्र में 'प्रसाद' के समान सफलता और श्रेय नहीं मिल सका। इनकी रचनाओं में पाश्चात्य नाट्यकला का इतना गहरा प्रभाव है कि उनका भारतीय रूप बहुत कुछ दब-सा गया है।

वर्त्तमान समय में चलचित्र के व्यापक प्रचार ने साहित्य के इस विशिष्ट अंग के विकास की प्रगति एकदम रोक-सी दी है। इधर एकांकी नाटकों की रचना की ओर साहित्यिक विशेष प्रयत्नशील दिखाई पड़ते हैं। एकांकी नाटककारों में डॉ० रामकुमार वर्मा, से० गोविंद दास, उदयशंकर भट्ट, जगदीशचन्द्र माथुर तथा प्रो० अर्जुन चौबे काश्यप को विशेष सफलता मिली है। इनके नाटकों में उच्चकोटि की साहित्यिकता के साथ ही अभिनेयता का सुन्दर समन्वय है।

उपन्यास—नाटकों के समान ही हिंदी में उपन्यास-आलेखन का श्रीगणेश भी भारतेन्दु-काल में ही हुआ। भारतेन्दुजी के समकालीन लाला श्रीनिवासदास ने हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास 'परीक्षागुरु' लिखा। इसके बाद देवकीनन्दन खत्री-लिखित अय्यारी के मनोरजक उपन्यास—'चन्द्रकांता-संतति' का नाम आता है। चामत्कारिक वर्णन की रोचकता के कारण इसका प्रचार आशातीत परिमाण में हुआ। हजारों उर्दूदाँ लोगों ने इसे पढ़ने के लिए ही हिन्दी सीखी। सचमुच, इस उपन्यास ने हिन्दी-प्रचार में अभूतपूर्व योग दिया। इसके अनन्तर जासूसी उपन्यासों का युग आया और गोपालराम गहमरीजी विशेष विख्यात हुए। इनके उपन्यासों में घटनाओं का आकर्षण तो विशेष रहता है, पर न तो उनमें चरित्र-चित्रण है और न उनकी भाषा ही साहित्यिक है। इसीके आसपास बँगला के कुछ अच्छे सामा-

जिक उपन्यासों के अनुवादों की ओर भी लोग प्रवृत्त हुए जिससे हिन्दी में भी मौलिक सामाजिक उपन्यास लिखने की प्रेरणा लोगों को मिली। पंडित किशोरीलाल गोस्वामी ने लगभग साठ-पैंसठ उपन्यास लिख डाले। इनके अधिकांश उपन्यास सामाजिक होते हुए भी घटना-प्रधान हैं तथा उनमें श्रेष्ठ चरित्र-विधान के स्थान पर अश्लीलता ही विशेष है जिससे उनका साहित्यिक मूल्य बहुत कम हो गया है।

साहित्य-क्षेत्र में स्वर्गीय मुंशी प्रेमचन्द के पदार्पण करते ही उपन्यास-जगत् मे मानों एक नये युग का आविर्भाव हो गया। हिन्दी-संसार में उनके सर्वप्रथम सामाजिक उपन्यास 'सेवासदन' का ही महान् स्वागत किया गया और 'प्रेमाश्रम' के प्रकाशित होते ही वे हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार घोषित हो गये। उन्होंने दर्जनों उपन्यास और सैकड़ों कहानियाँ लिखीं जिनमें देहातों से लेकर शहरों तक के सामाजिक जीवन के विविध प्रसंगों का मार्मिक प्रत्यक्षीकरण कराया गया। रंगभूमि, कायाकल्प, गबन, गोदान आदि इनके सभी उपन्यासों का आदर केवल सारे भारत में ही नहीं हुआ, वरन् कुछेक के अनुवाद विदेशी भाषाओं में भी हुए। उनके उपन्यासों में देहाती जीवन का सविस्तार चित्रण हुआ तथा कृषक और मजदूर-जीवन का बड़ा ही सजीव वर्णन उनमें उपस्थित किया गया। उनके उपन्यासों में यथार्थवाद और आदर्शवाद का समन्वय होने से उनका साहित्यिक महत्त्व बहुत बढ़ गया। इसके साथ ही उनकी समस्त रचनाओं में जिस मुहावरेदार एवं चलती हुई सजीव भाषा का प्रयोग किया गया उससे उनकी लोकप्रियता बहुत बढ़ गई। वे निस्सन्देह उपन्यास-जगत् के सम्राट् ही थे।

जयशंकर 'प्रसाद' ने अनेक नाटकों के लिखने के अतिरिक्त तीन उपन्यास—'कंकाल', 'तितली' और 'इरावती' (अधूरा)—भी लिखे। संख्या में कम होते हुए भी कला की दृष्टि से ये उपन्यास भी हिन्दी में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। 'कंकाल' यदि यथार्थवाद का सफल प्रतिनिधित्व करता है, तो 'तितली' आदर्शवाद का मंजुल रूप हमारे सामने प्रस्तुत करता है। 'इरावती' अपूर्ण रहने पर भी हिन्दी का बेजोड़ मौलिक ऐतिहासिक उपन्यास है।

प्रेमचंद और 'प्रसाद' के बाद तो हिन्दी में सैकड़ों उपन्यास लिखे गए। राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, भगवतीचरण वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा, किशोरीदास वाजपेयी आदि वर्त्तमान काल के लब्धप्रतिष्ठ उपन्यासकार हैं।

आख्यायिका—हिन्दी में कहानी-आलेखन भारतेन्दु के कुछ बाद तो अवश्य प्रारंभ हुआ, पर लोकरुचि को अपनी ओर आकर्षित करने में कहानियाँ इतनी अधिक सफल हुईं कि आज दिन भी हिन्दी-क्षेत्र में उन्हीं की सर्वाधिक प्रधानता एवं प्रचार है। कुछ लोग तो सन् १९१० में प्रकाशित 'प्रसादजी' की 'ग्राम' शीर्षक कहानी को ही हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी मानते हैं; पर आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के कथनानुसार वंग-महिला द्वारा लिखित 'दुलाईवाली' कहानी हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी है। किंतु इस कहानी के पूर्व ही पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी एक मौलिक कहानी—'ग्यारह वर्ष' लिखा था जिसे ही हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी मानना चाहिए। शुक्लजी तो कहानी-क्षेत्र को छोड़कर आलोचना-क्षेत्र में चले गए, पर 'प्रसादजी' ने दर्जनों उत्तमोत्तम भावात्मक कहानियाँ लिखीं जिनमें 'आकाशदीप', 'स्वर्ण के खँडहर', 'बिसाती', 'प्रतिध्वनि', 'छाया', 'इन्द्रजाल' आदि बहुत प्रसिद्ध हैं। नाटकों और उपन्यासों की भाँति 'प्रसादजी' को कहानियाँ लिखने में भी अपूर्व सफलता मिली।

इन कहानियों को लोगों ने बहुत पसन्द किया। धीरे-धीरे सभी पत्र-पत्रिकाओं में कहानियाँ धड़ल्ले के साथ निकलने लगीं। कहानियों के प्रथम उत्थान-युग में ही जी० पी० श्रीवास्तव, पं० विशम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', मुन्शी प्रेमचन्द, राजा राधिकारमण सिंह, चतुरसेन शास्त्री, ज्वालादत्त शर्मा, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' आदि सफल कहानीकार के रूप में प्रगट हुए। जी० पी० श्रीवास्तव तो प्रहसन के क्षेत्र में चले गए, पर अन्य सभी ने उत्तमोत्तम कहानियाँ लिखकर हिन्दी के कहानी-भांडार की श्रीवृद्धि की। इसी समय के लगभग पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की अद्वितीय कहानी 'उसने कहा था' प्रकाशित हुई, जो हिन्दी की ही नहीं, संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में गिनी जाती है।

इसमें यथार्थवाद के बीच संयत प्रेम का ऐसा मंजुल रूप प्रस्तुत किया गया है जो अन्यत्र दुर्लभ है।

हिन्दी में कहानी-लेखन की परम्परा संस्कृत साहित्य से गृहीत न होकर अँगरेजी साहित्य के अनुकरण पर ही हुई। विषय में वे भारतीय चाहे भले ही हों, पर उनका आकार-प्रकार अँगरेजी की कहानियों के ढंग पर हुआ। हिन्दी में अबतक हजारों कहानियाँ लिखी जा चुकी हैं, पर उनका वस्तुदृष्टि से वर्गीकरण करने पर चार ही पाँच वर्गों मे अधिकांश कहानियाँ आ जाती हैं। इनमें से पहला वर्ग चरित्र-प्रधान कहानियों का है जिनका उद्देश्य किसी चरित्र का सुन्दर चित्रण होता है। चरित्र-प्रधान कहानियों के सर्वश्रेष्ठ लेखक प्रेमचन्दजी हैं। उनकी 'आत्माराम', 'बूढ़ी काकी', 'सारंधा' आदि बीसियों चरित्र-प्रधान उत्कृष्ट कोटि की कहानियाँ हैं। वातावरण-प्रधान कहानी दूसरा वर्ग है। ऐसी कहानियों में किसी एक मुख्य भावना का प्राधान्य रखा जाता है। वातावरण-प्रधान कहानी के सर्वश्रेष्ठ लेखक 'प्रसाद', 'सुदर्शन', 'गोविन्दवल्लभ पंत' आदि हैं। राजा राधिकारमण सिंह की 'कानों में कँगना', 'बिजली' आदि इसी वर्ग की कहानियाँ हैं। 'कथानक-प्रधान कहानी' तीसरा एवं साधारण वर्ग है। विश्वम्भरनाथ शर्मा इस प्रकार के कहानी-लेखकों में सर्वश्रेष्ठ हैं। 'कार्य-प्रधान कहानी' चौथा वर्ग है। इस प्रकार की कहानियों मे सबसे अधिक जोर कार्य पर दिया जाता है। जासूसी और ऐय्यारी की कहानियाँ इसी वर्ग के अन्तर्गत आती हैं। दुर्गा प्रसाद खत्री और गोपालराम गहमरी की कहानियाँ इसी वर्ग की हैं। इन चार वर्गों के अतिरिक्त अनेक वे कहानियाँ हैं जो हास्यपूर्ण, ऐतिहासिक, प्रकृतवादी और प्रतीकवादी हैं। जी० पी० श्रीवास्तव हास्यपूर्ण कहानियाँ लिखने में सिद्धहस्त हैं। वृन्दावनलाल वर्मा ऐतिहासिक कहानियाँ लिखने में सुविख्यात हो चुके हैं। बेचन शर्मा 'उग्र' तथा चतुरसेन शास्त्री ने प्रकृतवादी (Naturalist) कहानियाँ लिखीं जिनमें समाज-सुधार का उद्देश्य रखकर मानवता की लज्जाप्रद और घृणास्पद बातें कलात्मक सौन्दर्य के साथ चित्रित की गई हैं। प्रतीकवादी नाटकों के समान प्रतीकवादी

कहानियाँ हिन्दी में बहुत कम हैं। 'प्रसाद' की कहानी 'कला' और राय-कृष्णदास की कहानी—'कला और कृत्रिमता'—इस कोटि की कहानियों के सुन्दर उदाहरण हैं।

शैली के ढंग पर भी कहानियों को कई वर्गों में बाँट सकते हैं। पहला वर्ग वर्णनात्मक शैली की कहानियों का है। इसमें लेखक एक तीसरे मनुष्य की भाँति कहानी का याथातथ्य वर्णन करता है। 'प्रसाद' और 'प्रेमचन्द' की अधिकांश कहानियाँ इसी शैली में हैं। कहानी की दूसरी शैली—संलाप-शैली (Conversatical style) है, जिसमें कहानी की कथा और चरित्र संलापों के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। विश्वम्भरनाथ शर्मा इस शैली के सर्वश्रेष्ठ लेखक थे। कहानी की तीसरी शैली आत्मचरित्र-शैली (Autobiographical style) है, जिसमें कहानी का कोई पात्र सारी कहानी उत्तम पुरुष में कहता है। सुदर्शन-रचित 'अँधेरी दुनिया' में रजनी सारी कहानी उत्तम पुरुष (मैं) में कहती है। कहानी की एक अन्य शैली पत्र-शैली है जिसमे सारी कहानी पत्रो द्वारा कही जाती है। सुदर्शन-रचित 'बलिदान' कहानी इसी शैली में है। हिन्दी में इस शैली की कहानियाँ बहुत कम संख्या मे हैं।

हिन्दी में कहानी-लेखन का प्रारम्भ चाहे जब हुआ हो, किंतु उसका साहित्यिक रूप सरस्वती के प्रकाशन के साथ ही प्रकट हुआ। इसका विकास बहुत द्रुत गति से हुआ। और, बहुत थोड़े ही समय में इसमें 'प्रसाद', 'प्रेमचन्द' और 'सुदर्शन'-जैसे महान् कलाकारों का आविर्भाव हुआ। 'प्रसाद' और 'प्रेमचन्द' अपने उपन्यासों से ज्यादा कहानियों में सफल हुए। वर्त्तमान समय में भी जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा आदि उच्चकोटि के कहानीकार अपनी रचनाओं से हिन्दी-कहानी-साहित्य की गौरव-वृद्धि कर रहे हैं।

निबंध—हिन्दी में निबंध-रचना सर्वथा आधुनिक है। संस्कृत-साहित्य में इसकी कोई परम्परा नहीं प्राप्त होती। भारतेन्दु ने नाटकों की भाँति निबंध-रचना का भी सूत्रपात किया। 'भारतेन्दु' का 'अद्भुत अपूर्व स्वप्न'-शीर्षक निबंध हिंदी के प्रारम्भिक निबन्धों का एक आदर्श नमूना है। भारतेन्दु

के समकालीनों ने भी निबन्ध-रचना में उत्साहपूर्ण योग दिया। पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुंद गुप्त, ठाकुर जगमोहन सिंह, पं० अम्बिकादत्त व्यास आदि ने दर्जनों उत्तमोत्तम निबंध लिखे। ये लोग अधिकांश में साहित्यिक, सामाजिक तथा कुछ अन्य विशेष विषयों पर ही निबंध लिखते थे। पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'कवि और चितेरे की डॉड़ा-मेड़ी', 'मुग्ध-माधुरी', 'संसार महानाट्यशाला', 'चन्द्रोदय' और 'आँसू' इत्यादि पर निबंध लिखे। प्रतापनारायण ने जीवन के सामान्य विषयों पर बड़ी चुलबुली भाषा में मनोरंजक निबंध लिखे—जैसे 'बुढ़ापा', 'माँ', 'होली', 'आप' इत्यादि। इनके निबन्धों में जीवन का सर्वाङ्गीण पक्ष न था। किन्तु उस आरम्भिक युग में निबंधों के क्षेत्र में इतना भी बहुत हुआ।

द्विवेदी-युग से 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ निबंध-रचना का दूसरा युग प्रारम्भ होता है। जीवन के विविध अंगों पर निबंध लिखे जाने लगे। माधव मिश्र ने 'श्रीपंचमी', 'रामलीला', 'व्यासपूजा' आदि पर निबंध लिखे तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल ने मनोवैज्ञानिक एवं साहित्यिक गंभीर निबन्धों की परम्परा स्थापित की। शुक्लजी ने क्रोध, श्रद्धा, ग्लानि, करुणा इत्यादि मनोभावों पर तथा 'कविता', 'साहित्य क्या है?' इत्यादि गंभीर साहित्यिक विषयों पर बड़े तथ्यपूर्ण निबंध लिखे। द्विवेदी-युग में और भी कई अच्छे-अच्छे लेखक निबन्ध-क्षेत्र में आये। उनमें से प्रमुख ये हैं—कृष्णबलदेव वर्मा, केशवप्रसाद सिंह, चतुर्भुज औदीच्य, यशोदानन्द अखौरी, सरदार पूर्ण सिंह, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी और महेन्दुलाल गर्ग। इन लोगों ने सभी प्रकार के सामान्य और विशेष विषयों पर निबंध लिखे। अखौरीजी का 'इत्यादि की आत्मकहानी', केशवप्रसाद सिंह का 'आपत्तियों का पहाड़', सरदार पूर्ण सिंह का 'मजदूरी और प्रेम', गुलेरीजी का 'कछुआ-धर्म' और द्विवेदीजी का 'गोपियों की भगवद्भक्ति' शीर्षक निबन्ध विशेष लोकप्रिय हुआ। खेद है कि आगे चलकर निबंध-रचना की ओर साहित्यिकों का उत्साह शिथिल पड़ गया और अब इस ओर विरले साहित्यिक की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

किसी भी निबंध में भाषा की स्वच्छंद अबाधगति और शैली की विशिष्टता के साथ लेखक के व्यक्तित्व की अत्यन्त गहरी एवं सजीव छाप होती है। इसके स्वरूप की कोई निश्चित व्याख्या नहीं की जा सकती। कभी यह आत्मकथा के रूप में होता है; जैसे अखौरीजी की 'इत्यादि की आत्म-कहानी', कभी वह वक्तृता के रूप में और कभी नाटकीय संभाषण के रूप में। किंतु इनके विविध रूपों को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) पुस्तकों के रूप में—जैसे, पं० रामचन्द्र शुक्ल का 'आदर्श जीवन', (२) पुस्तकों की प्रस्तावना के रूप में—जैसे, निराला की 'परिमल' की प्रस्तावना या पंत ने 'पल्लव' का प्रवेश लिखा; (३) छोटे पैम्पलेटों के रूप में जिनका मुख्य उद्देश्य साधारणतः प्रचार होता है और आर्यसमाज-जैसी सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं द्वारा जो प्रकाशित होती हैं; (४) मासिक, पाक्षिक अथवा साप्ताहिक पत्रों में लेखों के रूप में। शैली के दृष्टिकोण से हिन्दी के निबंधों को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—(१) कथात्मक अथवा आख्यानात्मक, (२) वर्णनात्मक और (३) चिन्तनात्मक। कथात्मक निबंधों के अन्तर्गत भी तीन भेद हो सकते हैं। कुछ निबंध स्वप्नों की कथा के रूप में, जैसे—भारतेन्दु का 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न', कुछ आत्मचरितों के रूप में, जैसे—'इत्यादि की आत्मकहानी' तथा कुछ कहानी-शैली के निबंध हैं, जैसे—'राजकुमारी हिमांगिनी'।

वर्णनात्मक-निबंधों मे लेखक किसी प्राकृतिक दृश्य या स्थान का वर्णन करता है; जैसे जगमोहन सिंह का 'श्यामा-स्वप्न'। हिन्दी में ऐसे निबंधों की बड़ी कमी है।

चिन्तनात्मक निबन्धों में लेखक विभिन्न विषयों पर स्वतन्त्र रूप से चिन्तन कर अपने ज्ञान और अनुभूतियों को व्यक्त करता है। इनके भी तीन प्रकार हो सकते हैं—(१) विचारात्मक, (२) भावात्मक, (३) उभयात्मक अर्थात् विचार एवं भावमिश्रित। विचारात्मक निबंधों की श्रेणी में पुरातत्त्व, 'साहित्य का प्रयोजन', 'संस्कृत का ज्ञान-भंडार', 'शील-साधना और भक्ति'-

जैसे निबंध रखे जायेंगे। इनमें लेखकों ने साहित्यिक विषयो पर अपने गंभीर विचार अभिव्यक्त किए हैं।

भावात्मक निबंधो में रस और भावों की ही विशेष व्यंजना होती है। पंडित पद्मसिंह शर्मा द्वारा पं० गणपति शर्मा की मृत्यु पर लिखा गया निबंध भावात्मक निबंध का अच्छा नमूना है। हिंदी के गद्य-गीत भावात्मक निबंधों के ही उत्कृष्ट रूप समझे जाने चाहिए।

उभयात्मक निबंध मे भाव और विचार का सुन्दर सामंजस्य मिलता है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी-लिखित 'गोपियों की भगवभद्भक्ति' इसी कोटि का निबंध है। सरदार पूर्ण सिह ने प्रायः सभी निबंध ऐसे लिखे, जिनमें भाव और विचार का सुन्दर सामंजस्य मिलता है।

समालोचना—हिंदी में समालोचना का श्रीगणेश भारतेन्दु-युग में हुआ। भारतेन्दु के समकालीन बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'संयोगिता-स्वयंवर' और 'वंग-विजेता' की समालोचना की। एक में उन्होंने नाटक के दोष और दूसरे में भाषा के दोष दिखाए। उस समय आलोचना का उद्देश्य दोषान्वेषण ही होता था। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'हिंदी कालिदास की आलोचना' में भाषा-सम्बन्धी दोषों का उल्लेख किया। द्विवेदीजी ने दो और समालोचना-ग्रंथ—'विक्रमांकदेवचरित-चर्चा' और 'नैषधचरित-चर्चा' लिखे जिनमें संस्कृत के दो काव्यग्रंथो का परिचयात्मक निरूपण था। द्विवेदीजी की चलाई हुई पुस्तक-समीक्षा की संक्षिप्त प्रणाली का अनुसरण अबतक मासिक पत्रिकाओं मे हो रहा है।

द्विवेदीजी के समकालीन-समालोचकों में मिश्र-बन्धुओं का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। उनका 'हिंदी-साहित्य का इतिहास'-ग्रंथ अपने ढंग की पहली रचना होने के कारण बहुत सम्मानित हुआ। हिन्दी-नवरत्न मे कवियों की समालोचना का सूत्रपात हुआ। मिश्र-बंधुओं के उपरान्त हिन्दी के कवियों पर समालोचनात्मक लेख और पुस्तकें लिखनेवालों में पंडित पद्मसिंह शर्मा और पं० कृष्णविहारी मिश्र के भी नाम उल्लेखनीय हैं। शर्माजी की समालोचना-शैली बड़ी व्यंग्यमयी और वाह-वाह कहने की महफ़िली ढंग

पकड़े हुए है। मिश्रजी की शैली साधु और शिष्ट होते हुए गंभीर विवेचनात्मक भी है।

अँगरेजी ढंग की गंभीर आलोचना लिखनेवालों में पंडित रामचंद्र शुक्ल और बा० श्यामसुंदर दास प्रमुख हैं। शुक्लजी ने जायसी, सूर, तुलसी आदि कवियों पर विश्लेषणात्मक आलोचनाएँ लिखीं जिनमे कवियों के मानसिक और कलात्मक विकास पर भलीभाँति प्रकाश डाला गया है। बाबू पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने दो-एक अच्छी समालोचनात्मक पुस्तकें लिखी हैं।

वर्तमान समालोचकों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं० नंददुलारे वाजपेयी, डा० माताप्रसाद गुप्त, पं० गंगाप्रदाद पाण्डेय, पं० विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लोगों ने प्राचीन एवं अर्वाचीन साहित्यकारों की कृतियों की गंभीर समालोचना द्वारा हिन्दी-साहित्य की बहुमूल्य सेवा की है।

समष्टिरूप से आलोचना की चार पद्धतियाँ ही हिंदी में व्यवहृत हुईं— (१) इतिवृत्तात्मक, (२) प्रभाववादी (Impressionist), (३) तुलनात्मक पद्धति और (४) विश्लेषणात्मक (Analytical)। इतिवृत्तात्मक शैली की समालोचनाओं में समालोच्य विषय या ग्रन्थ के गुण-दोषों का परिकथन अथवा उनका स्थूल परिचय-मात्र होता है। आचार्य द्विवेदीजी तथा मिश्र-बन्धुओं की समालोचनाएँ इसी कोटि की हैं। (२) प्रभाववादी आलोचना में आलोचक आलोच्य विषय के अपने ऊपर पड़नेवाले अनुकूल अथवा प्रतिकूल प्रभावों को ऊहात्मक पद्धति में व्यक्त करता है। पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी सतसई की समालोचना इसी ढंग पर की है। (३) तुलनात्मक पद्धति में किसी एक काल अथवा वर्ग के दो साहित्यकारों की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत रहता है। मिश्र-बन्धुओं ने तथा लाला भगवानदीन ने 'देव और बिहारी' तथा 'सूर और तुलसी' की तुलनात्मक समीक्षा का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया है।

समालोचना की चौथी और अन्तिम पद्धति विश्लेषणात्मक शैली है जिसका सूत्रपात पं० रामचन्द्र शुक्लजी ने किया। इसी पद्धति का अनुसरण वर्तमान काल के अधिकांश श्रेष्ठ समालोचक कर रहे हैं। इस पद्धति के अनुसार आलोचक आलोच्य विषय का वाह्य एवं आभ्यन्तरिक सौन्दर्य-प्रक्रिया का वैज्ञानिक अनुसन्धान कर उसका वास्तविक स्वरूप समाज के सामने प्रस्तुत करता है। सत्साहित्य के विकास के लिए इसी प्रकार की समालोचनाएँ श्रेयस्कर होती हैं। किन्तु खेद है कि शुक्लजी के बाद हिन्दी में अबतक इस दिशा में विशेष उन्नति नहीं हुई और हिन्दी के बहुत-से प्राचीन एवं अर्वाचीन महान् साहित्यकारों की कृतियाँ सत्समालोचना के अभाव में लोक-दृष्टि से ओझल होती जा रही हैं।

———

आप

(पंडित प्रतापनारायण मिश्र)

जन्म-संवत् १९१३ :: मृत्यु-संवत् १९५१

[क] लेखक का परिचय

प० प्रतापनारायण मिश्र हिन्दी के उन थोड़े-से लेखकों में हैं जिनका जीवन-वृत्तान्त उतना ही रोचक है जितना कि उनका साहित्यिक कार्य। मिश्रजी का जीवन स्वयं एक उपन्यास की भाँति था। उसपर जितना ही कहा जाय, सब थोड़ा है। वास्तव में उनके जीवन-स्रोत से जितनी धाराएँ निकलकर उनके लेखों की भाषा के आल-वाल में मिली हैं, उनका जितना सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुसंधान किया जाय, उतना ही उनके साहित्यिक महत्त्व को समझने में आसानी होगी। यह कहना भी अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि उनके प्रत्येक साहित्यिक गुण का उल्लेख करते समय यदि प्रयत्न किया जाय, तो उसी के तद्भव उनके दैनिक जीवन की कोई-न-कोई घटना अवश्य मिल सकती है।' (हिन्दी गद्य-मीमांसा)

जीवन-परिचय

प० प्रतापनारायण मिश्र का जन्म संवत् १९१३ (सन् १८५६ ई०) में अवध के उन्नाव जिले के बैज नामक ग्राम में हुआ था। वे जाति के कात्यायनगोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम संकटा प्रसाद था जो एक बहुत बड़े ज्योतिषी थे। जब श्री संकटाप्रसादजी चौदह वर्ष के हुए तब वे कानपुर में आकर बस गए। यहाँ उनकी आर्थिक दशा पहले से अच्छी रही और कुछ समय के बाद उन्होंने काफी धन-दौलत एकत्र कर लिया।

बचपन से ही मिश्रजी स्वच्छन्द प्रकृति के थे। वे आरंभ में विद्याप्रेमी नहीं थे। उनके पिता ने भी उन्हे ज्योतिषाचार्य बनाना चाहा, परन्तु ज्योतिप से बिचककर वे अलग खड़े हो गए। लाचार होकर पढ़ने के लिए वे अंग्रेजी पाठशाला में भेजे गए, परन्तु वहाँ भी उनका मन नहीं लगा। अतएव बाद में वे पादरियों के मिशन स्कूल में भेजे गए, लेकिन वहाँ भी उनका मन नहीं लग सका; क्योंकि वे विद्याप्रेमी नहीं थे। फिर भी उनकी विविध स्कूलों की घूम-घुमौवल का यह एक लाभ हुआ कि उन्हे हिन्दी और संस्कृत पढ़ने का शौक हुआ और उन्होंने घर पर ही पढ़कर हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फारसी, बँगला, अंग्रेजी आदि कई भाषाएँ सीख लीं।

मिश्रजी अलमस्त, मनमौजी व्यक्तित्व के मजेदार व्यक्ति थे। अक्खड़पन और विनोद-प्रियता उनके व्यक्तित्व में कूट-कूटकर भरी हुई थी। वे भारतेन्दु के समसामयिक थे और उनके अनन्य भक्त तथा परम मित्र थे। इनका अधिकाश निवास शहर कानपुर मे ही रहा। इन्होंने वहीं से जीवन-पर्यन्त साहित्य-सेवा की। संवत् १६४० में इन्होंने 'ब्राह्मण' नामक पत्र निकाला जिसका वार्षिक मूल्य ८ आना था। वह दस वर्षों तक चलता रहा। कालाकाकर से निकलनेवाले हिन्दोस्तान पत्र का सम्पादन भी उन्होंने कुछ समय तक किया। वे जातीयता के उपासक और हिन्दी भाषा तथा देवनागरी लिपि के बहुत बड़े हिमायती थे। 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' को उन्होंने अपना सिद्धात-वाक्य ही बना लिया था। हिन्दी के लिए यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि मिश्रजी ऐसे प्रगल्भ साहित्यिक का देहावसान ३८ वर्ष की अल्प आयु में सन् १८६४ ई० में हो गया।

पं० प्रतापनारायण मिश्र ने आधुनिक हिन्दी-साहित्य के प्रभातकाल में उसकी सर्वांगीण सेवा की। वे अपने समय के एक अच्छे साहित्यकार थे।

मिश्रजी की रचनाएँ

उन्होंने उपन्यास, नाटक और कविता लिखी। पत्रकारिता तो उनका उपजीव्य अथवा व्यसन-सा था। उन्होंने दर्जनों बँगला और अंग्रेजी की पुस्तकों का अनुवाद किया। उनकी

रचनाओं की कुल संख्या चालीस के लगभग है। विद्यार्थियों की जानकारी के लिए हम यहाँ उनकी रचनाओं की एक तालिका प्रस्तुत करते हैं—

[क] अनूदित कृतियाँ—'राजसिंह', 'इंदिरा', 'राधारानी', 'युगलांगुरीय', 'चरिताष्टक', 'पंचामृत नीतिरत्नावली', 'कथामाला', 'सगीत-शाकुन्तल', 'वर्णपरिचय', (तृतीय भाग), 'सेन-वंश', और सूबे बंगाल का भूगोल। इनमें प्रथम चार पुस्तकें (राजसिंह, इंदिरा, राधारानी, युगलांगुरीय) श्री बंकिमचन्द्र के उपन्यासों के अनुवाद हैं। 'युगलारीय' में बंगाल प्रान्त के महान् व्यक्तियों का जीवन-चरित्र है, 'चरिताष्टक' में पाँच प्रसिद्ध देवताओं का अभिन्नत्व-निरूपण है, 'पंचामृत नीतिरत्नावली' में नीति का संकलन है। इसके बाद की रचनाएँ ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की कृतियों के अनुवाद हैं।

इसके अतिरिक्त उन्होंने मौलिक कृतियों का भी प्रणयन किया है। इस कोटि की रचनाएँ इस प्रकार हैं—

[ख] नाटक— १. कलि-प्रभाव २. हठी हम्मीर ३. गो-संकट ४. कलि-कौतुक-रूपक, ४. सगीत-शाकुन्तल ५. ज्वारी-खुआरी ६. भारत-दुर्दशा।

[ग] काव्यग्रन्थ— १. मन की लहर २. शृंगार-विलास ३. प्रेम-पुष्पावली ४. दंगलखण्ड ५. तृप्यन्ताम् ६. ब्राडला स्वागत ७. मानस-विनोद ८. लोकोक्तिशतक ९. शैवसर्वस्व।

अन्य रचनाएँ— प्रतापसंग्रह, रसखानशतक, शिशु-विज्ञान, वर्णमाला, स्वास्थ्य-रक्षा आदि।

प० प्रतापनारायण मिश्र का हिन्दी साहित्य में स्थान उनकी रचनाओं की संख्या तथा उनकी विविधता से नहीं है, वरन् वे हिन्दी गद्य के निर्माताओं में अपने चुटीले निबन्धों और चटपटी भाषा के कारण महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

साहित्यिक विशेषताएँ

उनका वास्तविक महत्त्व साहित्यिक लेखों के कारण है। अतएव हम उनकी रचनाओं में उनकी प्रतिभा का सुन्दर परिचय पाते हैं। यों तो वे उर्दू, फारसी, अंग्रेजी और संस्कृत के अच्छे जानकार थे, परन्तु हिन्दी के प्रति उनका अत्यधिक मोह था। उर्दू के विद्वान होने पर भी उन्होंने हिन्दी में काफी लिखा। उर्दू में भी

उन्होंने कुछ शायरी लिखी है और मुशायरों में वे आया-जाया करते थे। उनमें विलक्षण शक्ति भरी थी। उनके मुख से निकली हुई उक्तियाँ अत्यन्त अनूठी होती थीं। वे अपनी कविताओं में अपना नाम प्रताप, प्रताप-हरि, और कभी-कभी प्रेमदास भी दिया करते थे। मिश्रजी कविता के अलावा, नाटक खेलने के भी शौकीन थे। वे स्त्री का पार्ट बहुत सुन्दर ढग से किया करते थे। उनके लिखित नाटक साधारण कोटि के हैं, उच्चकोटि के नहीं। उन नाटकों में साहित्यिकता एवं नाटकीयता का अभाव है। उनके नाटकों में राष्ट्रीय भावनाओं की प्रमुखता रही है। साथ-साथ उनमें सामाजिक सुधार की तीव्र भावना भी है जिसके फलस्वरूप उनके नाटक समयोपयोगी हो गए हैं। उनके नाटकों से मानव का मनोरंजन तो होता है, पर मानव की विचारधारा को उत्तेजना नहीं मिलती है।

प० प्रतापनारायण मिश्र भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को अपना साहित्यिक नेता मानते थे और उनपर असीम श्रद्धा रखते थे। उन्होंने हरिश्चन्द्र को पूज्यपाद भी कहा है। ऐसा कहा जाता है कि एक बार भेंट होने पर वे हरिश्चन्द्र के चरणों पर लोट गए थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की मृत्यु पर उन्होंने उर्दू में एक अत्यन्त भावपूर्ण कविता लिखी थी जिसकी दो पंक्तियाँ यों हैं—

बनारस में ज़मी नाज़ा है जिसकी पायवोसी पर।
अदब से जिसके आगे चर्ख ने गर्दन झुकाई है।

इनकी लेखन-कला भारतेन्दु से साम्य रखती है, लेकिन इनकी शैली उनका अनुगमन नहीं करती है। भारतेन्दु के प्रमुख पत्र 'कवि वचन-सुधा' के लेखों से इनकी प्रवृत्ति कविता की ओर मुड़ी थी। लावनी गानेवालों की लावनियों और रामलीलामण्डली के गानों से इनका शौक और भी बढ़ा। अपने साहित्यिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए इन्होंने एक पत्रिका का सहारा लेना उचित समझा। इन्होंने 'ब्राह्मण' नाम का एक पत्र निकाला जिसमें धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक—सभी प्रकार के लेख प्रकाशित हुआ करते थे। उनके लेख विभिन्नविषयक थे, जो उनके लिखित निबन्धों के देखने से स्पष्ट

हो जाते हैं, जसे—'बेगार', 'होली', 'रिश्वत', 'गुप्त ठग' (दूकानदार), 'मुच्छ', 'भारत रोदन', 'विस्फोटक', 'धर्म', 'देशोन्नति', 'मानस-रहस्य', 'बन्दरों की सभा', 'गंगाजी', 'धोखा', 'आय', 'वृद्ध', 'दाँत', 'भौं', 'टेढ़ जानि शंका सब काहू', 'घूरेक लत्ता बीनै कनातन क डौल बाँधै', 'मरेका मारै साहमदार', 'भलमंसी', 'खरी बात शाहिदुल्ला कहे सबके जी से उतरे रहैं', 'जानै न बूझै कठौता लैके जूझैं', 'हाथी चले ही जाते हैं, कुत्ते भौंका ही करते हैं', 'जवानी की सैर', 'तिल', 'किस पर्व में किसकी बनि आती है', 'हमारी आवश्यकता नारी', 'देव-मन्दिर के प्रति हमारा कर्त्तव्य', 'खुशामद', 'अंतिम भाषण', 'इसे रोना समझो चाहे गाना', 'दशहरा', 'मुहर्रम', 'शिवमूर्ति', 'काल स्वार्थ', 'हरि जैसे को तसे हैं', 'बात', 'मनोयोग', 'समझदार की मौत है'। इन विषयों पर विहगम दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके निबन्धों में साधारण और विचार-पूर्ण, दोनों ही प्रकार के विषय रहा करते थे। इनके निबन्धों की प्रत्येक बात से इनकी उमंग और विनोदप्रियता का पता लगता है। इसीलिए लोग कहते हैं कि पं० प्रतापनारायण मिश्र के निबन्धों में 'व्यक्तित्व की छाप' है। Style is the man—रचना-शैली ही लेखक है—वाली कहावत मिश्रजी के साथ सोलहों आने चरितार्थ होती है। इनके निबन्धो को ज्यों-ज्यों पढ़ते जाइए त्यों-त्यों निबन्धकार के संबंध में अत्यधिक जानने की उत्सुकता बढ़ी चली जायगी—इसी को साहित्यिकगण शैली में 'घनिष्ठता' कहते हैं। 'उनकी शैली में इस गुण के आने का प्रधान कारण लोग यह बतलाते हैं कि उनका जीवन-वृत्तान्त उतना ही रोचक है, जितना कि उनका साहित्यिक कार्य।' कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि 'उनके प्रत्येक साहित्यिक गुण का उल्लेख करते समय यदि प्रयत्न किया जाय, तो उसी के समानान्तर उनके दैनिक जीवन की कोई-न-कोई घटना अवश्य मिल सकती है।' इनके बारे में प्रसिद्ध है कि ये जन्म से ही बड़े स्वतत्र और मौजी जीव थे। इनके पिता इन्हें अपने ही भाँति ज्योतिषाचार्य बनाना चाहते थे, पर इन्हे ग्रंथ घोंटने से चिढ थी। ये प्रेममय जीवन बिताने में ही जीवन की सार्थकता समझते थे। सब प्रकार के बड़े-से-बड़े और साधारण-से-साधारण लोगों में एकरूप से मिलते थे।

दिल्लगीबाज भी परले सिरे के थे। पर इन सब बातों के होते हुए भी इनकी विलक्षण प्रतिभा के बारे में किसी को सन्देह नहीं होना चाहिए।'

कुछ विद्वानों का कथन है कि पं० प्रतापनारायण मिश्र का गद्य सचमुच युग-प्रवर्तक था। उनके पहले जितने भी गद्यकार हुए, उनमें से हरएक ने कोई-न-कोई खास बात हिन्दी गद्य में पैदा की या पैदा करने की कोशिश की। वे गंभीर-से-गंभीर विचारों या तथ्यों की विवेचना सीधी-सादी भाषा में किया करते थे। उनमें यह विशेषता थी कि चाहे कैसा ही विषय क्यों न हो, उसे वे किसी-न-किसी तरह विनोदपूर्ण बनाये बिना न रहते थे। इसके बाद इंशा अल्ला खाँ की तरह वे भी कोई बात सीधी-सादी तौर पर न कहकर उसे घुमाकर कहने में ही कारीगरी समझते थे, दूसरे शब्दों में मिश्रजी बड़े वक्रोक्ति-कुशल थे। इस विषय मे वे गद्य के सभी लेखको में निराले थे। यह बिलकुल सत्य है कि प० प्रतापनारायण मिश्र की कृतियो में साहित्यिकता नहीं है, परन्तु उनका सामयिक महत्त्व जरूर है। एक आलोचक के शब्दों में हम कह सकते हैं कि उन्होंने विदग्ध साहित्य का निर्माण नहीं किया, पर व्यावहारिक साहित्य का आविष्कार करके उन्होंने यह दिखला दिया कि भाषा केवल विचारशील विषयों के प्रतिपादन एवं आलोचना के लिए नहीं है, वरन् उसमें नित्य के व्यवहृत विषयों पर भी आकर्षक रूप से विवेचन संभव है।' इन सब बातो से यह साफ जाहिर होता है कि प० प्रतापनारायण मिश्र ने हिन्दी गद्य की अमूल्य सेवा कर उसका मार्ग प्रशस्त किया है। निबन्ध-लेखन-कला की दृष्टि से उन्हे इस क्षेत्र में अद्वितीय सफलता मिली है।

प० प्रतापनारायण मिश्र की भाषा में ग्रामीणता का पुट अधिक है। उन्होंने अपनी जन्मभूमि में प्रचलित घरेलु शब्दो और मुहावरों का निःसकोच प्रयोग किया है जिससे उनकी भाषा मे पूर्वीपन की झलक मिलती है। उदाहरण लीजिये—'आनन्द लाभ करता है', 'तौ भी', 'बात रही (थी)', 'शरीर भरे की', 'चाय की सहायता से', 'कहाँ तक कहिए', 'ई कै जने' इत्यादि। इन प्रयोगो से भाषा मे पडिताऊपन और ग्रामीणता झलकती है। उन्होंने बैसवाड़ी मुहावरों और कहावतों का

भाषा-शैली

प्रयोग खूब किया है, जैसे—घूर के लत्ता बिनै कनातन क डौल बाँधैं, खरी बात शहिदुल्ला कहैं, सबके जी तें उतरे रहैं, मुँह बिचकाना, परब निकालना, आदि। सच तो यह है कि मिश्रजी की भाषा साधारण मुहावरों के बल पर ही चलती है। इन मुहावरों के प्रयोग से चमत्कार का अच्छा समावेश हुआ है। कहीं-कहीं तो इनकी झड़ी लग गई है। इसका सुन्दर उदाहरण निम्नलिखित अवतरण है—

"डाकखाने अथवा तारघर के सहारे से बात-की-बात में चाहे जहाँ की जो बात हो, जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त बात बनती है, बात बिगड़ती है, बात आ पड़ती है, बात जाती रहती है, बात जमती है, बात उखड़ती है, बात खुलती है, बात छिपती है, बात चलती है, बात अड़ती है। हमारे तुम्हारे भी सभी काम बात ही पर निर्भर हैं। बात ही हाथ पाइए बातहि हाथी पाँव। बात ही से पराए अपने और अपने पराए हो जाते हैं।'

—भाषा में मुहावरों का होना तो एक और बात है, लेकिन निबन्धों के शीर्षक तक पूरे-पूरे मुहावरे में ही होते थे; जैसे—'किस पर्व में किसकी बन आती है', 'मरे का मारै शाह मदार' इत्यादि।

मिश्रजी की रचना में विराम आदि चिह्नों का अभाव है जिससे भाव-व्यंजना में अव्यवस्था उत्पन्न हो गई है। इसके फलस्वरूप इनकी भाषा बड़ी अनियंत्रित एवं पुरानी रह गई है, जैसे—'पर केवल इन्हीं के तक में दूसरे को कुछ नहीं, फिर क्यों इनकी निन्दा की जाए?'—यह वाक्य बिल्कुल अस्पष्ट है।

मिश्रजी की भाषा में व्याकरण-संबंधी भूलें भी पायी जाती हैं। 'जात्याभिमान', 'उपरोक्त', 'भाषा इत्यादि सभी निर्जीव-से हो रहे हैं' इत्यादि भूलें इनकी रचना में आमतौर से पायी जाती हैं। 'अकिल का (के) कारण', 'हई' (है ही), 'के' (कर), 'मुख के' (से), 'एकबार' इत्यादि अप्रचलित प्रयोग भी मिश्रजी की भाषा में अधिकता से मिलते हैं जिनके हेतु इनकी भाषा त्रुटि-पूर्ण एवं शिथिल रह गई है। लेकिन इतना सब होते हुए भी उसमें जो कहने

का आकर्षक ढग है वह अत्यन्त मनोहर ज्ञात होता है; उसमें एक विचित्र वाँकापन मिलता है जो दूसरे लेखकों की रचनाओं में नहीं मिलता है। इनकी रचना में वैयक्तिक छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। साधारण रूप से कहा जा सकता है कि इनकी भाषा में वड़ी रोचकता है।

मिश्रजी को भाव-प्रकाशन के लिए यदि हिन्दी का कोई उचित शब्द न मिलता तो सस्कृत-फारसी का प्रयोग न कर ग्रामीण शब्दों द्वारा अपना भाव व्यक्त करने की चेष्टा करते और यदि कृत-कार्य न होते तो संस्कृत के अधिक प्रचलित शब्दों का प्रयोग करते। यदि कभी सस्कृत का शब्द ठीक न मिलता तो अरवी-फारसी के अति प्रचलित शब्द जो हिन्दी से इतनी घुलमिल गए हैं कि विदेशी नहीं जान पड़ते, ढूँढ़ते। इस प्रकार के उर्दू-फारसी के शब्द पाये जाते हैं—पोशाक, अक्ल, इस्तेफा, लफ्ज, खामहखाह, सुर्खाव, रोजगार, शान, दुरुस्त, मुश्किल, जाहिर, मनहूस, सूरत, जिन्दादिली, हुजूर, मुलाजमत आदि। प्रान्तीय शब्दों का भी इन्होंने प्रयोग किया है—टेव (स्वभाव), सेंतमेंत (विना मूल्य), खौखियाना (क्रुद्ध होकर वोलना)। सस्कृत शब्दों का प्रयोग अधिक तो नहीं हुआ है, परन्तु होलिकोत्सव, मानस, अल्पज्ञ, प्राज्ञगण, अन्ततोगत्वा, प्राकट्य, भ्रमोत्पादक, मौखिक, द्योतनार्थ, चित्रत्व आदि शब्द थोड़े-बहुत स्थान-स्थान पर अवश्य आए हैं। 'अथच' का प्रयोग अधिक मिलता है। वे संस्कृत के शब्दों को प्रायः हिन्दी के उच्चारण के अनुरूप लिखा करते थे—जैसी रिषि, रिपीश्वर, रितु आदि। नेचर, टाइप, मेमोरियल, नेटिव आदि अंग्रेजी शब्दों का भी उन्होंने आवश्यकतानुसार प्रयोग किया है। उनकी रचना में गँवारी अशुद्ध शब्द और सार्थक व निरर्थक शब्दों के जोड़े खूब आए हैं।

मिश्रजी की शैली हमे दो रूपों में प्राप्त होती है। एक में गंभीरता का पुट है, और दूसरी में हास्य तथा व्यंग्य का। उनके शुद्ध साहित्यिक लेखों में गंभीर शैली है, तथा सामान्य लोक-जीवन के विविध विषयों पर उन्होंने हास्य एवं व्यगपूर्ण शैली में ही निवन्ध लिखे हैं। यों तो मिश्रजी ने गम्भीर विषयों की विवेचना भी हास्यपूर्ण शैली में की है, परन्तु कभी-कभी गम्भीर विषय के फलस्वरूप उनकी भाषा संयत एवं गम्भीर हो जाती है। मिश्रजी की विनोद-

पूर्ण मनोरंजक शैली भी दो प्रकार की है—एक में हास्य और विनोद प्रधान है और दूसरी में व्यंग्य और कटाक्ष। सरसरी तौर से देखने पर उनकी शैली में हास्य-व्यंग्य का सुन्दर मिश्रण दिखाई देता है। मिश्रजी की दूसरे प्रकार की शैली का वास्तविक रूप यही है और उनका कोई भी निबन्ध देखा जाय, पाठक को इस शैली का उदाहरण मिल जायगा। जैसे—'धोखा खानेवाला मूर्ख और धोखा देनेवाला ठग क्यों कहलाता है? जब सब-कुछ धोखा-ही-धोखा है और धोखे से अलग रहना ईश्वर की भी सामर्थ्य से दूर है, तथा धोखे ही के कारण संसार का चर्खा पिन्न-पिन्न चला जाता है, नहीं तो ढिच्चर-ढिच्चर होने लगे, वरञ्च रही न जाय तो फिर इस शब्द का स्मरण या श्रवण करते ही आपकी नाक-भौंह क्यों सुकुड़ जाती है?'

ऊपर दिए हुए उदाहरण में शैली-विषयक दो विशेषताएँ हमें मिलती हैं। पहली विशेषता है मुहावरों और कहावतों का सुन्दर और समयानुकूल प्रयोग करना, तथा दूसरी विशेषता है, उनकी रचनाओं में उनके व्यक्तित्व की छाप। साधारण मुहावरों का जैसा चमत्कारपूर्ण प्रयोग मिश्रजी ने किया है वैसा हिन्दी के अन्य लेखकों की रचनाओं में बहुत कम देखने को मिलता है। कहीं-कहीं तो मुहावरों की झड़ी ही लगा देते हैं।

मिश्रजी के निबन्धों में उनके सरल एवं स्पष्ट व्यक्तित्व की गहरी छाप मिलती है। जैसा उनका जीवन सरल और सुस्पष्ट होने के साथ ही हास्य-विनोद-प्रिय था वैसी ही उनकी शैली भी विद्वत्ता एवं पाण्डित्य की कृत्रिमता से विहीन व्यंग्य-विनोदपूर्ण है। हम जितना ही उनके निबन्धों को पढ़ते हैं उतना ही हम उनके व्यक्तित्व से परिचित होते हैं। निबन्धों में लेखक के व्यक्तित्व की छाप, उनकी बहुत बड़ी विशेषता है और इसी कारण मिश्रजी के निबन्ध हिन्दी साहित्य में उच्चकोटि के माने जाते हैं और मिश्रजी का इसी कारण अपने समकालीनों में विशेष स्थान है।

संक्षेप में हम यही कहेंगे कि मिश्रजी की लेखन-शैली चटपटी और रोचक है। भाषा चलती हुई एवं मुहावरेदार है और उसमें कहावतों, चुटकुलों,

छोटे-छोटे उद्धरणों का स्थान-स्थान पर सुन्दर प्रयोग हुआ है। इन्हीं अनेक विशेषताओं के कारण प० प्रतापनारायण मिश्र हिन्दी गद्य के शैलीकार माने जाते हैं।

[ख] 'आप' निबन्ध का सारांश

प्रस्तुत निबन्ध में प० प्रतापनारायण मिश्र ने 'आप' शब्द की व्युत्पत्ति एवं उसके अर्थों पर पर्याप्त रूप से प्रकाश डाला है। साधारणतया लोग अपने और दूसरों के लिए दिन-रात 'आप' शब्द का व्यवहार करते हैं। तब सवाल उठता है कि 'आप' क्या है? इसकी उत्पत्ति कैसे हुई? यह किस भाषा के किस शब्द का शुद्ध या अशुद्ध रूप है? व्याकरण के नियमों के अनुसार कुछ लोग 'आप' शब्द को 'मैं' और 'तू' की तरह सर्वनाम (Pronoun) कहते हैं। 'मैं' उत्तम पुरुष सर्वनाम है और उसका प्रयोग नम्रता प्रदर्शित करने के लिए होता है। यह 'मैं' शब्द संस्कृत के 'अह' शब्द का अपभ्रंश है। ठीक इसी प्रकार 'तू' मध्यम पुरुष सर्वनाम है और उसके प्रयोग में तुच्छता (या प्रीति सूचित करने के अर्थ में) का भाव छिपा रहता है। 'तू' संस्कृत के 'त्व' शब्द का अपभ्रंश है। इसी प्रकार 'आप' शब्द हिन्दी का शब्द है और वह सर्वनाम है। इसका प्रयोग आदर प्रदर्शित करने के अर्थ में होता है। 'आप' शब्द न तो फारसी, न तो अरबी, न तो अंग्रेजी का शब्द है, प्रत्युत यह शुद्ध रूप से हिन्दी का शब्द है।

संस्कृत में 'आप' जल को कहते हैं और शास्त्रों में लिखा है कि विधाता ने सृष्टि के आरंभ में 'जल' को ही बनाया था। हिन्दी में 'पानी' और फारसी में 'आब' का अर्थ शोभा और प्रतिष्ठा आदि हुआ करता है। इसीलिए निबंधकार प० प्रतापनारायण मिश्र का यह अनुमान है कि पानी की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता का विचार करके लोग पुरुषों को भी उसी के नाम से 'आप' पुकारने लगे होंगे। इससे बड़प्पन और आदर का अर्थ प्रकट होता है। परन्तु पानी के लिए तो अनेक पर्यायवाची शब्द हैं, जैसे जल, वारि, अम्बु, नीर, तोय आदि; लेकिन उनका प्रयोग न होकर 'आप' ही का प्रयोग क्यों हुआ? इसके उत्तर में यह भी नहीं

कहा जा सकता है कि विधाता ने सृष्टि के आरंभ में पानी को ही बनाया, इसीलिए बूढ़े लोगों को 'आप' कहते हैं ; क्योंकि दूसरों को भी 'आप' कहकर पुकारा जाता है तो क्या 'आप' कहकर लोगों को अधोगामी कहा जाता है ; क्योंकि 'आप' का अर्थ जल है और जल नीचे की ओर गतिशील होता है। अतएव 'आप' अर्थात् पानी या जल शब्द से हिन्दी के 'आप' शब्द की उत्पत्ति नहीं हुई है।

अच्छे लोग आपस की बातचीत में 'आप' शब्द का प्रयोग नहीं करते हैं। आगे चलकर निबन्धकार ने अपने एक मित्र का हवाला देकर 'आप' शब्द की अप्रियता एवं भिन्नता प्रमाणित किया है। निबन्धकार ने अकेले में अपने एक दोस्त को 'आप' कहने से मना किया कि वह भिन्नता का सूचक है। 'तुम' के प्रयोग से निकटता (अपनापन) का बोध होता है। प्यारपूर्वक 'तू' कहने में जो आनन्द मिलता है वह बनावट से 'आप' कहने में नहीं। प्रेम-समाज में 'आप' का प्रयोग अत्यन्त अल्पमात्रा में होता है, अधिकतर 'तू' या 'तुम' का प्रयोग होता है ; क्योंकि 'तू' या 'तुम' प्रीतिसूचक शब्द हैं।

संस्कृत में एक 'आप्त' शब्द है जो सर्वथा माननीय अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। न्यायशास्त्र में यह बतलाया गया है कि जो विद्या, बुद्धि, सत्यवादिता आदि गुणों से पूर्ण है, उसे 'आप्त' कहते हैं। हिन्दी भाषा में 'आप्त' शब्द सबकी जिह्वा पर ठीक नहीं बैठ पाता है, इसीलिए उसे सरल बनाकर 'आप' बना लिया गया है। अतएव यह स्पष्ट हो जाता कि हिन्दी का 'आप' शब्द संस्कृत के 'आप्त' शब्द का बिगडा हुआ (अपभ्रंश) रूप है। यह एक आदरसूचक शब्द है जो मध्यमपुरुष तथा अन्य पुरुष के अत्यन्त आदर-द्योतन करने में काम आता है।

महाराष्ट्रीय भाषा का एक शब्द है 'आपाजी' जो 'आप्त' और 'आर्य' शब्द के मिलने से बना है। अरबी भाषा के 'अब्ब' (बोलने में 'अब्बा') और यूरोपीय भाषाओं में 'पापा,' 'पोप' आदि भी इसी 'आप्त' शब्द से निकले हैं। अंग्रेजी भाषा में एक शब्द एबॉट (Abbot=महन्त) है तथा अंग्रेजी A से ह्रस्व और दीर्घ दोनों अकार का बोध होता है। 'पकार' बदलकर 'बकार' हो गया है। रहा 'T' जिससे 'तकार' का बोध होता है ; क्योंकि अंग्रेजी

भाषा में 'त' और 'ट' के लिए ही (t) अक्षर का इस्तेमाल होता है। अतएव अंग्रेजी का एबॉट (Abbot) संस्कृत के आप्त शब्द से ही बना है।

बहुत-से अच्छे परिवार के बच्चे अपने पिता को 'अप्पा' कहते हैं। कुछ लोगों का कथन है कि यह मुसलमानों के सम्पर्क का प्रतिफल है और 'अप्पा' शब्द 'अब्बा' से बना है, परन्तु यह धारणा बिल्कुल गलत है। अंग्रेजी और फारसी में 'तकार' और 'टकार' का उच्चारण कठिन है, परन्तु हिन्दी में 'वकार' का उच्चारण कठिन नहीं है। इसीलिए आप से 'आप', 'अप्पा', 'आपा' की सृष्टि हुई है। फारसी का 'अब्बा' भी 'आप' या 'अप्पा' का बदला हुआ रूप है, क्योंकि फारसी की वर्णमाला में 'पकार' का प्रयोग नहीं मिलता है। 'आप' से ही 'बप्पा', 'बाप', 'बापू', 'बब्बा', 'बाबा', 'बाबू' आदि बने हैं और इसमें 'पकार' को 'बकार' से बदल दिया जाता है। एशिया की कई बोलियों में 'पकार' को 'बकार' या 'फकार' से बदल लिया जाता है, कहीं-कहीं शब्द के आदि में 'ब' जोड़ दिया जाता है, कहीं-कहीं शब्द के आरम्भ में ह्रस्व अकार का लोप कर दिया जाता है और कहीं-कहीं ह्रस्व अकारान्त शब्दों में आकार के बदले ह्रस्व या दीर्घ उकार जोड़ दिया जाता है। कहने का मतलब यह है कि वे सभी शब्द जिसमें आकार या पकार का सम्पर्क है और जो श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, वे 'आप्त' या 'आप' शब्द के ही रूपान्तर हैं।

[ग] 'आप' निबन्ध की आलोचना

'आप' शीर्षक निबन्ध पं० प्रतापनारायण मिश्र की रोचक निबन्ध लेखन-शैली का सुन्दर उदाहरण है। प्रस्तुत निबन्ध की गणना उनके मनोरंजक एवं सामान्य विषयों में लिखे गए श्रेष्ठ निबन्धों में होती है। एक अत्यन्त सामान्य, किन्तु व्यापक विषय 'आप' पर मिश्रजी ने बड़े तथ्यपूर्ण विचार अत्यन्त विनोदपूर्ण शैली में प्रस्तुत किए हैं। यह एक विचारात्मक निबन्ध है। इसकी गणना भाषा-विज्ञान-संबंधी निबन्धों में की जा सकती है। इस निबन्ध में निबन्धकार की विद्वत्ता एवं भाषा-शैली का सुन्दर समन्वय हो पाया है।

प्रस्तुत निबन्ध में उन्होंने 'आप' की महत्ता पर प्रकाश डाला है। इस निबन्ध का आरम्भ ही विनोदपूर्ण ढंग से हुआ है, यथा—"भला बताइये तो आप क्या हैं? आप कहते होंगे, वाह! आप तो आप ही हैं। यह कहाँ को आपदा आई? यह भी कोई पूछने का ढंग है। पूछा होता कि आप कौन हैं तो बतला देते कि हम आपके पत्र के पाठक हैं और आप 'ब्राह्मण' पत्र के सम्पादक हैं।'.........आदि-आदि।" इस तरह हम देखते है कि विद्वान निबन्धकार ने प्रथम अनुच्छेद में विनोदपूर्ण ढग से निबन्ध के विषय पर प्रकाश डाला है और तब धीरे-धीरे 'आप' शब्द की उत्पत्ति पर दृष्टिपात किया है जिसके फलस्वरूप निबन्ध में सरसता आ गयी है और भाषा-विज्ञान की नीरसता भाग खड़ी हुई है। इससे पाठकों को निबन्ध पढ़ने में आनन्द प्राप्त होता है और विषय भी स्पष्ट हो उठता है। इसके पश्चात् निबन्धकार ने दूसरे अनुच्छेद में यह बतलाया है कि 'आप' एक सर्वनाम है जिस प्रकार मैं, तू, हम, यह, वह आदि सर्वनाम हैं। इसी सिलसिले में यह भी कहा है कि 'आप' शब्द संस्कृत के 'आप्त' शब्द का रूपान्तर है जिसका प्रयोग श्रेष्ठता सूचित करने के अर्थ मे होता है। इस शब्द का व्यवहार मध्यम पुरुष और कभी-कभी उत्तम पुरुष में भी किया जाता है।

तत्पश्चात् निबन्धकार निबन्ध का घेरा द्रौपदी के दुकूल की तरह बढ़ाता जाता है और वह कहता है कि इस संसार में अनेक शब्द ऐसे बोले जाते हैं जो 'आप्त' या 'आप' से ही निकले हैं। अरबी का 'अब्बा' और यूरोपीय भाषाओं का 'पापा', 'पोप' आदि शब्द भी इसी आप्त से निकले हैं। बहुत-से लोग अपने पिता को 'अप्पा' भी कहते हैं जो 'आप्त' या आप से ही बने हैं; 'बप्पा', 'बाप', 'बापू', 'बब्बा', 'बाबा', 'बाबू' भी 'आप्त' का ही रूपान्तर मात्र है। इन सब उदाहरणों को प्रस्तुत करते हुए निबन्धकार ने यह प्रमाणित किया है कि संसार के वे सभी शब्द जिनमें 'अकार' और 'पकार' का सम्पर्क है और जिनका अर्थ श्रेष्ठतासूचक है, वे 'आप्त, या 'आप' ही के उलट-फेर से बने हैं।

निबन्ध की भाषा-शैली पर मिश्रजी के व्यक्तित्व की गहरी छाप है। इसमें भी उनका व्यक्तित्व मुखरित है। यह तो हमें मालूम ही है कि मिश्रजी एक मौजी, फक्कड़ और हास्य-प्रिय व्यक्ति थे। अतएव उनके स्वभाव का यह गुण उनके सभी निबन्धो में व्याप्त है, चाहे वे विचारप्रधान निबन्ध हों, चाहे भावप्रधान निबन्ध, चाहे समसामयिक काल्पनिक निबन्ध हों। जिस प्रकार अंग्रेजी निबन्धकार स्टील का व्यक्तित्व उसके निबन्धों मे मुखरित है उसी प्रकार मिश्रजी के निबन्धों में दिए गए तर्कों के बीच-बीच में हार्दिकता एवं हास्य की फुलझड़ी विद्यमान है। इसका अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है उनका निबन्ध—'आप'। जिस प्रकार मिश्रजी अपने जीवन की जटिलताओं को अपने मौजीपन से सरस एव सुखद बना लेते थे, वैसे ही वे गम्भीर विचारशील निबन्ध के विषयों को भी अपनी चटपटी मुहावरेदार तथा व्यंग्य-विनोदपूर्ण भाषा-शैली से रोचक, हृदयग्राह्य एव उपादेय बना देते हैं। उनकी चटपटी एवं रोचक लेखन-शैली के अनेक उदाहरण इस निबन्ध में भी हैं। एक उदाहरण देखिये—"अब तो आप समझ गये न कि आप क्या है? अब भी न समझा तो हम नहीं कह सकते कि आप समझदारी के कौन हैं। हाँ, आप ही को उचित होगा कि दमड़ी-छदाम की समझ किसी पंसारी के यहाँ से मोल ले आइये, फिर आप ही समझने लगिएगा कि आप कौन हैं? कहाँ के हैं? कौन के हैं? यदि यह भी न हो सके और लेख पढ़के आपे से बाहर हो जाइए तो हमारा क्या अपराध है? हम केवल जी में कह लेंगे 'शाव। आप न समझो तो आपाँ की के पड़ीछे।' ए। अब भी नहीं समझे? वाह रे आप?" (अन्तिम अनुच्छेद, पृष्ठ संख्या १४)।

—इस उद्धरण में मुहावरों और कहावतों पर मिश्रजी का अबाध अधिकार तथा उनके उचित प्रयोग की अद्भुत क्षमता भी व्यक्त होती है। इस निबन्ध में चुटकुलों तथा छोटे-छोटे उदाहरणों का प्रचुर प्रयोग हुआ है जिससे विषय के सरल प्रतिपादन में लेखक को बड़ी सहायता मिली है।

प्रस्तुत निवन्ध की भाषा सरल, सुबोध एवं प्रवाहपूर्ण है। उसमें चलतापन भी खूब है। संस्कृत के तत्सम शब्दों के यथेष्ट प्रयोग के साथ उपयुक्त भाव-व्यंजनार्थ उर्दू के कुछ शब्द भी इसमें प्रयुक्त हुए हैं, जैसे—पोशाक, मिरजई, हवस, हजूर, मुलाजमत, अक्ल, इस्तीफा, सुर्खाव, आबरू, मुलकाती, अव्वा आदि। मिश्रजी आवश्यकतानुसार देहाती शब्दों का प्रयोग करने में भी नहीं हिचकते हैं, जैसे—निरे, अंगरखी, हमीं, मूँड़-गोड़, अपनायतवालों आदि। इसमें लोक-जीवन से संवन्धित मुहावरों और रोजमर्रों की भरमार है, जैसे—'किस रोग की हैं आप दवा कुछ न पूछिए, 'मुँह पर धरना', 'हजूर की मुलाजमत से अक्ल ने इस्तीफा दे दिया', 'पानी उतरिगा तरवारिन का उइ कर-छुलि के मोल विकाय', 'पानी उतरिगा राजपूत का उइ फिर विसऔ ते बहि जायँ', 'आवरू खाक में मिला वैठे', 'सुर्खाव का पर', 'पानी-पानी हो जायँगे', 'आपके न चाहे ताके वाप को न चाहिए', 'आपहि तो नर हेरि हरो तिरछै करि नैनन नेह के चाव में' आदि। इस निवन्ध की भाषा सर्वत्र चलती हुई है। निवन्धकार ने संस्कृत के तत्सम शब्दों एवं पराने संस्कृत तथा हिन्दी के कवियों के उद्धरणों का काफी प्रयोग किया है। प्रस्तुत निवन्ध का विषय अत्यन्त गम्भीर है, परन्तु मिश्रजी ने हास्य का हल्का रंग देकर उसे मनोरंजक एवं प्रभावोत्पादक वना दिया है। यह एक वैयक्तिक निवन्ध (Personal Essay) है। चटपटी मुहावरेदार भाषा-शैली एव युक्ति-युक्त विचारों के रोचक गुम्फन से यह निबन्ध निस्सदेह अत्यन्त रोचक और निवन्धकार के व्यक्तित्व के अनुरूप है। इससे निवन्ध के विषयगांभीर्य में कुछ मनोरजकता का समावेश हो पाया है, तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि इस निवन्ध के विषय की गम्भीरता दूर हो गयी है। विषय की गम्भीरता अन्तःसलिला फल्गु के रूप में विद्यमान है। एक उदाहरण लीजिए—

"हमारे प्रान्त में वहुत-से उच्च-वंश के वालक भी अपने पिता को अप्पा कहते हैं, उसे कोई-कोई लोग समझते हैं कि मुसलमानों के सहवास का फल है; पर यह उनकी समझ ठीक नहीं। मुसलमान भाइयों के लड़के कहते हैं अव्वा और हिन्दू संतान के पक्ष मे 'वकार' का

उच्चारण तनिक भी कठिन नहीं होता, यह अंग्रेजों की 'तकार' और फारसवालों की 'टकार' नहीं है कि मुँह ही से न निकले और सदा 'मोती' का 'मोटी' अर्थात् स्थूलांग स्त्री और खस की टट्टी—अर्थात् गरम ही हो जाय। फिर अब्बा को अप्पा कहना किस नियम से होगा! हाँ, आप्त से आप और 'अप्पा' की सृष्टि हुई है। उसी को अरववालों ने 'अब्बा' मे रूपान्तरित कर लिया होगा, क्योंकि उनकी वर्णमाला में 'पकार' (पे) नही होता।"

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि शुष्क विषय से संबंधित होने पर भी प्रस्तुत निबंध अत्यन्त रोचक है। यह उनके व्यक्तित्व का द्योतक है और प्रस्तुत निवन्ध पठनीय है।

[घ] शब्दार्थ, व्याख्या और आशय

शब्दार्थ (पारा १, पृ० ६)—आपदा = विपत्ति, मुसीबत, सकट। ढंग = तरीका। पाठक = पढ़नेवाले। ब्राह्मण = इस स्थल पर एक पत्रिका से तात्पर्य्य है। निरे = बिल्कुल। रीति = ढग। वाचक = पढनेवाले। महाशय = महोदय। साहवानी हवस = साहवों की तरह इच्छा।

शब्दार्थ (पारा २, पृ० ६)—ज्ञान = जानकारी। औरों के प्रति = दूसरों के प्रति। औरों के प्रति दिन-रात मुँह पर धरे रहते हैं = दूसरों को 'आप' कहकर हमेशा पुकारा करते हैं। सर्वनाम = संज्ञा के स्थान पर जो शब्द प्रयुक्त हो, उसे सर्वनाम (Pronoun) कहते हैं। संतुष्ट = जिसकी तृप्ति हो गई हो, राजी। परिचय = Introduction। अनुकरण = नकल। मध्यम पुरुष = Second person। तुच्छता = नीचता, हेयता। प्रीति = प्रेम। सूचित = प्रदर्शित। संबोधन = पुकारना। प्रीतिसूचक करने के अर्थ मे = प्रेम प्रदर्शित करने के अर्थ में। अहं = मैं। त्वं = तुम। अपभ्रंश = बिगड़ा हुआ रूप। द्योतनार्थ = सूचनार्थ। स्वाभाविक = सहज, Natral। उच्चारण = Pronounciation। बहुधा = प्रायः। प्रयुक्त = प्रयोग में, व्यवहार में।

हम, तुम, संस्कृत के·······प्रयुक्त होता है ?

[पारा २, पृ० ६-१०]

व्याख्या—प्रस्तुत अवतरण पं० प्रतापनारायणमिश्र-लिखित 'आप' शीर्षक निबंध से उद्धृत किया गया है. । इस संदर्भ में निबन्धकार ने 'आप' शब्द की उत्पत्ति पर आलोकपात किया है। सबसे पहले निबन्धकार ने पाठकों से यह जानना चाहा है कि 'आप कौन हैं ?'—यह प्रश्न कुछ विचित्र-सा लगता है, जिसका उत्तर आसानी से यह हो सकता है कि 'आप पंडितजी हैं, राजा-जी हैं, सेठजी हैं, लालाजी हैं, बाबूसाहब हैं, मियाँ साहब हैं या बिल्कुल साहब हैं'। निबन्धकार पंडित प्रतापनारायण मिश्र अपने प्रश्न की उपयुक्तता के संबंध में कहते हैं कि जिस 'आप' शब्द को लोग औरों के लिए दिन-रात प्रयोग करते रहते हैं, उसे लोग हमेशा उत्तम और मध्यम पुरुष के लिए व्यवहार करते हैं। निबन्धकार के प्रश्न करने का एकमात्र उद्देश्य है कि उस 'आप' शब्द के सम्बन्ध में उनका ज्ञान क्या है ? ऐसे तो 'आप' शब्द में, 'तू, हम, यह, वह आदि की तरह एक सर्वनाम (Pronoun) है, परन्तु इस उत्तर के सुनने से निबन्धकार संतुष्ट नहीं होता है। 'हम' और 'तुम' तो संस्कृत के 'अह' और 'त्वं' शब्द का विकृत रूप (अपभ्रंश) है और इसी प्रकार 'यह' और 'वह' निकटता का बोधक है। तब सवाल यह उठता है कि 'आप' शब्द क्या है ? उसकी उत्पत्ति कैसे हुई है ? वस्तुतः वह (आप) किस भाषा का शब्द है, किसका शुद्ध या अशुद्ध रूप है और प्रायः उसका प्रयोग आदरसूचक अर्थों में क्यों किया जाता है ? निबन्धकार इसी तथ्य की जानकारी प्राप्त करना चाहता है।

शब्दार्थ (पारा ३, पृ० १०)—हुजूर = Sir का पर्यायवाची शब्द है। मुलाजमत = नौकरी, तावेदारी। अक्ल ने इस्तीफा दे दिया हो = बुद्धि मारी गई हो। लफ्ज़ = शब्द। अरबीस्त = अरबी भाषा का शब्द। इटिज एन इंगलिश वर्ड = यह एक अंग्रेजी शब्द है। खाहमखाह = जरूर ही। मूँड़-गोड़ = सर-पाँव। विधाता = ईश्वर। सृष्टि के आदि में = दुनिया के शुरू

में। यथा = जैसे। अथच = और। प्रतिष्ठा = इज्जत, आदर। पानी उतरिगा तरवारिन का उइ करछुलि के मोल बिकायँ = तलवार की इज्जत कम गई और अब वह करछुल के मोल बिकती है। पानी उतरिगा राजपूत का उइ फिर बिसऔ ते बहि जायँ = राजपूत की इज्जत धूल में मिल गई और अब वह वेश्या से भी गया-गुजरा है। आबरू = इज्जत। खाक = राख, धूल।

शब्दार्थ (पारा ४, पृ० १०-१)—ज्येष्ठता = बड़प्पन। श्रेष्ठता = विशिष्टता, उत्तमता, प्रधानता, बड़ाई। निरर्थक = व्यर्थ, अर्थहीन। आदर = सम्मान। खींच-खाँचकर = मुश्किल से। शका = संदेह। अयोग्य = जो योग्य नहीं है। वारि = जल। अम्बु = जल। तोय = जल। प्रयोग = व्यवहार। सुर्खाब का पर लगना = विशिष्टता होना। वृद्ध = बूढ़ा। युक्ति-युक्त = युक्तिसगत। अवस्था = उम्र। विज्ञता = पाण्डित्य, बुद्धिमानी। गति = दशा, चाल। अधोगामी = नीचे की ओर चलनेवाला। निश्चय = जरूर।

हम यों भी कह सकते हैं ····मुँह पर भी न लायँगे।

[पारा ४, पृ० ३०-३]

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियाँ पं० प्रतापनारायणमिश्र-लिखित निबन्ध 'आप' से उद्धृत की गई हैं। इनमें निबन्धकार ने 'आप' शब्द की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला है। निबन्धकार ने यह बतलाया है कि 'आप' न तो फारसी, न तो अरबी और न तो अंग्रेजी का शब्द है, प्रत्युत वह हिन्दी का शब्द है। जिस प्रकार हिन्दी के 'हम' और 'तुम' शब्द संस्कृत के 'अहं' और 'त्वं' से बने हैं उसी प्रकार 'आप' शब्द भी संस्कृत के शब्द से बना है। संस्कृत भाषा में एक शब्द है 'आप', जिसका अर्थ है जल और हमारे शास्त्रों में भी लिखा है कि ब्रह्मा ने सृष्टि के प्रारंभ में उसी (जल) को बनाया है। हिन्दी में पानी और फारसी 'आब' का अर्थ शोभा और प्रतिष्ठा आदि होता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि पानी की ज्येष्ठता एव उत्तमता का विचार कर लोग पुरुषों को भी उसी के नाम से 'आप' पुकारने लगे होंगे। परन्तु इस स्थल पर एक सन्देह उठ खड़ा होता है, वह यह कि जल, वारि, अम्बु, नीर, तोय आदि शब्द

का अर्थ होता है पानी, तो उनका व्यवहार क्यों नहीं किया गया और 'आप' का ही प्रयोग क्यों हुआ ? इसके अलावा, जल की रचना सृष्टि के आरंभ में ही हुई, इसलिए वृद्ध लोगों को 'आप' कहना कुछ हद तक सही है, पर प्रश्न यह उठता है कि 'आप' शब्द का व्यवहार सभी लोगों के लिए किया जाता है, ऐसा क्यों ? इसमें कौन-सा पाण्डित्य छिपा हुआ है ? पानी में अनेक गुण हैं, पर वह नीचे की ओर गतिशील होता है, तो क्या 'आप' कहकर लोगों को अधोगामी अर्थात् 'नीचे की ओर चलनेवाला' कहा जाता है। अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'आप' अर्थात् पानी (या जल) शब्द से हिन्दी का 'आप' शब्द नहीं बना है।

शब्दार्थ (पारा ५, पृ० ११)—सहृदय = अच्छे हृदयवाले। उर्दूदाँ= उर्दू बोलनेवाले। मुलाकाती = भेंट होनेवाले। मौखिक = मु-जबानी। अभिलाषा = इच्छा। व्यवहार = बर्त्ताव। न्यारी = अनूठी। अपनायतवाले = अपने लोगों। इसमें भिन्नता की भिनभिनाहट पाई जाती है = कहने का तात्पर्य यह है कि 'आप' शब्द के प्रयोग से 'भिन्नता' या 'वैषम्य' की भावना प्रकट होती है। झुँझलाहट छूटी = खीझ हुई। स्वाद आता है = आनन्द आता है। बनावट = कृत्रिमता। मान गए = स्वीकार किया। वरंच = बल्कि।

प्यार के साथ तू कहने ··· ··· ···नहीं के बराबर होता है।

[पारा ५, पृ० ११]

व्याख्या—प्रस्तुत अवतरण 'आप' शीर्षक निबन्ध से लिया गया है। इस स्थल पर निबन्धकार ने अपने एक मित्र का दृष्टान्त उपस्थित करते हुए 'आप' शब्द के अर्थ पर दृष्टिपात किया है। उनका कहना है कि जब हम किसी भी व्यक्ति के लिए 'आप' शब्द का प्रयोग करते हैं तो उससे यह साफ जाहिर होता है कि बोलनेवाले एक दूसरे से काफी दूर हैं, दोनों के बीच काफी दूरी है, दोनों में वैषम्य-भाव निहित है। सच तो यह है कि 'आप' शब्द में भिन्नता का भाव अन्तर्निहित है। लेकिन 'तुम' शब्द के प्रयोग में सामीप्य-भाव छिपा हुआ है। 'तुम' में अपनापन का भाव रहता है। प्रेम के साथ

'तू' कहने में एक विचित्र आनन्द की उपलब्धि होती है, उतना आनन्द बनावट से 'आप' कहने में नही मिलता है। 'तू' और 'तुम' प्रीति-सूचक शब्द हैं, इसीलिए प्रेम-समाज में तू' 'और 'तुम' का व्यवहार धड़ल्ले के साथ होता है, 'आप' का प्रयोग नहीं के बराबर होता है।

शब्दार्थ (पारा ६, पृ० ११)—कवित्त = एक छद का नाम है जिसका प्रयोग कविता में होता है। प्रतिष्ठित ग्रंथ = मान्य या प्रसिद्ध पुस्तक। आशय = तात्पर्य्य। स्नेह-सम्बन्ध = प्रेम से सबधित, प्रेम-सूचक। जले-भुने = क्रोधित, क्षुब्ध। 'आप' की ही पूछ है = 'आप' की ही भरमार है। घनानन्द = रीतिकाल के एक कवि जो कृष्ण-काव्य की परम्परा में आते हैं। सवैया = एक छंद। निराशापूर्ण = निराशा से भरी हुई। उपालंभ = लांछन। खंडन = काटना।

शब्दार्थ (पारा ७, पृ० १२)—शुमा—तू का बहुवचन। आदर = इज्जत। मतलब = अर्थ। सर्वथा = बिलकुल। माननीय अर्थ में = आदर-सूचक अर्थ में। न्याय-शास्त्र = एक शास्त्र जिसमें न्याय-सबधी सिद्धान्तों का उल्लेख है। प्रमाण-चतुष्टय = प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द नामक चार प्रमाण। अन्तर्गत = अन्दर, भीतर। लक्षण = पहचान। आप्तोपदेशः शब्दः = (संस्कृत की एक उक्ति) = मान्य व्यक्तियों का वचन ही प्रमाण है। आप्तजन = प्रतिष्ठित व्यक्ति। प्रत्यक्ष = सामने। प्रमाणों = सबूतों। सर्वथा = बिलकुल। शब्द-बद्ध = शब्दों में बाँधते हैं। सद्गुणों = अच्छे गुणों। सयुक्त = अच्छी तरह सम्बद्ध। आप्त = मान्य। सहजतया = आसानी से। आदर-द्योतक = आदर प्रदर्शित करने में। शत्रु = दुश्मन। पुलक प्रफुल्लित-पूरित गाता = शरीर आनन्द से पुलकित हो जाय। व्यवहारकुशल = वर्ताव में निपुण। लोकाचारी = सांसारिक व्यवहार में। उचित = ठीक। सम्मान = आदर।

शब्दार्थ (पारा ८, पृ० १२-१३)—बात के बतंगर से = बात को बढ़ाने से। कथन = कहना। रूपान्तर = बदला हुआ रूप। सूचनार्थ = सूचना के लिए। विद्यमान = वर्तमान, उपस्थित। जनों = लोगों। परमात्मा =

ईश्वर । अभिन्नता = भेद नहीं है। बाह्य = बाहरी। अहंकार = गर्व, घमण्ड। गंध = बू। पूर्ण = पूरा। विदित करने को = जाहिर करने को। एवं = और। सम्पादित = पूरा।

वहाँ भी शब्द और अर्थ............आवश्यकता नहीं है, इत्यादि।

[पारा ६, पृ० १३]

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियाँ पं० प्रतापनारायण मिश्र के निबन्ध 'आप' से ली गई हैं। इनमें लेखक ने यह बतलाने की चेष्टा की है कि 'आप' शब्द संस्कृत के 'आप्त' शब्द का ही हिन्दी रूपान्तर है। यह (आप) शब्द मध्यम पुरुष में आदर प्रदर्शित करने के काम में आता है। हाँ, कभी-कभी इसका प्रयोग उत्तम पुरुष के लिए भी किया जाता है। इसमें भी आदर-द्योतन करने में प्रयुक्त होता है, परन्तु इसमें खूबी यह होती है कि वहाँ वह निश्चय-बोधक होता है और उसी को व्यक्त करने के फलस्वरूप हम और आप कह उठते हैं कि 'हम आप कर लेंगे'। इसमें कहने का तात्पर्य यह है कि हम यह कार्य स्वयं सम्पादित कर लेंगे।

शब्दार्थ (पारा १०, पृ० १३)—महाराष्ट्रीय भाषा = मराठों की भाषा। उन्नीस बिस्वा = बीस में उन्नीस अर्थात् प्रधानतः। अब्बा = पिता। यूरोपीय भाषाओं = यूरोप की भाषाओं। पापा = पिता। पोप = धर्मपिता। एबॉट (Abbot) = महंत। स्थानापन्न = उसके स्थान पर (officiating), वरंच = बल्कि।

शब्दार्थ (पारा ११, पृ० १३-१४)—उच्च वंश = अच्छे खानदान। सहवास = साथ निवास करने के, सम्पर्क। पक्ष = ओर। तनिक भी = थोड़ी भी। कठिन = मुश्किल। स्थूलांग स्त्री = मोटी अंगवाली स्त्री। सृष्टि = रचना। रूपान्तरित = परिवर्तित। सतसई = महाकवि बिहारी-लिखित दोहों के अपूर्व संग्रह का नाम है। लोप = गायब।

हमारे प्रान्त के बहुत-से.........उलट-फेर से बने हैं।

[पारा ११, पृ० १३-४]

सारांश—निबन्धकार प० प्रतापनारायण मिश्र ने यह बतलाने की चेष्टा की है कि बहुत-से अच्छे परिवार के बच्चे अपने पिता को अप्पा कहते हैं, उसे, कुछ लोग समझते हैं कि यह मुसलमानों के सम्पर्क का परिणाम है। परन्तु उन लोगों की धारणा बिल्कुल गलत है, क्योंकि मुसलमान लड़के अपने पिता को 'अब्बा' कहते हैं, न कि 'अप्पा'। अंग्रेजी और फारसी में 'तकार' और 'टकार' का उच्चारण कठिन है, परन्तु हिन्दी में 'वकार' का उच्चारण करना कठिन नहीं है। इसीलिए 'आप्त' से आप, अप्पा और आपा बना है जिसे अरबवालों ने 'अब्बा' में बदल दिया है। अरबी की वर्णमाला में 'पकार' नहीं होता है। आप, अप्पा, आपा से ही बप्पा, बाप, बापू, बब्बा, बाबा, बाबू आदि भी निकले हैं, क्योंकि एशिया की कुछ भाषाओं में 'पकार' को 'बकार' या 'फकार' में बदल लिया जाता है, कहीं-कहीं शब्द के शुरू में 'व' जोड़ दिया जाता है और कहीं-कहीं ह्रस्व अकारान्त शब्दों में अकार के बदले ह्रस्व या दीर्घ उकार भी हो जाता है, जैसे—एक-एकु, स्वाद-स्वादु आदि। कहने का तात्पर्य्य यह है कि जिन शब्दों में अकार या पकार का सम्पर्क है और जिन शब्दों के अर्थ से श्रेष्ठता की ध्वनि निकलती है, वे 'आप्त' या 'आप' के ही रूपान्तर मात्र हैं।

शब्दार्थ (पारा १२, पृ० १४)—आप समझदारी के कौन हैं = आपकी समझ क्या है? उचित = ठीक। दमड़ी-छदाम की समझ = कुछ भी समझ। पसारी = बनिया। लेख = निबन्ध। आपे से बाहर हो जाना = क्रोधित होना। अपराध = कसूर, दोष। जी = मन। शाब = महोदय।

[ङ] आलोचनात्मक प्रश्नोत्तर

प्रश्न १—'आप' शीर्षक निबन्ध के लेखक पं० प्रतापनारायण मिश्र का आलोचनात्मक परिचय दीजिये।

उत्तर—लेखक का परिचय पढ़ें।

प्रश्न २—'आप' शीर्षक निबन्ध का सारांश लिखिये।

उत्तर—निबन्ध का सारांश पढ़ें।

प्रश्न ३—'आप' शीर्षक निबन्ध का आलोचनात्मक परिचय दीजिये।

उत्तर—'आप' शीर्षक निबन्ध की आलोचना पढ़ें।

प्रश्न ४—'आप' शीर्षक निबन्ध के उद्देश्य पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—'आप' एक वैयक्तिक निबन्ध (Personal Essay) है। इस कोटि के निबन्धों में हास्य एवं व्यंग्यपूर्ण शैली में मनोरंजन की मात्रा अधिक रहती है। यह एक गभीर विषय है, पर विषय का प्रतिपादन विनोदपूर्ण एवं मनोरंजक ढंग से हुआ है। इस निबन्ध में उनका व्यक्तित्व मुखरित है। इस निबन्ध के लिखने का एकमात्र उद्देश्य है—'आप' शब्द का व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालना और वे अपने उद्देश्य में सफल भी हुए हैं।

प्रश्न ५—"जिन शब्दों में अकार और पकार का सम्पर्क हो एवं अर्थ से श्रेष्ठता की ध्वनि निकलती हो वह प्रायः समस्त संसार के शब्द 'आप्त' (महाशय) वा 'आप' ही के उलट-फेर से बने हैं"—पं० प्रताप नारायण मिश्र के कथन की पुष्टि कीजिये।

उत्तर—हमलोग प्रतिदिन 'आप' शब्द का प्रयोग करते हैं, परन्तु कभी उसकी उत्पत्ति, उसके अर्थ एवं प्रयोग में आने के कारणों पर विचार नहीं करते हैं। इसी तथ्य पर प्रकाश डालना निबन्धकार का एकमात्र उद्देश्य है। प्रस्तुत निबन्ध में विद्वान् निबन्धकार द्वारा यह बतलाया गया है कि 'आप' न अरबी, न फारसी, न अंग्रेजी का शब्द है, वरन् यह हिन्दी भाषा का शब्द है। यह एक सर्वनाम है। जिस प्रकार 'मैं', 'तू', 'हम', 'तुम', 'यह', 'वह' आदि सर्वनाम है उसी प्रकार 'आप' भी एक सर्वनाम है। यह संस्कृत के 'आप्त' शब्द से बना है और यह सर्वदा माननीय अर्थ में प्रयुक्त होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'आप' एक आदरसूचक शब्द है और इसी से आपा, अप्पा, अब्बा आदि शब्द बने हैं। बाबा, बाबू, बाप, बापू, बब्बा आदि अनेक शब्द भी 'आप' शब्द के बदले हुए रूप हैं।

'आप' शब्द की उत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए विद्वान् लेखक ने यह बतलाने की कोशिश की है कि संसार की अनेक भाषाओं में 'पकार' को 'बकार' या 'फकार' से बदल लेते हैं और कहीं-कहीं शब्द के शुरू में 'व' जोड़

देते हैं एवं कहीं-कहीं शब्द के शुरू के ह्रस्व अकार का लोप कर दिया जाता है। कुछ भाषाओं में ह्रस्व अकारान्त शब्दों में अकार के स्थान पर ह्रस्व या दीर्घ 'उकार' जोड़ देते हैं, जैसे—एक—एकु, स्वाद—स्वादु आदि। और ह्रस्व को दीर्घ, दीर्घ को ह्रस्व अ, इ, उ आदि वृद्धि या लोप भी हुआ करता है।

पं० प्रतापनारायण मिश्र ने अंत में यह बतलाया है कि संसार में प्रायः सभी शब्द जिनमें अकार और पकार का सपर्क है और जिसका अर्थ श्रेष्ठता-सूचक है, वे सभी शब्द 'आप्त' या 'आप' शब्द के ही रूपान्तर हैं।

आत्मकथा

(लेखक—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी)

जन्म सं० १९२१ :: मृत्यु सं० १९९५

[क] लेखक का परिचय

प्रस्तुत 'आत्मकथा' के लेखक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी हैं। हिन्दी के वर्त्तमान गद्यकारों में महावीरप्रसाद द्विवेदी का पद महान् और असाधारण महत्त्व का है। द्विवेदीजी के आविर्भूत होते ही हिन्दी का नवयुग प्रारंभ होता है।

जीवन-परिचय ऐसे महान् तपस्वी का जन्म रायबरेली जिला-अन्तर्गत दौलतपुर ग्राम के एक साधारण ब्राह्मण-कुल में वैशाख-शुक्ल ४, संवत् १९२१ को हुआ था। इनके पिता का नाम था पं० रामसहाय द्विवेदी, पर वे लक्ष्मणजी के नाम से प्रसिद्ध थे। इनका समस्त जीवन संघर्षमय रहा है। इन्होंने बचपन में ही घर पर संस्कृत पढ़ी और ग्राम-पाठशाला में उर्दू-फारसी का ज्ञान प्राप्त किया। पुरवा और उन्नाव के स्कूलों से प्राइमरी और मिडिल की परीक्षाएँ पास करके रायबरेली के जिला-स्कूल में तेरह वर्ष की उम्र में अंग्रेजी पढ़ने आये। वे घर से आटा-दाल पीठ पर लादकर ले जाया करते थे, अपने से भोजन बनाया करते थे। इस प्रकार उन्होंने एक वर्ष व्यतीत किया। बाद में वे पुरवा, फतेहपुर और उन्नाव के स्कूलों में चार वर्षों तक पढ़े। घर की दशा खराब थी, इसलिए वे आगे न पढ़ सके। एक वर्ष अजमेर में पन्द्रह रुपये पर नौकरी करके वे अपने पिता के पास बम्बई पहुँचे और तार का काम सीखकर जी० पी० रेलवे में बीस रुपये मासिक वेतन पर तार बाबू का काम करने लगे। इस नौकरी के सिलसिले में इन्हें भारत के विभिन्न नगरों

में, जैसे—नागपुर, बम्बई, अजमेर आदि में रहने का अवसर मिला जिससे इन्होंने मराठी, गुजराती और बँगला भाषाएँ भली-भाँति सीख लीं। ये टेलीग्राफ के काम सीखकर उसमें भी बहुत निपुण हो गए और रेलवे की नौकरी में इनकी बहुत शीघ्र पदोन्नति होती गई। ये टेलीग्राफ इन्सपेक्टर हो गए, किन्तु एक दिन नए आए हुए अंग्रेज डी० टी० एस० (डिविजनल ट्राफिक सुपरिण्टेण्डेण्ट) से इनकी कुछ कहा-सुनी हो गई और उक्त नौकरी से दूसरे ही दिन इस्तीफा दे दिया। इस्तीफा वापिस लेने की सिफारिशें भी आयीं, परन्तु सब व्यर्थ रहा। पत्नी ने भी उनका साथ दिया। इसके पश्चात् वे साहित्य-सेवा में लग गए और तेईस रुपये में ही अपना तथा अपने परिवार का भरण-पोषण करने लगे। रेलवे में उन्हें दो सौ रुपये मिलते थे, परन्तु दो सौ रुपये की नौकरी को लात मारकर तेईस रुपये की नोकरी स्वीकार करने का निश्चय द्विवेदीजी ने किया। वह वास्तव में हिन्दी के लिए एक युगान्तरकारी दिन था। द्विवेदीजी एक प्रतिभाशाली व्यक्ति थे।

साहित्य से अनुराग होने के कारण ही उन्होंने नौकरी से त्याग-पत्र दिया और साहित्य के रंगमच पर अवतरित हुए। उन्हीं दिनों हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्रिका 'सरस्वती' का प्रकाशन हुआ था और सन् १९०६ ई० में उन्होंने उस पत्र का सम्पादन-कार्य ग्रहण किया। तब से वे बीस वर्षों तक उसके सम्पादक रहे। उस पत्र के द्वारा वे हमेशा हिन्दी भाषा और साहित्य की बहुमूल्य सेवा करते रहे।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी अपने जीवन को नियम के साँचे में ढाले हुए थे। वे आम खाने के बहुत बड़े शौकीन थे। वे मितव्ययी थे और फिजूल-खर्ची के बहुत बड़े विरोधी थे। वे अपनी आमदनी और खर्च का पूरा-पूरा हिसाब रखते थे। वे एक-एक पाई का हिसाब रखते थे जिससे यह भी पता चल जाता था कि किस दिन उन्होंने कितना खर्च किया है। इसके बावजूद वे एक उदार व्यक्ति थे। उन्होंने अपने कठिन परिश्रम की अधिकांश कमाई (६४०० रुपये) हिन्दू-विश्वविद्यालय को छात्रवृत्तियों के लिए अर्पित कर दी

थी। द्विवेदीजी के कोई संतान नहीं थी। अकस्मात् दिसम्बर २१, सन् १६३८ ई० को जलोदर रोग के कारण उनकी मृत्यु हो गई।

प० महावीरप्रसाद द्विवेदी आधुनिक हिन्दी के युग-प्रवर्तक लेखक और आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य रहा है साहित्य-सेवा। साहित्य की सेवा करना ही उनके जीवन का एक महान लक्ष्य रहा है। वे पंडित होते हुए भी अपरिग्रही थे। वर्त्तमान हिन्दी साहित्य के वे अनन्य निर्मापक थे। उन्होंने अपनी दीर्घकालव्यापी हिन्दी की सेवाओं से भाषा और साहित्य में समीचीनता का सृजन किया है। वे अनेक ग्रंथों के लेखक हैं और उन्होंने विभिन्नविषयक सहस्रों लेख लिखे हैं। हम उनकी रचनाओं के अनेक रूप पाते हैं और वे हैं—

द्विवेदीजी की रचनाएँ

[क] अनूदित ग्रन्थः—पद्य के अनूदित ग्रन्थ हैं—विनय-विनोद (१८८६), स्नेहमाला (१८६०), विहार-वाटिका (१८६०), ऋतुरंगिणी (१८६१) और कुमारसंभव-सार (१६०२)। गद्य के अनूदित ग्रन्थ हैं—गंगालहरी (१८६१), वेकन विचार-रत्नावली (१८६६), भामिनी-विलास (१६००), स्वाधीनता (१६०७), हिन्दी महाभारत (१६०८), शिक्षा-शास्त्र (१६१०), रघुवंश (१६१२), कुमारसंभव (१६१५), मेघदूत (१६१५) और किरातार्जुनीय (१६१६)। शिवमहिम्नस्तोत्र (१८६१) में गद्य और पद्य, दोनों प्रकार की अनूदित रचनाएँ हैं।

[ख] मौलिक काव्य-ग्रंथ—महावीरप्रसादद्विवेदी-लिखित सन् १८६५ से १६०२ तक की कविताओं का संकलन है 'काव्य-मंजूषा'। 'सुमन' इसी काव्य-संग्रह का एक नवीन संस्करण है। 'देवीस्तुति-शतक' भी द्विवेदीजी का स्वतंत्र काव्य-संग्रह है।

[ग] मौलिक गद्य-ग्रंथ—उनके मौलिक गद्य-ग्रन्थों के विषय अनेक हैं—आलोचना, निबन्ध, जीवनियाँ, चिकित्सा आदि। उनके मौलिक गद्य-ग्रंथ निम्नांकित हैं:—नैषधचरितचर्चा (१६००), हिन्दी कालिदास की समालोचना, लाला सीताराम की रचनाओं की आलोचना (१६०१), दार्शनिक

परिभाषा शब्दकोष (१६०२), हिन्दी रीडर की आलोचना (१६०२), नाट्य-शास्त्र (१६०३), जल-चिकित्सा (१६०५) विक्रमाङ्कदेव-चरित-चर्चा (१६०७), हिन्दी भाषा की उत्पत्ति (१६०७), सम्पत्तिशास्त्र (१६०८), प्राचीन पंडित और कवि (१६१८), वनिता-विलास (१६१६), औद्योगिकी, रसज्ञ-रंजन, कालिदास (१६२०), सुकवि-कीर्तन (१६२२), वक्तृत्व-कला (१६२३), अद्‌भुत आलाप, साहित्य-सदर्भ (१६२४), आख्यायिका-सप्तक, कोविद-कीर्तन, विदेशी विद्वान, पुरावृत्त, आध्यात्मिकी (१६२७), आलोचनांजलि, समालोचना-समुच्चय (१६२८), प्राचीन चिह्न, वैचित्र्य चित्रण, पुरातत्त्व-प्रसंग, साहित्य-सीकर (१६२६), संकलन और विचार-विमर्श (१६३१), अवध के किसानों की बरबादी, दृश्य-दर्शन, चरित्र-चित्रण, विज्ञ-विनोद, लेखांजलि, साहित्यालाप, वाग्विलास, महिला-मोद, विज्ञान-वार्त्ता, कालिदास की कविता, वेणी-संहार, शिक्षा-सरोज, कानपुर का भूगोल आदि। टेलीग्राफी उनकी अंग्रेजी भाषा में रचना है।

अभी हम उनकी रचनाओं की एक तालिका प्रस्तुत कर चुके हैं जिससे यह साफ जाहिर होता है कि द्विवेदीजी की साहित्यिक रचनाएँ काफी हैं और वे अनेक विषयों से संबधित हैं। वे एक प्रतिभाशाली व्यक्ति होने के साथ-साथ एक कर्मठ व्यक्ति थे। उन्होंने अपने युग को अच्छी तरह पहचाना था और उस युग को किस प्रकार के साहित्य की जरूरत थी, वे इस तथ्य से पूर्णरूप से वाकिफ थे। साहित्य का सबंध समाज से है और समाज जनसाधारण से बना है। इसलिए साहित्य-रचना के समय उन्होंने समाज की मनोवृत्तियों पर काफी ध्यान दिया। द्विवेदीजी के ग्रंथों के विषय मुख्यतया चार प्रकार के हैं—(क) उन्होंने कुछ ऐसे विषयों को चुना, जो पहले नहीं लिखे गए थे, जैसे—सम्पत्तिशास्त्र, पुरातत्त्व, शिक्षा आदि। (ख) खोज और गवेषणा-संबंधी रचनाएँ (ग) आलोचनात्मक रचनाएँ जिनके अन्तर्गत उन्होंने तत्कालीन भाषा-शैली एवं साहित्य के विभिन्न अंगों की आलोचना की। (घ) सामयिक विषय से संबंधित रचनाएँ।

द्विवेदीजी के ग्रंथों के विषय

आचार्य महावीरप्रसादद्विवेदीजी की कर्त्तव्यनिष्ठा ने हिन्दी साहित्य के परिवर्धन और विकास में पर्याप्त सहायता पहुँचायी है। वे अपने युग के आचार्य थे। 'सरस्वती' में आने के पूर्व ही वे अपनी मौलिक सूझ और आलोचनात्मक दृष्टि का परिचय दे चुके थे। सम्पादक द्विवेदीजी की लौह-लेखनी ने तो भाषा के बिगड़े स्वरूप को सँवारकर ही छोड़ा। असंबद्धता, अस्पष्टता और स्वच्छन्दता से दूर होकर एक संयत शैली का जन्म हुआ। हिन्दी साहित्य में जिन विषयों की कमी थी उन्हे पूरा करने में ये सर्वोत्तम संकलनकर्त्ता सिद्ध हुए। साहित्य और ज्ञान-विज्ञानविषयक इनके मौलिक निबन्ध मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक होते थे। हिन्दी का स्तर ऊँचा करने के लिए इन्होंने कड़ी, परन्तु निष्पक्ष समालोचनाओं की नींव डाली। द्विवेदीजी हिंदी भाषा के 'जानसन' (Johnson) थे। हिन्दी-जगत् ने इन्हे 'आचार्य' की पदवी से विभूषित कर अपनी गुणग्राहकता का परिचय दिया।" (जैन)

द्विवेदीजी का महत्त्व और उनकी साहित्यिक विशेषताएँ

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने उन्नीसवीं शताब्दी में गद्य की भाषा को एक निश्चित-साहित्यिक रूप देकर गद्य-साहित्य की जो परम्परा चलाई थी वह अधिक दिनों तक स्थिर रह न सकी। सर्वसाधारण में हिन्दी के प्रचार से भाषा विशृंखल और अव्यवस्थित हो गई। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने साधारण जनता में प्रचार के लिए उपयुक्त भाषा को स्थिर और निश्चित रूप देकर गद्य-साहित्य की एक नई परम्परा चलाई जो आधुनिक काल में निरन्तर विकसित होती जा रही है। 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप मे द्विवेदीजी ने हिन्दी के विकास और परिमार्जन का दुहरा काम किया। एक ओर तो वे नए हिन्दी-लेखकों को गद्य-पद्य में साहित्यिक रचना लिखने के लिए प्रेरित एवं प्रोत्साहित करते तथा दूसरी ओर वे नए एव पुराने लेखकों की भाषा-शैली का व्याकरण तथा व्यवहार की दृष्टि से परिमार्जन और परिष्कार करते। उनकी प्रेरणा पाकर मैथिलीशरण गुप्त, गणेशशंकर विद्यार्थी, प्रेमचन्द-जैसे महान् साहित्यकार हिन्दी के क्षेत्र में आए। भाषा के स्वरूप को सँवार-सुधारकर स्थिर करने के

लिए उन्होंने विराम-चिह्नों के प्रयोग एवं लेखों को पेराग्राफ में विभाजित करने की आवश्यकता पर ध्यान दिया। व्याकरण की सामान्य भूलों को सुधारकर लेखकों का ध्यान उस ओर आकृष्ट किया। उन्होंने प्रान्तेज एवं क्षणभंगुर शब्दों को पीछे डालकर व्यापक शब्दों के लिए लोगों को उत्साहित किया। उन्होंने 'प्रेम फसफसाया' या 'शौक चर्राया'-जैसे अश्लील शब्दों के प्रयोग का भी विरोध किया। सच तो यह है कि द्विवेदीजी हिन्दी के प्रचारक ही नहीं, सुधारक भी थे।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य में सम्पादक, निवन्धकार, आलोचक और कवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। सम्पादक के रूप में द्विवेदीजी बेजोड़ हैं, उनका कोई मुकावला करनेवाला नहीं है। निवन्धकार के रूप में उन्हें अधिक यश नहीं मिला; क्योंकि उनके निवन्ध उद्देश्यपूर्ण होते थे। उनके निबन्ध प्रायः पाँच प्रकार हैं—[क] साहित्यिक [ख] ऐतिहासिक [ग] वैज्ञानिक [घ] आध्यात्मिक [ङ] जीवन-परिचय-संबधी। इन निबन्धों की शैली भिन्न है। कवि के रूप में भी उन्हे प्रसिद्धि नहीं मिली है, पर आलोचक के रूप में वे वहुत ऊँचे उठे हुए हैं। उनकी आलोचना-शैली दो प्रकार की है —[क] निर्णयात्मक और [ख] व्याख्यात्मक। तुलनात्मक आलोचना उन्होंने वहुत कम लिखी हैं। हिन्दी में आलोचना-साहित्य के वे प्रथम प्रणेता थे।

द्विवेदीजी हिन्दी के पूर्ण अधिकारी विद्वान होने के अतिरिक्त संस्कृत, उर्दू, फारसी, बँगला, मराठी, गुजराती, अंग्रेजी आदि विभिन्न देशी एवं विदेशी भाषाओं के भी मर्मज्ञ थे। मराठी और संस्कृत के अतुकांत पदों की शैली में उन्होंने खड़ी वोली में संस्कृत वृत्तों में अतुकात कविता का सूत्रपात किया। हरिऔधजी ने इसी मार्ग का अनुसरण कर 'प्रियप्रवास' महाकाव्य की रचना की, किन्तु वे कविता से अधिक गद्य के स्वरूप को सँवारने और सुधारने में लगे। एतदर्थ उन्होंने विविध प्रकार के लेख, निवन्ध और समालोचनाएँ लिखीं। उनकी आलोचना की पुस्तकें—'विक्रमाकदेवचरित-चर्चा', 'नैषधचरित-चर्चा', 'कालिदास की निरंकुशता', 'हिन्दी में कालिदास की आलोचना' वहुत समादृत

हुई। इसी प्रकार द्विवेदीजी के बीसियों निबन्ध विषय की रोचकता और शैली की विशिष्टता के कारण अपने समय के आदर्श थे।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी के एक प्रगाढ़ विद्वान थे। भाषा की दृष्टि से वे बेजोड़ थे। द्विवेदीजी की भाषा-शैली अत्यन्त ही प्रवाह-पूर्ण, चलती हुई और प्रभावोत्पादक थी। वे सरल एवं सुबोध हिन्दी के पक्षपाती थे। वे प्रान्तीय और नितान्त ठेठ शब्दों की भरती के पक्षपाती न थे। संस्कृत के प्रचलित शब्दों के व्यवहार पर वे अधिक जोर देते थे। फिर भी वे संस्कृत के संज्ञा या विशेषण शब्दों को भाववाचक संज्ञा के रूप में परिवर्तित करना हिन्दी के ढंग पर ही उचित समझते थे, जैसे 'मृदु' का 'मार्दव' या 'मृदुत्व' स्वीकार न कर 'मृदुता' करना अधिक देखा जाता है। उनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्राचुर्य है, जैसे—निष्कृप, निर्व्याज, आक्रोश, अक्षुण्ण आदि। शुद्ध संस्कृत-वाक्य-विन्यास के बीच उर्दू की मुहावरेबाजी भी कहीं-कहीं उनके निबन्धों में देखने को मिलती है, जैसे—'गनीमत थी', 'फरमा दीजिए', 'जले पर नमक छिड़का', 'होश उड़ गए', 'खुशामदियों से आठ पहर चौंसठ घड़ी घिरे रहें' आदि। द्विवेदीजी का शब्दचयन अत्यन्त उच्च कोटि का था। इसलिए वे संस्कृत, फारसी, अरबी, अंग्रेजी आदि के शब्दों को अवसरानुकूल नाप-तौलकर प्रयोग करते थे। वे हमेशा शब्दों के शुद्ध रूप लिखा करते थे और उसका उसी अर्थ में प्रयोग करते थे, जो अर्थ अपेक्षित होता था। उनकी कलम से जो भी शब्द निकलते थे, उनकी अन्तरात्मा से वे पूर्णतया परिचित थे। द्विवेदीजी का वाक्य-विन्यास बहुत ही चुस्त और दुरुस्त होता था। छोटे-छोटे वाक्यों में उनकी विचारधारा स्वाभाविक रूप से प्रवाहित होती थी। उनके निबन्धों को पढ़ने में पाठक को लम्बे-लम्बे वाक्यों की उलझन में अटकना और भटकना नहीं पड़ता है। उदाहरण के लिए देखिए—

द्विवेदीजी की भाषा-शैली

"जरा इन प्रश्नों को तो देखिए। स्वागत-सत्कार के ढंग पर तो विचार कीजिए। आप ही ने तो बुलाया और आप ही आने का

कारण पूछ रहे हैं ? यह दिल्लगी नहीं तो क्या है, और दिल्लगी भी बड़ी ही निष्करुण ? बात यहीं तक रहती तो गनीमत थी। कृष्ण ने तो, इसके आगे गोपियों को कुछ उपदेश भी दिया। उपदेश क्या दिया, जले पर नमक छिड़का।"

भावनाओं को व्यक्त करने के तीन ढंग हैं—व्यंग्यात्मक, आलोचनात्मक और गवेषणात्मक। इन तीनों ढंगों के लिए द्विवेदीजी ने तीन भिन्न-भिन्न शैलियों का विधान रखा। इसके कहने का यह तात्पर्य्य नहीं है कि इस प्रकार की शलियों का कभी प्रयोग नहीं हुआ था, प्रत्युत कहना यह है कि इन शैलियों को स्थिरता नहीं प्राप्त हुई थी और उनकी भाषा भी दूसरे प्रकार की थी। "भाव के साथ-साथ उसमें भी अंतर उपस्थित हुआ। उनकी व्यंग्यात्मक शैली की भाषा बिल्कुल व्यावहारिक है। जिस भाषा में कुछ पढ़ी-लिखी, अंग्रेजी का थोड़ा-बहुत ज्ञान रखनेवाली साधारण जनता बातचीत करती है, उसी का उपयोग इस शैली में किया गया है। इसम उछल-कूद, वाक्य-सरलता एवं लघुता के साथ-साथ भाव-व्यजना की प्रणाली भी सरल पाई जाती है। भाषा इसकी मानों चिकोटी काटती चलती है। इसमें एक प्रकार का मसखरापन कूट-कूटकर भरा रहता है। व्यग्यभाव भी स्पष्ट समझ में आ जाता है। व्यग्यात्मक शैली का एक उदाहरण लीजिए—

"इस म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन जिसे अब कुछ लोग कुरसीमैन भी कहने लगे हैं, श्रीमान् बूचा शाह हैं। बाप-दादे की कमाई के लाखों रुपया आपके घर भरा है। पढ़े-लिखे आप राम का नाम ही हैं। चेयरमैन आप सिर्फ इसलिए हुए हैं कि अपनी कारगुजारी गवर्नमेंट को दिखाकर आप रायबहादुर बन जायँ और खुशामदियों से आठ पहर चौसठ घड़ी घिरे रहे। म्युनिसिपैलिटी का काम चाहे चले चाहे न चले, आपकी बला से।"

ऊपर के संदर्भ को पढ़ने से यह साफ जाहिर हो जाता है कि इसके प्रत्येक शब्द में व्यंग्य की झलक पाई जाती है।

दूसरे प्रकार की शैली का प्रयोग आलोचनात्मक रचनाओं में किया जाता है। आलोचनात्मक रचनाओं मे भाषा कुछ गम्भीर और संयत हो गई है। मसखरापन निकालकर उसका एक सर्वांग नवीन रूप खड़ा किया गया है। भाषा के स्वरूप और मुहावरेदारी मे कोई अंतर नहीं पड़ा है, लेकिन प्रणाली आलोचनात्मक होने के कारण गाम्भीर्य और ओज से पुष्ट हो गई है। एक उदाहरण लीजिए—

"इसी से किसी-किसी का ख्याल था कि यह भाषा देहली के बाजार ही की बदौलत बनी है। पर यह ख्याल ठीक नहीं। भाषा पहले ही से विद्यमान थी और उसका विशुद्ध रूप अब भी मेरठ प्रान्त मे बोला जाता है। बात सिर्फ यह हुई कि मुसलमान जब यह बोली बोलने लगे तब उन्होंने उसमे अरबी-फारसी के शब्द मिलाने शुरू कर दिए, जैसे कि आजकल सस्कृत जाननेवाले हिन्दी बोलने में आवश्यकता से ज्यादा संस्कृत शब्द काम में लाते हैं। उर्दू पश्चिमी हिन्दुस्तान के शहरों की बोली है। जिन मुसलमानों या हिन्दुओं पर फारसी भाषा की छाप पड़ गई है, वे अन्यत्र भी उर्दू ही बोलते हैं।"

—ऊपर के अवतरण पढ़ने से यह साफ जाहिर हो जाता है कि इसमें उर्दू के भी तत्सम शब्द हैं और सस्कृत के भी। वाक्यों में बल कम नहीं हुआ, बल्कि गंभीरता का प्रभाव बढ़ गया है। द्विवेदीजी विशेषतया इसी शैली का प्रयोग करते थे।

गवेषणात्मक शैली में द्विवेदीजी ने बड़ी ही शक्तिशाली शब्दावली का प्रयोग किया है। भाषा-शैली भी संयत और धारावाहिक हुई है। अपनी इसी शैली में उन्होंने उर्दू तत्सम शब्दों को निकाल-बाहर किया है और विशुद्ध हिन्दी का रूप उपस्थित किया है। इसमें उनकी चिन्तनशील तथा दार्शनिक बुद्धि और प्रतिभा का चमत्कार अवश्य है। प्रधान रूप से इसमें उन्होंने गंभीर विषयों का प्रतिपादन किया है, इसलिए इसमें उनका प्रयत्न अधिक रहा है। उदाहरणस्वरूप एक अवतरण देखिए—

"अपस्मार और विक्षिप्तता मानसिक विकार या रोग हैं। उनका संबंध केवल मन और मस्तिष्क से है। प्रतिभा भी एक प्रकार का मनोविकार ही है। इन विकारों की परस्पर इतनी संलग्नता है कि प्रतिभा को अपस्मार और विक्षिप्तता से अलग करना और प्रत्येक का परिणाम समझ लेना बहुत ही कठिन है। इसीलिए प्रतिभावान पुरुषों में कभी-कभी विक्षिप्तता के कोई-कोई लक्षण मिलने पर भी मनुष्य उनकी गणना बावलों में नहीं करते। प्रतिभा में मनोविकार बहुत प्रबल हो उठते हैं। विक्षिप्तता में भी यही दशा होती है।"

ये वाक्य उनकी गवेषणात्मक शैली के उदाहरण हैं। आचार्य द्विवेदी की शैली के संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "द्विवेदीजी के लेखों को पढने से ऐसा जान पडता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों के लिए लिख रहा है। एक-एक सीधी बात कुछ हेरफेर—कहीं-कहीं केवल शब्दों के ही—के साथ पाँच-छः तरह से पाँच-छः वाक्यों में कही हुई मिलती है। उनकी यही प्रवृत्ति उनकी गद्य-शैली निर्धारित करती है। उनके लेखों में छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग अधिक मिलता है। नपे-तुले वाक्य को कई बार शब्दों के कुछ हेरफेर के साथ कहने का ढंग वही है जो वाद या संवाद में बहुत शान्त होकर समझाने-बुझाने के काम में लाया जाता है। उनकी यह व्यास शैली विपक्षी को कायल करने के प्रयत्न में बडे काम की है।"

भावावेश-दशा का चित्रण करने में भी द्विवेदीजी बहककर लम्बे-लम्बे वाक्यों का प्रयोग नहीं करते। हाँ, वे भावों की तीव्रता का निदर्शन करने के लिए कभी-कभी क्रिया-शब्दों में उलट-फेर अवश्य कर देते हैं; जैसे—'वे लगीं रोने। बड़े-बडे आँसुओं के साल, लगा उनकी आँखों का काजल बहने।' किन्तु शब्दों के उलट-फेरवाले प्रसंग उनके निबन्धों में कम ही हैं, और हैं भी वहीं, जहाँ उन्हें किसी विशेष मनोदशा का प्रत्यक्षीकरण कराना है, या किसी बात पर विशेष जोर देना है।

द्विवेदीजी ने पत्रकार, कवि, समालोचक एव निबंधकार के रूप में हिन्दी की जो महत्त्वपूर्ण सेवा की वह चिरस्मरणीय रहेगी। उन्होंने अपनी लौह-लेखनी

स भाषा को व्याकरण के नियमों से अनुशासित कर उसके रूप को स्थिरता प्रदान की। भारतेन्दु ने साहित्य का जो उद्यान प्रस्तुत किया था, द्विवेदीजी ने उसे ज्ञान से अभिषिंचित किया।

उपसंहार

इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता है कि इस महान कर्मयोगी के भगीरथ-प्रयत्नों से वह फल-फूल रहा है। हिन्दी ससार इस मनीषी को कभी न भुला सकेगा।

(ख) 'आत्मकथा' का सारांश

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म एक निर्धन ब्राह्मण के घर मे हुआ था और उनके पिता दस रुपये मासिक पर नौकरी करते थे। बचपन में उन्होंने अपने गाँव के एक मदरसे में थोड़ी-सी उर्दू और घर पर संस्कृत पढ़ी। तेरह वर्ष की अवस्था में वे राय बरेली के जिला स्कूल में अंग्रेजी पढने गए। वहाँ वे हमेशा आटा-दाल घर से पीठ पर लादकर ले जाया करते थे। उन्हे दो आने मासिक फीस देनी पड़ती थी। दाल ही मे आटे के पेड़े या टिकिया पकाकर अपना पेट भर लिया करते थे। रोटी बनाना वे नहीं जानते थे। उन दिनों उस स्कूल में संस्कृत भाषा मद्रास की शूद्र जाति के समान अछूत समझी जाती थी। उन्होंने यहाँ एक वर्ष तक शिक्षा पायी। उसके पश्चात् उन्होंने पुरवा, फतेहपुर और उन्नाव के स्कूलों में चार वर्ष काटे और यहीं उनकी स्कूली शिक्षा समाप्त हो गई।

तत्पश्चात् उन्होंने एक साल अजमेर में पन्द्रह रुपये की नौकरी की और फिर वे अपने पिता के पास बम्बई चले आए। वहाँ तार का काम सीखकर जी०आई० पी० रेलवे मे पचास रुपये मासिक वेतन पर तार बाबू बने। यों तो द्विवेदीजी बचपन से ही अच्छी सगति के अनुरागी थे और ऐसी संगति उन्हें हरदा और हुशगाबाद में मिली। फल यह हुआ कि यहाँ उन्होंने अपने सिद्धान्त यानी आदर्श निश्चित किये--(१) वक्त की पाबन्दी करना (२) रिश्वत न लेना (३) अपना काम ईमानदारी से करना और (४) ज्ञान-वृद्धि के लिए सतत प्रयत्न करते रहना। उनमे काम करने की लगन थी और इसीलिए तार बाबू होकर भी

टिकट बाबू, माल बाबू, स्टेशन मास्टर, यहाँ तक कि रेल की पटरियाँ बिछाने और उसकी सड़क की निगरानी करनेवाले प्लटियर (Prmanent way Inspector) तक का भी काम उन्होंने सीख लिया। इसका नतीजा अच्छा ही निकला। उनकी पदोन्नति होती गई और दस-बारह वर्ष बाद उनकी मासिक आय उनकी योग्यता से कई गुनी अधिक हो गई।

जब इंडियन मिडलैंड रेलवे बनी तब इनकी बदली झाँसी हो गई, परन्तु कुछ दिनों के बाद यह जी० आई० पी० से मिला दी गई, तो कुछ दिनों तक बम्बई में रहकर उन्होंने अपना तबादला झाँसी करा लिया। यहाँ वे पाँच वर्षों तक डिस्ट्रिक्ट सुपरिण्टेण्डेण्ट के दफ्तर में काम करते रहे। उन्हीं दिनों दिल्ली में लार्ड कर्जन का देहली-दरबार हुआ था जिसमें द्विवेदीजी को अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता था। उस समय वे अपने अफसर के नाम आये तारों को लेकर जवाब दे दिया करते थे और इन्हीं सब कामों के कारण द्विवेदीजी को काफी रुपये मिलते थे।

कुछ समय के पश्चात् उन्हे यह आज्ञा मिली कि वे अन्य कर्मचारियों के साथ आठ बजे सुबह दफ्तर में आया करें और दस बजे सभी आवश्यक कागजात टेबुल पर रख दिए जायँ। इस आज्ञा को सुनकर उन्होंने अपनी जवाबदेही ले ली, लेकिन अन्य कर्मचारियों का भार लेना अस्वीकार कर दिया, जिसके फलस्वरूप उन्हे इस्तीफा दे देना पड़ा। इस्तीफा वापस ले लेने के लिए कई सिफारिशें आयीं, परन्तु इस संबंध में उन्होंने पत्नी से राय ली तो उन्होंने विषण्ण होकर कहा, "क्या थूककर भी उसे कोई चाटता है? जिसके फलस्वरूप वे 'सरस्वती' मासिक-पत्रिका की सेवा में संलग्न हो गए और उससे उन्हे हर महीने जो २०) रुपये उजरत और ३) रुपये डाकखर्च की आमदनी होती थी, उसीसे संतुष्ट रहने का निश्चय किया।

द्विवेदीजी के पिता ईस्ट इंडिया कम्पनी की एक पलटन में सिपाही थे और वे राम-लक्ष्मण के परम भक्त थे। इसीलिए उनके साथी सिपाही उन्हें 'लक्ष्मणजी' कहा करते थे। सन् १८५७ की गदर में उनके पिता की पलटन बागी हो गई। द्विवेदीजी के पिता ने सतलज नदी में कूदकर अपनी जान

वचायी और कई महीने वाद भूलते-भटकते किसी प्रकार घर पहुँचे। घर पर कुछ दिन रहकर वे वम्बई चले गए और वहीं एक ठाकुरवाड़ी में पुजारी हो गए। फिर सज्ञ के लिए वम्बई छोड़कर घर चले आए।

द्विवेदीजी के पितामह संस्कृतज्ञ थे और अच्छे पडित भी। वे प्राय: पुराण सुनाया करते थे। उनकी एकत्र की हुई सैकड़ों हस्तलिखित पुस्तकें वेच-वेचकर उनकी पितामही ने द्विवेदी के पिता और पितृव्य आदि का पालन किया। उनके पितृव्य दुर्गाप्रसाद साधारण हिन्दी के ज्ञाता थे और किस्सा-कहानी कहने की उनमें वड़ी वाक्य-पटुता और चातुरी थी। यही कारण है कि रायवरेली जिले के दीनशाह के गौरा के तत्कालीन ताल्लुकेदार भूपालसिंह के यहाँ किस्से सुनाने के लिए वे नौकर थे। उनके नाना और मामा भी संस्कृतज्ञ थे।

वचपन से ही द्विवेदीजी का अनुराग तुलसीदास की रामायण और व्रजवासीदास के व्रजविलास पर हो गया था। फुटकर कवित्त भी उन्होंने सैकड़ो कण्ठ कर लिये थे। भारतेन्दु हरिश्चंद्र के 'कवि-वचन-सुधा' और गोस्वामी राधाचरण की एक मासिक पत्रिका ने उनके इस अनुराग की वृद्धि कर दी थी। हुशंगावाद में ही उन्होंने एक सज्जन से पिंगल पढ़ा। झाँसी आने पर उन्होंने प्रकृत कवियों के काव्यों का अध्ययन किया अपनी गलती महसूस की। पद्यों की ओर से अपनी मनोवृत्ति हटाकर उन्हों ने गद्य की शैली को सजाना और सँभालना शुरू किया। वाद में उन्हों ने संस्कृत और अंग्रेजी पुस्तकों का अनुवाद भी किया।

जिन दिनो द्विवेदीजी झाँसी में थे, उन दिनों वहाँ के तहसीली स्कूल के एक अध्यापक ने उन्हें कोर्स की एक पुस्तक "तृतीय रीडर' दिखाई और उसे पढ़कर उन्होंने एक समालोचना लिखी, जो प्रकाशित हुई। इस तृतीय रीडर के प्रकाशक थे—इंडियन प्रेस, इलाहावाद। अतएव इस आलोचना के कारण उनका इंडियन प्रेस से परिचय हो गया। कुछ समय वाद इंडियन प्रेस, प्रयाग ने 'सरस्वती' मासिक पत्रिका के संपादन का भार उनके ऊपर सौंप दिया।

रेलवे की नौकरी छोड़ने के वाद उनके कई मित्रों ने उन्हे कई ढग से सहायता करने का विचार प्रकट किया, परन्तु वे कृतज्ञतापूर्वक अनिच्छा प्रकट करते गए। अंत में उन्होंने अपनी शक्ति को 'सरस्वती' के सपादन में खर्च करना शुरू कर दिया और इस कार्य में तल्लीन हो गए हाँ, जब-कभी उन्हे थोड़ा-वहुत समय मिल जाया करता, वे अनुवाद-कार्य में लग जाते। समय की कमी के कारण वे अधिक अध्ययन नहीं कर पाते थे। यही कारण है कि 'सम्पत्तिशास्त्र' नामक पुस्तक को छोड़कर कोई भी दूसरी पुस्तक नहीं लिख सके। 'सरस्वती' की उत्कृष्टता द्विवेदीजी की विद्वत्ता के कारण हुई और इसी पत्रिका के हेतु वे एक सफल ग्रंथकार, लेखक, समालोचक और कवि कहलाने लगे। द्विवेदीजी की लिखी पुस्तक 'सुहागरात' की प्रशंसा उनके मित्रों ने खूब की। उन्होंने अपनी पत्नी की नजर बचाकर प्रस्तुत पुस्तक की रचना की थी, परन्तु सयोग की वात ऐसी रही कि उनकी पत्नी ने उसे देख लिया और पन्ने-पन्ने उलटकर पढ़ गई और क्षुब्ध हो उठी। इसके फलस्वरूप वह (पुस्तक) पत्नी के वक्स में जाकर वन्द हो गई और उसे कालेपानी की सजा हो गई। यों तो पत्नी की मृत्यु के पश्चात् इस पुस्तक को मुक्ति मिली, परन्तु उन्हे एकान्त-सेवन का ही अवसर दिया गया।

'सरस्वती' के सपादन का भार उठाने पर उन्होंने चार आदर्श निश्चित किये थे और वे हैं—(क) समय की पावंदी, (ख) मालिकों का विश्वासपात्र वनने का प्रयत्न करना, (ग) स्वार्थ का त्याग और पाठकों के हानि-लाभ का ख्याल रखना और (घ) न्याय-पथ से कभी विचलित न होना।

द्विवेदीजी जव 'सरस्वती' के सपादक हुए तब उन्होंने प्रकाशन-सवंधी अनेक वातों पर ध्यान दिया। इसीलिए 'सरस्वती' हमेशा निश्चित समय पर प्रकाशित होती रही। द्विवेदीजी उक्त पत्र के लिए कम-से-कम छः महीने आगे की सामग्री सदा अपने पास तैयार रखते। इसीलिए सोलह-सत्रह वर्ष के दीर्घकाल में, एक वार भी सरस्वती का प्रकाशन नहीं रुका। जव उन्होंने 'सरस्वती' का सम्पादन-भार दूसरे को सौंपा था तव उन्होंने नये सम्पादक को वहुत वचे हुए लेख अर्पण किये थे।

'सरस्वती' के प्रकाशन के पीछे जो उद्देश्य था, उसकी रक्षा द्विवेदीजी ने दृढ़ता के साथ की। कुछ समय में विश्वासपात्रता तो ऐसी प्राप्त हुई कि स्वामी की प्रसन्नता से द्विवेदीजी की उत्तरोत्तर वेतन-वृद्धि होने लगी और उनकी आर्थिक स्थिति प्रायः वैसी ही हो गइ जैसे कि रेलवे की नौकरी छोड़ने के समय थी। द्विवेदीजी के उत्साह को वाबू चिन्तामणि घोप की उदारता और सौजन्य ने परिवर्द्धित किया। 'सरस्वती' के स्वामी ने कभी भी इनक स्वातन्त्र्य में वाधा नहीं डाली। घोप वावू द्विवेदीजी को अपने परिवार का एक सदस्य समझते थे। इतना ही नहीं, उनके उत्तराधिकारी को भी उन्हीं के जैसा समझते थे।

उन दिनों 'सरस्वती' ही एकमात्र ऐसी पत्रिका थी, जो पाठकों की सेवा करती आ रही थी। द्विवेदीजी के समय में उक्त पत्रिका दिन दूनी रात चौगुनी वढ़ने लगी। उन दिनों वहुत-से लोग 'सरस्वती' में अपने लेख, भाषण, जीवन-चरित्र छपवाने के लिए ललचते थे और उन्हे कई प्रकार का लोभ भी देते थे, परन्तु वे कभी भो अपने पथ स विचलित नहीं हुए; वल्कि हमेशा अपने पाठकों के हानि-लाभ का ख्याल रखते थे। वे हमेशा पाठकों की रुचि का ख्याल रखते थे। इतना ही नहीं, वे दूसरों क आग्रह-कथन, पत्रादि को गूँगे, वहरे और अन्धे के समान टाल दिया करत थे। लेख आदि का संशोधन ऐसा कर देते थे कि सभो उसको सुरुचि एव सुगमतापूर्वक पढ़ सकें और उससे लाभ उठावें। उन्होने हमेशा न्याय-मार्ग का आश्रय लिया और कभो भी वे अपन पथ से विचलित नहीं हुए। वे अपनी प्रसिद्धि के इच्छुक नहीं थ, परन्तु उनकी प्रसिद्ध दिनोदिन फैलती गई और हिन्दी ससार ने उन्हे आचार्य कहना शुरू कर दिया।

(ग) 'आत्मकथा' की आलोचना

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित 'आत्मकथा' एक संस्मरण है। यह साहित्य का एक प्रमुख अग है और उसका लिखना एक कठिन कार्य है। इस कार्य में एक सधा हुआ व्यक्ति ही सफल हो सकता है, क्योंकि

संस्मरण में जीवन के कठोर सत्य की अभिव्यक्ति होती है। यही कारण है कि संस्मरण लिखने में सभी लेखक सफल नहीं हो सकते हैं। संस्मरण लिखने-वालों की संख्या अत्यन्त कम है। प्रस्तुत संस्मरण में आचार्य द्विवेदीजी ने अपने प्रारंभिक जीवन की कठिनाइयों का आकलन किया है इसमें अपने जीवन में आयी हुई वाधाओं का उल्लेख करते हुए हिन्दी के समस्त साहित्यिकों को एक वहुत भारी सीख दी है। वे हिन्दी साहित्य में किस प्रकार उतरे और किस प्रकार 'सरस्वती' पत्र का सम्पादन करते रहे—इसकी बाँकी झाँकी है।

प्रस्तुत संस्मरण के प्रथम अनुच्छेद (पारा) में द्विवेदीजी न आचार्य की परिभाषा देकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वे आचार्य कहलाने के अधिकारी नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने कभी भी किसी को नहीं पढाया है। उन्होंने अपने वल पर इस सत्य की पुष्टि की है। बाद में अपने परिवार और बचपन के जीवन का एक चित्र अंकित किया है जिससे यह स्पष्ट हो उठता है कि वे एक साधारण परिवार के व्यक्ति थे और दुःखों को झेलकर विद्या प्राप्त की थी। शिक्षा के पश्चात् नौकरी की और परिश्रम क कारण वे उन्नति के शिखर पर चढ़ते चले गए। वे काम करना जानत थे, काम करते थे, पर खुशामद नहीं। वे किसी पर अत्याचार करना नहीं जानते थे। अंत में एक दिन रेलवे की नौकरी छोड़ देनी पड़ी और साहित्य-सेवा मे लग जाना पड़ा। साहित्य में द्विवेदीजी ने जो भी काम किया, वह एक मील-स्तभ (Mile stone) क समान आज भी विद्यमान है। इसके लिए उनके चार सिद्धान्त थे—(क) समय को पावन्दी (ख) घूस न लेना (ग) ईमानदारी स काम करना और (घ) ज्ञान-प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्न करते रहना। पूरे निबन्ध में द्विवेदीजी के हृदय की निश्छलता और निष्कपटता दीख पड़ती है, कहीं भी वनाव-शृंगार नहीं।

प्रस्तुत संस्मरण द्विवेदीजी की भाषा-शैली का पूर्णरूप से परिचायक है। इसमें उनकी भाषा सीधी-सादी है और अधिकतर जाने-पहचाने शब्द प्रयुक्त हुए हैं। हाँ, अपनी वातों की पुष्टि के लिए उन्होंने बीच-बीच में संस्कृत के उद्धरणों को भी रखा है। इसमें उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग काफी मात्रा

में हुआ है, जैसे—मुस्तहक, वक्त की पावन्दी, रिश्वत, तरक्की, दरख्वास्त, मुलाजिम, इस्तीफा, इजाफा, सिफारिशें, उजरत, नतीजा आदि। कहीं-कहीं काफी अच्छे मुहावरे नजर आते हैं और कहीं-कहीं सूक्तियाँ भी कमाल की उतर पड़ी हैं—जो जिसका प्रेमपात्र होता है उसे उसके दोष नहीं दिखाई देते; गुणों का सबसे बड़ा आधार प्रेम होता है, वस्तु-विशेष नहीं; अव्यवस्थितचित्त मनुष्य की सफलता में सदा संदेह रहता है; प्रयत्न और परिश्रम की बड़ी महिमा है आदि। आम तौर से इसकी भाषा चलती हुई और प्रवाहपूर्ण है।

(घ) शब्दार्थ, व्याख्या और आशय

शब्दार्थ (पारा १, पृ० १५—१६)—आचार्य = गायत्री मंत्र का उपदेश देनेवाला, वेद पढ़ानेवाला, अध्यापक, गुरु, पुरोहित। बहुधा = अधिक। विभूषित = सुसज्जित। उपनीय तु यः शिष्य वेदमध्यापयेत् द्विजः सकल्पं सरहस्यञ्च तमाचार्यं प्रचक्षते = आचार्य उसी को कहते हैं जो ब्राह्मण अपने शिष्य को कल्प और रहस्य के साथ वेद का अध्यापन कर सके। कल्प एक वेदांग है, जो वेदों की ऋचाओं में वर्णित घटनाक्रम एवं उसके शैली-सौष्ठव का आधार है। रहस्य से तात्पर्य्य वेद के वास्तविक तत्त्व से है जिसका विश्लेषण उसमें किया गया है। अतः जो वेद का अध्यापन इसके पूर्ण रहस्योद्घाटन के साथ कर सके वही आचार्य है। घटित होना = चरितार्थ होना। इक्का एक = पहाड़ा। सदृश = समान। चरण-रजःकण = पाँवों की धूलि के कण। कभी कदम नहीं रखा = कभी प्रवेश नहीं किया। मुस्तहक = योग्य। अनुग्रह = कृपा। प्रेम-पात्र = प्रिय-पात्र। गुरुजन = बड़े लोग। महाकुरूप = अत्यन्त बदसूरत। कब्जे में = अधिकार में। पृथ्वीपति = पृथ्वी के स्वामी। पृथ्वीपाल = पृथ्वी का पालन करनेवाले। टका = रुपये। पदवी-दाता जनों = पदवी देनेवालों। अभिनन्दन = स्वागत। औदार्य = उदारता, मनोवृत्ति। सूचक = बतलानेवाला। उदाराशय = उदार भाव रखनेवाले। वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि = गुणों का सबसे बड़ा आधार प्रेम होता है, वस्तु-विशेष नहीं। जगद्गुरु = संसार का गुरु।

जो जिसका प्रेम-पात्र ... प्रवेश ही नहीं हो सकता।

[पारा १, पृ० १५]

व्याख्या—प्रस्तुत सदर्भ आचार्य महावीरप्रसादद्विवेदी-लिखित सस्मरण 'आत्मकथा' से उद्धृत किया गया है। इसमें उन्होंने अपनी लघुता प्रदर्शित की है। उनका कहना है कि कुछ लोगो ने उन्हे 'आचार्य' की सज्ञा से विभूषित कर दिया है, जो वस्तुतः पदवीदाताओ का अनुग्रहमात्र है। वे इस सज्ञा यानी इस पदवी के योग्य नहीं हैं। यह पदवी उन सज्जनो के औदाय और वात्सल्य-भाव का द्योतक है। वे कहते हैं कि उन्होंने किसी को भी एक अक्षर नहीं पढाया है और न वे शंकराचार्य, मध्वाचार्य, सायणाचार्य आदि आचार्यों के चरण-रजःकण के समान हैं तो भला इस पदवी के योग्य कैसे हो सकते हैं। सच तो यह है कि जो प्रेम करनेवाले होते हैं, वे अपने प्रेमी क दोष को नहीं देखते हैं, क्योंकि यदि उन्हे दोष दिखाई पड़ने लगे तो प्रेम की भावना कभी भी नहीं उठेगी। इसकी पुष्टि के लिए द्विवेदीजी ने एक आम उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह यह कि जिस प्रकार बहुत-से लोग वात्सल्य-भाव से अपने कुरूप पुत्र को भी मनमोहन या चारुचन्द्र आदि कहते हैं उसी प्रकार उनकी यह आचार्य की पदवी भी है। यह पदवी तो पदवी-दाताओ के प्रेम का सूचक है, वरन् उनमें आचार्यत्व के गुण नहीं हैं।

शब्दार्थ (पारा २, पृ० १६)—धृष्टता = निर्लज्जता, प्रगल्भता। स्तुति = वदना। अहकार = घमण्ड। चिरकाल तक = बहुत समय तक। वचन-रूपी शर-संधान = वाण के समान कठोर वचन बोले। ग्रन्थकार = ग्रन्थ लिखनेवाले। रोब जमाना = रग जमाना। जमाने = समय। निदर्शन = उदाहरण। भर्तृहरि = सस्कृत के एक प्रसिद्ध कवि।

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽह द्विप इव मदान्धः समभव
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्त मम मनः।
यदा किञ्चित्किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगत
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगत :॥

अर्थात्, कवि कहता है कि जब उसमें ज्ञान की अत्यल्प मात्रा थी तब वह ज्ञान के अहंकार से हाथी के समान मदान्ध हो गया, उसके अहंकार की मात्रा इतनी बढ़ी कि वह अपने-आपको सर्वज्ञ समझने लगा; किन्तु जब उसे विद्वानों की संगति प्राप्त हुई तब उसे ज्ञात हुआ कि वह मूर्ख है और उसका सारा अहंकार चूर-चूर हो गया। मदान्ध = गर्व-से अंधा। सर्वज्ञ = सब-कुछ जाननेवाला। अदृश्य = नहीं दीख पड़नेवाली। विज्ञ=पढ़े-लिखे। चूर्ण हो गया = चूर-चूर हो गया। सर्वज्ञता = सभी बातों का ज्ञान होना।

जब मुझमें ज्ञान की ......ज्वर उतर आता है।

[पारा २, पृ० १६]

व्याख्या – प्रस्तुत पंक्तियों में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत-कवि भर्तृहरि के श्लोक का अर्थ दिया है। इन पंक्तियों में द्विवेदीजी ने उक्त श्लोक के अर्थ को अपने ऊपर चरितार्थ किया है। इसमें उन्होंने अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए लिखा है कि जब उनमें ज्ञान की अत्यल्प मात्रा थी उस समय वे ज्ञान के अहंकार से हाथी के समान मदान्ध हो गए थे। उनके अहंकार की मात्रा इतनी बढ़ी कि वे अपने-आपको सर्वज्ञ समझने लगे। परन्तु जब उन्हें विद्वानों की संगति प्राप्त हुई, उच्चकोटि के विद्वानों के ग्रंथों के अनुशीलन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ तब उन्हें अपने ज्ञान की यथार्थता मालूम हुई कि वे एक बहुत बड़े मूर्ख हैं और उनका समस्त अहंकार चूर-चूर हो गया।

शब्दार्थ (पारा ३, पृ० १७)—विज्ञता = विद्वत्ता। आवेश = मन की प्रेरणा, अहंकार, आन्तरिक यत्न, गर्व, पहुँच। पूर्वावस्था = प्रारंभिक अवस्था। अनुचित्र = जो उचित नहीं है। दुष्कृत्य = कुकर्म। कलुषित = गंदा। प्रायश्चित्त = शास्त्रानुसार किया हुआ वह कृत्य जिससे शुद्ध होकर मनुष्य पापों से विमुक्त हो जाता है। अंश = टुकड़ा। शठ = मूर्ख। सेवक = दास। चर-अचर = चलने और नहीं चलनेवाले। दीन = निर्धन। अधम = नीच। दयानिधान = दया के सागर। आत्मशुद्धि = आत्मा की शुद्धि। अहंकार की व्याप्ति से = गर्व के फैलने से।

शठ सेवक मैं चर ......दयानिधान। (पृ० १७)

अर्थ—गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं कि हे ईश्वर। मैं आपका एक मूर्ख सेवक हूँ, निर्धन हूँ, हीन और अधम हूँ। आप तो चर-अचर सभी के स्वामी हैं और विज्ञ हैं।

अन्यस्य दोष-गुण.... पिब त्वम्। (पृ० १७)

अर्थ—दूसरे के गुण-दोष की चिन्ता करते हुए शीघ्र ही तुम नित्य अमृत-रस का पान करो।

शब्दार्थ (पारा ४, पृ० १७)—प्रत्यक्ष = सामने। कृपालु = कृपा करनेवाले। हितैषियों = भलाई करनेवाले। उलाहना = उपालंभ। प्रणयानुरोध = प्रेमपूर्वक अनुरोध। सकोच = हिचकिचाहट, लज्जा। तत्त्व = सार। उल्लंघन = तोड़ना। सूत्र रूप में = थोड़े में। 'बड़े-बड़े लोगों ने'' कर रखा है = अन्य महापुरुषों ने अपनी आत्मकथा लिखकर द्विवेदीजी के लिए रास्ता सहल बना दिया है।

शब्दार्थ (पारा ५, पृ० १७–८)—आत्मज = पुत्र। मदरसे = देहाती पाठशाला जहाँ उर्दू पढ़ाया जाता है। पेट-पूजा करता था = पेट की भूख को शान्त करता था। विवश होकर = लाचार होकर।

संस्कृत भाषा उस समय .... शूद्र जाति समझी जाती थी।

[पारा ५, पृ० १८]

व्याख्या—प्रस्तुत पक्तियो में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने यह बतलाया है कि जिन दिनों वे स्कूल के विद्यार्थी थे, उन दिनों सस्कृत-जैसी देवभाषा की दशा अत्यन्त दयनीय एवं शोचनीय थी। यह द्विवेदीजी की व्यग्यपूर्ण उक्ति है जिसके कहने का तात्पर्य यह है कि मद्रास के नम्बूदरी ब्राह्मण शूद्र जाति से स्पर्श हो जाने को ही अपवित्र नहीं मानते हैं, प्रत्युत वे उनकी छाया को भी अपवित्र समझते हैं। शूद्र जाति के अन्तर्गत बढ़ई, लुहार, चमार, कलाल, चेरुमन कृषक और गोमास-भक्षक परीहा आते हैं। ऐसा कहा जाता है कि नम्बूदरी ब्राह्मण बढ़ई, लुहार, चमार से चौबीस फीट, कलाल से छत्तीस फीट, चेरुमन किसान से अड़तालीस फीट और गोमास खानेवाले परीहे से चौसठ फीट की

दूरी रहने पर भी अपने-आपको अपवित्र मानते हैं। ठीक यही दशा उस समय संस्कृत की भी थी। लोग इसे अपवित्र समझते थे और इस देवभाषा को कोई भी पढ़ना नहीं चाहता था।

शब्दार्थ (पारा ६, पृ० १८)—प्रवृत्ति = चित्त का किसी ओर लगाव या झुकाव, प्रवाह। सुशिक्षित = अच्छी तरह विद्या से सम्पन्न। जनों = लोगों। दैवयोग से = सयोग से। सिद्धान्त = आदर्श, Principles। वक्त = समय। रिश्वत = घूस। ज्ञान-प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्न करते रहना = ज्ञान हासिल करने के लिए हमेशा कोशिश करते रहना। अनुकूल = सहायक, पक्षपाती। आचरण = चाल-चलन, व्यवहार, आचार, लक्षण। सहज = आसान। सचेष्ट = प्रयत्नशील। सतत = सर्वदा। निगरानी = देखभाल। तरक्की = उन्नति। दफे = वार। मुलाजिम = नौकर। मुकर्रर हुए = नियुक्त हुए। पदोन्नति = पद की उन्नति। प्रधान = मुख्य। ज्ञान-लिप्सा = ज्ञान-वृद्धि की आकांक्षा। गौण = अप्रधान। गुण-ग्राहकता = गुण के पहचाननेवाली विशेषता। आय = आमदनी।

शब्दार्थ (पारा ७, पृ० १६)—तबादिल = बदली। लार्ड कर्जन = तत्कालीन भारत का गवर्नर-जनरल। वे दिन मेरे अच्छे नहीं कटे = मेरे वे दिन सुखपूर्वक नहीं व्यतीत हुए। गौराग-प्रभु = अंग्रेज मालिक। कुटिया = झोपड़ी।

उन चाँदी के टुकड़ों की ……महीनों बर्दाश्त किया।

[पारा ६, पृ० १६]

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में आचार्य द्विवेदीजी ने यह बतलाया है कि जिन दिनों वे रेलवे में नौकरी कर रहे थे, उन दिनों तत्कालीन कर्मचारियों पर किस प्रकार के अत्याचार होते थे। लार्ड कर्जन का जमाना था। उस समय द्विवेदीजी झाँसी के डिस्ट्रिक्ट सुपरिंटेण्डेण्ट के दफ्तर में काम कर रहे थे। उन दिनों उनके अफसर अपनी रातें अपने बँगले या क्लब में विताते थे। द्विवेदीजी दिन भर दफ्तर का काम करके रात भर, अपनी कुटिया में पड़े हुए, अपने अफसर के नाम आए हुए तार लेते और उनका उत्तर देते थे। इस

कार्य के लिए उन्हे कुछ रुपये हर महीने मिला करते थे। इस प्रकार का कार्य उन्होंने बहुत दिनों तक किया और इस अत्याचार को उन्होंने महीनों बर्दाश्त किया। इससे यह स्पष्ट होता है कि उस समय नौकरों पर अफसर किस प्रकार अत्याचार करते थे।

शब्दार्थ पारा ८, पृ० १९-२०)—समयोत्तर=समय के पश्चात्। बानक=वेष, भेष। इस्तीफा=त्यागपत्र। सिफारिशें=पैरवी। विपएण= क्षुब्ध होकर। गृहकार्य=घरेलू काम-काज। दृढ=पक्का। संकल्प=प्रण। उजरत=मजदूरी। निश्चय किया=फैसला किया।

यदि मैं किसी के अत्याचार······ नहीं प्राप्त हो जाता।

[पारा ८, पृष्ठ १९]

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियाँ आचार्य द्विवेदीजी की 'आत्मकथा' से ली गई हैं। इसमें उन्होंने अपने जीवन की एक घटना का उदाहरण देकर अपनी सहनशीलता का परिचय दिया है। सहनशीलता का यह परिचय एक प्रकार का सदेश भी है। आचार्य द्विवेदीजी जिन दिनों झाँसी में डिस्ट्रिक्ट सुपरिण्टेण्डेण्ट के दफ्तर में काम कर रहे थे, उन दिनों वहाँ एक अंग्रेज अफसर थे जो अपनी रातें अपने क्लब या बँगले में बिताते थे। वही अंग्रेज अफसर द्विवेदीजी पर अत्याचार किया करता था जिसे वे चुपचाप सहन कर लिया करते थे, परन्तु जब वह द्विवेदीजी के द्वारा रेलवे के अन्य कर्मचारियों पर अत्याचार कराना चाहा तो द्विवेदीजी ने करने से अस्वीकार कर दिया। सच तो यह है कि अत्याचार सह लेने से उस व्यक्ति की सहनशीलता तो प्रकट होती है, परन्तु इससे उसे अन्य व्यक्तियों पर अत्याचार करने का अधिकार नहीं मिल जाता है। यही कारण है कि द्विवेदीजी औरों पर अत्याचार करने के पक्ष में नहीं रहे।

शब्दार्थ (पारा ९, पृ० २०)—गदर=सन् १८५७ में सिपाहियों के बीच विद्रोहाग्नि फैली थी और अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध करना प्रारम्भ कर दिया था, उसे ही गदर कहते हैं। सतलज=पंजाब की पाँच नदियों में एक। अर्पण=

भेंट। वल्लभ-सम्प्रदाय=वल्लभाचार्य के मतों के माननेवाले लोग। सौभाग्य=अच्छा मौका। मुलाजिमत=नौकरी।

शब्दार्थ (पारा १०, पृष्ठ २०-१)—पितामह=दादा। स्थित=वसा हुआ। एकत्र=इकट्ठा। हस्तलिखित पुस्तकें=हाथ से लिखी हुई पुस्तकें। संस्कृतज्ञ=संस्कृत के ज्ञाता। पितामही=दादी। पितृव्य=चाचा। वयस्क=बड़े होने पर। तत्कालीन=उस समय के।

शब्दार्थ (पारा ११, पृ० २१)—प्रवृत्ति=मन का झुकाव। संस्कार=कुल-मर्यादा या पूर्वजन्म के पुण्य का असर। पूर्वजन्म=पहले जन्म। कृत-कर्म=किए हुए कर्म। अनुराग=प्रेम। ब्रजवासी दास=ब्रजभाषा के एक कवि। ब्रजविलास=ब्रजवासीदास की लिखी हुई एक काव्य-पुस्तक। वृद्धि=बढ़ना। मुलाजिम=नौकर। पिंगल=छंद-सम्बन्धी शास्त्र। प्रकृत=वास्तविक, सच्चे। अनुशीलन=मनन। छन्दोवद्ध=छन्दों में बँधा हुआ। प्रलाप=चिल्लाना।

झाँसी आने पर मैंने ... ...कुछ अनुवाद भी मैंने किया।

[पारा ११, पृ० २१]

व्याख्या—प्रस्तुत गद्य-सदर्भ में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपनी गलतियों की ओर हम पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। द्विवेदीजी में विद्याभ्यास की प्रवृत्ति का संस्कार कैसे जगा—इस संबंध में वे निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते। बचपन से ही वे तुलसी-कृत 'रामायण' और ब्रजवासी-दास-कृत 'ब्रज-विलास' पढ़ते थे। हुशंगाबाद में रहते हुए उन्होंने पिंगल का भी पाठ पढ़ा था और पिंगल की ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् वे अपने-आपको एक महान् कवि समझने लगे थे, परन्तु झाँसी आने पर उन्हे विद्वानों की संगति प्राप्त हुई जिनकी कृपा से उन्होंने वास्तविक काव्यों का अध्ययन, मनन और चिन्तन किया। इससे लाभ यह हुआ कि उन्हें अपनी गलतियाँ साफ-साफ नजर आने लगीं। अपनी गलती महसूस करने के पश्चात् उन्होंने कविता लिखना छोड़ दिया और गद्य लिखना आरम्भ कर दिया। इसके फलस्वरूप उन्होंने गद्य में संस्कृत और अंग्रेजी की पुस्तकों का अनुवाद किया।

शब्दार्थ (पारा १२, पृ० २१-२)—कोर्स की एक पुस्तक = पाठ्य-पुस्तक। समालोचनाएँ = गुणों और दोषों की विवेचना करनेवाले निबन्ध। आग्रह किया = अनुरोध किया। नतीजा = फल। स्वत्वाधिकारी = स्वामी, जिसे अंग्रेजी में कापीराइट होल्डर कहते हैं। इंडियन प्रेस के मालिक = एक बहुत बड़े प्रकाशक। बदौलत = कारण। प्रकट की = व्यक्त की। स्वीकार कर लिया = मान लिया।

शब्दार्थ (पारा १३, पृ० २२)—अव्यवस्थितचित्त = चचलचित्त। अंगीकृत = स्वीकृत। सारी शक्ति लगा दी = अपनी सारी ताकत लगा दी। प्रयत्न = चेष्टा। परिश्रम = मेहनत। सब तज हरि भज = सब-कुछ त्यागकर भगवान का भजन कर। मसल = कहावत। चरितार्थ करता है = पुष्ट करता है। प्रदत्त = दिया हुआ। अवकाश = मौका।

अव्यवस्थितचित्त मनुष्य ········ परिश्रम की बड़ी महिमा है।

[पारा १३, पृ० २२]

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियाँ श्री महावीरप्रसादद्विवेदी-लिखित 'आत्मकथा' से ली गई हैं। ये पंक्तियाँ उस घटना का संकेत करती हैं जब द्विवेदीजी ने रेलवे की नौकरी छोड़ दी थी और घर आकर बैठ गए थे। कुछ मित्रों ने विभिन्न रूपों से उनकी सहायता करनी चाही थी, परन्तु उन्होंने सबको अपनी कृतज्ञता की सूचना दे दी थी। इस परिस्थिति में द्विवेदीजी का मन चंचल हो उठा था और उनका कहना था कि चंचल मन वाले व्यक्ति के हृदय में किसी कार्य की सफलता के संबंध में हमेशा संदेह बना रहता है, इसीलिए उन्होंने यह निश्चय किया कि यदि 'सरस्वती' पत्रिका के संपादन में अपनी सारी शक्ति लगा दूँ तो उसमें असफलता की गुंजाइश नहीं है, क्योंकि प्रयत्न और परिश्रम मानव-जीवन में प्रगति के लिए अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण हैं एवं उनका फल भी मीठा होता है। इसी सत्य को दृष्टिपथ में रखते हुए उन्होंने अपनी सारी शक्ति 'सरस्वती' की सेवा में लगा दी।

शब्दार्थ (पारा १४, पृ० २२-३) टकों = रुपयों। इजाफा = वृद्धि, Increment। पर्याप्त = काफी। टके सीधे हों = रुपयों की वर्षा हो। रुपये का लोभ

चाहे जो करावे = संसार के समस्त पापों का मूल लोभ है और रुपये का लोभ होने से मनुष्य नीच-से-नीच कार्य करने में नहीं हिचकता है। चकमे में = चक्कर में। सामग्री = वस्तु। दो सौ सफे = दो सौ पेज। सरसता = रस से पूर्ण। व्रण = गंदगी। चित्त = मन। चलायमान = चचल। प्रस्तावित = प्रस्तुत किये हुए। बाँस भर आगे बढ़ गया = एक कदम आगे बढ़ गया। अधिष्ठाता = अध्यक्ष। अलौकिक = जो लौकिक नहीं है, अदभुत। धनाधीश = धानाढ्य। निर्देश=बतलाना।

अपने मुहँ के भीतर "......या है सोहागरात।

[पारा १४, पृष्ठ २३]

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियो में आचार्य द्विवेदीजी ने यह बतलाया है कि अबतक उन्होने जो कुछ भी लिखा उससे उन्हे कुछ भी आर्थिक लाभ नहीं हुआ। हाँ, इतना जरूर हुआ कि उन्होंने अपने ऊपर ग्रन्थकार, लेखक, समालोचक, कवि आदि की पदवियाँ लाद लीं जिससे उनके गर्व की मात्रा में वृद्धि अवश्य हुई, पर धन की नहीं। अनेक मित्रों ने आर्थिक लाभ के लिए पुस्तकें लिखने की राय दी और द्विवेदीजी मित्रों द्वारा फेंके गए जाल में भी फँस गए। इस कार्य के-सपादन के लिए उन्होने योरप एवं अमेरिका से प्रकाशित पुस्तकों को मँगाकर पढ़ा, तब उन्होंने 'तरुणोपदेश' नामक पुस्तक की रचना की। इस पुस्तक को मित्रो ने पढ़कर सराहा, परन्तु उसमें सरसता नहीं पायी। मित्रों ने काम कला, काम-किल्लोल, रति-रहस्य आदि पर पुस्तकें लिखने की सलाह दी। अतएव द्विवेदीजी ने चार-चार चरणवाले लम्बे-लम्बे छंदो में एक पद्यात्मक पुस्तक की रचना कर डाली जिसमें रस की धारा तो नहीं, पर बरसाती नाले का गंदा पानी बह रहा था। इस पुस्तक का नाम भी चुनकर रखा गया था। यों तो आजकल नाम बाजारू हो रहा है और अपने अद्भुत आकर्षण के हेतु गरीबों को धनी और धनियों को धनाढ्य बना रहा है। इसीलिए उस वृद्ध तपस्वी—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी—को उक्त पुस्तक का नाम बतलाने में संकोच होता है, परन्तु अपने इस पाप के प्रायश्चित्त के लिए समाजरूपी परमेश्वर के

समक्ष उसका नाम बतलाना आवश्यक है और साथ-साथ क्षमाप्रार्थी भी। उक्त पुस्तक का नाम है —सोहागरात।

शब्दार्थ (पारा १५, पृ० २३-४)—सरस = रसपूर्ण। पीठ खूब ठोंकी = प्रशसा की। युक्तिपूर्वक = अच्छी तरह। वृष्टि = वर्षा। दशाश्वमेध = बनारस का एक प्रसिद्ध घाट। काशीवास = काशी में रहना। कर्मचारी = नौकर। अन्यथा = यानी।

शब्दार्थ (पारा १६, पृ० २४)—अभागियो = अभागों। ढह पड़े = गिर पड़े। दुर्घटना = बुरी घटना। कराला = भयाविनी। आवेश = वेग। विन्यास = सजावट। कशाघात = कोड़ा मारना। आजन्म = जीवन भर। कारावास = जेल। दायमुलहब्स = कालापानी। एकान्त-सेवन = अकेले में पढ़ने की। उस सती = उस पत्नी। उल्लघन = तोड़ने। पंक-पयोधि में डूबने से बचा लिया = कीचड़ के सागर में डूबने से बचा लिया। दुष्कृत्य = बुरे कर्म। अप्रासंगिक = प्रसंग के विरुद्ध। उल्लेख = चर्चा।

परन्तु अभागियों के सुख-स्वप्न ······तो बड़ी कृपा हो।

[पारा १६, पृ० २४]

व्याख्या—प्रस्तुत पक्तियों में आचार्य द्विवेदीजी कहते हैं कि 'सोहागरात' की रचना से उनके मित्र अत्यन्त प्रसन्न हुए जिसके फलस्वरूप वे स्वय भी ख्याली पुलाव बनाने लगे और शान-शौकत एव ठाट-बाट से रहने का स्वप्न भी देखने लगे। परन्तु अनुभवी लेखक का कहना है कि जो अभागे होते हैं, उनके सुख का सपना कभी पूरा नहीं हो पाता है। ठीक यह सत्य द्विवेदीजी के साथ चरितार्थ होता है। एक दिन उनकी पत्नी की नजर उस पुस्तक पर जा पड़ी और वह कुछ पढ़ी-लिखी थी। उसे उसने सरसरी दृष्टि से पढ लिया। पढ़ना क्या था कि उसके क्रोध का पारा चढ़ गया और पत्नी की कड़वी बात सुनकर वे तिलमिला उठे। अतएव उसने उसे अपनी संदूक में बद कर आजन्म कारावास की सजा दे दी जिससे द्विवेदीजी का स्वप्न-महल एक पल में गिरकर चूर-चूर हो गया। पत्नी की मृत्यु के पश्चात् ही उसे काले पानी की सजा से

मुक्ति मिली। छूटने पर भी द्विवेदीजी ने अपने मित्रों को एकान्त-सेवन की आज्ञा दी, परन्तु उसे प्रकाशित नहीं होने दिया; क्योंकि वे अपनी पत्नी की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते थे। सच तो यह है कि उनकी पत्नी ने द्विवेदीजी को साहित्य के इस कीचड़-रूपी सागर में गिरने से बचा लिया। यदि पत्नी उन्हें न रोकती तो ऐसी संभावना थी कि वे अश्लील साहित्य के प्रणेता कहे जाते और कोई भी उन्हें गौरव का पद प्रदान नहीं करता। आज साहित्य में उनका जो एक युग है, वह खतम हो जाता और कभी उनका नाम अमर नहीं हो पाता।

शब्दार्थ (पारा १७ से २०, पृ० २४ से २६)--संकल्प किया = निश्चय किया। विश्वासपात्र = विश्वास-भाजन। न्याय-पथ = न्याय के मार्ग। विचलित = भटकना। परलोक = दूसरे संसार में। प्रस्थान = चलना। विधाता = भगवान, सृष्टिकर्त्ता। मातम = शोक। प्रकटन = प्रकाशन। विलम्ब = देर। प्रेस की मशीन नाराज हो गई = प्रेस की मशीन खराब हो गई। कायल नहीं = माननेवाला नहीं हूँ। जी-जान होम कर दिया = अपना जीवन बलिदान कर दिया। प्रस्तुत रखी = तैयार रखी। अन्याय = न्याय नहीं होना। अर्पण = दिए। उपार्जित = अपने से कमाया हुआ। सुरक्षित = अच्छी तरह बचे हुए हैं। सचेत = प्रयत्नशील। उलझन = झंझट। नौवत = मौका। दृढ़ता से = मजबूती से। दफे = वार। हाजिर होना पड़ा = उपस्थित होना पड़ा। तलब किया गया था = बुलाया गया था। अधिकाधिक = अधिक से अधिक। विश्वास-भाजन = विश्वासपात्र। आर्थिक स्थिति = रुपये-पैसे की दशा। कारगुजारी = अच्छी तरह काम करने की सफलता। दिवगत = स्वर्गीय। कारणीभूत = कारण। स्वातंत्र्य = आजादी।

शब्दार्थ (पारा २१-२२, पृ० २६-७)—महारानियाँ = पत्रिकाएँ। सेविका = दासी प्रलोभन = लालच, लोभ। स्पीच = भाषण। दुर्भाग्य = बुरे भाग्य। आशय = अभिप्राय। सदैव = हमेशा। सत्पथ = सही रास्ते से। अधिकांश = ज्यादातर। अल्पज्ञ = थोड़ा ज्ञान रखनेवाला। विद्वत्ता =

पंडिताई। सर्वसाधारण जन = आम जनता। लघु = छोटे। प्रसाद = कृपा। कोप = क्रोध। सुधीजन = सज्जन।

देखता सिर्फ यह कि इस.... ...मैंने कभी नहीं की।

[पारा २१, पृष्ठ २६]

व्याख्या—प्रस्तुत गद्य-संदर्भ में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अनेक प्रकार के दिए गए प्रलोभनों की चर्चा की है। उन्होंने लिखा है कि आजकल तो हिन्दी संसार में पत्र-पत्रिकाओं की कमी नहीं है, परन्तु उस समय सिर्फ 'सरस्वती' ही पाठकों की सेवा कर रही थी। वह पत्र-पत्रिकाओं के बीच श्रेष्ठ थी। इसलिए उसमें किसी का जीवन-चरित, लेख, भाषण आदि का प्रकाशित हो जाना एक गौरव का विषय था। अतएव बहुत-से लोग उन्हें कई प्रकार का प्रलोभन देकर उक्त पत्र में वक्तव्य, जीवन-चरित्र, मरसिया आदि प्रकाशित कराना चाहते थे। परन्तु द्विवेदीजी उक्त प्रलोभनों से लाखों कोस दूर थे। प्रलोभनों में पड़ना उनकी शक्ति के बाहर की बात थी; क्योंकि उनका हवाई-किला तो उनकी पत्नी के कारण ही ढह चुका था, तो भला अब वे कैसे फँसते। अतएव अपने-आपको इन प्रलोभनों से बचाते हुए द्विवेदीजी पाठकों के हानि-लाभ का ध्यान रखते हुए 'सरस्वती' में पाठ्य-सामग्रियाँ दिया करते थे। वे अपने पाठकों की रुचि का बहुत ख्याल रखते थे। इसीलिए उनके पास जो भी निबन्ध, प्रबन्ध आदि आया करते थे, उन्हें वे पढ़ते थे और पाठकों के मानसिक स्तर को दृष्टिपथ में रखकर उनका संशोधन किया करते थे। संशोधन के द्वारा लेखों की भाषा को व्यावहारिक बना देते थे ताकि सरस्वती का हरएक पाठक आसानी से समझ सके। सच तो यह है कि लेखों के संशोधन में अपनी विद्वत्ता की झूठी मुहर नहीं लगाते थे, बल्कि लेखक के भावों की रक्षा कर उसे बोधगम्य और सहज बना दिया करते थे। यही कारण है कि पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का अपना युग है और उनका महत्त्व भी।

(ङ) आलोचनात्मक प्रश्नोत्तर

प्रश्न १—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के संबंध में आप जो जानते हैं, उसे संक्षेप में लिखें।

उत्तर—लेखक का परिचय पढ़ें ।

प्रश्न २—द्विवेदीजी की भाषा-शैली पर एक छोटा-सा निबंध लिखिये।

उत्तर—लेखक के परिचय में 'भाषा-शैली' उपशीर्षक दिया हुआ है, उसे पढ़ें ।

प्रश्न ३—'आत्मकथा' के आधार पर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का जीवन-परिचय दीजिए।

उत्तर—निबंध का सारांश पढ़ें ।

प्रश्न ४—आत्मकथा की समीक्षा कीजिए।

उत्तर—'आत्मकथा की आलोचना' शीर्षक निबन्ध पढ़ें ।

प्रश्न ५—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' के सफल सम्पादन के लिए कौन-कौन-से आदर्श निश्चित किए थे, इसका उत्तर 'आत्मकथा' के आधार पर लिखे।

उत्तर—रेलवे की नौकरी से त्याग देने के पश्चात् आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी साहित्य-सेवा में लग गए। कुछ दिनों के पश्चात् उन्हें प्रयाग की मासिक पत्रिका 'सरस्वती' के सम्पादन-कार्य का भार लेना पड़ा। सम्पादन-भार ग्रहण करने के अनन्तर उन्होंने अपने लिए कुछ आदर्श निश्चित किए और वे हैं—(क) समय की पावन्दी (ख) मालिकों के विश्वासभाजन वनने की चेष्टा करना (ग) अपने हानि-लाभ की चिन्ता न कर पाठकों के हानि-लाभ का सदा ख्याल रखना और (घ) न्याय-पथ से कभी न विचलित होना। इन्हीं आदर्श सिद्धान्तों के आधार पर द्विवेदीजी सोलह वर्षों तक 'सरस्वस्ती' का सम्पादन करते रहे। उनके सत्प्रयत्न से 'सरस्वती' का प्रकाशन कभी नहीं रुका और वह पत्रिका दिन-दिन चमकती गई। वह हमेशा समय पर प्रकाशित होती रही, क्योंकि इसके लिए वे छः महीने पहले से पाठ्य-सामग्री जुटाकर रखते थे। इसीलिए कुछ ही समय के अनन्तर वे मालिक के विश्वासपात्र वन गए और मालिक ने उनके सम्पादन-स्वातन्त्र्य में कभी वाधा नहीं पहुँचाई। उनके कार्यों के कारण ही उक्त पत्र के स्वामी ने उनकी आर्थिक स्थिति में भी परिवर्तन ला दिया था। कुछ समय के उपरान्त उनकी आर्थिक स्थिति ठीक वैसी ही हो गई

जैसी कि रेलवे की नौकरी छोड़ने के समय थी। यों तो आजकल हिन्दी की अनेक पत्र-पत्रिकाएँ निकल रही हैं, परन्तु उन दिनों 'सरस्वती' ही एक ऐसी पत्रिका थी जो पाठकों की सेवा कर रही थी। वे पत्रिकाओं में श्रेष्ठ थी। इसीलिए उसमें विज्ञापन, जीवन-चरित्र, भाषण, मरसिया आदि का प्रकाशित हो जाना गौरव का विषय था। यही कारण है कि अनेक व्यक्तियों ने अपनी चीजों को प्रकाशित करने के लिए द्विवेदीजी को विभिन्न प्रकार का लोभ दिया, परन्तु उनपर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। द्विवेदीजी ने न तो कभी किसी के प्रसाद की प्राप्ति की आकाङ्क्षा की और न किसी के कोप से विचलित हुए। वे प्रलोभनों से लाखों कोस दूर रहे। 'सरस्वती' के सम्पादन में उन्होंने पाठकों के हानि-लाभ का हमेशा ध्यान रखा, इसलिए उक्त पत्र में पाठकोपयोगी सामग्री ही प्रकाशित किया करते। पाठकों के लिए भाषा को व्यावहारिक बना देते थे ताकि अधिक-से-अधिक व्यक्ति उससे लाभ उठा सकें। यही थी आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की विशेषता।

प्रश्न ६—आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी के इतिहास में युग-प्रवर्तक माने जाते है। उनकी साहित्यिक सेवाओं का उल्लेख करते हुए उनकी शैली की विशेषताएँ बताइए। (1952 Annual)

उत्तर—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने पड़ी हुई हिन्दी गद्य भाषा को खड़ी करके हिन्दी-साहित्य के विभिन्न अङ्गों—नाटक, निबन्ध, कहानी, उपन्यास, कविता आदि—के साँचों में ढालकर उसे जो व्यापकता एवं समादर दान कराया था वह आचार्य द्विवेदी के साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश-काल तक आते-आते अत्यन्त क्षीण और विकृत हो चला था। न तो उस कोटि के हिन्दी की खड़ी बोली में नाटककार रह गए, न निबन्धकार, न कथाकार। हिन्दी साहित्य के विभिन्न अंगों का कलेवर अंग्रेजी और बँगला के अनुवादों के द्वारा बढ़ाया जा रहा था। भाषा के क्षेत्र में ही एक विचित्र अनिश्चयता व्याप्त हो रही थी। विराम आदि संकेत-चिह्नों के प्रयोग, व्याकरणीय नियमों के अनुपालन, वाक्य-समूहों के वर्गीकरण (Paragraphing) आदि की कोई निश्चित प्रणाली या परम्परा ही निर्धारित नहीं हुई थी। हिन्दी की काव्य-सुरसरि खड़ी बोली में

मानों फूट पड़ने को उतावली-सी बैठी थी। पर शायद उसे सम्हालकर धरती पर लानेवाला कोई भगीरथ नहीं दिखाई पड़ रहा था।

ऐसे ही समय में हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का आविर्भाव हुआ। प्रारम्भिक जीवन के संघर्षों की आँच में तपा हुआ यह तपस्वी सरस्वती की चिर-आराधना के लिए हिन्दी-साहित्य के विशाल मन्दिर में प्रविष्ट हुआ। इसने लगातार बीस वर्षों तक दस करोड़ हिन्दी-भाषा-भाषियों का अपनी लौह-लेखनी से साहित्यिक अनुशासन किया। पत्रकार के रूप में जहाँ इनकी बहुमुखी प्रतिभा अनेक रङ्गों में चमकी वहाँ इनके साहित्यिक विवेक ने भी अपने आलोक में हिन्दी-गद्य-भाषा की त्रुटियों का दिग्दर्शन कराकर उनका यथाशक्ति परिहार किया। एक ओर तो वे खड़ी बोली में तुकान्त एवं अतुकान्त काव्य-रचना कर दूसरों का इस दिशा में पथ-प्रदर्शन करने लगे तथा दूसरी ओर उन्होंने व्याकरण की त्रुटियों से विहीन, विराम आदि चिह्नों से युक्त, वाक्य-समूहों के ईप्सित वर्गीकरण-सहित अत्यन्त कलापूर्ण गद्य-भाषा में निबन्ध, आलोचना आदि की रचना प्रारम्भ की। साहित्य-क्षेत्र में द्विवेदीजी के पदार्पण करते ही राष्ट्रीय एवं नैतिक आदर्शों की गूंज प्रतिध्वनित होने लगी। आचार्य की प्रेरणा पाकर मैथिलीशरण गुप्त, मुंशी प्रेमचन्द, प० रूपनारायण पाण्डेय, प० रामचरित उपाध्याय, प० लोचनप्रसाद पाण्डेय, प० कामताप्रसाद गुरु, प० रामचन्द्र शुक्ल, प० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' आदि महान् साहित्यकार अपनी गद्य-पद्यमयी रचनाओं से हिन्दी की खड़ी बोली का साहित्य-भाण्डार भरने लगे। साहित्य के क्षेत्र में न तो रीतिकालीन कवियों की शृंगारिकता एवं रूढ़िवादिता रही, न भारतेन्दु-उत्तरकालीन गद्य-भाषा की शिथिलता। सचमुच द्विवेदीजी ने अपनी प्रतिभा और पाण्डित्य के मणि-कांचन-संयोग से हिन्दी-साहित्य के मन्दिर में एक नवीन युग-दीपक आलोकित किया जिसकी आलोक-किरणें आज भी हिन्दी-साहित्य-मदिर में दीप्तिमान हैं।

द्विवेदीजी ने अपने विद्याध्ययन-काल में एवं रेलवे में तार बाबू की नौकरी के समय में ही हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, बँगला, मराठी और गुजराती भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उन्होंने मराठी और संस्कृत के अनुकरण

पर हिन्दी में तुकान्त और अतुकान्त काव्य-रचना का सफल प्रयास किया। इनकी कविताओं का संग्रह 'कविता-कलाप' एवं काव्य-मंजूषा के नाम से प्रसिद्ध है। द्विवेदीजी ने खड़ी बोली में काव्य-रचना का उच्च एवं नवीन आदर्श तो अवश्य उपस्थित किया, किन्तु उनमें नवभावोन्मेषिनी काव्य-प्रतिभा का प्राचुर्य न था। पद्य की अपेक्षा गद्य-विधान में ही द्विवेदीजी का आचार्यत्व प्रस्फुटित हुआ। वे एक उच्च कोटि के गद्य-शैलीकार एवं समालोचक थे। 'नैषधचरितचर्चा', विक्रमांकदेवचरितचर्चा' और 'कालिदास की निरंकुशता' में प्राचीन संस्कृत कवियों और उनके काव्यों की गंभीर समालोचना की। 'लिबर्टी' और 'एजुकेशन' नामक अंग्रेजी ग्रन्थों का क्रमशः 'स्वाधीनता' और 'शिक्षा' नाम से सफलतापूर्वक अनुवाद किया। 'सम्पत्तिशास्त्र', 'बेकन-विचार', 'रत्नावली' आदि भी महत्त्वपूर्ण हैं। इन्होंने 'रघुवंश', 'किरातार्जुनीय' आदि संस्कृत-महाकाव्यों का हिन्दी गद्य में बहुत सफल एवं सुन्दर अनुवाद किया। बँगला से महाभारत का भी इन्होंने अनुवाद किया। इन्होंने कुछ मौलिक विचारों पर आधारित निबन्ध एवं परिचय-ग्रन्थ भी लिखे। 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति', 'साहित्य-सीकर', 'नाट्य-शास्त्र' आदि इनके ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं।

इन विविध मौलिक एवं अनूदित रचनाओं के अतिरिक्त द्विवेदीजी की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सेवा 'सरस्वती' पत्रिका का लगातार अठारह वर्षों तक कठोर परिश्रमपूर्ण सपादन है। सम्पादक के रूप में इन्होंने सैकड़ों निबन्ध, समालोचनाएँ, यात्रा-विवरण, प्राचीनों के संस्मरण, वैज्ञानिक, सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक लेख एवं टिप्पणियाँ लिखीं, जिनमें से कुछ के संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इन निबन्धों, लेखों और टिप्पणियों के पढ़ने से उनकी बहुज्ञता एवं पाण्डित्य का अनुमान किया जा सकता है। इस पत्रिका के लिए स्वय तरह-तरह की सामग्री प्रस्तुत करते थे और दूसरों को भी इसके लिए निरन्तर प्रेरित एव प्रोत्साहित करते थे। वे नवीन लेखकों के लेखों या कविताओं का संशोधन एवं परिमार्जन कर एक ओर उन्हे प्रकाश में लाते और दूसरी ओर उनकी त्रुटि के परिहार द्वारा उनका पथ-प्रदर्शन भी करते रहते। साहित्यकार

एवं पत्रकार के नाते उन्होंने हिन्दी की जो अभूतपूर्व सेवाएँ कीं, वे सर्वथा स्तुत्य एवं अनुकरणीय हैं।

द्विवेदीजी की गद्य-शैली बहुत ही शुद्ध, प्रांजल एवं परिष्कृत होने के साथ-साथ व्यावहारिक एवं प्रसादगुण-सम्पन्न है। शुद्ध संस्कृत के वाक्य-विन्यास के साथ ही खालीस उर्दू की मुहाविरेबाजी उनकी भाषा में एक विचित्र प्रभविष्णुता और आकर्षण भर देती है। भावाभिव्यंजन के अनुरूप छोटे-बड़े वाक्यों का सुव्यवस्थित क्रम उसमें सर्वत्र उपलब्ध होता है। उनके वाक्य बड़े ही संतुलित तथा व्याकरण के नियमों से अनुशासित रहते हैं। उनके निबन्ध व्यक्तित्व की प्रबल छाप लिए हुए दिखाई पड़ते हैं। इसीसे उनमें गंभीरता के साथ स्वाभाविकता भी स्पष्टतया झलकती है। वे हिन्दी के आदर्श शैलीकार माने जाते हैं।

समाज और साहित्य

(लेखक—डा० श्यामसुन्दर दास)

जन्म सं० १९३२ :: मृत्यु सं० २००२

[क] लेखक का परिचय

आधुनिक गद्य के प्रचारकों, प्रसारकों और उन्नायकों में डा० श्यामसुन्दर दास का नाम चिर-स्मरणीय रहेगा। उनमें प्रसाद, प्रेमचन्द या रामचन्द्र शुक्ल की भाँति कारयित्री प्रतिभा (Creative Genius) तो न थी, परन्तु उनमें प्रचार एवं संगठन का कर्तृत्व अपरिमित था। और, हिन्दी भाषा एवं साहित्य के मर्मज्ञ होने के नाते वे उसके व्यापक प्रचार में आरम्भ से ही तत्पर हो गए। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के जन्मदाता और वर्षों तक उसके कर्णधार के रूप में उन्होंने सैकड़ों नए-पुराने हिन्दी-ग्रन्थों का शोध, सम्पादन एवं प्रकाशन किया। उच्च शिक्षण-संस्थाओं, विशेष कर कालेजों और यूनिवर्सिटियों में बी० ए० और एम० ए० के पाठ्यक्रमों में हिन्दी को स्थान दिलाने का सर्वप्रथम श्रेय बाबूसाहब को ही है। अदालतों और सरकारी दफ्तरों में हिन्दी का प्रवेश कराने का आन्दोलन तो वर्षों से चल रहा था, पर उसे सफल परिणति तक पहुँचानेवाले बाबूसाहब ही हैं। हिन्दी में पद्यात्मक साहित्य की तो कमी नहीं थी और गद्य में भी नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि यथेष्ट परिमाण में हो गए थे, पर आलोचनाशास्त्र को हिन्दी गद्य में प्रस्तुत करने का ध्यान किसी को नहीं था। बाबूसाहब ने 'साहित्यालोचन' और 'रूपक-रहस्य' लिखकर हिन्दी गद्य में आलोचनाशास्त्र का पथ-निर्देश किया। सचमुच वे हिन्दी भाषा और साहित्य के महान् सेवक

जीवन-परिचय

और अपने समय में उसके कर्णधारों में थे। इसीलिए तो श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने लिखा है—

मातृभाषा के प्रचारक विमल बी० ए० पास।
सौम्य, शक्ति-निधान बाबू श्यामसुन्दर दास॥

बाबू श्यामसुन्दर दास का जन्म आषाढ़ शुक्ल ११, मंगलवार, संवत् १९३२ (१४ जुलाई, सन् १८७५) में हुआ था। वे एक प्रतिष्ठित खत्री-परिवार में उत्पन्न हुए थे। इनके पूर्वज लाहौर से आकर काशी में बस गए थे। इनके पिता का नाम लाला देवीदास था और वे बनारस में ही कपड़े आदि का व्यवसाय करते थे। इनका बचपन वैभव एवं आनन्द में बीता। इनकी अधिकांश पढ़ाई काशी में ही हुई। आरम्भ में इनकी शिक्षा नीचीबाग के वेसलियन मिशन स्कूल में हुई। इसमें कुछ समय तक पढ़ने के बाद वे ब्रह्मनाल के हनुमान सेमिनरी मे प्रविष्ट हुए जहाँ से उन्होंने सन् १८९० ई० में ऐंग्लो वर्नाक्यूलर मिडिल परीक्षा पास की। पीछे क्वीन्स कालेज से १८९२ ई० में उन्होंने इंट्रेंस पास किया और दो वर्ष बाद सन् १८९४ में एफ० ए० पास किया। बी० ए० की पढ़ाई के लिए वे प्रयाग गए, जहाँ वे आकस्मिक बीमारी के कारण पहली बार तो न पास हो सके, पर उन्होंने दूसरे ही वर्ष बी० ए० पास कर लिया। उन्होंने लॉ लेक्चर्स भी सुने थे। कालेज की शिक्षा समाप्त होने पर वे लखनऊ टीचर्स ट्रेनिंग में भर्ती हुए, लेकिन आर्थिक सुविधा न होने के कारण नहीं पढ़ सके। वे काशी लौट आए। इसलिए काशी के तत्कालीन 'चन्द्रप्रभा' में लिटरेरी असिस्टेंट के पद पर नियुक्त हुए, पर वह भी उनके मनोनुकूल न था। अतः उसे छोड़कर सन् १८९९ में इन्होंने काशी के हिन्दू स्कूल में अध्यापन-कार्य किया और लगातार दस वर्षों तक यहीं रहे। वे अपनी कार्य-पटुता से उन्नति करके वहाँ के असिस्टेण्ट हेडमास्टर के पद तक पहुँच गए। बाबूसाहब आठ वर्षों तक लखनऊ के कालीचरण हाई स्कूल में हेडमास्टर भी रहे। सन् १९२१ की जुलाई में उन्होंने अपना त्यागपत्र दे दिया। इधर प० मदनमोहन मालवीय को हिन्दी-विभाग के लिए एक योग्य एवं विद्वान व्यक्ति की आवश्यकता हुई तो उन्होंने इसके संगठन और पठन-पाठन का भार

बाबूसाहब के मत्थे सौंपा। हिन्दू-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के प्रारंभिक दिनों से ही वे उसके अध्यक्ष (Head of the Department) रहे। १ जनवरी, सन् १९२७ को तत्कालीन अंग्रेजी सरकार ने उन्हें 'रायसाहब' और जून, सन् १९३३ में 'रायबहादुर' की उपाधि दी। सन् १९३८ में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने उन्हे 'साहित्य-वाचस्पति' की उपाधि प्रदान की। सोलह वर्षों तक अध्यक्षपद को सुशोभित करने के बाद उन्होंने सन् १९३७ ई० में विश्राम लिया। काशी-विश्वविद्यालय ने उनके अवकाश ग्रहण करने पर उन्हे डी० लिट० की उपाधि देकर सम्मानित किया। बाबूसाहब के जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना है। उन्होंने इसकी स्थापना अपने विद्यार्थी-जीवन में सन् १८९३ में की थी और चालीस वर्षों तक इसकी सेवा निरन्तर करते हुए इसे उत्तरभारत में हिन्दी की प्रमुख संस्था बना दिया। निस्संदेह इस सभा के द्वारा हिन्दी साहित्य के विकास एवं प्रसार में अवर्णनीय सहायता मिली है। उनका समस्त जीवन संघर्षमय था। हिन्दी को उन्नत रूप देने के लिए उन्होंने सभी प्रकार का त्याग किया। अधिक परिश्रम करने के कारण वे प्रायः अस्वस्थ रहा करते थे। अंत में ७१ वर्ष की अवस्था में वे बीमार पडे और अगस्त, सन् १९४५ में हमेशा के लिए इस संसार से चल बसे।

डा० श्यामसुन्दर दास की रचना

डा० श्यामसुन्दर दास हिन्दी के एक माने हुए विद्वान् थे। उन्होंने अपनी कृतियों से हिन्दी साहित्य के मस्तक को ऊँचा किया और उसे विश्व-विद्यालय में स्थान दिलाकर उसका मान बढ़ा दिया। पहले विश्वविद्यालय की शिक्षा के लिए हिन्दी में पुस्तकें बहुत कम मिलती थीं, परन्तु बाबूसाहब ने अंग्रेजी साहित्य का आधार लेकर अनेक ग्रंथों की भी खोज की और उनका सम्पादन किया। उनके जीवन का ज्यादातर हिस्सा इन्हीं कार्यों में बीता। बाबूसाहब ने अपने जीवन-काल में सैकड़ों लेख एवं बीसियों पुस्तकें लिखीं तथा दर्जनों ग्रंथों का सम्पादन किया। उनकी मुख्य रचनाएँ निम्नांकित हैं—

[क] सम्पादित पुस्तकें—१. हिन्दी-शब्द-सागर, २. वैज्ञानिक कोश ३. हिन्दी कोविद-रत्नमाला (दो भाग), ४. मनोरंजन-पुस्तकमाला (अनेक भाग), ५. नासिकेतोपाख्यान ६. पृथ्वीराजरासो, ७. छत्र-प्रकाश ८. वनिता-विनोद ६. हम्मीररासो १०. शकुन्तला नाटक ११. इन्द्रावती (भाग १), १२. रामचरित-मानस, १३. दीनदयालगिरि-ग्रंथावली, १४. राजा लक्ष्मणसिंह-रचित मेघदूत १५. परमालरासो आदि।

[ख] मौलिक पुस्तकें—१. साहित्यालोचन २. रूपक-रहस्य ३. भाषा-रहस्य ४. भाषा-विज्ञान ५. हिन्दी भाषा का इतिहास ६. हिन्दी साहित्य ७. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ८. गोस्वामी तुलसीदास ६. हिन्दी भाषा और साहित्य १० गद्य-कुसुमावली ११. हिन्दी के निर्माता आदि।

डा० श्यामसुन्दर दास आधुनिक हिन्दी भाषा और साहित्य के महान उन्नायक थे। आज हिन्दी का जो संवर्धन भारतवर्ष में हुआ है उसका सारा श्रेय बाबूसाहब को है। डा० श्यामसुदर दास का आविर्भाव द्विवेदी-युग में हुआ था। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व की प्रेरणा से डा० श्यामसुन्दर दास ने साहित्य के रूप को सजाने-सँवारने में सक्रिय सहयोग (active co-operation)। दिया उनकी सक्रियता दो रूपों में दीख पड़ती है। एक तो प्रचारक के रूप में और दूसरी साहित्यकार के रूप में। प्रचारक के रूप में उन्होंने नागरी-प्रचारणी सभा को जन्म दिया जो उनके समस्त जीवन का एक मील-स्तंभ है। इस संस्था ने हिन्दी के कवियों, लेखकों और आलोचकों के मार्ग को प्रशस्त किया। वह सभी लोगों का आकर्षण-केन्द्र बन गई। इस संस्था की संस्थापना के कारण हिन्दी के प्राचीन हस्तलिखित एवं मुद्रित ग्रंथों की खोज होने लगी जिसके फलस्वरूप अनेक अमूल्य रचनाएँ प्रकाश में आईं। उन्हीं सामग्रियों के आधार पर हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा गया। इसके अतिरिक्त इस संस्था के द्वारा हिन्दी-शब्दकोष एवं वैज्ञानिक कोश का प्रकाशन हुआ जिससे हिन्दी के एक बड़े अभाव की पूर्ति हुई। कहने का तत्पर्य यह है

श्यामसुन्दर दास की साहित्यिक-विशेषताएँ

कि डा० श्यामसुन्दर दास ने नागरी-प्रचारिणी सभा के माध्यम से वह कार्य किया जिसे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' पत्रिका के द्वारा न कर सके थे। अतएव आजकल हिन्दी को अन्य देशी भाषाओं के सामने गौरवपूर्ण स्थान दिलाने में बाबूसाहब अपनी नागरी-प्रचारिणी सभा के द्वारा जितने सफल हुए हैं, उसे देखकर यह स्वयंसिद्ध है कि वे सदैव स्मरणीय रहेंगे।

डा० श्यामसुन्दर दास एक साहित्यिक हैं और उनका यह रूप और भी महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने स्वयं कई ऐसी साहित्यिक रचनाएँ प्रस्तुत की हैं जो अपने ढंग की अद्वितीय हैं। प्रतिपादित विषयों के महत्त्व को देखते हुए 'साहित्यालोचन', 'भाषाविज्ञान' और 'हिन्दी भाषा और साहित्य' बिलकुल अपूर्व हैं, क्योंकि पहले ऐसे ग्रंथों का हिन्दी में अभाव था। इन सब पुस्तकों के कारण विश्वविद्यालय में हिन्दी शिक्षा का स्तर ऊँचा होता गया और पाठकों का ध्यान भी हिन्दी की ओर आकृष्ट होने लगा। यह बिलकुल सत्य है कि उनकी पुस्तक 'साहित्यालोचन' का आधार अंग्रेजी की आलोचनात्मक कृतियाँ हैं और उसमें मौलिकता का अभाव है, लेकिन तत्कालीन युग की परिस्थितियों को देखते हुए हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि उन्होंने जो कुछ किया है, वह युगनिर्माता का काम है। इसके अतिरिक्त, उन्होंने अनेक मौलिक निबन्ध लिखे, जैसे—चंदवरदाई, हमारी लिपि, भारतीय नाट्यशास्त्र, रामावत शाखा, आधुनिक हिंदी गद्य के आदि आचार्य, व्यायाम, शिक्षा, भारतवर्ष की शिल्प-कला, बालकाण्ड का नया जन्म आदि।

डा० श्यामसुन्दर दास के संबंध में एक आलोचक ने लिखा है कि 'उनके व्यक्तित्व में प्रचारक और साहित्यकार, इन दोनों रूपों का बड़ा सुन्दर समन्वय हुआ था। एक ओर उनका परिश्रम और त्याग था, दूसरी ओर उनकी हिन्दी-प्रियता और अध्ययनशीलता थी। उनके इन्हीं गुणों ने उनके व्यक्तित्व पर चार चाँद लगा दिए थे। वह कवि नहीं थे; कहानीकार, नाटककार और उपन्यास-कार भी नहीं थे। वह थे गंभीर चिंतक और ठोस साहित्यकार। हिन्दी भाषा और साहित्य को व्यापक बनाने के लिए उन्होंने साहित्य के ऐसे अंगों पर अपनी लेखनी उठायी जो गूढ़ एवं गम्भीर होने के कारण उस समय तक

अपरिचित और अछूते थे। उनकी समस्त साहित्यिक रचनाएँ उनके अध्यवसाय, उनकी अध्ययनशीलता और उनके गभीर चिंतन का परिणाम है और इसलिए हिन्दी साहित्य की वे स्थायी सम्पत्ति हैं।"

डा० श्यामसुन्दर दास हिन्दी के उन लेखकों मे से थे जिन्होंने गभीर-से-गंभीर साहित्यिक विषयों का विवेचन किया है। उनकी भाषा विशुद्ध साहित्यिक हिन्दी है। गंभीर विपयों के प्रतिपादन के कारण उनकी भापा भी स्वभावतः गुरु-गंभीर हो गई है। उनकी भाषा में परुषता अधिक है। वाबूसाहब की सबसे बड़ी विशेषता भापा की प्रासादिकता है। संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग में भी वे सरल एव चलते हुए शब्दों को ही अधिकतर अपनाते हैं। साथ ही उनमें अर्थ का आडम्बर भी विशेप नहीं मिलता। उर्दू के शब्दों को तद्भव रूप में ही अपनाने की चेष्टा की है। इनके अधिकाश वाक्य भी अपेक्षाकृत छोटे एवं सुव्यवस्थित होते हैं। भाषा के सबध में बाबूसाहब का अपना दृष्टिकोण है। उनका मुख्य सिद्धान्त यह है कि 'हिन्दी समयानुकूल आवश्यकताओं को देखते हुए चाहे जितने परिवर्तन क्यों न स्वीकार कर ले, किन्तु उसके वैयक्तिक शील तथा रूप पर किसी विदेशी भाषा का अनुचित आधिपत्य न जमने देना चाहिए। इसलिए उनका यह मत है कि आजकल संसारव्यापी भापा होने के कारण तथा भारत में उसका विशेप प्रचार होने से अंग्रेजी यद्यपि हिन्दी को बहुत-कुछ प्रभावित कर रही है और कुछ सीमा तक उसका प्रभाव हिन्दी को उन्नतिशील या प्रगतिशील बनाने में सहायक भी हुआ है, पर मननशील लेखकों का कर्त्तव्य है कि वे उसे संस्कृत से विच्छिन्न न होने दें, क्योंकि, बड़े वेग से बढ़ते हुए हिन्दी के प्रचार के समय यह खतरा है कि कहीं वह अपना निज का स्वरूप तथा अस्तित्व ही न खो बैठे।' यही कारण है कि बाबूसाहब विदेशी शब्दों को उनके प्रकृत रूप में न अपनाकर उनके तद्भव रूप में अपनाते थे। डा० श्यामसुन्दर दास ने इस सबध में लिखा है कि 'जब हम विदेशी भावों के साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण करें तब उन्हे ऐसा बना लें कि उनमें से विदेशीपन निकल जाय और वे हमारे अपने होकर हमारे व्याकरण के

श्यामसुन्दर दास की भाषा-शैली

नियमों से अनुशासित हों। जबतक उनके पूर्व-उच्चारण को जीवित रखकर हम उनके पूर्व-रूप-रंग, आकार-प्रकार को स्थायी बनाये रहेंगे तबतक वे हमारे अपने न होंगे और हमें उन्हे स्वीकार करने में सदा खटक तथा अड़चन बनी रहेगी।' हमें उनकी भाषा के दो रूप देखने को मिलते हैं, पहला यह कि ग्रंथों में भाषा का साहित्यिक रूप है और दूसरा यह कि निबन्धों में प्रचलित भाषा का सरल रूप है। उन्होंने अधिकतर भाषा के प्रथम रूप को ही अपनाया है।

बाबूसाहब की शैली उनके व्यक्तित्व के अनुकूल है और उसमें उनका व्यक्तित्व मुखरित है। आमतौर से उनकी शैली सगठित तथा व्यवस्थित है और साथ-ही-साथ उसमे एक धारावाहिक प्रवाह भी है। "शैली का यह प्रावाहिक रूप उन स्थानों पर विशेषत: पाया जाता है जहाँ किसी विचार का प्रतिपादन होता है। ऐसे स्थाना पर भाषा कुछ क्लिष्ट—परन्तु स्पष्ट और बोधगम्य—वाक्य साधारण विचार से कुछ बड़े—परन्तु गठन में सीधे-सादे, भाव-व्यंजना विशद—परन्तु सरल और व्यापक हुई है। इसके अतिरिक्त विषय-प्रतिपादन के बीच-बीच में यदि आवश्यकता पड़ी है तो उन्होंने 'जैसे' का प्रयोग कर उदाहरण इत्यादि से उसे स्पष्ट बनाने का भी आयोजन किया है।" उदाहरणस्वरूप कुछ पक्तियाँ लीजिए—

"सारांश यह कि जैसे एक ही उद्गम से निकलकर एक ही नदी अनेक रूप धारण करती है और कहीं पीनकाय तथा कही क्षीणकाय होकर प्रवाहित होती है और जैसे कभी-कभी जल की एक धारा अलग होकर सदा अलग ही बनी रहती और अनेक भू-भागों से होकर बहती है वैसे ही हिन्दी साहित्य का इतिहास भी प्रारम्भिक अवस्था से लेकर अनेक धाराओं के रूप में प्रवाहित हो रहा है। प्रारम्भ के कवि लोग स्वतंत्र राजाओं के आश्रित होकर उनके कीर्तिगान में लगे और देश के इतिहास को कविता के रूप मे लिखते रहे। समय के परिवर्तन से साहित्य की यह स्थूल धारा क्रमशः क्षीण होती गई, क्योंकि उसका जल खिंचकर भगवद्भक्तिरूपी धारा, रामानन्द और वल्लभाचार्य के

अवरोध के कारण दो धाराओं में विभक्त होकर, राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति के रूप में परिवर्तित हो गई।"

—उपर्युक्त गद्यांश में न तो क्लिष्ट शब्दों की भरमार है और न विचारों की दुरूहता। लेकिन इसी प्रकार की भाषा सर्वत्र नहीं मिलती है, जिसका समर्थन स्वतः बाबूसाहब ने ही किया है—'जो विषय जटिल अथवा दुर्बोध हों, उनके लिए छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग सर्वथा वाञ्छनीय है। सरल और सुबोध विषयों के लिए यदि वाक्य अपेक्षाकृत कुछ बड़े भी हों तो उनसे उतनी हानि नहीं होती।' ऐसा उन्होंने मुख्यतः विचारात्मक निबन्धों में ही किया है। उदाहरण के लिए निम्नांकित अवतरण काफी है—

भाषाविज्ञान ने जातियों के प्राचीन इतिहास अर्थात् उनकी सभ्यता के विकास का इतिवृत्त उपस्थित करने में बड़ी अमूल्य सहायता दी है। पुरातत्त्व तो प्राप्त भौतिक पदार्थों अथवा उनके अवशेषांशों के आधार पर ही केवल प्राचीन समय का इतिहास उपस्थित करता है। प्राचीन जातियों के मानसिक विकास का ब्योरा देने में वह असमर्थ है। भाषा-विज्ञान इस अभाव की भी पूर्ति करता है। मानसिक भावों या विचारों संबंधी शब्दों में उनका पूरा-पूरा इतिहास भरा पड़ा है; और उनके आधार पर हम यह जान सकते हैं कि प्राचीन समय में किस जाति के विचार कैसे थे? ये ईश्वर, आत्मा आदि के संबंध में क्या सोचते या समझते थे; उनकी रीति-रिवाज कैसी थी तथा उनका गार्हस्थ्य, सामाजिक, धार्मिक या राजनीतिक जीवन किस श्रेणी या किस प्रकार का था। सारांश यह कि भाषाविज्ञान ने पुरातत्त्व के साथ मिलकर प्राचीन जातियों के भौतिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास का एक प्रकार से पूरा-पूरा इतिहास उपस्थित कर दिया है।"

इस अवतरण की शैली में भाषा के क्लिष्ट रूप की सफल झाँकी है। इस प्रतिभा को हम वैयक्तिकता का नाम नहीं दे सकते, यह बात ठीक है; किन्तु इसमें गवेषणात्मक विवेचना का बोधगम्य स्वरूप अवश्य उपस्थित किया गया है। 'गंभीर बातों पर लिखते समय बड़े अभ्यस्त लेखक को भी शाब्दिक

सारल्य से हाथ धोना पड़ता है और उसे सीधे संस्कृत से जटिल शब्द लाकर रखने पड़ते हैं।' उर्दू ऐसे गंभीर विषयों की ओर बहुत नहीं बढ सकी है, अतएव उस भाषा के शब्दों की ओर देखना ही व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त उसकी कोई आवश्यकता भी नहीं। इस समय तक हिन्दी गद्य इतना प्रौढ और उन्नतिशील हो गया है कि उसमें उत्कृष्ट विषयों के खंडन-मंडन एव प्रतिपादन के लिए पर्याप्त सामर्थ्य आ गई है। इसी उन्नति की परिचायक दासजी की भाषा है। उसमें सानुप्रासिक वर्णमैत्री का सुन्दर और आकर्षक रूप भी मिलता है; उसमें भविष्य की वह महत्त्वाकाक्षा सन्निविष्ट है जिसके वशीभूत होकर साहित्य-ससार में नित्य वैज्ञानिक एवं आलोचनात्मक ग्र थो का प्रणयन बढता ही जायगा।' (डा० ज० शर्मा) सच तो यह है कि बाबूसाहब की शैली में वैयक्तिकता की छाप न सही, परन्तु उनका गद्य उन्नतिशील और प्रौढ़ हिन्दी-गद्य का अच्छा नमूना है। इसमें सदेह नहीं कि आधुनिक हिन्दी-सेवियों में बाबूसाहब का नाम सदैव बड़े आदर से लिया जायगा।

[ख] 'समाज और साहित्य' का सारांश

ईश्वर की सृष्टि विचित्रताओं से भरी है। यदि ध्यानपूर्वक देखें तो यहाँ देखने को नई-नई चीजें मिलती जायँगी; परन्तु वे सब असंबद्ध नहीं, क्रमबद्ध हैं। उदाहरण के लिए एक छोटे-से वट-वृक्ष के बीज और मानव-शरीर के निर्माण को लीजिए। इनके विकास पर दृष्टि देने से बातें स्पष्ट हो जायँगी। इसके बाद, मानव-स्वभाव की भिन्नता की ओर दृष्टिपात कीजिए। इधर हमें भिन्नता-ही-भिन्नता दीख पड़ेगी, लेकिन ये सभी बातें नियमानुसार घटित होती रहती हैं और उस सर्वशक्तिमान शासक द्वारा परिचालित होती रहती हैं। मानव-शरीर के अंतिम विकास की अवस्था मृत्यु है, लेकिन वहीं इसकी समाप्ति नहीं। मृत्यु के पश्चात् वह फिर जन्म ग्रहण करता है और सृष्टि के विकास में हमेशा हाथ बँटाता रहता है। इस विषय की खोज और ज्ञान प्राप्त करानेवाले शास्त्र को 'विकासवाद' कहते हैं।

निवन्धकार कहता है कि यदि समाज-निर्माण की ओर देखें तो वहाँ भी इस विकासवाद का नियम पूर्णतया घटित होता है। मनुष्य के सामाजिक जीवन का इतिहास यह वतलाता है कि सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य जंगली था, सभी समान थे; परन्तु कालक्रम से सभी उन्नति-पथ पर वढते गए और इस प्रकार आवश्यकतानुसार सभी मनुष्यों के रहन-सहन, भाव-विचार में परिवर्तन होता गया। उन मनुष्यों के सामने नित्य नई-नई आवश्यकताएँ आ उपस्थित होतीं जिनकी पूर्ति के लिए मनुष्य को मस्तिष्क का आश्रय लेना पड़ता। इस प्रकार सामाजिक जीवन के परिवर्तन के साथ-साथ मस्तिष्क-शक्ति का भी विकास हुआ। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य-सृष्टि के आदिकाल से लेकर उसके सभ्यावस्था में पहुँचने तक जितने परिवर्तन हुए हैं, वे इस वात के पूर्ण साक्षी हैं कि वहाँ भी इस विकासवाद के नियम पूर्णतः लागू होते हैं। मनुष्य के सभ्यावस्था तक पहुँचने में जितने भी परिवर्तन हुए हैं वे सभी नियमित, शृंखलावद्ध हैं। मनुष्य जाति की सभ्यता और मस्तिष्क, दोनों का साथ-साथ विकास हुआ है। फिर मस्तिष्क-विकास में साहित्य का वहुत वड़ा हाथ रहा है। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर का विकास पचभूतों (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर) पर अवलवित है उसी प्रकार समाज की मस्तिष्क-शक्ति का विकास साहित्य पर निर्भर है।

साहित्य की परिभाषा देते हुए निवंधकार ने वतलाया है कि समाज के सुरक्षित भण्डार और ज्ञान-कोष का नाम साहित्य है। साहित्य के तत्त्व जीवन से प्राप्त होते हैं। मानव-जीवन के व्यापारों से ही इसकी पुष्टि होती है। अतएव जव जीवन से साहित्य का इतना घनिष्ठ सवंध है तव हमें यह समझने में थोड़ी भी कठिनाई नहीं हो सकती कि किसी जाति का साहित्य उसकी सामाजिक दशा और उसकी सभ्यता का सूचक है। कोई जाति कितनी उन्नति कर सकी है यह उसके साहित्य के अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है। इस नियम के अनुसार हम निम्नलिखित तथ्य तक वहुत आसानी से पहुँच जाते हैं। सभ्यता और जीवन के आदिकाल में मानव-जाति प्राकृतिक घटनाओं को आश्चर्यपूर्ण नेत्रों से देखती होगी। इसीलिए उसके प्राचीन (आदि) साहित्य

में विस्मयजनित बातों का वर्णन अवश्य मिलेगा। काल-क्रम से युद्धों के वर्णन, विचित्र घटनाओं के उल्लेख एव कर्मकाण्ड के विधानों तथा नियमो के निश्चित करने में वाणी का प्रयोग विशेष रूप से किया गया होगा और क्रमशः इस ज्ञान-कोष को स्थायी रूप मिला जिसे पढ़कर लोगों ने नए-नए भावों की रचना की। इसके फलस्वरूप साहित्य के भी अनेक भेद हो गए। जिस प्रकार हमें शरीर को पुष्ट एवं बलिष्ठ बनाने के लिए भोजन की आवश्यकता होती है उसी प्रकार मस्तिष्क को उर्वर बनाने के लिए साहित्यरूपी भोजन की जरूरत होती है। उसे जिस प्रकार का भोजन मिलेगा उसी प्रकार के फल की प्राप्ति होगी। फिर मनुष्य के विचारों पर देश की भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक अवस्था, जल-वायु आदि का प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। इसीलिए हम शीतप्रधान देशों के लोगों को परिश्रमी एव सासारिक वैभव की ओर उन्मुख पाते हैं। भारत के साथ भी यही सत्य लागू होता है। भारत की प्राकृतिक स्थिति इसे सुखी एवं समृद्ध बनाती है। यही कारण है कि भारतवर्ष का साहित्य धार्मिक विचारों और शृंगार रस के काव्यों से परिपूर्ण है। इतना कहने का एकमात्र तात्पर्य्य यह है कि सभ्यता के विकास में साहित्य का बहुत हाथ रहता है।

मनुष्य की सामाजिक स्थिति पर साहित्य का प्रभाव बड़ा व्यापक होता है। वह समाज की गति को बदल देता है। इसका साक्षी इतिहास है। मध्ययुग में धर्म-सबधी शक्ति पोप के हाथ में निहित थी और उसने उस शक्ति का खुल-कर दुरुपयोग किया, जिसके फलस्वरूप पुनर्जागरण हुआ। यूरोपीय जनता ने धर्म के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्राप्त की। इस पुनरुत्थान (Renaissance) ने सिर्फ पोप की ही धार्मिक महत्ता को धक्का नहीं दिया, प्रत्युत स्वतत्र ज्ञान-विज्ञान और आधुनिक युग का भी आविर्भाव किया। फ्रांस की महान् राज्यक्रान्ति रूसो (Roussean) और वालटेयर (Volteire) के लेखों नें कराया था और इटली के पुनरुत्थान (Regeneration) का बीज मेजिनी के लेखों ने बोया था। ठीक वैसे ही भारत में जब-जब अनीति और अव्यवस्था हुई, नए विचारों और नई संस्थाओं का निर्माण हुआ। उदाहरणस्वरूप बौद्धधर्म और आर्यसमाज का नाम लिया

जा सकता है। फक्कड़ कबीर और नानक ने भी कुछ इसी प्रकार के संघर्ष को मिटाने की चेष्टा की थी। अतएव यह स्पष्ट है कि मानव-जीवन की सामाजिक गति में साहित्य का स्थान अत्यन्त गौरव का है।

अन्तिम अनुच्छेद में निबन्धकार उपसंहार के रूप में कहता है कि साहित्य में बहुत बड़ी शक्ति निहित है, उसका प्रभाव बड़ा व्यापक और महत्त्व का है। तब सवाल यह उठता है कि क्या साहित्य हमें राष्ट्र-निर्माण और देश की उन्नति में सहायता नहीं दे सकता है? इसके उत्तर में हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि साहित्य राष्ट्रनिर्माण के कार्यों में सहायता अवश्य दे सकता है, लेकिन हमें इसे अपने जीवन-व्यापारों में अपनाने की जरूरत है। यदि हम इससे विमुख और उदासीन रहेंगे तो हमारा इससे कभी मेल न रहेगा।

[ग] 'समाज और साहित्य' की आलोचना

'समाज और साहित्य' डा० श्यामसुन्दरदासजी का एक उत्कृष्ट निबन्ध है। उनके प्रसिद्ध निबन्धों में इसका अन्यतम स्थान है। यह एक विचारात्मक निबन्ध है जिसकी रचना विवेचनात्मक शैली में हुई है। प्रस्तुत निबन्ध डा० श्यामसुन्दर दास की अभूतपूर्व विद्वत्ता एवं विवेचन-पटुता का सूचक है। इस निबन्ध का विषय अत्यन्त कठिन है, परन्तु उसे अत्यन्त ही सुबोध एवं सरस शैली में प्रस्तुत किया गया है, यह निबन्ध के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। इसमें विद्वान लेखक ने यह बतलाया है कि समाज और साहित्य के बीच बहुत गहरा संबंध है, दोनों एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते हैं। इसके साथ-ही-साथ लेखक साहित्य के मूल पर वैज्ञानिक ढग से प्रकाश डाला है। साहित्य मानव-समाज का दर्पण है और उससे मानव-समाज का कल्याण होता है। प्रस्तुत निबन्ध का यही वर्ण्य विषय है जिसका प्रतिपादन निबन्धकार ने अत्यन्त ही वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक ढग से किया है। निबन्ध के आरम्भ में लेखक ने वट-वृक्ष के एक बीज का उदाहरण देकर विकासवाद-जैसे जटिल विषय को बोधगम्य बनाया है। फिर उसने यह बतलाया है कि मनुष्य पहले असभ्य था, परन्तु कालक्रम से वह सभ्य बनता गया। उसके समक्ष नित्य नई-नई आवश्यकताएँ आकर खड़ी होने लगीं और आवश्यकतानुसार उसके रहन-सहन,

खान-पान, भाव-विचार आदि में परिवर्तन हो चला। नई आवश्यकताओं की उपस्थिति के कारण मनुष्य को मस्तिष्क-कष्ट भी उठाना पड़ा। अतएव सामाजिक जीवन में परिवर्तन के साथ-साथ उसकी मस्तिष्क-शक्ति में भी विकास होने लगा। अतएव धीरे-धीरे सभ्यता की उन्नति के साथ-साथ मस्तिष्क का भी विकास होने लगा। फिर मस्तिष्क-विकास में साहित्य का बहुत बड़ा हाथ रहा। साहित्य के बल पर ही समाज की नीति और धारणा विकसित होती है। जिस प्रकार का साहित्य होगा, उसी प्रकार का समाज भी। साहित्य हमारे समाज का मार्ग प्रशस्त करता है। वह भविष्य के लिए रास्ता तैयार करता है। साहित्य से राष्ट्र, धर्म और जाति का कल्याण होता है। साहित्य में प्रेरक शक्ति है, वह राष्ट्र-निर्माण में सहयोग दे सकता है, परन्तु इसके लिए हमें साहित्य को अपने व्यावहारिक जीवन में अपने साथ-साथ लेते चलना होगा। यदि हम इससे विमुख एव उदासीन रहेंगे तो हमारा इससे मेल ही न रहेगा। निबंधकार ने एक-एक विचार-बिंदु को लेकर इन बातों को धीरे-धीरे पाठकों को समझाया है। इसके लिए उसने कई प्रकार के मोटे-मोटे उदाहरण दिए हैं जिससे पाठकों के मस्तिष्क में अच्छी तरह समा सकें। लेखक ने जो कुछ भी कहा है उसे समझाकर कहा है। उसमें बनाव-शृंगार नहीं है, बल्कि हृदय की सच्ची वाणी है जिसके कारण वह पाठकों के मर्मस्थल पर जाकर सीधे चोट कर बैठती है। निबध के विषय को प्रस्तुत करने में विद्वान लेखक ने कहीं भी पेंचीदगी पैदा नहीं की है। इसीलिए विषय अत्यन्त ही सुबोध, बोधगम्य और हृदयग्राही बन गया है।

देखने पर तो निबन्ध का विषय आसान मालूम पड़ता है, परन्तु उसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। व्यापक होने के साथ-साथ विषय मे दुर्बोधता भी है। इस संबंध में डा० श्यामसुन्दरदास का कथन है कि "जो विषय जटिल या दुर्बोध हो, उनके लिए छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग वाछनीय है। सरल और सुबोध विषयों के लिए यदि वाक्य अपेक्षाकृत कुछ बड़े भी हों तो उनसे उतनी हानि नहीं होती।" जब हम प्रस्तुत निबन्ध को डा० दास के कथन की तुला पर रखकर परखते हैं तो पाते हैं कि यह निबन्ध उनके कथन का एक सुन्दर

उदाहरण है। प्रस्तुत निवन्ध का विषय अत्यन्त गभीर है, परन्तु उन्होंने सरल प्रणाली का अनुसरण करके अपनी प्रतिभा के बल से विषय को अत्यन्त बोधगम्य बना दिया है। विपय को अत्यन्त सरल रूप में उपस्थित करना वे अच्छी तरह जानते थे। उनका विचार था कि विरामादि चिह्नों का अधिक प्रयोग व्यर्थ है और यही कारण है कि इस रचना में उनका प्रयोग कम हो पाया है। प्रस्तुत निवन्ध की भापा विपयानुकूल है। विपय की गंभीरता के कारण कहीं-कहीं इसकी भापा गभीर भी हो गई है। इस निबन्ध में उन्होंने ऐसे-ऐसे शब्दों को प्रश्रय दिया है जो विचारों के प्रसारण एव अभिव्यक्ति में पूर्ण सक्षम एवं सहायक हैं। इसमें उन्होने सस्कृत के तत्सम शब्दों का ही अधिक प्रयोग किया है। फिर भी भाषा दुर्बोध नहीं कही जा सकती है। इसमें कहावतों और मुहावरों का प्रयोग नहीं के बराबर है। अपनी भाषा को व्यापक बनाने और उसमें अपने विपय का भलीभाँति निदर्शन करने के लिए डा० श्याम-सुंदर दास ने अपने विचारों को बार-बार दुहराया है और 'साराश यह है' या 'जैसे' कहकर उन्हे पुनः एकत्र करने की कोशिश की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने अपनी शैली में सर्वत्र सतर्कता एव उत्तरदायित्व से काम लिया है और अपने विचारों एवं भावों की व्यजनात्मक ध्वनि का पूरा ध्यान रखा है। इस निबंध की शैली में शब्दाडम्बर नहीं है। कहीं-कही गभीर विचारों के स्पष्टीकरण एव प्रतिपादन मे भापा कुछ क्लिष्ट हो गई है, पर स्पष्ट एवं बोधगम्य है। डा० श्यामसुदर दास की भाषा का एक सुंदर उदाहरण लीजिये—

"सामाजिक मस्तिष्क अपने पोषण के लिए जो भाव-सामग्री निकाल-कर समाज को सौंपता है, उसके संचित भण्डार का नाम साहित्य है। अतः किसी जाति के साहित्य को हम उस जाति को सामाजिक शक्ति या उसका सभ्यता-निर्देशक कह सकते हैं। वह उसका प्रतिरूप, प्रतिच्छाया या प्रतिबिंब कहला सकता है। जैसी उसकी सामाजिक अवस्था होगी वैसी ही उसका साहित्य होगा। किसी जाति के साहित्य को देखकर हम यह स्पष्ट बता सकते हैं कि उसकी सामाजिक अवस्था

कैसी है; वह सभ्यता के किस डंडे तक चढ़ सकी है। साहित्य का मुख्य उद्देश्य विचारों का विधान तथा घटनाओं की स्मृति को संरक्षित रखना है।"

[घ] शब्दार्थ, व्याख्या और आशय

शब्दार्थ (पारा १, पृ० ३४)—सृष्टि=संसार। विचित्रता=विलक्षणता। अन्वेषण=अनुसंधान, खोज। छानबीन=जाँच-पड़ताल। श्रृंखला=क्रम, सिलसिला। घनिष्ठ=गहरा। अन्तर=भेद, विषमता। पदार्थ=वस्तु। संपन्न=भरा-पूरा। अगणित=जिसकी गिनती नहीं। समर्थ=शक्तिपूर्ण। आश्चर्यजनक=विचित्रता से पूर्ण। कौतूहलवर्द्धक=कौतूहल को बढ़ानेवाली। शासक=प्रभु, ईश्वर। निर्धारित=निश्चित। बद्ध=बँधा। नियमानुसार=नियम के मोताबिक़। पुष्ट=मजबूत। अवस्था=दशा, उम्र। समाप्ति=अंत। कार्य-साधन=कार्य-सम्पादन। निरंतर=सर्वदा। तत्पर=तैयार। सृष्टि-निर्माण=संसार की रचना। योग=मदद। विकासवाद (Thery of evolution)=इस मत के प्रवर्तक हैं श्री डार्विन महोदय (सन् १८०६-१८८२)। श्री डार्विन महोदय के विकासवाद का सिद्धान्त यह है कि जीवों के अङ्गविशेष पर वातावरण का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। कुछ जानवरों में जननशक्ति विशेष रूप से रहती है, इसलिए वे अत्यधिक संतानें पैदा करते हैं। योग्य संतानें बच पाती हैं और अयोग्य मर जाती हैं। अधिक संतानें होने के कारण न उन्हें स्थान ही मिलता है और न उनके भोजन की व्यवस्था हो पाती है जिसके फलस्वरूप यह होता है कि जीवन-संघर्ष बना रहता है और केवल योग्यतम जीव ही बच पाते हैं। इसी को डार्विन महोदय ने Struggle for existence and survial of the fittest (अर्थात् 'जीवन-संघर्ष' और 'योग्यतम जीवों के जीवित रहने का सिद्धान्त') कहा है। प्रवृत्त करता=प्रेरित करता। सूक्ष्मातिसूक्ष्म=अत्यन्त छोटा। अभिव्यक्ति=प्रकाशन, स्पष्टीकरण, साक्षात्कार। संकुलता=अधिकता।

कहाँ एक छोटा-सा वृक्ष ...... कितना घनिष्ठ सम्बन्ध।

[पारा १, पृ० ३४]

व्याख्या—प्रस्तुत गद्य-संदर्भ डा० श्यामसुन्दरदास-लिखित 'समाज और साहित्य'-शीर्षक निबंध से उद्धृत किया गया है। इस संदर्भ में विद्वान निबन्धकार डा० दास ने समाज और साहित्य के घनिष्ठ सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि ईश्वर की सृष्टि विचित्र है। गौर से देखने पर नई-नई वस्तुएँ देखने को मिलती हैं, परन्तु वे असंबद्ध नहीं हैं, प्रत्युत क्रमबद्ध हैं। उदाहरण के लिए एक छोटे-से वट-वृक्ष के बीज और मानव-शरीर के निर्माण को लीजिए। यों तो सभी वृक्षों के बीज उनके आकार-प्रकार की तुलना में छोटे ही होते हैं, पर यहाँ विशेष रूप से वट-वृक्ष के बीज की ओर संकेत किया गया है। वट-वृक्ष का बीज अन्य वृक्षों के बीज से भी छोटा होता है और वृक्ष अत्यन्त विशाल। ठीक उसी प्रकार मनुष्य एक बूँद वीर्य से उत्पन्न होता है, लेकिन उसकी शारीरिक और बौद्धिक शक्ति अपरिमेय होती है। फिर बीज और वृक्ष में कोई साम्य नहीं है और न वीर्य और मनुष्य के शरीर में ही कोई समानता दीखती है, लेकिन दोनों के बीच एक गहरा सम्बन्ध है। ठीक इसी प्रकार समाज और साहित्य में अटूट सम्बन्ध है, कोई एक दूसरे को बिलग नहीं कर सकता।

सब बातें विचित्र, आश्चर्यजनक ...... नियमावली से बद्ध है।

[पारा १, पृ० ३४]

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में विद्वान लेखक ने यह बतलाने की चेष्टा की है कि संसार की सभी बातें आश्चर्यजनक, कौतूहलपूर्ण एवं विचित्रताओं से भरी हैं, लेकिन इन विचित्रताओं में भी साम्य है। मानव-स्वभाव की ओर दृष्टिपात करने के लिए संकेत करता हुआ लेखक कहता है कि मानव-स्वभाव में काफी वैषम्य है, लेकिन ये सभी बातें नियमानुसार घटित होती रहती हैं और उस सर्वशक्तिमान शासक द्वारा परिचालित होती रहती हैं, जिसे हम देख नहीं पाते हैं। मानव-शरीर के अंतिम विकास की अवस्था मृत्यु है, पर वही इसका अंत नहीं है। मरकर भी वह पुनर्जन्म लेता है और सृष्टि के विकास में हमेशा

हाथ बँटाता रहता है। इस विषय की खोज और ज्ञान करानेवाले शास्त्र को 'विकासवाद' कहते हैं।

शब्दार्थ—[पारा २, पृ० ३५-६]—भूतात्मक = भौतिक जीवन से सबधित। जीवात्मक = जीव से संबंध रखनेवाले। निश्चित = ठीक। उन्नति-क्रम = विकास-क्रम। विदित = मालूम। आदि = शुरू। समान = बराबर। अनुकूल = मोताबिक। उत्तेजना = हलचल। अवयव = अग। पुष्टि हुई = शक्तिशाली, परिवर्त्तन = बदलना। सामाजिक जीवन = Social life। रूप = शक्ल। विधान = व्यवस्था, प्रणाली, पद्धति, ढग, नियम। मस्तिष्क = दिमाग, Brain अन्योन्याश्रय = एक दूसरे पर अवलम्बित।

जैसे संसार की भूतात्मक ... अपने अधीन रखते है। [पृ० ३५]

आशय—डारविन (Darwin) मानव-शास्त्र के एक प्रसिद्ध विद्वान थे। उनका समय १८०६ से १८८२ है। वे विकासवाद के सिद्धान्त के प्रवर्त्तक हैं। उन्होंने यह सावित किया है कि मनुष्य का विकास धीरे-धीरे सेल-नामक एक जीव से हुआ है। मनुष्य बन्दर या चिपाजी का विकसित रूप है। उनके विकासवाद का सिद्धात यह है कि जीवों के अग-विशेष पर वातावरण का बहुत बड़ा असर पड़ता है। कुछ पशुओं में जननशक्ति विशेष रहती है, इसलिए वे बहुत-सी सतानें पैदा करते हैं, पर उन सबके लिए न भोजन की व्यवस्था रहती है और न स्थान का प्रबंध ही। इसका फल यह होता है कि उन्हे जीवन-सघर्ष करना पड़ता है और जो योग्य अर्थात् शक्ति-सम्पन्न होते हैं वे ही बच पाते हैं। इसी को डारविन महोदय Struggle for existence and survival of the fittest कहते हैं। उनके इस सिद्धात ने वैज्ञानिक दुनिया में एक क्राति ला दी जिसके आधार पर पीछे के वैज्ञानिकों को अन्वेषण करना पड़ा।

जब किसी चीज की आवश्यकता ... शक्ति का विकास होने लगा।

[पारा २, पृष्ठ ३५]

व्याख्या—प्रस्तुत गद्य-संदर्भ डा० श्यामसुन्दरदास-लिखित निबन्ध 'समाज और साहित्य' से उद्धृत किया गया है। इस अवतरण में विद्वान

लेखक ने साहित्य की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए मानव के सामाजिक जीवन के विकास-क्रम पर दृष्टिपात किया है। उसने बतलाया है कि सामाजिक जीवन के विकास में मस्तिष्क-शक्ति का बहुत बड़ा हाथ है। इसलिए लेखक कहता है कि यदि समाज-निर्माण की ओर देखें तो वहाँ भी डारविन के विकासवाद का नियम पूर्णतया घटित होते पाते हैं। सृष्टि के आरंभ में मनुष्य असभ्य था, जंगली था ; परन्तु सृष्टि के आदिकाल से लेकर उसके सभ्यावस्था में पहुँचने तक जितने हेर-फेर हुए हैं वे इस बात के पूर्ण साक्षी हैं कि वहाँ भी विकासवाद के नियम पूर्णतया लागू होते हैं। पहले संसार के सभी जीव समान थे, परन्तु धीरे-धीरे मानव-सभ्यता का विकास हुआ और इसमें (विकास में) प्राकृतिक परिस्थितियों (Natural circumstances) एवं आवश्यकताओं (Necessities) का बहुत बड़ा हाथ है। यदि इन दोनों का सयोग न होता तो मनुष्य असभ्य ही रह जाता। यह कटु सत्य है कि मानव परिस्थितियों का दास है, वह विषम परिस्थितियों से सघर्ष करने के लिए, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपनी मस्तिष्क-शक्ति का उपयोग करता है। उसपर विजय प्राप्त करने के लिए मस्तिष्क को कष्ट देना आवश्यक है। सुतरां, हम देखते हैं कि मानव की मस्तिष्क-शक्ति के विकास ने ही मानव-सभ्यता के विकास-मार्ग को प्रशस्त किया है। यदि मस्तिष्क-शक्ति का विकास नहीं होता तो सभ्यता भी नहीं फलती-फूलती।

सभ्यावस्था सामाजिक जीवन ... स्थान बड़े महत्त्व का है।

[पारा २, पृष्ठ ३५-६]

व्याख्या—प्रस्तुत अवतरण में विद्वान लेखक डा० श्यामसुन्दर दास ने मानव के सामाजिक जीवन के विकास में साहित्य का स्थान निरूपित करते हुए यह बतलाया है कि सृष्टि के आरंभ में मनुष्य असभ्य एवं जंगली अवस्था में था और सब आरंभिक जीव समान थे। परन्तु सबने एक साथ उन्नति नहीं की। जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे मनुष्य सभ्यावस्था को प्राप्त करता गया। मनुष्य के सभ्यावस्था तक पहुँचने में जितने भी परिवर्तन हुए वे सभी नियमित और शृंखलाबद्ध हैं। इसके पश्चात् लेखक सभ्यावस्था की परिभाषा देते

हुए कहता है कि जब मनुष्य अपनी सुख-शान्ति के साथ-साथ दूसरों की सुख-शान्ति एवं उनके अधिकारों (Rights) को समझने लगे तो उसी अवस्था को हम सभ्यता कहते हैं। मस्तिष्क-शक्ति के विकास के विना सभ्यावस्था की प्राप्ति बिल्कुल असंभव है। कहने का तात्पर्य्य यह है कि मनुष्य-जाति की सभ्यता और मस्तिष्क, दोनों का साथ-साथ विकास हुआ है। एक के अभाव में दूसरा एक पग भी आगे नहीं बढ सकता है, दोनों का संबंध अटूट है। फिर मस्तिष्क-विकास में साहित्य का बहुत बड़ा हाथ रहा है, उसके विकास में साहित्य का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव-सभ्यता के विकास में साहित्य ने बहुत बड़ी सहायता पहुँचायी है।

शब्दार्थ (पारा ३-४ पृ० ३६-७)—भौतिक = Physcial। उन्नति = प्रगति। बाह्य पंचभुतो = बाहरी पाँच तत्त्व। अवलम्बित = निर्भर। वृद्धि = विकास। साधन = तरीका। पोषण = पुष्टि, बढती। संचित = एकत्र। भंडार = खजाना। सभ्यता-निर्देशक = सभ्यता बतलानेवाला। प्रतिरूप, प्रतिच्छाया या प्रतिबिंब = छाया, प्रतिमा (Replica)। किस डंडे तक चढ़ सकी है = कितनी सीढ़ियाँ चढ़ चुकी हैं। विधान = व्यवस्था, प्रणाली, पद्धति, ढंग। स्मृति = याद। संरक्षित = सुरक्षित, रक्षा करके। मनोविकार = मन के विकार (Impuls)। प्रदर्शित = दिखाना। उल्लेख = वर्णन। कर्मकाण्ड = (Ceremonials)। निर्धारण = निश्चित करने में। वाणी = बोली। उपयोग = व्यवहार। शृंखला = कड़ी, सिलसिला। क्रियमाण = चालू (Dynamic)। आहार = भोजन। अपेक्षा होती है = जरूरत होती है। प्रयोजन = मतलब। निरतर = सर्वदा, हमेशा। अवलम्बन = आश्रय, सहारा। ममता = ममत्व का भाव, प्रेम। वैभव = धन, ऐश्वर्य। प्रतिकूल = विपरीत, उलटा। प्राबल्य = जोर। प्रकांड = विशाल, बहुत बड़ा। क्रीड़ा-क्षेत्र = लीलाभूमि। आवागमन = आना-जाना। प्रचुरता = अधिकता। उर्वरा = उपजाऊ। खाद्य पदार्थ = खाने योग्य चीजें। विलास-प्रियता = भोग-विलास। योग = सहायता।

जैसे भौतिक शरीर की स्थिति ... .का मुख्य साधन साहित्य है।

[पृ० ३६]

आशय—लेखक ने बतलाया है कि मानव के भौतिक शरीर की वृद्धि के लिए बाह्य पंचतत्त्वों, कायरूप प्रकाश, वायु-जलादि की अनिवार्यता है, ठीक उसी प्रकार मानव-समाज के मस्तिष्क की उन्नति-अवनति साहित्य की अनुकूलता पर निर्भर है। कहने का तात्पर्य्य यह है कि साहित्य ही समाज के मस्तिष्क के विकास एव वृद्धि का मुख्य कारण है।

सामाजिक मस्तिष्क अपने ... .सभ्यता-निर्देशक कह सकते हैं।

[पारा ४. पृष्ठ ३६]

व्याख्या—प्रस्तुत सारगर्भित पंक्तियाँ 'साहित्य और समाज'-शीर्षक निबन्ध से ली गई हैं। इनमें लेखक ने साहित्य को परिभाषा दी है। इसके पहले विद्वान् लेखक ने यह सिद्ध कर दिखला दिया है कि मस्तिष्क के विकास एव वृद्धि का मुख्य साधन साहित्य है जिसके कहने का तात्पर्य्य यह है कि समाज अपने मस्तिष्क की पुष्टि के लिए भावरूपी भोजन ग्रहण करता है। जिस प्रकार अन्न-जैसे भोजन से मानव-शरीर की पुष्टि होती है उसी प्रकार भाव-जैसे भोजन से मस्तिष्क की पुष्टि होती है। समाज के इसी सुरक्षित भाव-भण्डार और ज्ञानकोष का नाम साहित्य है यानी इसी भावसमूह के संग्रह की संज्ञा साहित्य है। साहित्य के समस्त उपादान जीवन से उपलब्ध होते हैं और हमारे जीवन-व्यापारों से ही इसकी पुष्टि होती है। अतएव जब जीवन से साहित्य का इतना गहरा सम्बन्ध है तब हमें यह समझने में कुछ भी कठिनाई नहीं हो सकती कि किसी जाति का साहित्य उसकी सामाजिक दशा और उसकी सभ्यता का द्योतक है। साहित्य का आश्रय लेकर ही हम यह पता लगा सकते हैं कि अमुक जाति ने कितनी उन्नति की है और उसकी सभ्यता किस सीमा तक पहुँच चुकी है। अतएव साहित्य एक प्रकार से सभ्यता-निर्देशक है।

मस्तिष्क को क्रियमाण रखने.......साहित्य का प्रयोजन होता है।

[पारा ४, पृ० ३६]

व्याख्या—प्रस्तुत अवतरण डा० श्यामसुन्दर दास द्वारा लिखित 'साहित्य और समाज' शीर्षक विचारात्मक निबन्ध से उद्धृत किया गया है। इसमें विद्वान् लेखक ने समाज और साहित्य के अन्योन्याश्रय संबध को निरूपित कर साहित्य की महत्ता पर दृष्टिपात किया है। लेखक का कथन है कि साहित्य की अनुकूलता पर ही समाज के मस्तिष्क का विकास निर्भर करता है। तव साहित्य क्या है ? यह प्रश्न उठ खड़ा होता है। किसी जाति का साहित्य उसके शताब्दियों के चिंतन का परिणाम होता है। कहने का तात्पर्य्य यह है कि समाज के सुरक्षित भाव-भण्डार और ज्ञानकोष का नाम साहित्य है। अतएव हम उस साहित्य को जाति, सामाजिक शक्ति अथवा उसका सभ्यता-निर्देशक कह सकते हैं। साहित्य समाज का दर्पण है, वह मानव-जाति की सामाजिक अवस्था, उसकी सभ्यता का निर्देशक है। परिस्थितियों के अनुकूल मनुष्य के भाव और विचार उत्पन्न होते हैं। धीरे-धीरे नये-नये भावों की सृष्टि हुई। फलतः साहित्य के भी भेदोपभेद हो गए। जिस प्रकार मानव-शरीर को पुष्ट और बलिष्ठ बनाने के लिए भोजन को आवश्यकता होती है उसी प्रकार मस्तिष्क को क्रियाशील वनाये रखने के लिए, उर्वर बनाने के लिए, उसके विकास के लिए साहित्यरूपी भोजन की आवश्यकता होती है। जैसा भोजन होगा वैसा ही फल भी होगा।

मनुष्य की सामाजिक स्थिति · प्रधान योग रहता है। [पृ० ३७]

सारांश—प्रस्तुत गद्य-सदर्भ का तात्पर्य्य यह है कि जिस प्रकार के साहित्य की रचना होगी उसका बहुत गहरा प्रभाव समाज के ऊपर पड़ेगा। साहित्य के प्रभाव से बचना अत्यन्त कठिन है। वरन् वही उसकी उन्नति और अवनति में प्रधान हाथ बँटायेगा।

शब्दार्थ (पारा ५, पृ० ३७-८)—विदित = ज्ञात। स्थिति = दशा, हालत। परिवर्तन = बदलना। माध्यमिक काल (Meadival age) = इतिहास, का मध्यकाल। दुरुपयोग = बुरा उपयोग, बुरी तरह से काम में लाना। पुनरुत्थान = नई जागृति, पुनर्जागरण। सूत्रपात = आरम्भ। आराधना = पूजा, उपासना। रत हुआ = लीन हुआ। परिणाम = फल। लालसा =

आकांक्षा। अव्यवस्था = गड़बड़ी । अनीति = दुराचार। कूपमण्डूकता का भाव = बहुत थोड़ी जानकारी का भाव। प्रादुर्भाव = आविर्भाव, उत्पत्ति, प्रकट होना। गौरव = महत्त्व, बड़प्पन।

इसका परिणाम यह हुआ ·········मेजिनी के लेखों ने बोया।

[पारा ५, पृ० ३५-८]

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में विद्वान लेखक ने साहित्य के व्यापक प्रभाव पर प्रकाश डाला है। साहित्य समाज की गति को बदल देता है। इतिहास इसका साक्षी है। पुनरुत्थान से यूरोप मे बहुत बड़ा परिवर्तन आया। धर्म का प्रभाव जाता रहा और पोप की शक्ति क्षीण पड़ गई। समाज और राजनीति के क्षेत्र से धर्म का प्रभाव हट गया। जनता अपनी स्वतन्त्रता की चाह करने लगी और उसके लिए प्रयत्नशील भी हुई। पुनरुत्थान ने सिर्फ पोप की ही धार्मिक महत्ता को धक्का नहीं दिया, बल्कि स्वतंत्र ज्ञान-विज्ञान तथा आधुनिक युग का भी आविर्भाव किया। सन् १७८९ में फ्रांस की राज्यक्रांति हुई थी जिसके दूसरे भी कारण थे, लेकिन उसके कुछ ही दिनों पहले फ्रांस में बड़े-बड़े दार्शनिक और लेखक हुए थे। इन दार्शनिको और लेखको में रूसो और वालटेयर का नाम सबसे आगे है। पुराने जमाने में इटली एक वैभव-सम्पन्न देश था जो अनेक रियासतों में बँटा था और सभी एक दूसरे को हड़प जाने में लगे रहते थे, परन्तु मेजिनी ने अपने लेखों के द्वारा जनता में ऐसी ज्योति जगाई कि सभी रियासतें एक सूत्र में गुम्फित हो गईं।

शब्दार्थ (पारा ६, पृ० ३८)—उलट-फेर = परिवर्तन। हित-विधायक = भलाई करनेवाला। राष्ट्रनिर्माण = राष्ट्र की रचना। पथ-प्रदर्शक = मार्ग दिखलानेवाला, रास्ता बतलानेवाला। प्रवाह = धारा। प्रकृति-सयोग = स्वाभाविक मेल।

अब यह प्रश्न उठता है कि ·····संयोग ही नहीं हो सकता।

[पारा ६, पृ० ३८]

व्याख्या—प्रस्तुत अवतरण में लेखक ने साहित्य द्वारा किए हुए कल्याण-प्रद कार्यों का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि साहित्य राष्ट्र-निर्माण के कार्य

में एक मुख्य साधन है। साहित्य एक प्रेरक शक्ति है। उसी की प्रेरणा से धार्मिक पुनरुत्थान हुआ और फ्रांस की राज्यक्रान्ति भी। इसी साहित्य ने यूरोप की कीर्ति में वृद्धि की और वह सभी का सच्चा दोस्त है। साहित्य के कारण ही सृष्टि के आदिकाल से मनुष्य के जीवन में बड़े-बडे परिवर्तन हुए हैं। साहित्य में इतनी ताक़त है कि उससे महान क्रान्तियाँ हो सकती हैं, फिर भी वह हमें राष्ट्र-निर्माण और देश की उन्नति में अवश्य सहायक होता है। परन्तु हमें इसे अपने जीवन-व्यापरों में अपनाने की जरूरत है। यदि हमलाग साहित्य को अपने जीवन का एक मुख्य अग मान लें तो और अन्य उन्नतियों के साथ-साथ इसकी भी उन्नति करते चलें। यदि हम इससे विमुख और उदासीन रहेंगे तो साहित्य और हमारे जीवन में संयोग नहीं हो सकता। ऐसी दशा में साहित्य राष्ट्र के निर्माण में सहायक नहीं हो सकता।

[ङ] आलोचनात्मक प्रश्नोत्तर

प्रश्न १—डा० श्यामसुन्दर दास का आलोचनात्मक परिचय दीजिए।

उत्तर—'लेखक का परिचय' पढ़ें।

प्रश्न २—समाज और साहित्य में कौन-सा सम्बन्ध है, उस पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—निबन्ध का सारांश पढ़ें।

प्रश्न ३—'समाज और साहित्य'-शीर्षक निबन्ध की समीक्षा कीजिए।

उत्तर—निबन्ध की आलोचना पढ़ें।

प्रश्न ४—विकासवाद का विषय क्या है और किसे कहते हैं।

उत्तर—धारा १ के शब्दार्थ लिखने के सिलसिले में विकासवाद पर एक टिप्पणी दी गई है, उसे पढ़ें।

प्रश्न—डा० श्यामसुन्दर दास की एक प्रसिद्ध उक्ति है कि 'मानव-जीवन की सामाजिक उन्नति में साहित्य का स्थान बड़े गौरव का है'—प्रस्तुत निबन्ध के आधार पर इसकी पुष्टि कीजिए।

उत्तर—डा० श्यामसुन्दर दास का उपर्युक्त कथन बहुत अंशों में सत्य है और वह 'समाज और साहित्य' शीर्षक निबन्ध से उद्धृत है।

मानव के सामाजिक जीवन के विकास में मस्तिष्क-शक्ति का बहुत बड़ा हाथ है और उसका (मस्तिष्क-शक्ति का) विकास साहित्य पर अवलंबित है। डारविन के विकासवाद-सिद्धान्त ने यह बतला दिया है कि सृष्टि के आरंभ में मनुष्य जंगली था, असभ्य था और उस समय सभी जीव समान थे। धीरे-धीरे सभी जीव उन्नति करते गए। जो जिस ओर झुके वे उससे प्रभावित होकर अग्रसर हुए। उसपर परिस्थितियों, प्राकृतिक स्थितियों एवं आवश्यकताओं का प्रभाव पड़ा और उसी के अनुसार मानव के रहन-सहन, खान-पान, भाव-विचार आदि में परिवर्तन हुए। उसके समक्ष नई-नई समस्याएँ उपस्थित होती गई जिसके समाधान के लिये मनुष्य को मस्तिष्क-शक्ति का आश्रय ग्रहण करना पड़ा। इस प्रकार ज्यों-ज्यों मनुष्य का सामाजिक जीवन विकसित, विस्तृत एवं कर्मसंकुलित होता गया, त्यों-त्यों वह अधिक सभ्य होता गया। ज्यों-ज्यों मनुष्य अधिक सभ्य होता गया, त्यों-त्यों उसके मस्तिष्क का भी विकास हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैसे-जैसे सामाजिक जीवन में परिवर्तन होता गया वैसे-वैसे मस्तिष्क-शक्ति का भी विकास हुआ। परन्तु मस्तिष्क की शक्ति के विकास में साहित्य का बहुत बडा हाथ रहा है। मनुष्य के सभ्यावस्था तक पहुँचने में जितने भी परिवर्तन हुए हैं, वे सभी नियमित एवं शृंखलाबद्ध हैं। मनुष्य जाति की सभ्यता और मस्तिष्क, दोनों का साथ-साथ विकास हुआ है। फिर मस्तिष्क-विकास में साहित्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। जिस प्रकार भौतिक शरीर का विकास पंचतत्त्वों पर आधारित है उसी प्रकार समाज की मस्तिष्क-शक्ति के विकास और वृद्धि का मुख्य साधन साहित्य है।

समाज के सुरक्षित भाव-भंडार और ज्ञान-कोष का नाम साहित्य है। साहित्य के उपादान जीवन में उपलब्ध होते हैं। हमारे जीवन-व्यापारों से ही उसकी पुष्टि होती है। अतः जब जीवन से इसका इतना गहरा संबंध है तब हमें यह समझने में तनिक भी कठिनाई नहीं हो सकती कि किसी जाति का

साहित्य उसकी सामाजिक दशा और उसकी सभ्यता का सूचक है। कोई जाति कितनी उन्नति कर सकी है यह उसके साहित्य के पर्यवेक्षण से पता चल जाता है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि साहित्य समाज का दर्पण है। जिस प्रकार हमें शरीर को पुष्ट एवं बलिष्ठ बनाने के लिए भोजन की आवश्यकता होती है उसी प्रकार मस्तिष्क को क्रियमाण बनाने के लिए, उसकी वृद्धि के लिए साहित्यरूपी भोजन की आवश्यकता होती है। कहने का मतलब यह है कि साहित्य के अनुरूप ही समाज की मस्तिष्क-शक्ति का विकास होता है।

यह चरम सत्य है कि प्रत्येक देश के मनुष्य के विचारों पर उस देश की जल-वायु, प्राकृतिक अवस्था आदि का प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। इसीलिए हम शीतप्रधान देशों के लोगो को परिश्रमी एवं सासारिक वैभव की ओर उन्मुख पाते हैं। यही कारण है कि भारतवर्ष के लोग धार्मिक विचारों एवं प्रकृति के रमणीय क्रीड़ा-क्षेत्र की ओर लगे रहे हैं जिसके फलस्वरूप भारत का साहित्य धार्मिक विचारों और शृ गाररस के काव्यों से पूर्ण है। सारे कथन का तात्पर्य यह है कि सभ्यता के विकास में साहित्य का बहुत बड़ा हाथ रहता है; क्योंकि वह एक प्रेरक शक्ति है जिससे मानव के सामाजिक जवीन में अनेक प्रकार के उलट-फेर होते हैं। साहित्य का प्रभाव अत्यन्त व्यापक है, वह समाज की गति को बदल देता है। इतिहास इसका साक्षी है। पाश्चात्य देशों में जो पुनर्जागरण हुआ, फ्रांस में जो राज्यक्रान्ति हुई और इटली में जो पुनरुत्थान हुआ उसका सारा श्रेय साहित्य को ही है। भारत के सामाजिक जीवन पर भी साहित्य का प्रभाव है। यहाँ के निवासी अधिकतर धर्म की ओर उन्मुख रहे हैं, इसीलिए यहाँ का साहित्य धर्म-प्रधान रहा है। जब-जब जिस देश में अनीति और अव्यवस्था हुई, तब-तब साहित्य ने ऐसे महापुरुषों को जन्म दिया जिन्होंने नए विचारों एव नई संस्थाओं की सृष्टि कर हमारे सामाजिक जीवन को कूप-मण्डूकता से निकाला और विकास का पथ विस्तृत किया। अतः मानव-जीवन की सामाजिक गति में साहित्य का स्थान बड़े गौरव का है।

विजयानंददुबेजी की चिट्ठी

(श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक')

जन्म सन् १८८६ :: मृत्यु सन् १९४५

[क] लेखक का परिचय

श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' का जन्म आश्विन कृष्ण १, संवत् १९४८ रविवार को, अंबाला में हुआ था। उनके माता-पिता गौड़ ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम हरिश्चन्द्र कौशिक था, जो अबाला छावनी की फौज के स्टोर-कीपर थे।

जीवन-परिचय

उनके पूर्वज सहारनपुर के गगोह नामक ग्राम के रहनेवाले थे। यहाँ से उनके चचेरे दादा जीविकावश कानपुर में आकर बस गए थे। उनका नाम था पं० इन्द्रसेन कौशिक। यहाँ वे वकालत करने लगे थे। वे संतानहीन थे, इसीलिए उन्होंने कौशिकजी को चार वर्ष की अवस्था में ही अपना दत्तक पुत्र बना लिया था। यही कारण है कि वे अपने माता-पिता को छोड़कर बचपन से ही कानपुर में रहने लगे। पं० इन्द्रसेन कौशिक की सम्पूर्ण सम्पत्ति के एकमात्र उत्तराधिकारी कौशिकजी ही बने। इसीलिए उन्हें किसी प्रकार की आर्थिक कठिनाई नहीं हुई। गंगोह में अब भी उनकी पैतृक सम्पत्ति है और आज भी उनके दो बड़े भाई अम्बाला में रहते हैं।

कौशिकजी की शिक्षा-दीक्षा अन्य बालकों के समान प्रारंभ तो हुई, किन्तु अभाग्यवश मैट्रिक तक ही स्कूली शिक्षा मिल सकी। उसके पश्चात् कुछ असुविधाओं के कारण ये आगे न पढ़ सके। किन्तु स्वय पढ़ने-लिखने में रुचि रखते थे,

इसलिए इनकी प्रगति रुकी नहीं। अपने परिश्रम और अध्यवसाय से इन्होंने हिन्दी, उर्दू, बँगला और संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त किया तथा इन भाषाओं के साहित्य से भी परिचय प्राप्त कर लिया। अपनी मौलिक प्रतिभा और साहित्यिक रुचि ने इन्हे लिखने की प्रेरणा दी। शुरू में ये उर्दू साहित्य के प्रशसक थे और 'गागिव' उपनाम से उर्दू में 'कविताएँ' लिखते थे। लेकिन सन् १६०६ से उर्दू को छोड़ हिन्दी में लिखना शुरू किया। उस समय से वे नियमित रूप से हिन्दी में लिखते रहे। उन दिनों कानपुर से एक साप्ताहिक पत्र 'जीवन' निकलता था। पहलेपहल उसमें ही उन्होंने कहानियाँ लिखीं। बाद में उनके दो-तीन निबन्ध आचार्य द्विवेदीजी द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' में भी प्रकाशित हुए और कुछ समय के उपरान्त द्विवेदीजी से उनका परिचय हो गया। एक बार जब द्विवेदीजी से उनकी मुलाकात हुई, उन्होंने कौशिकजी को बगला का 'षोडशी'-नामक कहानी-संग्रह दिया जिसमें अत्यन्त सुन्दर कहानियाँ थीं। कौशिकजी बँगला भाषा से पूर्णतया परिचित थे, अतएव द्विवेदीजी के आदेशानुसार उन्होंने 'निशीथ'-शीर्षक कहानी का अनुवाद कर अपनी एक मौलिक कहानी 'रक्षाबधन' के साथ उनके पास 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजी। द्विवेदीजी उन कहानियों को पढ़कर मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न हुए और इन दोनों कहानियों को 'सरस्वती' में प्रकाशित किया जिसके फलस्वरूप कौशिकजी की ख्याति बढ़ गई। तब से सदैव वे हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में कहानियाँ लिखते रहे। हिन्दी संसारवालों ने उनकी कहानी 'रक्षाबन्धन' का यथेष्ट आदर किया। सन् १६३० के आसपास के क्रान्तियुग में वर्षों तक 'चाँद' और 'भविष्य' में 'विजयानन्द दुबे' के छद्म नाम से 'दुबेजी की चिट्ठी' लिखा करते थे जिसने हिन्दी ससार में तहलका मचा दिया था।

कौशिकजी की प्रतिभा बहुमुखी थी। हमलोग मुख्यतः उन्हे कहानीकार के रूप में जानते हैं। किन्तु उनकी प्रतिभा हमें अन्य क्षेत्रों में भी मिलती है। वे कथाकार, नाटककार, कवि, अनुवादक, सकलनकर्त्ता और व्यंग्य-लेखक भी थे। कौशिकजी ने लगभग तीन सौ कहानियाँ लिखी हैं जिनके पाँच संग्रह हमें मिलते हैं। 'ताई' और 'रक्षाबधन' उनकी प्रसिद्ध कहानियों में से है। 'भिखारिणी' और

'माँ' उनके दो प्रसिद्ध उपन्यास हैं। वे पत्र-पत्रिकाओं में बराबर लिखा करते थे। उन्होंने कुछ दिनों तक 'मनोरंजन' मासिक पत्रिका का सम्पादन भी किया तथा स्वयं को सफल सम्पादक भी सिद्ध किया। सम्पादन-कार्य की कुशलता के कारण ही कौशिकजी कई ग्रन्थों के संपादन तथा संकलन-कार्य में भी सफलता प्राप्त कर सके। नाटककार के रूप में हमें उनकी प्रतिभा का परिचय उनके एक मौलिक नाटक द्वारा प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त एक बँगला नाटक तथा एक उपन्यास का अनुवाद भी उन्होंने किया। कौशिकजी प्रेमचन्द-स्कूल के लेखक थे। अतः उनकी रचनाओं में हमें प्रेमचन्द-स्कूल की विशेषताएँ प्राप्त होती हैं। प्रेमचन्द-स्कूल की विशेषताओं के साथ-साथ उनकी रचनाओं पर उनके निजी व्यक्तित्व और विचारों की छाप स्पष्ट है, जो सुदर्शन और प्रेमचन्द की रचनाओं से उनकी रचनाओं को पृथक् करती है। १० दिसम्बर, १९४५ को ऐसे अमर कलाकार का देहान्त हो गया।

कौशिकजी की रचनाएँ

सच तो यह है कि श्रीविश्वभरनाथ शर्मा कौशिक हिन्दी कहानी-साहित्य के आरंभिक काल के प्रतिनिधि लेखक थे। रचनाकाल सन् १९१२ से आरम्भ होता है और तब से वे बराबर लिखते रहे। उनको अमरता प्रदान करने का श्रेय उनकी कहानियों को है। उनकी रचनाओं की तालिका नीचे दी जाती है—

[क] अनूदित रचनाएँ—मिलन-मंदिर (उपन्यास) और अत्याचार का परिणाम (नाटक)। इन दोनों ग्रन्थों का बँगला से हिन्दी में अनुवाद हुआ है।

[ख] मौलिक कहानी-संग्रह—१. गल्प-मन्दिर (सन् १९१९) २. कल्लोल (सन् १९२९) ३. चित्रशाला (दो भाग सन् १९२४) ४. मणिमाला ५. पेरिस की नर्तकी (सन् १९४२)

[ग] मौलिक उपन्यास—माँ और भिखारिणी। दोनों का रचना-काल सन् १९२९ है।

[घ] नाटक—भीष्म, जो ऐतिहासिक नाटक है।

[ङ] जीवन-चरित्र—१ जरीना (रूस की महारानी 'जरीना'),

२ रूस का राहु (रासपुटिन की जीवनी) और ३ संसार की असभ्य जातियों की स्त्रियाँ।

[च] संकलन—दुवेजी की चिट्ठियाँ।

विश्वभरनाथ शर्मा 'कौशिक' द्विवेदीयुग के कलाकार हैं। 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ-साथ कौशिकजी हिन्दी में आए। वे प्रेमचन्द-स्कूल के कहानीकार माने जाते हैं। 'प्रेमचन्द-स्कूल' से तात्पर्य्य है—यथार्थमूलक धारा। कौशिकजी में भावपक्ष और कलापक्ष, दोनों के प्रति यथार्थ का आग्रह पाया जाता है। इन्होंने कहानियाँ काफी लिखी हैं और इनकी समस्त कहानियाँ वर्त्तमान जीवन की यथार्थता को आधार बनाकर लिखी गई हैं। हिन्दी की प्रारंभिक कहानियों में दैवी घटनाओं और संयोगो का महत्त्वपूर्ण स्थान था। चरित्र-परिवर्तन किसी आकस्मिक घटना या दैवी स्थिति के आधार पर किया जाता था। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि कुछ ही दिन पहले तक हिन्दी की कहानियों का उद्देश्य मनोरंजन होता था, अतः कहानी में कहानी के मनोरंजक पक्ष पर ही भरपूर ध्यान दिया जाता था। कौशिकजी की कहानियाँ इन बातों का प्रमाण हैं। 'रक्षा-बंधन', 'ताई' या 'पावन पतित' आदि कहानियाँ दैवी घटना—सायोगिक स्थिति—पर खड़ी की गई हैं। 'रक्षा-बधन' में घनश्याम माता और बहन से बिछुड़ जाता है। वर्ष पर वर्ष बीतते जाते हैं। अन्ततः जब वह विवाह के लिए लड़की ढूँढने के लिए निकलता है, तो संयोगवश वह लड़की उसकी बहन निकल आती है। तब उसकी माता से भी भेट होती है। 'पावन-पतित' में राजीवलोचन की, गले की तावीज के कारण, माँ से भेंट एक सायोगिक घटना ही है। इसी प्रकार 'पीपल का पेड़' नामक कहानी में रुपये और अशर्फी के घड़े का पेड़ के नीचे से निकलना—दवी घटना ही है।

कहानीकार कौशिक

कौशिकजी की कहानियों का विषय मुख्यतः ग्रामीणों और शोषितों को लेकर है, यद्यपि कौशिकजी ने भारतीय मध्यवित्त परिवार का भी चित्रण किया है और उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ इसी विषय से संबंध रखती हैं। कौशिकजी की कहानियों में चरित्र-चित्रण ही प्रधान होता है। मध्यवर्गीय परिवार की

समस्याओं को चित्रित करने के लिए वे किसी चरित्र को उठाते हैं और अत में चरित्र-परिवर्तन द्वारा कहानी का अंत करते हैं। यह चरित्र-परिवर्तन दैवी और संयोगपूर्ण घटना पर आधारित होता है। इनके चरित्रों का धरातल प्रायः स्थूल मनोवैज्ञानिकता है। प्रेमचन्द और कौशिक में मुख्य अतर यही है। कौशिकजी अपने पात्रों की प्रकृति और चरित्र में उतनी गहराई से नहीं पैठ पाते, जितना कि प्रेमचन्द। यही कारण है कि कौशिकजी की कहानियों में मनोवैज्ञानिक हेतुओं अथवा कार्य-कारण की परम्परा का अभाव है। कहानी की मुख्य घटना जिसपर सारी कहानी टिकी रहती है, उसकी पृष्ठभूमि या उसके संभावित कारणों का निर्देश नहीं होता। कौशिकजी अपने पात्रों की सभावनाओं को मानों ठीक तरह पकड़ नहीं पाते, इसीलिए उनको कहानी के अत के लिए दैवी या सायोगिक घटना लानी पड़ती है। इनकी कहानियों की दूसरी सीमा यह है कि ये अपनी कथा को संक्षेप में नहीं कह सकते। द्विवेदीजी की व्यास-शैली का प्रभाव इनपर है और इसीलिए इनकी कहानियों मे विस्तार अधिक पाया जाता है। इनकी कहानियों में प्रायः सकेत या व्यजना कम है। संक्षिप्तता का अभाव है, विस्तार अधिक है। इसके दो कारण हैं। मुख्य कारण है—लेखक का अपने व्यक्तित्व के प्रति मोह। ये अपने विचारों को अलग रखकर कहानी में जीवन को व्यक्त करना नहीं जानते। इनकी हरएक कहानी में इसीलिए विचारात्मक सदर्भ अनावश्यक रूप से आते हैं। दूसरा कारण है, स्पष्ट करने का मोह। कहानीकार मानो ऐसा अनुभव करता है कि पाठक के सामने सांकेतिक ढंग से कोई बात कही जायगी तो वह समझ नहीं पायगा। इसीलिए ये जगह, स्थिति, घटना या कहानी की मूल सवेदना को स्पष्ट करते चलते हैं। इसी कारण इनकी कहानियों में फैलाव अधिक है, संक्षिप्तता कम।

*

कौशिकजी की कहानियाँ केवल भावपक्ष को ही लेकर महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, शैली की दृष्टि से भी प्रेमचंद के निकट हैं। दोनों का कथोपकथन नाटकीय है, भाषा पात्रोचित है। "कथोपकथन में चरम स्वाभाविकता को अक्षुण्ण

रखकर उनके द्वारा कथा और चरित्र का नाटकीय विकास दिखाना कौशिकजी की विशेषता है। कौशिकजी संलाप-शैली के सर्वश्रेष्ठ कहानीकार हैं।"

कौशिकजी की कहानियाँ प्रायः एक डिजाइन की हुआ करती हैं। एक निश्चित परिस्थिति से कहानी का प्रारभ और अन्त होता है। कहानियों का प्रारम्भ प्रायः बातचीत से होता है। आरम्भिक कथोपकथनों में ही पारस्परिक सम्बन्ध उद्घाटित हो जाते हैं। बाद में ये उन पात्रों का परिचय देते हैं। अत प्रायः व्याख्यात्मक हुआ करता है। कौशिकजी की कहानियाँ प्रायः चरित्र-प्रधान हैं, और ये चरित्र व्यक्ति न होकर टाइप (Type) होते हैं। मध्यवर्गीय परिवार की जिन समस्याओं को उन्होने उठाया है, उनका सफलतापूर्वक निर्वाह किया है। कुल मिलाकर इनकी कहानियों में यथार्थ के प्रति आग्रह और व्यापकता है। समाज के एक बड़े वृत्त को इन्होंने अपनी कहानी का विषय बनाया है। शैली की दृष्टि से इनके कथोपकथन आदर्श माने जा सकते हैं। इनकी भाषा भी सरल, स्वाभाविक तथा पात्रों की प्रकृति के अनुकूल है।

कौशिकजी की साहित्य-साधना

कौशिकजी की रचनाओं को देखने से उनकी प्रतिभा का यथेष्ट परिचय मिलता है। हिन्दी कथा-साहित्य में उनका आविर्भाव उस समय हुआ था जिस समय कथा के ततु कोमल थे। वे कोई विद्वान नहीं थे, परन्तु अपनी प्रतिभा का आश्रय लेकर उन्होंने हिन्दी कथा-साहित्य के रिक्त भण्डार को अपनी विशिष्ट कहानी-शैली से भर दिया। वस्तुतः उनकी कहानियाँ हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

कौशिकजी हिन्दी के उच्च कोटि के कहानीकार, उपन्यासकार और नाटककार थे। उनकी कहानियों मे पारिवारिक जीवन का वास्तविक चित्र मिलता है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। पीछे हम उनकी कहानी-शैली पर अच्छी तरह विचार कर चुके हैं, अतएव कहानी-शैली पर फिर से प्रकाश डालना व्यर्थ है।

उपन्यास और कहानियों के अतिरिक्त कौशिकजी ने नाटक और निबन्ध भी लिखे हैं। उनके नाटक अभिनय के योग्य हैं और कई बार रंगमंच पर खेले भी गए हैं। 'भीष्म' नाटक में तीन अंक और २८ दृश्य हैं। यह नाट्यकला

की दृष्टि से अत्यन्त सफल नाटक है। इसमें हास-परिहास का भी सुन्दर समन्वय हो पाया है। कौशिकजी ने 'दुवेजी की चिट्ठी' के नाम से व्यंग्य-मिश्रित हास्यरस के वहुत-से लेख भी लिखे हैं। समाज के किसी भी कुप्रथा को लेकर कौशिकजी उसपर विनोदपूर्ण आलोचना लिखा करते थे। यह लेख हास्यरस का अमर साहित्य होने के साथ-ही-साथ सामाजिक कुप्रथाओं पर कुल्हाड़ा-सा सिद्ध होता था। ऐसी चुभती हुई, सरस, मनोरंजक तथा सारगर्भित भाषा का उत्कट उदाहरण कदाचित् ही किसी ने हिन्दी संसार के सम्मुख रखा हो। समाज, साहित्य, देश और व्यक्ति की इतनी सुन्दर आलोचना तो 'दुवेजी की चिट्ठी' से वढ़कर कहीं मिल ही नहीं सकती। जो भी पढ़ता, तिलमिला उठता, किन्तु तारीफ की वात तो यह थी कि जिस पर वह लिखी जाती थी, वह भी उसे पढ़कर हँस पड़ता था। हिन्दी संसार में यह अपने जोड़ की एक अनूठी वस्तु थी, जिसने कौशिकजी तथा 'हिन्दी मनोरंजन' का नाम सदा के लिए अमर कर दिया। वाद के वहुत-से लेखकों ने उस ढग को अपना-कर चौवेजी का चिट्ठा', 'पोथूराम की डायरी', 'भैयाजी का संसार' नामक बहुत से धारावाहिक लेख लिखकर वाह-वाही पैदा करने की चेष्टा की, किन्तु सफलता उनसे वहुत दूर रही। 'हिन्दी मनोरंजन' का प्रकाशन वन्द होने के वाद कौशिकजी वहुत दिनों तक प्रयाग के मासिक 'चाँद' में 'दुवेजी की चिट्ठी' लिखते रहे। वाद में 'दुवेजी की चिट्ठी' के नाम से इस प्रकार के लेखों का संकलन पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो गया।'

कौशिकजी की भाषा-शैली

कौशिकजी की भाषा आधुनिक है। वे कई भाषाओं के जानकार होने के साथ-साथ एक सहृदय व्यक्ति भी थे। इसलिए उन्हे भाषा के शब्दों की अन्तरात्मा की अच्छी जानकारी थी। उन्होंने भी प्रेमचन्द के समान उर्दू के माध्यम से हिन्दी-साहित्य में प्रवेश किया। इसलिए उर्दू भाषा की रवानी, लोच और मुहावरेदारी का आना अनिवार्य था। उर्दू शब्दों का प्रयोग केवल कथोपकथन को छोड़कर कहानियों में कठिनता से मिलेगा। उन्होंने प्राय: प्रचलित और विशुद्ध हिन्दी का प्रयोग किया है। उनकी-सी भाषा की सरसता वहुत कम कथाकारों की

भाषा में मिलेगी। सुसंस्कृत, परिमार्जित, प्रचलित और मुहावरेदार भाषा प्राय: उनकी कहानियों और उपन्यासो में प्रयोग की गई है। उनकी भाषा में मौलिकता है, उनके भावों में चरित्र-निर्माण की क्षमता है और उनके उद्देश्यों में मानव-समाज को उच्च स्तर पर ले जानेवाली आकांक्षा और योजना निहित-सी मालूम पड़ती है। भाव और भाषा—दोनों ही सोना और सुगन्ध के समान हैं। कौशिकजी को दोनों ही उपलब्ध थे।

कौशिकजी की लेखन-शैली मनोरजक, आकर्षक तथा हृदयग्राही है। उनकी भापा में शब्दों का सकलन और संतुलन इस प्रकार का होता था कि शैली मुस्कुराती-सी मालूम पड़ने लगती थी। उनकी शैली उनकी निजी वस्तु है। अपने भावों या विचारों की अभिव्यक्ति क लिए उन्होंने तीन प्रकार की शैलियों का आश्रय ग्रहण किया और उनमें वे सफल भी रहे। वे हैं—परिचयात्मक, आलोचनात्मक और व्यंग्यात्मक। इनपर उर्दू शैली का भी प्रभाव है। उनकी शैली अपने साँचे में ढली रहती है। अंग्रेजी में विवरण लिखने में जितनी सफलता विलियम रेनाल्ड्स को मिली है, उतनी सफलता उस भापा के किसी लेखक को कदाचित् ही मिली हो। लम्बे-लम्बे विवरण पढ़ते जाइए, किन्तु कहीं आपका जी नहीं ऊबेगा। हिन्दी में कौशिकजी की भी विवरण-शैली में हमें इसी गुण के दर्शन होते हैं। उनकी रचनाएँ पढकर हमें ऐसा प्रतीत होता है कि कलाकार का शैली पर पूर्ण अधिकार है। शैली उनकी इतनी परिमार्जित और परिष्कृत है कि पाठक ऊबता नहीं है। उन्होंने अपनी लेखनी को कहीं भी अटकने नहीं दिया, उसपर अधिकार रखा है।

[ख] निबन्ध का सारांश

प्रस्तुत चिट्ठी में कौशिकजी ने हिन्दुओं की धार्मिक पाखण्डता की तीव्र आलोचना की है। कौशिकजी हिन्दुओं का पाखण्ड देखकर दुखित हो उठते हैं; क्योंकि उनलोगों ने धर्म और आस्तिकता को अपने मनोरंजन का एक साधन बना लिया है। वे ईश्वर की उपासना से दो लाभ पाते हैं—एक तो ईश्वर के सिर पर एहसान लादना और दूसरा अपना मन बहलाव। हिन्दुओं ने

अनेक देवी-देवताओं को अपने मनोरंजन का एक साधन वना लिया है। कुछ लोग देवी-देवताओं की आराधना कर अपने-आपको भक्त कहते हैं, परन्तु वे ऐसा भक्तिवश नहीं करते हैं। वल्कि जिस प्रकार कुछ लोगों को वटेरवाजी, कबूतरवाजी आदि का शौक होता है और उससे वे आनन्द लाभ करते हैं उसी प्रकार ऐसे लोगों को 'देवतावाजी' का एक शौक होता है और उससे आनन्द प्राप्त करते हैं। सच तो यह है कि जिस देवता से उन्हे आनन्द की प्राप्ति नहीं होती, उन्हें वे पवित्र नहीं मानते हैं। ऐसे 'देवतावाजो' के लिए श्रावण और भादों का महीना वड़े आनन्द का है। श्रावण के हरएक सोमवार को वे व्रत रखते हैं और उस दिन किसी ईश्वर-विशेष के मदिर में जाकर एकत्र होते हैं। इसलिए ऐसे लोगों का आनन्द एतवार से ही शुरू हो जाता है। अपने कथन को पुष्टि के लिए लेखक ने अपने जाने-पहचाने एक कायस्थ सज्जन का उदाहरण पेश किया है जिनका कथन है कि एक दिन मास खाने का आनन्द तीन दिन तक रहता है। ठीक यही दशा इन अधिकाश व्रत रखनेवालों की होती है। वे एतवार से ही प्लानिंग (योजना) वनाने लगते हैं कि दूसरे दिन उन्हें क्या खाना चाहिए। ऐसे लोग व्रत के उद्देश्य एवं कर्त्तव्य को भूलकर सिर्फ खाने की चिन्ता करते हैं। शिवजी के भक्तों की तो वात ही दूसरी है; क्योंकि उनके मन्दिर में भंग खूव गहरी छनती है।

फिर लेखक ने व्रत और उपवास का अर्थ वतलाया है अजीर्ण हो जाना। वे लोग कुछ देर पूजा कर खूव खाते-पीते हैं। इसके पश्चात् हा-हा, हूहू-हूहू में समय बीत जाता है। कुछ लोग नौटंकी का स्वाँग भी देखते हैं और कुछ भक्त भगवान को प्रसन्न करने के लिए नौटंकी का स्वाँग भी रचते हैं। जो लोग पूजा कम करते हैं, भंग छानते हैं, नौटंकी देखने में समय व्यतीत करते हैं, वे मूर्ख एवं अशिक्षित समाज में शिव के अनन्य भक्त माने जाते हैं। ये लोग दस मिनट से अधिक देर तक शिव के मदिर में नहीं वैठते हैं, परन्तु बाहर आकर खूब लम्बी-चौड़ी वातें वनाते हैं। परन्तु आश्चर्य की वात तो यह है कि इन देवतावाजो के आराध्य देव हरएक सोमवार को वदलते रहते हैं।

श्रावण मास में झूलों और झाँकियों का प्रबन्ध रहता है और इस अवसर पर अनेक मंदिरों में रास, थिएटर एवं नौटंकी का आयोजन रहता है जिसमें काफी भक्तगण एकत्र होते हैं। इन स्थानो में धर्म के नाम पर नौटंकी के ऐसे-ऐसे अश्लील स्वाँग रचे जाते हैं कि शर्म से सर झुक जाता है। रासमडली-वाले दस-पद्रह मिनट "द्वै द्वै गोपी बिच-बिच माधो" का नाच तथा 'तायेई' करके झट राजा-रानी बनकर खड़े हो जाते हैं। और "प्यारी तेरे इश्क में हुआ हाल वेहाल" के साथ नगाड़ों की "कडकड़-धम" का समा बाँध देते हैं। जब कोई व्यक्ति इसकी आलोचना करता है तो ऐसे भक्त उसे नास्तिक, आर्य-समाजी, विधर्मी आदि कहना शुरू कर देते हैं।

कुछ लोग जन्माष्टमी के अवसर पर उपवास करते हैं और कृष्ण-जन्म के पश्चात् फलाहार के वहाने दिन भर बकरी की तरह मुँह चलाते रहते हैं। जन्माष्टमी का व्रत लोग कैसे रखते हैं, इस सम्बन्ध में लेखक ने एक पड़ोसी ब्राह्मण का उदाहरण पेश किया है, जो बड़े धार्मिक और भक्त हैं। जन्माष्टमी के दिन, रात बारह तक जागने के लिए बाइस्कोप देखते थे। एक समय की बात है कि जन्माष्टमी के मौके पर वे वाइस्कोप देखने नहीं जा सके और घर पर ही सो गए। कृष्ण-जन्म के समय घरवालों ने उन्हे जगाने की कोशिश की, परन्तु उनकी नींद नहीं टूटी। इधर लोग उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे कि वे जागें तो कृष्ण-जन्म करें ताकि पंचामृत और प्रसाद पाने का मौका मिले, परन्तु भक्तराज तो मुर्दों से वाजी लगाकर निद्रा-देवी की गोद में पड़े थे। अंत में लाचार होकर उनकी माँ ने ही कृष्ण-जन्म किया। कभी-कभी पंचामृत और प्रसाद के लिए लड़ाई भी हो जाती है, लात-जूने भी चल जाते हैं। कुछ तो मदिरों में पंचामृत और प्रसाद के लिए बैठे रहते हैं, पर पूछे जाने पर कहते हैं कि वे भजन कर रहे हैं, प्रसाद के लिए थोडे ही बैठे हैं।

जो लोग इन पाखण्डों से दूर रहते हैं, उन्हे ऐसे लोग नास्तिक की संज्ञा से विभूषित करते हैं, उन्हे आर्यसमाजी कहकर पुकारते हैं। वस्तुतः जिन्हे लोग नास्तिक या आर्य-समाजी कहते हैं, वे ऐसे भक्तों की तरह पाखण्ड नहीं करते।

सच तो यह है कि जब हृदय में सच्ची श्रद्धा और भक्ति-पूर्ण भाव नहीं है तो इस तरह के ढोंग से क्या लाभ ?

[ग] 'दुबेजी की चिट्ठी' की आलोचना

कौशिकजी हिन्दी के जाने-पहचाने कथाकार हैं और उन्हे चुटकियाँ लेने में बहुत आनन्द मिलता है। इसीलिए उन्होंने छद्मनाम से 'दुबेजी की चिट्ठी' लिखना आरंभ किया था। पहले वह कानपुर से निकलनेवाली पत्रिका 'हिन्दी मनोरंजन' में निकलती थी और उसके बन्द होने के बाद प्रयाग के 'चाँद' में काफी दिनों तक धारावाहिक रूप से निकलती रही। अब तो यह दो भागों में पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो चुकी है।

'विजयानन्द दुबेजी की चिट्ठी' के नाम से कौशिकजी के अनेक व्यंग्य-मिश्रित हास्य-रस के अनेक निबंध प्रकाशित हुए हैं। इसमें हिन्दू-समाज में फैले हुए बाह्याडम्बरों की विनोदपूर्ण आलोचना की गई है। प्रस्तुत निबन्ध हास्य-रस का अमर साहित्य होने के साथ-ही-साथ सामाजिक कुप्रथाओं पर कुल्हाड़ा-सा सिद्ध होता है। उन्होंने आधुनिक हिन्दू-समाज के बीच फैले धार्मिक पाखण्ड, बाह्याडम्बर, अंधविश्वास आदि की तीव्र आलोचना हास्य एवं व्यंग्य का पुट देते हुए की है। वस्तुतः पत्र के रूप में ऐसा उत्कृष्ट व्यंग्य हिन्दी के किसी लेखक ने आज तक प्रस्तुत नहीं किया है। इस नाम से जो चिट्ठी निकलती थी उसमें सिर्फ समाज की ही आलोचना नहीं रहती थी, वरन् साहित्य, देश और भक्ति की भी। जो भी एक बार पढ़ता, तिलमिला उठता; लेकिन तारीफ की बात तो यह है कि जिसपर वह लिखी जाती थी वह भी उसे पढ़कर हँस देता था। हिन्दी साहित्य-जगत् में यह चिट्ठी अपने जोड़ की एक अनूठी वस्तु थी जिसने कौशिकजी का नाम सदा के लिए अमर कर दिया। यों तो बहुत-से लेखकों ने इस चिट्ठी का अनुकरण किया, पर ऐसी चीज नहीं दे सके। चिट्ठी लिखने में उन्हे सफलता नहीं मिली। सच तो यह है कि चिट्ठी लिखना भी एक कला (Art) है, सब कोई नहीं लिख सकता है।

प्रस्तुत चिट्ठी में कौशिकजी ने हिन्दुओं की धार्मिक पाखण्डता पर प्रकाश डाला है और बतलाया है कि आजकल बहुत-से लोग धर्म के नाम पर देवता-

बाजी किया करते हैं। उन्होंने धर्म और आस्तिकता को मनोरंजन का एक साधन मान लिया है। वे व्रत और उपवास के वास्तविक अर्थ को भूल बैठे हैं तथा सिर्फ उसका स्वाँग रचते हैं। कुछ भक्त ऐसे होते हैं जो परमात्मा को प्रसन्न करने के लिए नौटकी का भी स्वाँग रचते हैं। श्रावण के महीनें म अनेंक मन्दिरों में रास, थियेटर और नौटकी का आयोजन रहता है जिनमें काफी भक्त जमा होते हैं। इन पवित्र स्थानों में धर्म के नाम पर नौटकी के ऐसे-ऐसे अश्लील स्वाँग रचे जाते हैं कि शर्म से सर झुक जाता है। रासमडलीवाले दस-पन्द्रह मिनट "द्वै-द्वै गोपी बिच-बिच माधो" का नाच तथा 'ताथेई' करके झट राजा-रानी बनकर खड़े हो जाते हैं और 'प्यारी तेरे इश्क में हुआ हाल बेहाल' के साथ नगाड़ों की 'झड़कड़-धम' का समाँ बाँध देते हैं। जब कोई व्यक्ति इसकी आलोचना करता है तो भक्त गण उसे नास्तिक, आर्य-समाजी, विधर्मी आदि की संज्ञा से विभूपित कर देते हैं—यही है इसका वर्ण्य-विषय।

'कौशिकजी के पास हास्य की वह अन्नपूर्णा है जहाँ व्यय से अधिक सचय होता रहता है। उनके व्यक्तित्व में अन्य व्यक्तिवादी लेखकों की भाँति न बारूद-जैसी तेजी है और न गुप्तजी की भाँति धर्म-परायणता है। वे सीधे-सादे व्यावहारिक आदमी हैं जिनके जीवन का ध्येय है—'नेकी कर और कुएँ में डाल।' इसीलिए उनके व्यंग्य और शैली चुटीली और मार्के की होती है। उनके विनोदपूर्ण 'दुबेजी की चिट्ठियों' को पढ़कर स्व० बाबू बालमुकुन्द गुप्त के कल्पित नाम से लिखे गए 'शिवशम्भु का चिट्ठा' की याद आ जाती है। प्रस्तुत सङ्कलित चिट्ठी में धार्मिक कुरीतियों एव रूढ़ियों पर उन्होंने अत्यन्त ही विनोद-पूर्ण और आकर्षक ढंग से व्यंग्य कसा है जिसे पढ़कर पाठक के मन में सुधार की भावना जगती है और विरोध का भी। परन्तु इस विरोध में 'इन्कलाब' की विस्फोटक ध्वनि न होकर सुधार करने की भावना भरी है। कौशिकजी के व्यंग्य में सबसे बड़ी खूबी यह है कि वह सीधे पाठकों के मर्मस्थल को स्पर्श करता है और उसके हृदय-वीणा के तारों को झकृत कर देता है। अपने व्यंग्य को तीखा बनाने के लिए लेखक ने बीच-बीच में कथा जोड़ दी है जिससे वह सरस हो उठा है। उदाहरण-स्वरूप कुछ पक्तियाँ लीजिए—

"इनकी समझ में ईश्वर को मानने और उसकी उपासना करने में दो लाभ हैं। एक तो ईश्वर की खोपड़ी पर एहसान का गट्ठा लादना और दूसरे अपना मनोरंजन करना। आम के काम और गुठलियों के दाम! धर्म का इतना सदुपयोग और कौन कर सकता है? देवताओं की अधिकता कुछ हिन्दुओं के लिए उतनी मनोरंजक है, जितनी किसी बालक के लिए खिलौने की अधिकता होती है। जैसे कोई बालक दिन भर में अनेक तथा नए-नए खिलौने से खेलना पसन्द करता है, वैसे ही कुछ भाई भी दिन भर में अनेक देवताओं की आकांक्षा रखते हैं .... भक्ति किस चिड़िया का नाम है, इसका भी पता इनको नहीं है। करते हैं केवल मजे के लिए। मजा ढूँढ़ते फिरते हैं—मजे के दीवाने हैं। मैंने अनेक भक्तों को यह कहते सुना—'आज अमुकेश्वरी के दरबार में गए थे—कुछ मजा नहीं आया। आज अमुकेश्वर के दरबार में कुछ आनन्द नहीं आया।"

भाषा की दृष्टि से कौशिकजी की यह चिट्ठी आदर्श मानी जा सकती है। भाषा विषय के अनुकूल है और सादगी भी है। यह तो हमें अच्छी तरह मालूम है कि कौशिकजी ने उर्दू के माध्यम के द्वारा हिन्दी में प्रवेश किया है, इसीलिए उनकी भाषा में लोच और प्रवाह है। चिट्ठी में रवानी लाने के लिए लेखक ने कहीं-कहीं उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों का भी प्रयोग किया है; जैसे—एहसान, मजा, दीवाने, कमबख्तों, नापाक, बिरादरी, खारिज, चिराग, हिमाकतबाजी, तवल्लुफ़, आमदा, फर्द, कंपाउण्ड, स्कीमें, प्राइवेट सेक्रेट्री आदि। बीच-बीच में मुहावरों और कहावतों का प्रयोग हो पाया है जिससे 'चिट्ठी' और भी रोचक हो गई है—जैसे आम के आम और गुठली के दाम, उसके कर्त्तव्य गए चूल्हे में, नींद हराम हो जाती है, मुर्दे से बाजी लगाकर सोये थे आदि। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी भाषा में जो लोच, प्रवाह और स्पन्दन है वह वास्तव में उर्दू की देन है। इसीलिए कौशिकजी हमेशा कहा करते थे कि हिन्दी-लेखक को भाषा में प्रवाह और प्रभावात्मक मार्दव उत्पन्न करने के लिए उर्दू की रवानी से अभिज्ञ और अभ्यस्त होना चाहिए। ठीक यही बात हम इस चिट्ठी में पाते हैं।

इसमें बोल-चाल और व्यावहारिक भाषा का प्रयोग हुआ है। उनकी इस शैली में पं० प्रतापनारायण मिश्र की जिन्दादिली की बाँकी झाँकी पाते हैं। सच तो यह है कि भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से यह एक सुन्दर रचना है।

[घ] शब्दार्थ, व्याख्या और आशय

शब्दार्थ (पारा १, पृ० ३६-४०)—पाखण्ड = ढोंग। चित्त = मन। क्लेश = दुःख। मनोरंजन=मन-बहलाव। साधन = सामग्री। उपासना = पूजा, आराधना। खोपड़ी पर = सर पर। एहसान का गट्ठा = कृतज्ञता की गठरी। आम के आम गुठली के दाम = दोहरा काम निकालना। सदुपयोग= उचित उपयोग। आकांक्षा = इच्छा। विराजमान हैं=उपस्थित हैं। मंदिर में डटे हैं=मंदिर में हाजिर हैं। पश्चात्=बाद। ईश्वरी=देवी। भक्ति-वश = भक्ति से अनुप्राणित हो। मजे के लिए = आनन्द के लिए। मजे के दीवाने हैं = आनन्द की खोज में पागल हैं। अमुकेश्वरी के दरबार में = अमुक देवी के मंदिर में। अमुकेश्वर = अमुक ईश्वर। कमबख्तों = बेवकूफों, नासमझों। ठेका = Contract, भार। दर्शन = देखने। सिद्ध देवता = पहुँचे हुए देवता। नापाक = अपवित्र, अस्वीकृत। बिरादरी से खारिज = समाज से निकाले। चिराग = दिया। ठाट रहते हैं=आडम्बर रहते हैं। सोलहों आने= पूरे। बहुधा = प्रायः। हिमाकतबाजी=चालबाजी। अनुमान=अन्दाज।

आम के आम गुठलियों ·· के दरबार में उपस्थित हैं।

[पारा १, पृ० ३६]

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियाँ श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'-लिखित 'विजयानन्द दुबेजी की चिट्ठी' से ली गई है। इसमें कुशल लेखक ने हिन्दुओं की पाखण्डपूर्ण धार्मिकता पर व्यंग्य के चंद छींटे कसे हैं। हिन्दुओं में जो धार्मिक भाव हैं, उनमें बाह्याडम्बर हैं, उनमें बनाव-शृंगार है। इसीको दृष्टिपथ में रखकर लेखक ने उनकी तीव्र आलोचना की है क्योंकि हिन्दुओं के ढोंग को देखकर उन्हें दुःख होता है। उनका कथन है कि हिन्दुओं ने धर्म और आस्तिकता को अपने मनबहलाव का एक मुख्य समाग्री बना रखा है। उन

लोगों ने ईश्वर की पूजा में दो लाभ देखा है और वे हैं—परमात्मा के सर पर कृतज्ञता का बोझ लादना और अपना मनोरंजन करना। इस प्रकार ईश्वरोपासना में उन्हें दोहरा लाभ दीख पड़ता है। तो, वस्तुतः इससे सुन्दर धर्म का उचित उपयोग क्या हो सकता है? यों तो वाह्य-प्रदर्शन के लिए हिन्दू अनेक देवी-देवताओं की पूजा करते हैं, परन्तु उस पूजा में सच्ची भक्ति नहीं है। उसके भीतर सबसे बड़ी बात यह है कि उनके लिए देवी-देवताओं की आराधना उसी प्रकार मनबहलाव की वस्तु है जिस प्रकार छोटे-छोटे बच्चों के लिए विभिन्न प्रकार के खिलौने। इस तत्त्व की पुष्टि करते हुए लेखक कहता है कि जिस प्रकार छोटे-छोटे बच्चे दिन भर अनेक नए-नए खिलौनों के बीच खेलना पसन्द करते हैं, उसी प्रकार अनेक हिन्दू भाई कतिपय देवी-देवताओं की उपासना करने में आनन्द की उपलब्धि करते हैं। इसके लिए वे सुबह-शाम अनेक देवी-देवताओं के मन्दिरों में जाते हैं और आनन्द प्राप्त करते हैं।

जैसे लोग कबूतरबाजी, पतंगबाजी ......चिराग भी नहीं जलाता।

[पारा १, पृ० ४०]

व्याख्या—प्रस्तुत अवतरण कौशिकजी-लिखित 'विजयानन्द दुबेजी की चिट्ठी' शीर्षक व्यंग्यात्मक टिप्पणी से उद्धृत किया गया है। इसमें लेखक ने बहु-देवी-देवता-पूजन को देवताबाजी की संज्ञा से विभूषित कर विनोदपूर्ण ढंग से चुटकी लेते हुए कहा है कि जिस प्रकार कुछ व्यक्तियों के अन्दर कबूतरबाजी, पतंगबाजी, बटेरबाजी आदि की आदत होती है उसी प्रकार कुछ हिन्दू भाइयों में अनेक देवी-देवताओं की पूजा करने की आदत होती है जिसे लेखक के शब्दों में 'देवताबाजी' कह सकते हैं। कबूतरबाजी, पतंगबाजी, बटेरबाजी आदि मनुष्य के लिए एक मनोरंजन का साधन है, उससे वे अपने मन को बहलाते हैं। इसी प्रकार कुछ हिन्दू मजे लूटने के उद्देश्य से देवी-देवताओं की पूजा, सेवा या दर्शन करते हैं। वस्तुतः ऐसे लोगों को जिस-किसी देवी या देवता के मन्दिर में जाने पर आनन्द-प्राप्ति नहीं होती है, उस देवी या देवता को अपवित्र समझ त्याज्य मानते हैं। उस देवी या देवता को अपने समाज से निर्वासित कर देते हैं। कहने का तात्पर्य्य यह है कि वे लोग

इस प्रकार की देवी या देवता का अनादर करते हैं, तिरस्कार करते हैं जिसके फलस्वरूप वे उनके मन्दिर में एक घृत का दीपक भी नहीं जलाते हैं। सच तो यह है कि ऐसे हिन्दू भाइयों को जिस देवी या देवता के मन्दिर में मजा मिलता है, उसकी पूजा करते हैं और उसके गुणों का वर्णन करने में नहीं अघाते हैं।

शब्दार्थ (पारा २, पृ० ४०-४१)—श्रावण=सावन। देवतावाजों=अनेक देवी-देवताओं की उपासना करनेवालों और उसमें आनन्द ढूँढनेवालों। व्रत=प्रण, पर्व। अधिकांश=ज्यादातर, अधिकतर। स्कीमें=योजनाएँ। कर्त्तव्य गए चूल्हे में—कर्त्तव्य को भूल जाना। फिक्र=चिन्ता। विरोधाभास=विपरीतात्मक कार्य। पश्चात्=बाद। तय=फैसला, निश्चित। दरबार में मेला लगता है=मंदिर में भीड़ होती है। कम्पाउण्ड=क्षेत्र। सिलवट्टा=भाँग पीसने की एक चीज, उसे लोग खलबट्टा भी कहते हैं। खटक रहा है=सिलवट्टे की आवाज गूँज रही है। खूब गहरी छनती है=भाँग काफी पीये जाते हैं। नशे में जम जाते हैं=भाँग पीने के फलस्वरूप नशे का रंग गाढ़ा हो जाता है। भाँग-वाँग=भाँग आदि। निवृत्त=छुट्टी पाना। एहसान=कृतज्ञता। पूजन=पूजा, उपासना। तर माल पर हाथ साफ किया=पुष्टिकारक भोजन किया।

व्रत का उद्देश्य तथा ... ... पहले से पड़ जाती है।

[पारा २, पृष्ठ ४१]

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में अनुभवी लेखक श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने यह बतलाया है कि हिन्दुओं में कुछ व्यक्ति श्रावण और भादो के महीने में व्रत रखते हैं, परन्तु उनका उद्देश्य सात्त्विक नहीं रहता है। व्रत रखने का क्या उद्देश्य है और उसके लिए क्या-क्या करना चाहिए—इन सब बातों से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं। वे व्रत के पीछे अन्तर्निहित उद्देश्य को भूल जाते हैं और सिर्फ खाने की चिन्ता किया करते हैं। इससे यह साफ जाहिर होता है कि अच्छी-अच्छी चीजों को खाने के लिए ही व्रत किया करते हैं।

शब्दार्थ [पारा ३, पृष्ठ ४१-४२]—अजीर्ण=अपच। हाहा-हूहू=हुल्लड़बाजी। आनन्द लूटकर=आनन्द लाभ कर। तबीयतदार=मनचले। स्वाँग=ढोंग। नौटंकी=नाटक का भद्दा और अश्लील रूप। लत पड़ गई है=आदत पड़ गई है। अशिक्षित=जो शिक्षा नहीं प्राप्त कर सके हैं। अक्ल के दुश्मनों=बेवकूफों। सौभाग्य=अच्छा भाग्य। दिव्य=विराट्, अद्भुत। मानों बाबा के प्राइवेट सेक्रेटरी हैं=मानो बाबा के बारे में सब-कुछ जानते हैं। चरण-रज=पाँव की धूलि। कम पतियाते हैं=कम विश्वास करते हैं।

शब्दार्थ (पारा ४५, पृष्ठ ४२-४३)—अवसर=मौका। आयोजन=प्रबन्ध। इश्क=मुहब्बत, प्रेम। हाल-बेहाल=बुरी हालत। समा बाँध देते हैं=पुल बाँध देते हैं=अड़ोस-पड़ोसवालों=आसपासवालों। सहन किया जा सकता=सहा जा सकता है। विराजमान=वर्त्तमान, उपस्थित। जीर्ण-शीर्ण=टूटा-फूटा। धर्म की ओट में=धर्म की आड़ में। नास्तिक=ईश्वर को नहीं माननेवाला, जो आस्तिक नहीं है। आर्यसमाजी=आर्य-समाज के सिद्धान्तों को माननेवाला। विधर्मी=जो धर्म के विरुद्ध आचरण करता है। उपाधियों=पदवियों। विभूषित=सुसज्जित।

यह सब धर्म के नाम पर ‥ ‥विभूषित कर देते हैं।

[पारा ५, पृष्ठ ४३]

व्याख्या—प्रस्तुत गद्य-संदर्भ श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'-लिखित 'विजयानन्द दुबेजी की चिट्ठी' शीर्षक व्यंग्यात्मक टिप्पणी से उद्धृत किया गया है। इसमे लेखक ने श्रावण मास में होनेवाले धार्मिक बाह्याडम्बरों पर व्यंग्यात्मक शैली में प्रकाश डालकर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। इसमें इस मास में रास, थिएटर और नौटंकी का आयोजन होता है जिसमें भक्तगण एकत्र होते हैं। आज मन्दिरों में जो रासलीलाएँ होती हैं, उनका रूप बदल गया है। पहले कुछ समय के लिए रासलीला का आभासमात्र रहता है, परन्तु बाद में चलकर 'प्यारी तेरे इश्क मे हुआ हाल बेहाल' के साथ नगाड़े की चोट गूँजने लगती है जिसे कुछ भक्तगण बड़े चाव

से सुनते हैं। ये सब कार्य धर्म के नाम पर किए जाते हैं, इसलिए कोई भी अपना मत प्रकट नहीं करता है। यदि कोई व्यक्ति इसकी आलोचना करता है, टीका-टिप्पणी करता है, तो भक्त लोग उसे नास्तिक, आर्य-समाजी, विधर्मी आदि की संज्ञा से विभूषित कर देते हैं; क्योंकि टीका-टिप्पणी से उनके धार्मिक कृत्यों पर आघात पहुँचता है।

शब्दार्थ (पारा ६-७, ४३-४४)—जन्माष्टमी = जिस दिन भगवान श्रीकृष्ण का जन्म हुआ था, उस दिन लोग श्रीकृष्ण का जन्म-दिवस मनाते हैं, उसे ही जन्माष्टमी कहते हैं। उत्साह = साहस। फलाहार = फल का भोजन। अल्लम-गल्लम = सब प्रकार की चीजें। चट करते हैं = खा जाते हैं। जागरण करना होता है = जगना पड़ता है। बाइस्कोप = सिनेमा। भक्तराज = भक्तों में श्रेष्ठ। मुर्दों से बाजी लगाकर सोये हुए थे = मानों मुर्दा पड़ा हुआ है। प्रयत्न = कोशिश। तमादी = अतिकाल हो रहा था। तवल्लुद=प्रकट। असहयोग=सत्याग्रह, बायकाट। आमदा हो गए = तैयार हो गए। विवश = लाचार। कतर-ब्योंत = काट-छाँट। अपरिचितों = नहीं जाने-पहचाने लोग। दोना = पत्ते का बना हुआ एक पात्र जिसमें प्रसाद बाँटा जाता है। भकुआ = बेवकूफ। कुल्हिया = मिट्टी का एक पात्र जिसमें प्रसाद बाँटा जाता है। रेला = मेला। फर्क = भेद।

यदि पंचामृत की जगह गंगाजल '' भक्ति की विदा हो गई।

[पारा ७, पृष्ठ ४४]

व्याख्या—प्रस्तुत अवतरण में कौशिकजी ने यह बतलाया है कि प्रसाद और पंचामृत के लिए भक्तगणों के बीच लात और जूते भी चल जाते हैं और जो बाँटनेवाले होते हैं उनसे कहा-सुनी भी हो जाती है। इसे पाने के लिए भक्तगण सुबह से ही बैठने लगते हैं और पूछे जाने पर उत्तर यह देते हैं कि वे लोग भगवान के दर्शन और भजन के लिए बैठे हैं, प्रसाद के लिए नहीं। इसलिए चुटकी लेते हुए लेखक कहता है कि पंचामृत और प्रसाद के स्थान पर यदि गंगाजल का वितरण हो तो इतने भक्त उपस्थित नहीं होंगे; क्योंकि वे प्रसाद के लिए नहीं जाते हैं। वे जाते हैं स्वादिष्ट वस्तुओं का स्वाद चखने। उनकी भक्ति

तो प्रसाद के दोने और पंचामृत की कुल्हिया में सीमित रहती है, वहीं उनकी भक्ति समाप्त हो जाती है। यह तो भक्तों की दशा है, और प्रसाद-वितरण करनेवाले अपने भी इसी कोटि के लोग होते हैं। प्रसाद वितरण करनेवाले अपने जाने-पहचाने लोगों को खूब दोने भरकर और ग्लास भरकर प्रसाद एवं पंचामृत देते हैं; पर अपरिचितों को बहुत ही कम। इतना ही नहीं होता है; बल्कि जब प्रसाद और पंचामृत की कमी हो जाती है तो उसमें गंगाजल मिलाकर बाँटना आरंभ कर देते हैं जिसका फल यह होता है कि भक्तगण उसे देखकर भागना शुरू कर देते हैं। उनकी भक्ति तो दोने और कुल्हियों में ही अँटकी रहती है। वस्तुतः ऐसे लोग भक्त नहीं, प्रत्युत ढोंगी होते हैं।

शब्दार्थ (पारा ८, पृ० ४४-५)—नास्तिक = भगवान पर नहीं विश्वास करनेवाले। अपने राम = लेखक से तात्पर्य्य है। रत्ती भर नहीं है = कुछ नहीं है। ठेठ = स्पष्टतया। अपराध = दोष। प्रस्फुटित = अंकुरित। छीछा-लेदर = बुरी दशा।

परन्तु जब-कभी प्रस्फुटित······ ····लाख दर्जे अच्छे हैं।

[पारा ८, पृष्ठ ४५]

आशय—प्रस्तुत पंक्तियों में लेखक ने पाठकों को एक बहुत बड़ी सीख दी है। लेखक एक इंसान है, उसके भीतर भी कमजोरियाँ हैं, वह भी देखा-देखी भक्त बनना चाहता है। उसकी कामना रहती है कि उसमें भी श्रद्धा और भक्ति का भाव जाग पड़े। उसके भीतर श्रद्धा-भक्ति का भाव अंकुरित होता है, परन्तु ऐसे भक्तों के ढोंग और देवी-देवताओं की वेइज्जती देखकर उसका हृदय क्षुब्ध हो उठता है। उन भक्तों के पाखण्ड एवं धार्मिक बाह्याडम्बर को देखकर वह अपने हृदय की आकांक्षाओं को कार्यान्वित नहीं कर पाता। इसी-लिए वह संतोष की साँस लेकर कहता है कि इस प्रकार का वह भक्त नहीं बनना चाहता है; बल्कि उसका अभक्त रहना ही ऐसे भक्तों से अत्यन्त श्रेष्ठ है।

[ङ] आलोचनात्मक प्रश्नोत्तर

प्रश्न—१ पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' का जीवन और उनकी रचनाओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—'लेखक का परिचय' (प्रथम चार पारा) पढ़े ।

प्रश्न २—कहानीकार 'कौशिक' पर एक छोटा-सा आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।

उत्तर—'लेखक का परिचय' (पाँच से आठ पारा) पढ़ें ।

प्रश्न ३—कौशिकजी की साहित्य-साधना एवं भाषा-शैली के सम्बन्ध में आप अपना विचार उपस्थित कीजिए।

उत्तर—'लेखक का परिचय' (नौ से चौदह पारा) पढ़ें ।

प्रश्न ४—'विजयानन्द दुबेजी की चिट्ठी' का साराश अपने शब्दों में लिखे।

उत्तर—निबन्ध का सारांश पढ़े ।

प्रश्न ५—'विजयानन्द दुबेजी की चिट्ठी' पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए।

उत्तर—'दुबेजी की चिट्ठी' की आलोचना पढ़ें ।

प्रश्न ६—'हिन्दुओं ने धर्म और आस्तिकता को अपने मनोरंजन का साधन बना रखा है'—श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' की उक्ति को पठित निबन्ध के आधार पर सिद्ध कीजिए।

उत्तर—"विजयानन्द दुबेजी की चिट्ठी" व्यंग-मिश्रित हास्यरस का एक सुन्दर निबन्ध है। कौशिकजी कलाकार होने के नाते एक सामाजिक प्राणी थे। वे ब्राह्मण थे और धर्म के आधार भी; परन्तु हिन्दू-समाज में उन्होंने कुछ दोष पाया जिसकी चर्चा सीधे-सादे शब्दों में न करके परिहासात्मक प्रणाली में कहकर सुधार लाने की चेष्टा की है। हिन्दू-समाज में धार्मिक ढोंग, बाहरी आडम्बर और अन्धविश्वास फैला है। इन्हे देखकर उनकी अन्तरात्मा रो पड़ी थी, इसीलिए उन्होंने कल्पित नाम से इस प्रकार का निबन्ध लिखना शुरू किया था। इस निबन्ध में लेखक ने यह बतलाया है कि हिन्दुओं ने धर्म और ईश्वरोपासना को मनबहलाव का एक साधन बना लिया है। उन्होंने ईश्वरोपासना में दो लाभ देखा है, एक तो यह कि ईश्वर पर कृतज्ञता का बोझ लादते हैं और दूसरा अपना मनोरंजन। कुछ लोग अनेक

देवी-देवताओं की पूजा आनन्द-प्राप्ति के लिए करते हैं। वे भक्तिवश ऐसा नहीं करते हैं। उनकी आराधना में, उनकी पूजा में. मनोरंजन का उद्देश्य छिपा रहता है। उनकी तुलना एक बच्चे से की जा सकती है। जिस प्रकार एक बच्चा नित्य नए-नए विभिन्न प्रकार के खिलौनों को देखकर, खेलकर आनन्दित होता है, ठीक उसी प्रकार ऐसे भक्तों को अनेक देवी-देताओं के पूजन में आनन्द आता है। इन भक्तों के समक्ष देवी-देवता एक खिलौने की तरह मजा देनेवाले हैं। ससार में सभी मनुष्यों को कुछ-न-कुछ शौक जरूर रहता है, जैसे कबूतरबाजी, पतंगबाजी, बटेरबाजी आदि, उसी प्रकार इन भक्तों को 'देवताबाजी' का शौक होता है जिससे आनन्द की उपलब्धि होती है। जिन देवी-देवताओं की पूजा में आनन्द नहीं मिलता वे अपवित्र एवं त्याज्य समझे जाते हैं और जिनकी पूजा में उन्हे मजा मिलता है, उनकी वे काफी प्रशंसा करते हैं।

आये दिन श्रावण और भादों के महीने में ऐसे भक्तों का नङ्गा चित्र देखने को मिलता है। श्रावण मास में अधिकतर सोमवार को लोग व्रत रखते हैं और किसी मन्दिर में जाकर एकत्र होते हैं। यों तो कहने के लिए वे व्रत करते हैं, परन्तु उन्हे खाने की चिन्ता बनी रहती है। उसके लिए स्कीमें तैयार करते हैं। पेट-पूजा के सामने व्रत के उद्देश्य और अपने कर्त्तव्य को भूल जाते हैं। उस दिन फलाहार के बहाने दिन-रात बकरी के समान मुँह चलाते रहते हैं। कुछ लोग तो भगवान शिव के मन्दिर में जाकर इकट्ठे होते हैं जहाँ भाँग छनती है। कभी-कभी वे इतना खा लेते हैं कि उन्हे अपच का रोग अपना शिकार बना लेता है। इसपर कुछ मनचले लोग नौटकी का ांग रचते । झूलन में लोग रास, थियेटर और नौटकी का आयोजन करते हैं। रासलीला तो अब रही नहीं, उसके स्थान पर नौटंकी का आयोजन होता है जिसमें भद्दे बाजारू गाने गाए जाते हैं; जैसे—'प्यारी तेरे इश्क में हुआ हाल बेहाल' आदि। इन गानों के साथ नगाड़े की आवाज गूँज उठती है। यदि कोई इसकी आलोचना करता है तो लोग उसे 'नास्तिक' कहते हैं।

जन्माष्टमी के अवसर पर लोग जगे रहने के लिए सिनेमा देखते हैं। प्रसाद और पंचामृत से पेट-पूजा करने के लिए प्रातःकाल से ही मन्दिर में डटे

रहते हैं और भजन का वहाना करते हैं। इसके लिए उन्हे लात-जूते भी सहने पड़ते हैं। वे दोहरा-तेहरा कर प्रसाद लेते हैं। यदि प्रसाद और पंचामृत के स्थान पर गंगाजल का वितरण किया जाय तो भक्तो की भीड़ नहीं होगी। इससे यह स्पष्ट है कि भक्त कहलानेवाले श्रद्धा और भक्तिवश मन्दिर में नहीं जाते हैं, वल्कि आनन्द लूटने जाते हैं। यदि वहाँ उन्हें आनन्द-लाभ न हो तो वे कभी मन्दिर का मुँह देखने नहीं जाएँ। उनकी भक्ति एक सफेद धोखा है, एक जाल है। उनकी श्रद्धा और भक्ति में आन्तरिक आवाज नहीं है, उसमें कृत्रिमता कूट-कूटकर भरी हुई है। कहने का तात्पर्य यह है कि उनकी ईश्वरोपासना उनके मनोरंजन का एक मुख्य साधन है। सुतरां, कौशिकजी की उक्ति में सचाई है।

सोहाग का शव

(श्री प्रेमचन्द)

जन्म सं० १६२७ :: मृत्यु सं० १६६२

[क] प्रेमचन्द का परिचय

जीवन-परिचय

पुराना कथन है कि 'युग की माँग युग पुरुषों को जन्म देती है।' प्रेमचन्दजी-जैसे महान कलाकार इस कथन के अपवाद नहीं थे। मध्ययुग ने तुलसी को जन्म दिया, आधुनिक युग ने प्रेमचन्द को, गाँधी को। गांधीजी ने जनता का नेतृत्व राजनीतिक, व्यावहारिक क्षेत्र में किया, प्रेमचन्द ने बौद्धिक, साहित्यिक क्षेत्र में। राजनीतिक, सामाजिक तथा वैयक्तिक संघर्ष के युग में इस जागरूक और चेतन कलाकार का जन्म हुआ। सौभाग्य से उन्हे स्वयं भी वही संघर्ष जीवन के रूप में मिला तथा निकट से संघर्ष में निरत जनता को देखने का भी अवसर मिला। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के कटु अनुभवों ने उनको अनुभवों का भंडार दिया तथा सच्ची अनुभूति के लिए अवसर दिया। मौलिक प्रतिभा तथा जागरूकता के साथ-साथ पसे-पैसे को मोहताज रखनेवाले जीवन ने साहित्य को अमर कृतियाँ प्रदान करने में सहायता दी।

३१ जुलाई, सन् १८८० में बनारस के पास लमही नामक गाँव में प्रेमचन्द का जन्म हुआ। इनके यहाँ खेती का कारबार होता था, किन्तु, भारत के अन्य किसानों के समान प्रेमचन्द के पिता का भी पेट इससे नहीं पलता था। अतः उन्होंने मुहर्रिरी का पेशा अख्तियार किया, किन्तु निर्धनता परछाईं हो

बनी रही। प्रेमचन्द के जन्म के समय उनके पिता को २० रु० वेतन मिलते थे, और उसी में वे अपना गुजारा करते थे। पैसे की कमी के साथ-ही-साथ प्रेमचन्द को स्नेह की कमी का भी सामना करना पड़ा। सात साल की उम्र में ही माता का स्वर्गवास हो गया। पिता ने दूसरा विवाह किया। पन्द्रह साल की उम्र में ही प्रेमचन्द का भी विवाह हुआ, किन्तु दुर्भाग्यवश विवाह असफल रहा। पत्नी इनकी सहायिका न हो सकीं और वह अपनी माता के यहाँ चली गई। उनके खर्च के लिये रुपये भी प्रेमचन्द को भेजने पड़ते थे। सोलह साल की उम्र में पिता भी चल बसे और बेटे की छोटी उम्र के ऊपर पूरी गृहस्थी का भार छोड़ गए।

१९०४ ई० में इनकी पत्नी का देहान्त हो गया, तब इन्होंने एक बाल-विधवा से विवाह किया, जिसने इन्हे अपनी ओर से पूरे जीवन में संतोष दिया तथा मानसिक एवं नैतिक सहारा और स्नेह भी दिया।

आर्थिक संघर्ष ने इनके पूर्ण जीवन को अपने में लपेट और समेट लिया था। पैसे की दृष्टि से प्रेमचन्द को जीवन के अन्त तक सफलता नहीं मिली, संभवतः सच्चे कलाकार को मिलती भी नहीं है। प्रेमचन्द ने गरीबी में जन्म लिया। पिता का साया जल्दी उठ गया। बड़े परिवार का उत्तरदायित्व भी कंधों पर पड़ गया। स्वभावतः उनकी शिक्षा का आर्थिक प्रबन्ध सरल नहीं था। गाँव में वह ट्यूशन करते थे, जिससे घर का खर्च चलाते थे और पाँच मील दूर शहर पैदल पढने जाते थे।

कठिन परिस्थितियों के बीच इन्होंने १९०४ में मैट्रिक पास किया। द्वितीय श्रेणी में पास होने के कारण कॉलेज में इनका नाम नहीं लिखा गया। इसके पश्चात् वह किसी तरह ट्यूशन आदि से अपना और अपने परिवार का काम चलाते रहे। काम क्या चलाते थे, आधा पेट खाते थे। कभी-कभी यह भी नौबत आ जाती कि वह बिना खाए ही सो जाते। एक बार तो उन्हे अपनी भूख शान्त करने के लिये अपनी पुस्तक बेचने का निश्चय करना पड़ा। सौभाग्य से दूकान पर एक हेडमास्टर ने इन्हें देख लिया और उन्होंने १८) रु०

महीने पर अपने यहाँ रख लिया। उन्हीं हेडमास्टर की सहायता से प्रेमचन्द ने प्राइवेट से बी० ए० पास किया।

पन्द्रह वर्ष के बाद प्रेमचन्द अध्यापक से डिप्टी इन्स्पेक्टर ऑफ स्कूल्स् हो गए। इसी बीच में उन्होंने कहानी, उपन्यास आदि लिखना भी प्रारम्भ कर दिया था। १९२० में गांधीजी से प्रभावित होकर उन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ दी। यद्यपि वे स्वयं जानते थे कि "हिन्दी में आज न पैसे मिलते हैं, न यश मिलता है। इस संसार में लेखक को चाहिये, किसी की भी कामना बिना लिखता रहे।"

अपनी जीविका के लिये चरखा बनाकर बेचने से लेकर सिनेमा-जगत् के लिये कहानी लिखने तक का काम किया, किन्तु आर्थिक दृष्टि से कहीं सफलता नहीं मिली। सिनेमा में भद्दी रुचिवालों के लिये भद्दी कहानियाँ लिखने से इनकी आत्मा ने इन्कार कर दिया और ये वहाँ से लौट आए। अपनी जीविका के साथ-साथ इन्होंने प्रेस तथा पत्रकारिता का भी भार ले लिया जिसने इन्हे आर्थिक दृष्टि से और भी कुचल डाला। आवश्यकता से अधिक परिश्रम और पैसे की तंगी ने इनके शरीर को दुर्बल बना दिया, और ये पेचिश के शिकार हो गये। ८ अक्टूबर, १९३६ में इनका देहान्त हो गया।

साहित्यिक जीवन

बचपन से ही प्रेमचंदजी की रुचि कथा-कहानी पढ़ने की ओर थी। रघुपति सहाय 'फिराक' ने लिखा है कि "उनकी दोस्ती एक ऐसे सहपाठी से हो गई थी, जिसका बाप तम्बाकू बेचता था। तम्बाकू के पिंडों के पीछे दोनों दोस्त हुक्का पीते थे, और 'तिलिस्म होशरुबा' पढ़ते थे।" तेरह साल की ही उम्र मे इन्होंने रतननाथ 'सरसार', मिरजा रूसवा और मौलाना शरर के उपन्यास तथा उर्दू में पुराणों के अनुवाद पढ डाले। पढ़ने के लिए, उपन्यास प्राप्त करने को ये किताब की दूकान से नोट्स आदि ले जाकर विद्यार्थियों के हाथ बेचते थे और मेहनताने में दूकान पर उपन्यास पढ़ते थे। जैसे-जैसे बड़े होते गए, इनकी रुचि पनपती गई और

पढ़ने-पढ़ाने के साथ-साथ वह समय भी आ गया जब इन्होंने साहित्य को अपनी रचनाएँ प्रदान करना आरम्भ कर दिया।

१६०१ ई० में प्रेमचन्द ने उपन्यास लिखना आरम्भ किया। १६०३ में 'कृष्ण' का प्रकाशन हुआ। १६०५ में 'प्रभा' छपा। १६०५ में ही इन्होंने उर्दू पत्र 'जमाना' में एक आलोचनात्मक लेख भेजा। १६०७ में उर्दू में कहानियाँ लिखना आरम्भ किया तथा रवीन्द्रनाथ की कहानियों का अनुवाद भी किया। इसी समय देशभक्ति से प्रेरित होकर कुछ कहानियाँ 'जमाना' में प्रकाशित करवाईं तथा अपना संग्रह १६०७ में ही 'सोजे-वतन' के नाम से प्रकाशित करवाया। भारत को गुलामी के पंजे में जकड़े रखने की इच्छुक सरकार देशभक्ति की भावना से तिलमिला उठी और प्रेमचंद को उसका कोपभाजन बनना पड़ा। 'सोजे-वतन' की पाँच सौ प्रतियाँ कलक्टर की आज्ञा से जला दो गईं तथा उस प्रकार की कहानियाँ लिखने के लिये कड़ी मनाही हो गई।

प्रेमचन्द का असली नाम धनपत राय था। वे उर्दू में नवाब राय के नाम से लिखते थे। कलक्टर के इस व्यवहार के बाद उन्होंने 'प्रमचन्द' नाम से अपनी कहानियाँ प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। इसी प्रकार १६३० में राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ हंस के प्रकाशन पर भी सरकार की कुदृष्टि पड़ी और उसपर जमानत लगी। जैनेन्द्रजी को लिखे प्रेमचन्द के पत्र के अनुसार "यदि जमानत उठ गई तो पत्रिका तुरन्त ही निकल जायगी। छप, कट, सिलकर तैयार है। अगर आज्ञा न दी तो समस्या टेढ़ी हो जायगी। मेरे पास न रुपया है, न प्रॉमिसरी नोट, न सिक्योरिटी...... ..." प्रेमचन्द ने बीमारी की हालत में भी जमानत देने का प्रबन्ध कराया और पत्र को जिन्दा रखा।

सरकार के इस प्रकार के दखल से हिल जानेवाले अथवा निरुत्साह होनेवाले व्यक्ति प्रेमचन्द नहीं थे। विपरीत इसके उन्हे इन घटनाओं ने अपनी रचनाओं के लिये और मसाला दे दिया। दयानारायण निगम के शब्दों में— "संकीर्ण-हृदय अफसरों का बस चलता तो आज हिन्दुस्तानी साहित्य में प्रेमचंद का वजूद ही न होता; मगर नदी का प्रवाह किसने रोका है? और, नदी के

तीव्र प्रवाह की तरह प्रेमचन्द राह के समस्त रोड़ों को पार करते हुए अग्रसर होते रहे।"

१९१४ में उनकी कहानियों का अनुवाद हिन्दी में हुआ तथा उनका प्रकाशन भी हिन्दी में हुआ। इसके बाद प्रेमचन्द ने स्वय हिन्दी में लिखना आरम्भ किया और १९१४ में उनकी पहली हिन्दी कहानी 'सरस्वती' में छपी। प्रेमचन्द ने स्वयं अपने साहित्यिक जीवन के विषय में एक पत्र में चर्चा करते हुए लिखा है—"मैंने उर्दू-साप्ताहिको और मासिकों में लिखना आरम्भ किया। लिखना मेरे लिये शौक की चीज था। मैं सरकारी नौकर था और फ़ुरसत के समय ही लिखता था। उपन्यासो के लिये मेरे हृदय में शान्त न होनेवाली भूख थी और बिना भले-बुरे के ज्ञान के मुझे जो कुछ भी मिलता था, उसे ही मैं निगल जाता था। मेरा प्रथम लेख १९०१ में छपा और प्रथम पुस्तक १९०३ में। लिखने में मेरे अह की तृप्ति के अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं हुआ। पहले मैंने सामाजिक घटनाओं पर लिखा और उसके बाद वतमान और अतीत के वीरों के रेखा-चित्र पेश किये। सन् १९०७ में मैंने उर्दू में कहानियाँ लिखना आरम्भ किया और निरन्तर मिलनेवाली सफलता से उत्साहित हुआ। १९१४ में मेरी कहानियों का अनुवाद हुआ और वे हिन्दी के पत्रों में प्रकाशित हुईं। उसके पश्चात् मैंने हिन्दी को अपनाया और 'सरस्वती' में लिखना आरम्भ किया। उसके बाद मेरा 'सेवा-सदन' निकला और मैंने नौकरी छोड़कर स्वतंत्र रूप से साहित्यिक जीवन बिताने का निश्चय किया।"

प्रेमचन्द ने हिन्दी-साहित्य को उपन्यासों, कहानियो और निबन्धों की अमर देन दी। नौकरी छोड़ने के बाद वह पूर्णरूप से स्वतंत्र होकर साहित्य में लग गये और अन्तिम समय तक साहित्य की चिन्ता में उनका मस्तिष्क लगा रहा। 'गोदान' उनकी अन्तिम कृति है। 'मगल-सूत्र' आरम्भ किया, किन्तु समाप्त नहीं कर सके।

प्रेमचन्द हिन्दी के अमर कथाकार हैं। यदि हिन्दी कथा-साहित्य के इतिहास से उन्हे अलग कर दें तो हमारा कथा-साहित्य शून्य के बराबर हो

जाय। उन्होंने अपने जीवन-काल में छोटे-बड़े लगभग बीस उपन्यास और तीन-सौ कहानियाँ लिखी हैं। हम उनकी रचनाओं को कई रूपों में देखते हैं, जिन्हे हम निम्नलिखित भागों में विभक्त करते हैं—

प्रेमचन्द की रचनाएँ

[क] मौलिक उपन्यास—सेवासदन (१९०७), प्रेमाश्रम (१९२२), निर्मला (१९२३) रंगभूमि (१९२४), कायाकल्प (१९२८), गबन (१९३०), कर्मभूमि (१९३२), गोदान (१९३६) और मगलसूत्र।

[ख] मौलिक कहानी-संग्रह—सप्तसरोज, नवनिधि, प्रेम-पचीसी, प्रेम-पूर्णिमा, प्रेम-द्वादशी, प्रेम-तीर्थ, प्रेम-पीयूष, प्रेमकुंज, प्रेम-चतुर्थी, पच-प्रसून, सप्तसुमन, कफन, मानसरोवर (पाँच भागों में), प्रेम-प्रतिमा, प्रेरणा, प्रेम-प्रमोद, प्रेम-सरोवर, समर-यात्रा, कुत्ते की कहानी, जगल की कहानी, अग्नि-समाधि, प्रेम-पचीसी और प्रेम-गगा।

[ग] मौलिक नाटक—कर्बला, प्रेम की वेदी, सग्राम और रूठी रानी।

[घ] मौलिक निबन्ध—कुछ विचार।

[ङ] जीवन-चरित्र—कलम तलवार और त्याग, महात्मा शेखसादी, और रामचर्चा।

[च] सम्पादित—गल्परत्न और गल्पसमुच्चय (कहानी-संग्रह)।

[छ] अनूदित साहित्य—अहकार ('थायस' का अनुवाद), सुख दास (साईलस मारनर का अनुवाद), आजाद-कथा, चाँदी की डिबिया, टाल्स्टाय की कहानियाँ और सृष्टि का आरम्भ आदि।

प्रेमचन्द का प्रादुर्भाव हिन्दी कथा-साहित्य की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना था। इनकी पूर्व-पीठिका को देखते हुए प्रेमचन्द को सहज ही विश्व के प्रथम कोटि के कलाकारों में रखा जा सकता है। कहानी के क्षेत्र में इनके पूर्व की कहानियों का इतिहास एकदम छोटा है और जो है उसमें आज के तर्कशील पाठक का मन सहज रम नहीं सकता, क्योंकि तब कहानियों का उद्देश्य मनोरजन या दिलबहलाव था। इसके लिए उन कहानीकारों ने दैवी, सायोगिक घटनाओं

कहानीकार प्रेमचन्द

का आधार पकड़ा था। इसी आधार पर वे पाठक की रुचि बनाए रखते थे। विपरीत इसके प्रेमचन्दजी का स्पष्ट मत था—'कहानी जीवन के बहुत निकट आ गई है। उसकी जमीन अब उतनी लम्बी-चौड़ी नहीं है। उसमें रसों, चरित्रों और घटनाओं के लिए स्थान नहीं रहा। वह अब केवल एक प्रसंग का, आत्मा की एक झलक का सजीव हृदयस्पर्शी चित्रण है। इस तथ्यता ने उसमें प्रभाव, आकस्मिकता और तीव्रता भर दी है। उसमें व्याख्या का अंश कम है, संवेदना का अंश अधिक रहता है। · · कहानी का आधार घटना नहीं, अनुभूति है।' [कुछ विचार]

इसी प्रकार प्रेमचन्दजी ने 'प्रेम-प्रसून' की भूमिका में लिखा है—'हमने इन कहानियों में आदर्श को यथार्थ से मिलाने की चेष्टा की है। हमारा ख्याल है कि आख्यायिका में ये तीन गुण अवश्य होने चाहिये—

(१) आध्यात्मिक तथा नैतिक उपदेश (२) अत्यन्त सरल भाषा (३) स्वाभाविक वर्णन-शैली। इन्हीं सिद्धातों के अनुसार इन कहानियों की रचना की गई है। सच पूछा जाय तो प्रेमचन्द भारतीय स्वतंत्रता-आन्दोलन-काल के कलाकार थे, जहाँ सामाजिक पुरानी मान्यताएँ टूटने लगी थीं, जनता के समक्ष एक नया आदर्श उपस्थित होने लगा था। उस समय हिन्दी-साहित्य के विविध अंग अपनी सीमाओं में घिरे पड़े थे। कविता तब यथार्थोन्मुखी होने का यत्न कर रही थी। नाटक की अपनी सीमाएँ थीं। उपन्यास समस्त जीवन को लेकर मन्थर गति से आगे बढ़नेवाला था। ऐसी दशा में कहानी ही जीवन-मर्म की अभिव्यक्ति का सहज एवं समर्थ माध्यम थी। भागती हुई दुनिया को साहित्य में कहानी के द्वारा ही उतारा जा सकता था।

प्रेमचन्दजी ने इसे समझा और उन्होंने अपनी कहानियों में इसे उतारने का यत्न किया। यही कारण है कि प्रेमचन्दजी की दृष्टि समाज के सभी वर्गों, सभी स्तरों की जनता तक गई। उन्होंने इसीलिए कहानियों में ग्राम्यजीवन के साथ-साथ ग्रामीण कथा कहने के ढंग को भी अपनाया; क्योंकि उनको अपनी बात बहुत लोगों तक पहुँचानी थी। डा० रामविलास शर्मा के शब्दों में—'उनकी काफी कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें ग्रामीण कथाओं का रस और उनकी

शली अपनाई गई है। आमतौर से उनकी कहानियों में जो ठेठपन है, पाठक के हृदय में अपनी बात सीधे उतार देने की जो ताकत है, वह उन्होंने हिन्दुस्तान के अक्षय कथा-भंडार से सीखी है।'

प्रेमचन्द हिन्दी के एक ऐसे कलाकार हैं, जिनका उत्तरोत्तर विकास होता गया है। यदि इनकी प्रारंभिक कृतियों से अंतिम कृतियों की तुलना की जाय तो यह संदेह होने लगेगा कि दोनों कृतियों का रचनेवाला कलाकार एक ही है। अतः सुविधा के लिए हम प्रेमचन्दजी के विकास-क्रम को तीन कालों में बाँट लेंगे।

प्रथम उत्थान-काल की कहानियों में मनोरंजन-प्रधान तथा कथा-प्रधान कहानियाँ आती हैं, जैसे—सप्तसरोज, नवनिधि, प्रेम-पचीसी आदि संग्रह की कहानियाँ। इनके कथानक इसीलिए खूब लम्बे हैं, जिनपर आज एक उपन्यास तक लिखा जा सकता है। एक-एक कथानक के निर्माण और विकास में अनेक पड़ाव आते हैं। इन कथानकों में जाने कितनी संवेदनाएँ, जीवन की कितनी इकाइयाँ आ जाती हैं, जहाँ एक समूचे परिवार, वंश या व्यक्ति के जीवन का समस्त भाग ग्रथित हो जाता है। फलतः कथानक लम्बे हो जाते थे। इसलिए मूल कथानक के साथ-साथ गौण कथाएँ भी संबंद्ध हो जाती थीं, किन्तु, इन कहानियों में घटनाओं अथवा कार्य-व्यापारों का इति-वृत्त मात्र नहीं, बल्कि विस्तृत जीवन के अनेकानेक चित्र सुरक्षित कर दिए गए हैं।

द्वितीय उत्थान-काल की कहानियों में प्रेमचन्द की दृष्टि जीवन के यथार्थ की ओर मुड़ती है। अब कहानियों में वे कथानकों को प्रधानता न देकर चरित्रों को स्थान देने लगे। इतना ही नहीं, इन चरित्रों के चित्रण में वे स्वाभाविकता पर ध्यान देने लगे। कहानियों में घटनाएँ या कार्य-व्यापार उतने ही आते जितने कि पात्रों के विकास के लिए आवश्यक हैं। कहानियाँ अब मनोविज्ञान के धरातल पर प्रतिष्ठित हुईं। चरित्र-चित्रण में पात्रों की स्वाभाविकता एव उनकी सभावनाओं पर ध्यान दिया गया। इसलिए शिल्प-विधान की दृष्टि से भी ये कहानियाँ अधिक प्रौढ़ होने लगीं। चूँकि इनका

लक्ष्य जीवन के किसी एक विशिष्ट पक्ष का उद्घाटन करना था, इसलिए इनका स्वरूप कैसा हुआ, छोटा और संक्षिप्त हो गया। इस काल में कथानक छोटे हो गए, जैसे—प्रेम-प्रसून और प्रेमद्वादशी आदि संग्रह की कहानियों का कथानक।

डा० लक्ष्मीनारायण लाल के शब्दों में—'प्रेमचन्द की बूढ़ी काकी, शतरंज के खिलाड़ी, मक्र, वज्रपात और डिग्री के रुपये आदि कहानियों के कथानक उतनी ही सीमा में हैं जितने से कहानी की मूल संवेदना और चरित्र का विशेष मनोविज्ञान संवधित है। अतएव, यहाँ सहायक कथानक अपने-आप नष्ट हो गए हैं। कथानकों में कहीं भी क्षिप्रता नहीं, उसके स्थान पर यहाँ संकेतों, व्याख्याओं और कथानकों से काम लिया जाता है। यहाँ कथानकों में जीवन की एक इकाई, एक संवेदना और एक प्रसंग को लिया गया है; अतः कथानक छोटे हो गए हैं और उनके चरित्र उभर आए हैं।' इतना सब होते हुए भी इस काल तक प्रेमचन्दजी अपनी कला में निर्वैयक्तिक नहीं हो सके। अपने विचारों का मोह, आदर्श की स्थापना का मोह और सुधारवादी प्रवृत्ति इनकी कहानियों में स्पष्ट परिलक्षित हैं। इस काल की कुछ कहानियों को छोड़कर प्रायः सबमें चरित्र-परिवर्तन अथवा कहानी का अंत किसी उद्देश्य के साथ हुआ है।

हाँ, तृतीय उत्थान-काल की 'कफन' की कहानियों में इनकी कला अपनी श्रेष्ठता का स्पर्श करती है। अबतक जो सुधारवादी प्रवृत्ति लेकर किसी आदर्श की स्थापना-हेतु इनकी कला तेजी से ढहती-गिरती आगे बढ़ी, वह यहाँ आकर शिल्प-विधान तथा भाव-विधान, दोनों दृष्टियों से पूर्णता का स्पर्श करती है। 'टेकनीक की दृष्टि से वे सुधार से ज्ञान-विस्तार, व्याख्या से संवेदना एवं चित्र, विस्तृत ब्योरे से सांकेतिकता तथा आदर्श से आदर्शोन्मुख यथार्थ की ओर गए। विचारधारा की दृष्टि से विश्व या राष्ट्रीयता से अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर आए।' इस काल की कहानियों का विश्लेषण करते हुए डा० लक्ष्मीनारायण लाल का कथन है कि 'प्रेमचन्द के तृतीय उत्थान-काल की कहानियों में कथानक का रूपविधान और भी कलात्मक हो गया है।

इनके मुख्यत: तीन धरातल हैं—(क) किसी व्यक्ति के या समस्या के केवल एक पक्ष को धरातल मानकर, जैसे 'कुसुम', 'गुल्ली डण्डा' और 'मिस पद्मा' आदि। (ख) व्यक्ति के बाह्य-संघर्ष, आन्तरिक मनोविज्ञान के प्रकाश में उसके जीवन के लम्बे भाग को धरातल बनाकर, जैसे—'दो कब्रे', 'अलग्योझा' और 'नया विवाह' आदि। (ग) मनोविज्ञान की अनुभूति के धरातल से निर्मित कथानक, जैसे—'कफन', 'मनोवृत्ति' और 'पूस की रात' आदि। तीसरे धरातल के कथानक अत्यन्त छोटे और व्यजनात्मक हैं। यहाँ लगता है, जैसे कोई मनोवैज्ञानिक बिन्दु ही कहानी भर में कथानक के नाम पर फैल गया हो।'

आधुनिक कहानियों के जन्मदाता एडगर ऐलन पो का कहना है कि कहानीकार में प्रतिभा और चातुर्य (Reconciling genius with artistic skill), दोनों का सामजस्य अनिवार्य है। यद्यपि यह सामजस्य संभव नहीं, किन्तु यह नितान्त आवश्यक है (Yet this conciliation is not possible, but an absolute necessity)। प्रेमचन्द इस दृष्टि से हिन्दी में अकेले कलाकार ठहरते हैं। जीवन का उनका व्यापक अनुभव उनको एक ओर वस्तु-पक्ष के प्रति ईमानदार बनाता है, तो दूसरी ओर उनका निरन्तर श्रम उनके कला-चातुर्य को माँजता जाता है और अंत में इन दोनो का मणि-काचन-संयोग हो जाता है।

प्रेमचन्द की कहानियों के विषय की सीमा असीम है; क्योंकि भारतीय जीवन का कौन-सा अंग होगा, जिसका उन्होंने स्पर्श न किया हो। जातीय परम्परा से इनकी कहानियो का घनिष्ठ सबध है। इनकी इतनी व्यापक सहानुभूति थी कि इन्होंने जन-जीवन के प्रत्येक पहलु को अपनी कहानी का विषय बना डाला। प्रेमचन्द के पात्र समाज के प्रत्येक स्तर के हैं। छोटा-बड़ा, मजदूर-ग्रामीण, कलाकार-बुद्धिवादी, जमीन्दार-किसान, बच्चा-बूढा, मर्द-औरत—सब समान रूप से इनकी कहानियों में आए हैं। उन्होंने 'शतरंज के खिलाड़ी' से लेकर 'दो बैलों' तक की कथा लिखी है। उनकी कहानियों की पीठिका के इतना विशाल होने का कारण उनकी व्यापक सहानुभूति है।

यही कारण है कि उनकी कहानियों में घटना-कौतूहल कम है, चरित्र-चित्रण की बारीकी अधिक। यों घटना-कौतूहल भी इनकी कहानियों में हैं, जो कहानी को कमजोर बना देते हैं, किन्तु उनकी संख्या कम है। मानव-चरित्र के विविध पक्षों का उद्‌घाटन ही उनकी कहानियों का मूल उद्देश्य रहा है। उनकी हरएक कहानी का कुछ-न-कुछ प्रयोजन है। केवल मनोरंजन के उद्देश्य से उनकी कहानियाँ नहीं लिखी गई हैं। कोई-न-कोई झुकाव, जीवन के प्रति नया दृष्टिकोण, किसी समस्या का हल उनकी कहानियों में जरूर मिलेगा। यदि किसी रचनाकार की महत्ता प्रचुरता और विविधता मानी जाती है तो प्रेमचन्द निस्संदेह एक महान् कलाकार हैं। वे अपने एक कथानक को कभी दोहराते नहीं। भारतीय जन-जीवन पर इतना अधिकार रखनेवाले कलाकार प्रेमचन्द अकेले ही हैं।

प्रेमचन्द की कहानियों की शिल्प-विधि भी अपने ढंग की निजी और अकेली है। कहानी में कथा के रस को डालकर कहना, उनकी अपनी विशेषता है। लोकरस उनकी कहानियों का प्राण है। जो प्रणाली भारतीय ग्रामीण जनता में कथा सुनाने को अपनाई गई है, वही प्रणाली प्रेमचन्दजी के द्वारा भी। 'वह कहानी सुनाते हैं अक्सर लच्छेदार जबान में, वाक्यों को स्वाभाविक गति से फैलने की आजादी देकर, अंग्रेजी बाग के माली की तरह उनकी डालियों को कतर कर नहीं, फूलों और पत्तियों को हवा में बढ़ने और लहराने की आजादी देकर।'

प्रेमचन्द की भाषा-शैली

प्रेमचन्द की शैली व्यंग्यप्रधान है। सामाजिक जीवन की जहाँ-जहाँ उन्होंने विषमता पायी, उनपर उन्होंने अपने तीखे व्यंग्य से उन्हें विद्ध किया है। उनके हास्य कहीं-कहीं एकदम निर्मल और स्वच्छ हैं, किन्तु अधिकांश हास्य तो व्यंग्य के रूप में बदल गए हैं। इसका कारण है, उनके जीवन का कटु अनुभव।

प्रेमचन्द की कहानियाँ वस्तुवादी ठहरती हैं। अपनी अंतिम कहानियों में वे इस प्रकार ओट में छुपकर अपने पात्रों का जीवन स्वाभाविक रूप में

उपस्थित करते हैं कि संदेह होता है कि पाठक कहानी पढ़ रहा है। यह उनकी निर्वैयक्तिकता का प्रमाण है। जब कलाकार सर्वथा वस्तुवादी हो जाता है तभी वह अपनी कला में निर्वैयक्तिक भी हो सकता है।

प्रेमचन्द की भाषा जनता की भाषा है जिसमें उर्दू और हिन्दी, दोनों भाषाओं के शब्द मौजूद हैं। ये राष्ट्रभाषा के हिमायती थे। इसलिए इन्होंने ऐसी भाषा को अपनी कहानियों में स्थान दिया है, जो हिन्दू मुस्लिम, सिक्ख-ईसाई सबके लिए सहज और बोधगम्य हो। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे अपनी साधारण भाषा द्वारा बड़ी-से-बडी बात नहीं कह सकते। उदाहरण के लिए 'कफन' कहानी को लीजिए। 'कफन' की भाषा पात्रोचित तो है ही, साथ ही वह कितने कटु व्यंग्य, कितने गहरे मानव-चरित्रों की अभिव्यक्ति करती चलती है जैसे—"वहाँ के वातावरण में सुरूर था, हवा में नशा। कितने तो यहाँ आकर एक चुल्लू में मस्त हो जाते थे। शराब से ज्यादा यहाँ की हवा उनपर नशा करती थी। जीवन की बाधाएँ यहाँ खींच लाती थीं और कुछ देर के लिए यह भूल जाते थे कि वे जीते हैं या मरते हैं। या न जीते हैं, न मरते हैं।"—यहाँ भाषा पर प्रेमचन्दजी का असाधारण अधिकार दिखाई देता है। इन थोड़ी-सी पंक्तियों में उन्होंने कितना सच्चा और प्रभावशाली वातावरण उपस्थित कर दिया है। अंतिम पंक्तियों में निहित व्यंग्य कितना मार्मिक है।

इसी प्रकार उनकी भाषा में जाने कितनी सूत्रवत् पंक्तियाँ मिलती हैं, जैसे— क) अस्थिरता नशे की खासियत है। (ख) घर से तो पैसा इस तरह गायब था जैसे चील के घोंसले से मांस। (ग कैसा बुरा रिवाज है कि जिसे जीते जी तन ढाँकने को चीथड़ा भी न मिले, उसे मरने पर नया कफन मिले।

हिन्दी भाषा कितनी समृद्ध है, इसका परिचय हमें इनकी भाषा देती है। कुल मिलाकर इनकी कहानियों के विषय में सत्य यही है कि ये कहानियों के बंधन स्वीकार नहीं करते। एक बार जैनेन्द्रजी से प्रेमचन्द ने कहा था— 'कहानी हृदय की वस्तु है, नियम की वस्तु नहीं है। नियम हैं और वे उपयोगी

होने के लिए हैं। हृदय के दान में जब वे अनुपयोगी हो जाएँ तब बेशक उन्हे उल्लघनीय मानना चाहिए।'

इनकी कहानियों के विषय में सबसे बड़ा सत्य यही है कि इनकी कहानियाँ हमारे 'जातीय जीवन का दर्पण हैं।' उनकी शैली की चित्रमयता, भाषा पर असाधारण अधिकार, चरित्र-चित्रण का कौशल और हर जगह व्यंग्य और हास्य ढूँढने की क्षमता उन्हे एक प्रभावशाली कलाकार बनाती है।

[ख] 'सोहाग का शव' कहानी का सारांश

केशव मध्यप्रान्त के एक पहाड़ी गाँव का शिक्षित युवक था। वह बम्बई विश्वविद्यालय से एम० ए० की उपाधि लेकर नागपुर के एक कालेज में प्रोफेसर हुआ। वह किसी सम्पन्न घराने का व्यक्ति नहीं था। वह आधुनिक सभ्यता से बिल्कुल प्रभावित नहीं था। उसका विवाह एक ग्रामीण बालिका के साथ हुआ था। समाज के वैवाहिक नियमों में अनेक क्रान्तियाँ हुई; परन्तु केशव उनसे काफी दूर था। उसकी पत्नी का नाम सुभद्रा था। वह एक आदर्श पत्नी थी। दोनों का प्रेम प्रशसनीय था।

केशव को विदेश जाने के लिए एक छात्रवृत्ति मिली। उसके मित्रगण अत्यन्त प्रसन्न हुए, पर वह खुश नहीं था। उसके माता-पिता तथा परिवारवालों ने इस विदेश-गमन का काफी विरोध किया। परन्तु केशव की पत्नी उसे इन्द्रासन पर प्रतिष्ठित देखना चाहती थी, इसलिए उसने केशव को विलायत जाने की आज्ञा दे दी। केशव जाने को तैयार हो गया। गाड़ी आयी और वह सवार होकर रवाना हो गया। इधर सुभद्रा के दिन एक रोगी की तरह कटने लगे। प्रथम पाँच महीने तो प्रत्येक पंद्रह दिन पर पत्र आते थे, परन्तु छठे महीने से पत्र आने में भी विलम्ब होने लगा। सुभद्रा के पाँच-छ. पत्रों के बाद केशव का एक पत्र आता, वह भी बे-मन का लिखा रहता। उसे क्या पता था कि केशव वहाँ जाकर एक दूसरी ही कामिनी के प्रेम का भिखारी बन गया है। अन्त में सुभद्रा ने इंगलैण्ड जाने की बात सोच ली और सबके सामने रखा। मैके और ससुरालवालों ने उसे समझाया, परन्तु वह न मानी। सुभद्रा भी इंगलैण्ड को चल पड़ी।

इंगलैण्ड में आकर उसने एक मकान लिया जो केशव के निवास-स्थान से निकट ही था। वहाँ वह संगीत और हिन्दी भाषा पढ़ाकर अपना जीवन-निर्वाह किया करती थी। जब कभी वह केशव को देख लेती तो उसका हृदय उससे भेंट करने को ललक पड़ता, परन्तु वह अपने-आपको रोक लेती। एक दिन संध्या समय उसने केशव को एक भारतीय महिला के साथ हँस-हँसकर बातें करते हुए जाते देखा। वह उनके पीछे दौड़ी, परन्तु पा न सकी। वे दोनों तेजी से टहलते हुए कहीं आगे बढ गए। उस रात्रि में सुभद्रा सुख की नींद न सो सकी।

दूसरे दिन प्रातःकाल सुभद्रा अपने काम पर जाने को तैयार हो रही थी कि वही युवती, जो केशव के साथ थी, आई और कहा कि उसकी शादी होने-वाली है और वह अपनी वेष-भूषा भारतीय रखना चाहती है। अतएव उसे उससे (सुभद्रा से) कपड़े सिलवाने हैं। बातचीत के दौरान में उसने उसे यह सूचना दी कि उसका विवाह केशव नामक एक युवक से होनेवाला है। इसे सुनकर सुभद्रा चेतनाहीन हो गई। वह फूट-फूटकर रोने लगी। उसके हृदय में कई प्रकार के विचार उठने लगे। प्रतीकार के लिए उसका हृदय विकल हो उठा। उसने उस युवती से केशव के पूर्व-विवाह की बात कह देने की ठानी।

सुभद्रा दिन भर इन्तजार करती रही। ज्यों-ज्यों दिन ढलने लगा और उस युवती के आने में विलम्ब होने लगा, उसके मन में एक तरंग-सी उठने लगी। एकाएक संध्या समय वह युवती कपड़े का एक पुलिन्दा लिए उसके समक्ष आ खड़ी हुई और आते ही उससे देर से आने की क्षमा माँगती हुई कहने लगी कि "बात यह है कि केशव को किसी बड़े जरूरी काम से जर्मनी जाना है जहाँ उन्हे एक महीने से ज्यादा लग जायगा। वे चाहते हैं कि वह भी उनके साथ जर्मनी जाय, क्योंकि उससे उन्हें अपना थीसिस लिखने में बड़ी सहायता मिलेगी। उसने इसे स्वीकार कर लिया है। उनकी इच्छा है कि जर्मनी जाने के पहले विवाह हो जाय, और कल संध्या समय संस्कार हो जायगा।" सुभद्रा ने उस युवती को यह बतलाया कि वह उन्हें धोखा दे रहा है, क्योंकि

केशव एक विवाहित युवक है। युवती ने इस सत्य को स्वीकार करते हुए कहा कि विवाह हाने के बावजूद भी उस स्त्री से उनका मन कभी नहीं मिला। वह एक अर्द्ध शिक्षित नारी है, जिससे केशव जैसे विद्वान एव मनस्वी व्यक्ति का जीवन कैसे प्रसन्न रह सकता है? केशव अपनी पूर्व-विवाहित पत्नी के भरण-पोषण का उसके इच्छानुसार प्रबन्ध कर देगा। सुभद्रा को विवाह-संस्कार में उपस्थित होने का निमंत्रण देकर वह युवती चली गई।

युवती के जाने के पश्चात् सुभद्रा का कोमल हृदय व्यग्र हो उठा। उसका हृदय प्रतीकार की भावना से जलने लगा। वह केशव के खून की प्यासी हो गई। संध्या समय आर्यमंदिर में केशव और युवती का विवाह होनेवाला था। विवाह का संस्कार हो रहा था। प्रतीकार की भावना से वहाँ सुभद्रा भी पहुँची और बरामदे में आकर एक खंभे की आड़ में इस तरह खड़ी हो गई कि केशव का मुँह उसके सामने था। परन्तु मंडप में केशव और उर्मिला को देखकर उसकी ईर्ष्याग्नि शान्त हो गई। सुभद्रा के हिंसात्मक विचार विरक्ति में परिवर्तित हो गया। विवाह-संस्कार समाप्त हो गया, मित्रों ने बधाइयाँ दीं, सहेलियों ने मंगल-गान किया, प्रीति-भोज हुआ। इस प्रकार रात बारह बज गए। सब लोग मंदिर से निकले। सुभद्रा भी अन्य लोगों की तरह मन्दिर से निकलकर काफी रात बीत जाने के बाद अपने निवास-स्थान को लौटी।

दूसरे दिन सुबह होते ही उर्मिला सुभद्रा के कमरे में पहुँची। वह एकाग्र चित्त से उसके कपड़े सी रही थी। उर्मिला के पूछने पर सुभद्रा ने यह बतलाकर, कि वह मंदिर गई थी, उसके गले से लिपट गई। उर्मिला को अपनी छोटी बहन समझकर सुभद्रा ने अपने सारे आभूषण उसे पहना दिए और अपने पास एक छल्ला भी न रक्खा। उस युवती का यह नया अनुभव था। अब सुभद्रा के हृदय में किसी प्रकार का द्वेष-भाव न था। कुछ समय के बाद, सुभद्रा के कहने पर, उर्मिला ने केशव को उसके कमरे मे बुला लिया। सुभद्रा को देखकर केशव चौंक पड़ा, उसके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं, परन्तु सुभद्रा गंभीर, शान्त, निश्चल अपनी जगह पर खड़ी रही। सुभद्रा ने

केशव को उर्मिला-जैसी सुशील नारी पाने पर बधाई दी। आज इस आकस्मिक मिलन के कारण वह लज्जा और ग्लानि से अप्रतिभ बन गया। उर्मिला, सुभद्रा और केशव में बातचीत होती रही। उसी सिलसिले में केशव ने अपनी सफाई में कहा कि 'विवाह एक प्रकार का समझौता है। दोनों पक्षों को अधिकार है, जब चाहे, उसे तोड़ दें और जब इसका अनुभव हो जाय कि हम इस बंधन से मुक्त होकर अधिक सुखी हो सकते हैं तो यही कारण काफी है।' पर सुभद्रा ने बात काटकर कहा—'क्षमा कीजिये, मिस्टर केशव, मुझमें इतनी बुद्धि नहीं कि इस विषय पर विवाद कर सकूँ। आदर्श समझौता वही है जो जीवन-पर्यन्त रहे। मैं भारत की नहीं कहती, वहाँ तो स्त्री पुरुष की लौंडी है। मैं इंगलैण्ड की कहती हूँ। यहाँ भी कितनी ही औरतों से मेरी बातचीत हुई है। वे तलाकों की बढ़ती हुई संख्या को देखकर खुश नहीं होतीं। विवाह का सबसे ऊँचा आदर्श उसकी पवित्रता और स्थिरता है। पुरुषों ने सदैव इस आदर्श को तोड़ा है, स्त्रियों ने निबाहा है। अब पुरुषों का अन्याय स्त्रियों को किस ओर ले जायगा, नहीं कह सकती।' इस गंभीर और संयत कथन ने विवाद का अंत कर दिया। सुभद्रा ने चाय मँगवाई और तीनों आदमियों ने पी। तत्पश्चात् केशव और उर्मिला अपने निवास-स्थान के लिए चल पड़े।

लौटने के बाद केशव दिन भर बेचैन रहा। उसकी आँखों के सामने सुभद्रा की तस्वीर नाचने लगी। उसे देखकर उसकी कर्त्तव्य-चेतना जाग्रत् हो गई। उसके पैरों पर गिरकर उससे क्षमा माँगने के लिए केशव का मन व्यग्र हो उठा। दिन तो केशव ने किसी तरह काटा, लेकिन ज्यों ही रात के दस बजे, वह सुभद्रा से मिलने चला। उर्मिला के पूछने पर केशव ने बहाना कर दिया कि उसे एक प्रोफेसर के यहाँ जाना है। मार्ग में वह सोचता चला जा रहा था कि सुभद्रा का प्रेम अत्यन्त उच्च कोटि का है जिसे उर्मिला नहीं पा सकती। सुभद्रा के घर के निकट पहुँचकर उसका मन कातर होने लगा। देखा कि उसका कमरा बन्द था। इसी बीच उस मकान की मालकिन ने आकर केशव को बतलाया कि वह तो दोपहर को ही यहाँ से अपना सामान

लेकर चली गई, परन्तु वह 'मिसेज केशव' के नाम से एक छोटा-सा पैकेट अपनी सहेली के लिए छोड़ गई। केशव ने अपने को 'मिसेज केशव' का पति बतलाकर मालकिन से उस पैकेट को प्राप्त किया। केशव पैकेट को लेकर नजदीक के एक पार्क में आया और खोला जिसमें एक पीले रंग की साड़ी थी, एक छोटी-सी सेंदुर की डिबिया और केशव का एक फोटो चित्र। और उसके साथ-साथ उसमें एक लिफाफा भी था जिसे केशव ने खोलकर पढ़ा। उसमें लिखा था—"वहन, मैं जाती हूँ। यह मेरे सोहाग का शव है। इसे टेम्स नदी में विसर्जित कर देना। तुम्हीं लोगों के हाथों यह सस्कार हो जाय तो अच्छा।—तुम्हारी सुभद्रा।"

केशव मर्माहत-सा पत्र हाथ में लिए वहीं घास पर लेट गया और फूट-फूट-कर रोने लगा।

[ग] 'सोहाग का शव' कहानी की आलोचना

प्रेमचन्द ने लगभग तीन सौ कहानियाँ लिखी हैं जिनमें से कई साहित्य की अमर निधि हैं। उन्होंने कहानी को विलकुल नया रूप दिया है। प्रेमचन्द की उत्कृष्ट कहानियों में 'सोहाग का शव' अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रेमचन्द-कृत प्रस्तुत कहानी एक चरित्र-प्रधान कहानी है जिसमें विज्ञान की अनुभूति व्यक्त हो पायी है। उसमें एक ग्रामीण युवती के अपूर्व त्याग का वर्णन है। प्रस्तुत कहानी का आरम्भ मध्यप्रान्त के एक पहाड़ी ग्राम से होता है जहाँ केशव नाम का एक युवक है और वह युवक आधुनिक सभ्यता की क्रान्तियों से बिल्कुल दूर है। वह फेशन-भक्त नहीं है। नागपुर के एक कालेज का प्रोफेसर है। वह अपनी पत्नी को अत्यधिक प्यार करता है। सरकार से छात्रवृत्ति मिलती है और वह इङ्गलैंड चला जाता है। प्रस्तुत कहानी का यह पूर्वार्द्ध है। इङ्गलैंड जाकर वह एक दूसरी कामिनी के प्रेम का भिखारी वन जाता है। इसी बीच सुभद्रा भी पहुँच जाती है। केशव और उस युवती का विवाह हो जाता है। सुभद्रा वधाई देकर अपनी जीवन-लीला समाप्त कर लेती है—यह कहानी का उत्तरार्द्ध है। कहानी के पूर्वार्द्ध में जिज्ञासा

उत्पन्न करनेवाली किसी घटना का उल्लेख नहीं है। पूर्वार्द्ध भाग की कथा समतल मैदान पर बहनेवाली एक नदी के समान है जिसकी धारा में उत्थान-पतन का अभाव है। पूर्वार्द्ध-कथा की घटनाएँ भारत की भूमि पर घटी हैं और उत्तरार्द्ध की घटनाएँ इङ्गलैंड में। यह एक दुःखान्त कहानी है।

इस कहानी में सुभद्रा का चरित्र भारतीय ललनाओं के अनुरूप अंकित हो पाया है। सुभद्रा एक पतिव्रता नारी है। उसमें तप, त्याग और पति के लिए मर-मिटने की अपूर्व तत्परता है। इस कहानी में जिन घटनाओं को प्रश्रय दिया गया है उनसे अनेक सामाजिक समस्याएँ आ खड़ी होती हैं। यों तो प्रेमचंद भारत की मूक जनता के कलाकार हैं और भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के पोषक हैं, परन्तु वे दूसरे देश की संस्कृति को अपनाने में नहीं हिचकते हैं, यदि उसमें गुण रहता है। केशव और उर्मिला भारतीय होकर भी पाश्चात्य सभ्यता में रँग गए हैं और वे दोनों 'विवाह को केवल एक प्रकार का समझौता' मानते हैं तथा कहते हैं कि 'दोनों पक्षों का अधिकार है, जब चाहें, उसे तोड़ दें।' परन्तु प्रेमचन्द ने सुभद्रा के मुख से कहवाकर इसका विरोध किया है। उन्होंने तो उसके उत्तर में सुभद्रा के मुख से स्पष्ट कहलाया है कि 'आदर्श समझौता वही है जो जीवन-पर्यन्त रहे। भारत में तो स्त्री पुरुष की दासी है। इङ्गलैण्ड की औरतें तलाकों की बढ़ती हुई संख्या को देखकर खुश नहीं हैं। विवाह का सबसे ऊँचा आदर्श तो पति-पत्नी की पवित्रता एवं स्थिरता पर निर्भर करता है। पुरुषों ने सदैव इसे तोड़ा है, स्त्रियों ने निबाहा है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि कथाकार प्रेमचन्द ने पुरुषों के अत्याचार का विरोध किया है और संकेतात्मक ढग से यह राय दी है कि वे पाश्चात्य सभ्यता के रग में न रँगें।

'मनोविज्ञान की अनुभूति' प्रेमचन्द की कहानी-कला की सबसे बड़ी विशेषता है। सन् १९३० के बाद उन्होंने जितनी कहानियाँ लिखीं सबमें मनोवैज्ञानिक चरित्रों की सृष्टि करने की चेष्टा की। प्रेमचन्द ने स्वय कहा है कि 'मनुष्य जाति के लिए मनुष्य सबसे विकट पहेली है, किसी-न-किसी रूप में वह अपनी ही आलोचना किया करता है, अपने ही मनोरहस्य खोला करता है।

वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को अपना ध्येय समझती है और सबसे उत्तम वह कहानी होती है जिसका आधार किसी-न-किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।' मनोवैज्ञानिक सत्य की खोज करते-करते प्रेमचन्द जीवन की यथार्थता का अंकन करने लगे और इस प्रकार की कहानियों में यह दिखलाया गया कि जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के वात्याचक्र में पड़ जाने पर व्यक्ति की अन्तर्वृत्तियों की क्या स्थिति होती है। प्रेमचन्द इस तरह की स्थितियों से पूर्णतया परिचित थे। इस मानसिक संघर्ष का अत्यन्त ही सुन्दर वर्णन 'सोहाग का शव' शीर्षक कहानी में देखने को मिलता है। डा० रामरतन भटनागर के शब्दों में प्रेमचन्द ने मनोविज्ञान का आश्रय कई प्रकार से लिया है—शैली, वर्णन के ढंग, उपमा, कथोपकथन, कथानक,—इन सभी अंगों को वे मनोविज्ञान से पुष्ट करते चलते हैं। यही कारण है कि डा० प्रकाशचन्द्र गुप्त ने उन्हें 'मनोविज्ञान का कुशल आचार्य' कहा है। अब हम उनकी सफल मनोवैज्ञानिकता की पुष्टि के लिए दो-चार उदाहरण पेश करते हैं—

(१) सुभद्रा को इस ईर्ष्या और दुःख के आवेश में अपने काम पर जाने की सुध न रही। वह कमरे में इस तरह टहलने लगी जैसे किसी ने जबरदस्ती उसे बंद कर दिया हो। कभी दोनों मुट्ठियाँ बँध जातीं, कभी दाँत पीसने लगती, कभी ओंठ काटती। उन्माद की-सी दशा हो गई। आँखों में भी एक तीव्र ज्वाला चमक उठी। [पृष्ठ ५७]

(२) सहसा उसे एक बात याद आ गई। हिंसात्मक संतोष से उत्तेजित मुख-मंडल और भी कठोर हो गया। केशव ने अपने विवाह की बात इस युवती से गुप्त रक्खी होगी। सुभद्रा इसका भण्डाफोड़ करके केशव के सारे मनसूबों को धूल में मिला देगी। उसे अपने ऊपर क्रोध आया कि युवती का पता क्यों न पूछ लिया। [पृष्ठ ५८]

(३) एक मिनट में केशव ने कमरे में कदम रखा और चौंककर पीछे हट गए, मानों पाँव जल गया हो। मुँह से एक चीख निकल गई। ...केशव के मुँह पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। वह पथभ्रष्ट-सा बना खड़ा था। लज्जा और ग्लानि से उसके चेहरे पर एक रंग आता

था, एक रंग जाता था।...... वह परास्त और अप्रतिभ होकर एक कुर्सी पर बैठ गया। [पृष्ठ ६७-८]

(४) केशव पैकेट लेकर इस तरह भागा, मानों कोई चोर भागा जा रहा हो। इस पैकेट में क्या है, यह जानने के लिए उसका हृदय व्याकुल हो रहा था। उसे इतना विलंब असह्य था कि अपने स्थान पर जाकर उसे खोले। [पृष्ठ ७३]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य के उत्थान-पतन का मनोवैज्ञानिक एवं सजीव चित्र जिस मार्मिक शैली में व्यजित हुआ है, उसकी झाँकी इस कहानी में यथेष्ट मात्रा में मिलती है।

प्रस्तुत कहानी में उनका उद्देश्य सामाजिक है। वे सामाजिक उद्देश्य को लेकर लिखते थे और उन्होंने कहानी को ही उन्नति और सुधार का साधन बनाया। उनकी प्रारंभिक कहानियों में जो सुधार की भावना थी, उसे वे अंत तक नहीं छोड़ सके; क्योंकि सामाजिक घटनाओं के अकन में ही उनकी प्रतिभा का पूर्णतया विकास हुआ। इस कहानी म नारी की मर्मव्यथा अंकित है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण की निम्नांकित उक्ति अत्यन्त सार्थक है—

अवला जीवन, हाय ! तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥

प्रेमचन्द ने एक स्थल पर लिखा है कि 'मैं यथार्थवादी नहीं हूँ। कहानी में वस्तु ज्यों-की-त्यों रखी जाय तो वह जीवन-चरित्र हो जायगी। साहित्य की सृष्टि मानव-समुदाय को आगे बढ़ाने-उठाने के लिए होती है। हमें तो सुन्दर, आदर्श भावनाओं को चित्रित करके मानव-हृदय को ऊपर की ओर उठाना है, नहीं तो साहित्य की महत्ता और आवश्यकता क्या रह जायगी।' यही कारण है कि उनकी कहानियों में 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' अंकित हो पाया है। इस कहानी में प्रेमचन्द ने केशव के चरित्र में परिवर्तन दिखलाया है जो उर्मिला की माया में फँसकर विवाह कर लेता है, परन्तु सुभद्रा से साक्षात्कार होने के बाद उसका हृदय उससे क्षमा-माँगने को ललक उठता है और वह उसके निवास-स्थान पर जाता है। इसके साथ-साथ कहानीकार ने यह

बतलाया है कि भारतीय युवकों ने नारी को एकमात्र दासी माना है। वे पाश्चात्य सभ्यता में अपने-आपको रँगकर तलाक का बहाना ढूँढकर दूसरा विवाह कर लेते हैं जिसका परिणाम अच्छा नहीं होता है। अतएव हम देखते हैं कि प्रेमचन्द ने पति-पत्नी के आदर्श को उपस्थित कर इस कहानी में 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' का अत्यन्त ही सुन्दर चित्र अंकित किया है।

प्रस्तुत कहानी के पढ़ने से हमें एक नैतिक उपदेश मिलता है। प्रमचन्द ने बतलाया है कि विवाह का आदर्श है पति-पत्नी की पवित्रता एव स्थिरता। विपत्ति आने पर मनुष्य को साहस के साथ काम करना चाहिये और आत्म त्याग द्वारा उसपर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

'प्रेमचन्द की कहानी-कला की सफलता का बहुत बड़ा श्रेय कथोपकथन को है। चरित्र-चित्रण और कथावस्तु के विस्तार में इसका उपयोग किया गया है। उनकी प्रारम्भिक कहानियों में कथोपकथन की अस्वाभाविकता पायी जाती है, लेकिन बाद की कहानियों मे इसका रूप निखर गया है। प्रेमचन्द के कथोपकथन की पहली विशेषता यह है कि जहाँ-जहाँ कथोपकथन का व्यवहार किया गया है वहाँ पात्रों की स्थिति और सुरुचि का पूर्ण ख्याल रखा गया है। वर्गगत कथोपकथन इसकी विशेषता है। दूसरी बात यह है कि उसके व्यवहार मे सयम और नियत्रण से काम लिया गया है। आवश्यकतानुसार ही इसका उपयोग किया गया है। तीसरी बात यह है कि इनके कथोपकथन में सुसम्बद्धता पायी जाती है।' कथोपकथन का एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है जिसमें सुभद्रा का चरित्र मुखरित हो पाया है—

कुछ देर बाद लज्जा से सिर झुकाकर बोली—'केशव मुझे उस रूप मे देखकर बहुत हँसेंगे।'

सुभद्रा—'हँसेंगे नहीं, बलैया लेंगे, आँखे खुल जायँगी। तुम आज इसी रूप मे उनके पास जाना।'

युवती ने चकित होकर कहा—'सच! आप इसकी अनुमति देती हैं ?'

सुभद्रा ने कहा—'बड़े हर्ष से।'

'तुम्हें संदेह न होगा।'

'बिलकुल नहीं।'

'और जो मैं दो-चार दिन पहने रहूँ ?'

तुम दो-चार महीने पहने रहो। आखिर, यहाँ पड़े ही तो हैं।'

'तुम भी मेरे साथ चलो।'

'नहीं, मुझे अवकाश नहीं है।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि इसमें जो भी कथोपकथन दिए गए हैं वे अत्यन्त ही स्वाभाविक उतरे हैं।

अन्य गौण बातों में 'सोहाग का शव' में साधारण, अतीव स्वाभाविक भाषा तथा लोककथाओं की शैली का रस पाते हैं। इसकी भाषा पात्रों का प्रतिनिधित्व करती है। जीवन की स्वाभाविक गति की तरह इस कहानी की भाषा पात्रों के मनोविज्ञान के अनुकूल और स्थितियों की स्वाभाविकता के समस्त बोझ को सम्हालनेवाली है। इसी साधारण भाषा को लेकर प्रेमचन्दजी अपनी कहानी में पाठकों को उस रस की स्थिति तक ले जाते हैं, जहाँ पाठक सहज ही कहानी के पात्र के साथ सम्बन्ध स्थापित कर 'केशव' की स्थिति में सहसा डूब जाता है। इस कहानी में प्रेमचन्द की भाषा-शैलीगत सभी विशेषताएँ मिलती हैं। सरल, सुबोध एवं व्यावहारिक शब्द, छोटे-छोटे नपे-तुले भाव-व्यंजक वाक्य एव मुहावरों और कहावतों का यथास्थान प्रयोग इस कहानी में भी हमें यथेष्ट परिमाण में मिलते हैं। उदाहरणस्वरूप कुछ मुहावरे देखिये—दम लेना, जाल में फँसना, टपकते हुए दिल का मरहम रखे, कमरे में प्रकाश की लहरें-सी उठ गईं, जैसे बिच्छू ने काट लिया हो, धूल में मिला देगी, तमतमाया जा रहा था, ज्वाला-सी दहक रही थी, हवाइयाँ उड़ रही थीं आदि। कुछ कहावतें तो अत्यन्त ही कवित्वपूर्ण उतरे हैं, जैसे—'रोगी करवट बदलकर आराम का अनुभव करता है।' 'चौकीदार के सामने चोर को घर में घुसने का साहस नहीं होता।' इसमें 'मानों' शब्द का प्रयोग अधिक हुआ है और ग्रामीण शब्दों का प्रयोग अत्यन्त अल्प मात्रा में हुआ है। कुछ वाक्य सूक्तियों के रूप में भी उतरे हैं, जैसे—'क्षणिक मोह के आवेश में स्वभाग्य-निर्माण का

अच्छा अवसर त्याग देना मूर्खता है', 'विरक्ति हिंसा से भी अधिक हिंसात्मक होती है' आदि। कहीं-कहीं उनकी भाषा में व्यंग्य का पुट भी मिलता है। कहानी के आरम्भ में प्रकृति का सुन्दर चित्र मिलता है जो उनकी वर्णनात्मक शैली का सुन्दर उदाहरण है। घटना-व्यापार, भाषा-शैली, कथा-प्रवाह एवं चरित्र-चित्रण आदि सभी दृष्टियों से यह कहानी अत्यन्त रोचक तथा शिक्षा-प्रद है। कहानी-कला की दृष्टि से इसकी सफलता में कोई संदेह नहीं किया जा सकता है।

[घ] शब्दार्थ, व्याख्या और आशय

शब्दार्थ (पारा १, पृ० ४६)—निस्तब्धता = स्थिरता, शान्त वातावरण। लीन = तल्लीन, डूबा। मलिन = मैली, धुँधली। प्रकाश = रोशनी। आर्द्र = ऊँची। पर्वत-मालाएँ = पहाड़ी की श्रेणियाँ। अनन्त = जिसका अंत नहीं। अनन्त के स्वप्न = ईश्वरीय स्वप्न, अन्तहीन स्वप्न। रहस्यमयी = रहस्यपूर्ण। मनोहर = सुन्दर, मन को हरनेवाली। जल-धारा = जल का प्रवाह। रौप्य रेखा = चाँदी के सदृश उजली रेखा। समस्त = सम्पूर्ण, पूरा। सम्पन्न = भरा-पूरा, सुखी। मनस्विता = मानवीयता। सँवारे हुए = सजाये हुए। सिद्धान्तों = आदर्शों। आडम्बरों = बाहरी बनाव-श्रृंगार।

सामने चन्द्रमा के मलिन ······प्रवाह में लीन हो गया हो।

[पारा १, पृ० ४६]

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियाँ प्रेमचन्द-लिखित 'सोहाग का शव' शीर्षक कहानी से ली गई हैं। इनमें कहानीकार ने मध्यप्रदेश के एक ग्राम के प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्र अंकित किया है। मध्यप्रदेश का एक पहाडी गाँव है। वहाँ एक छोट-सा घर है जिसकी छत पर एक युवक साध्यकालीन शान्त वातावरण में अपने-आपको खो वैठा है। जिस स्थान पर वह वैठा है ठीक उसके सामने ऊँची पर्वत-श्रेणियाँ हैं और चन्द्रमा के धूमिल प्रकाश में वे (पर्वत-श्रेणियाँ) अन्तहीन (ईश्वरीय) स्वप्न के समान अत्यन्त गम्भीर, रहस्यपूर्ण, संगीतमय एवं सुन्दर मालूम पड़ती हैं। उन पर्वत-श्रेणियों के नीचे एक जलधारा प्रवाहित

हो रही है और उस (जलधारा) की चाँदी के समान उज्ज्वल रेखा ऐसी मालूम पड़ती है मानों उन पर्वत-श्रेणियों की सम्पूर्ण संगीतात्मकता, गम्भीरता एवं रहस्यात्मकता इसी जल-धारा के प्रवाह में जाकर विलीन हो गयी है।

या तो वह सिद्धांतों का..... .. आडम्बरों का शत्रु।

[पारा १, पृ० ४६]

आशय—प्रस्तुत पंक्ति में प्रेमचन्दजी ने मध्यप्रदेश के एक ग्रामीण युवक की चारित्रिक विशेषता पर आलोकपात किया है। वह एक पहाड़ी का युवक है जो धन-दौलत से सम्पन्न नहीं है, परन्तु उसके मुख पर दिव्य आभा है और मानवीयता भी। उसके बाहरी रूप-रंग को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसपर शहरी जीवन का प्रभाव नहीं पड़ा है, परन्तु उसकी सादगी को देखकर कहानीकार अनुमान करता हुआ यह बतलाता है कि वह बाहरी तड़क-भड़क से बहुत दूर है, उससे उसे घृणा है या वह आदर्श का प्रेमी है जिसपर वह अपने प्राणों की भी बाजी लगा सकता है।

शब्दार्थ (पारा २-३; पृष्ठ ४६)—मौन = चुपचाप। सहसा = एकाएक। ध्वनि = आवाज। भीषण नाद = भयकर ध्वनि। संग्राम = युद्ध। वैर निभाना था = शत्रुता करनी थी।

शब्दार्थ (पारा ४, ५, ६; पृष्ठ ४७)—निश्चय कर लिया है = फैसला कर लिया है। तुम्हारी खातिर से हामी भर ली थी = तुम्हारे कहने से मान लिया था। कातर स्वर = करुणापूर्ण स्वर। जीवन-पर्यन्त = जीवन भर। बाधा = मुसीबत। आँसुओं का आवेश उसके काबू से बाहर हो गया = युवती वेदना-बोझिल हो जाने के कारण आँसू को न रोक सकी, आँसू बाहर ही निकल पड़ा। नवीन युग के नये-नये वैवाहिक और सामाजिक क्रान्तियों ने उसे लेशमात्र भी विचलित न किया था = कहने का तात्पर्य्य यह है कि आधुनिक युग में विवाह-सम्बन्धी आदर्श बदल गए, पुराने आदर्श टूट गए, उससे अनेक व्यक्तियों के जीवन में उलट-फेर हुए, परन्तु उन क्रान्तियों ने उसपर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल पाया है। प्रगाढ़ = अत्यन्त। कदाचित् = शायद। वृद्धजनों =

बूढ़े लोगों । कट जाते थे = बीत जाते थे । निर्दय = निष्ठुर, कठोर । आड़ में कर लेती = छिपा लेती ।

केशव छुट्टियों में यहाँ पहली……आड़ में न कर लेती ।

[पारा ६, पृष्ठ ४७]

व्याख्या—प्रस्तुत गद्य-सदर्भ में कहानीकार प्रेमचन्द ने केशव क नव-वैवाहिक जीवन पर आलोकपात किया है। केशव एक शिक्षित युवक है, उसने एम० ए० की डिग्री ली है। शहरों में रहने का अवसर मिला है, इसलिए वह आधुनिक युग का शिक्षित युवक है और उसका विवाह रूढ़िग्रस्त प्रथाओं के अनुसार हुआ है तथा उसी प्रथानुसार दोनों के बीच दाम्पत्य-प्रेम प्रस्फुटित होकर विकसित हुआ है। उसपर आधुनिक युग की वैवाहिक एवं सामाजिक क्रान्तियों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा है। वह एक प्रोफेसर है और छुट्टियों के दिनों मे वह पहली गाड़ी से घर आता है तथा आखिरी गाड़ी से नौकरी पर लौट जाता है। यह उसके सच्चे दाम्पत्य-प्रेम का सूचक है, दोनों एक दूसरे से अलग नहीं होना चाहते हैं। छुट्टियों में उन दोनों के कुछ दिन सुनहले स्वप्न के समान व्यतीत होते हैं, परन्तु विदाई के अवसर पर दोनों बच्चों के समान रो-रोकर अलग होते हैं। विदा करने के बाद वह उस समय तक कोठे पर से देखती रहती है, जबतक गाड़ी पहाड़ियों की ओट में नहीं छिप जाती।

शब्दार्थ (पारा ७, पृष्ठ ४७ से ४६)—वृत्ति = स्कालरसिप (Scholarsip), छात्रवृत्ति। स्वभाग्य-निर्माण = अपने भाग्य बनाने। दुविधा = द्वन्द्व, उधेड़बुन, Dilemma। उच्चाकाक्षाओं = ऊँची अभिलाषाओं। इन्द्रासन = इन्द्र का सिंहासन। उपासक = पूजा करनेवाला। महत्त्वाकाक्षा = महत्त्वपूर्ण अभिलाषा। उपास्य = आराध्यदेव। पुष्प = फूल। कौपीन = लँगोटी, चीर। पीताम्बर = रेशमी वस्त्र जो पूजा-पाठ के समय धारण किया जाता है। लालसा = इच्छा। दम न लिया = चैन न लिया। सहमत हो गए = मान गए। समीपस्थ = समीप में बसे हुए। पदार्पण = आना। प्रेम-कातर = प्रेम से विह्वल। आवेश = जोश, उमग। विकल = व्यग्र। कल्प =

काल का एक विभाग जिसमें चौदह मन्वन्तर यानी ४३२०००००० वर्ष होते हैं। सत्संग = संगति। धंधा = काम। स्मृतियाँ = यादगारी। आधार = सहारा। विभूतियाँ = ऐश्वर्य। तपस्या = तप।

किन्तु सुभद्रा की उच्चाकांक्षाओं लालसा उसे कभी नहीं सताती।

[पारा ७, पृष्ठ ४७-८)

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियाँ 'सोहाग का शव' शीर्षक कहानी से उद्धृत की गई हैं। इनमें भारतीय जनता के एकमात्र कहानीकार प्रेमचन्द ने नारी के पातिव्रत्य धर्म पर प्रकाश डालते हुए यह बतलाया है कि भारतीय ललनाएँ पति-सेवा को ही सबसे बड़ा धर्म मानती हैं। उनका एकमात्र कर्त्तव्य है पति की सेवा और उन्हे प्रसन्न रखने के लिए अपनी इच्छाओं का दमन। केशव एक प्रोफेसर था, उसे सरकार ने विदेश जाकर शिक्षा प्राप्त करने के लिए छात्रवृत्ति दी जिसे सुनकर उसके मित्र अत्यन्त प्रसन्न थे, परन्तु उसके परिवार-वाले एवं वह स्वयं प्रसन्न न था। वह प्रसन्न इसलिए नहीं था कि उसके विवाह हुए एक वर्ष भी नहीं बीता था। वह अपनी पत्नी से विलग नहीं होना चाहता था। वह छात्रवृत्ति पाकर उधेड़-बुन में पड़ गया था, परन्तु उसकी नव-विवाहिता पत्नी सुभद्रा अपने पति को ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित देखना चाहती थी। उसके हृदय में बड़ी-बड़ी आकांक्षाएँ थीं। छात्रवृत्ति के बल पर विदेश की शिक्षा प्राप्त कर लौटने पर केशव को सफलता-ही-सफलता मिलती और इससे उसका जीवन सुखी होता। इसी असीम सुख की आशा में वह कुछ वर्षों की विरहाग्नि में जलना श्रेयस्कर मानती थी। भारत की प्रत्येक नारी अपने पति को ऊँचे आसन पर बैठे देखना चाहती है। ठीक उसी प्रकार सुभद्रा भी अपने पति को इन्द्रासन पर आसीन देखना चाहती थी। उसके हृदय मे यह भावना उठती कि जब उसके पति विदेश से शिक्षा प्राप्त कर स्वदेश वापस आयेंगे तब उनकी प्रतिष्ठा में चार चाँद लग जायेंगे. समाज में उन्हे गौरवमय पद प्राप्त होगा; परन्तु उस समय भी उसकी पति-सेवा की भावना वही रहेगी, जो आज है। जिस प्रकार आज वह उनकी सेवा करती है उसी प्रकार स्वदेश लौटने पर पति की सेवा करती रहेगी। सुभद्रा के हृदय में जो महत्त्वाकांक्षा है वह सिर्फ अपने

पति के लिए ही। जिस प्रकार मन्दिर का पुजारी अपने देवता को सोने के मन्दिर में प्रतिष्ठित करने को उद्यत रहता है, रत्नजटित सिंहासन पर सजाना चाहता है और स्वर्ग से फूल लाकर उसके चरणों पर न्योछावर करना चाहता है, उसी प्रकार अपने पति को भी वह सफलता के उस सिंहासन पर प्रतिष्ठित देखना चाहती है जहाँ जल्दी कोई पहुँच न सके। जिस प्रकार सच्चा पुजारी देवता को अपने लिए सजाता-सँवारता नहीं है उसी प्रकार सुभद्रा भी अपने लिए कुछ भी नहीं चाहती है, क्योंकि वह भारतीय ललनाओं का एक प्रतीक है। वह अपने बनाव-शृंगार में परिवर्तन नहीं चाहती है। उसकी महत्त्वाकांक्षा अपने प्रति नहीं, बल्कि अपने पति के प्रति थी।

यही स्मृतियाँ ही मेरे जीवन का · बिना तो वरदान नहीं मिलता।

[पारा ७, पृष्ठ ४६]

व्याख्या—प्रस्तुत सदर्भ में प्रेमचन्द ने भारतीय ललनाओं की सहनशीलता एव त्याग पर प्रकाश डालते हुए सुभद्रा के चरित्र पर दृष्टिपात किया है। आज सुभद्रा का पति केशव उससे विदा हो रहा है। कुछ ही समय के पश्चात् उसे वियोग की घड़ियाँ बितानी पड़ेगी—इसकी कल्पना कर वह व्यग्र हो उठती और अपने हृदय की व्यथा को केशव के समक्ष व्यक्त करती है कि उसके पति को तो मार्ग में अनेक नए-नए मनोरजक दृश्य अवलोकन करने का अवकाश मिलेगा जिसे देखकर उन्हे अपने घर की याद नहीं आयेगी। यूरोप में उन्हे प्रकाण्ड विद्वानों की सगति मिलेगी जिसके फलस्वरूप घर का वियोग उन्हे नहीं सतावेगा। परन्तु उसके (सुभद्रा के) वियोग की घड़ियो को व्यतीत करने का कोई भी साधन नहीं रह पायेगा, वह तो उन्हीं बीती बातो को याद कर अपने पति के लिए जीवित रहेगी। वह सासारिक सुख को प्राप्त करना चाहती है, इसलिए वह इस वियोग को सह लेगी। सच तो यह है कि जिस वियोग मे ऐश्वर्य, गौरव आदि की प्राप्ति होने की संभावना है, वह वस्तुतः वियोग नहीं है, बल्कि एक तपस्या है। इसी तपस्या से वरदान मिलता है।

शब्दार्थ (पारा ८-९-१०, पृष्ठ ४६-५०)— क्षणिक = क्षणभगुर। अवसर=मौका। सजल नेत्रों = अश्रु पूर्ण आँखों। विलायती मित्रो के जाल में न

फँस जाना = इङ्गलैण्ड की कुमारियों के प्रेम-जाल में नहीं फँस जाना। दिल्लगी = मजाक। इन्द्रलोक की अप्सरा = स्वर्गीय रमणी। घुली जाती हो = गली जाती हो। दाना-पानी = खाना-पीना। चरण छुए = पाँव छूकर प्रणाम किया। सिसकियाँ भर रही थी = सिसक-सिसककर रो रही थी।

[२]

शब्दार्थ (पारा १ से ३, पृष्ठ ५०)—गुजरने लगे = व्यतीत होने लगे। वला = विपत्ति, विकट। मैके गई = नैहर गई। प्रतिकूल = उलटा। विरह-व्यथा = विरह के दुःख। व्यर्थ = वेकार। विलम्ब = देर। वे-दिली = हृदयहीनता के साथ। टपकते हुए = टीसते हुए। दिल का मरहम रखे = हृदय को शान्ति प्रदान करे। अधीर = व्यग्र, धैर्यहीन। आँख भरकर = अच्छी तरह। कामिनी = स्त्री।

दिन गुजरने लगे, उसी तरह जैसे ” आराम का अनुभव करता है।
[पारा १, पृष्ठ ५०]

व्याख्या—प्रस्तुत अवतरण में प्रेमचन्दजी ने विरह-विदग्धा सुभद्रा की हृदयस्पर्शी दशा का मार्मिक चित्र अंकित किया है। केशव विदेश चला गया है और उसके जाने के पश्चात् सुभद्रा विरहाग्नि में जलने लग जाती है। उसके वियोग की घड़ियाँ कष्ट में व्यतीत होने लगीं। इसमें कहानीकार ने सुभद्रा की एक रोगी से तुलना की है। जिस प्रकार एक रोगी के लिए दिन पहाड़ के समान और रात घोर विपत्ति के समान होती है, वह दिन में संध्या और रात्रि में सुबह होने की प्रतीक्षा करता रहता है, उसी प्रकार सुभद्रा के कष्टमय जीवन व्यतीत होने लगे। अपने पति के वियोग में उसे न दिन में शान्ति है और न रात में नींद। विरह-विदग्धा सुभद्रा के जीवन की शान्ति दूर भाग गई। जिस प्रकार एक रोगी करवटें बदलकर आराम का अनुभव करता है उसी प्रकार सुभद्रा भी कभी नैहर और कभी ससुराल में रहकर जी बहलाना चाहती, परन्तु इससे उसे शान्ति नहीं मिलती। वह किसी प्रकार समय काट लेती थी।

शब्दार्थ (पारा ४-५, पृष्ठ ५०)—प्रस्ताव = Proposal । शंका = संदेह । हठ = जिद्द । राजी हो गए = मान गए । हार गए = थक गए । समाचार = खबर । आश्वासन = सान्त्वना ।

[३]

शब्दार्थ (पारा १, पृष्ठ ५१-२)—समृद्धि = सम्पन्नता । दरिद्रता का राज्य है = गरीबी का बोलवाला है । संग छूट गया = साथ छूट गया । जीविका = रोजी । अधिकारियों = अफसरों । घरानों = वंशों । शेष समय में = बचे समय में । आतुर = व्यग्र, बेचैन । वादा = प्रण । नशा-सा = उन्माद-सा । स्पर्श = छूना ।

शब्दार्थ (पारा २, पृष्ठ ५२-३)—रोंधी आँखों = जिन आँखों में रोहा नामक रोग हो गया है । ज्योतिहीन = प्रकाशहीन । आमोद = मनोरंजन । सम्पन्न = सुखी । एकाग्र = लीन । मौन = शान्त । जी-जान = पूरे उमंग । प्राण-शून्य = निर्जीव ।

एक हम हैं कि न हँसते हैं···· जाति प्राण-शून्य हो गई है ।

[पारा २, पृष्ठ ५२-३]

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियाँ प्रेमचन्द-लिखित 'सोहाग का शव' शीर्षक कहानी से ली गई हैं । प्रेमचन्द भारतीय जनता के कथाकार हैं । इसीलिए वे हमेशा भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रबल समर्थक रहे हैं, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे रूढ़िवादी थे । उनका हृदय उदार रहा है, इसलिए वे पाश्चात्य सभ्यता के गुणों को अपनाने में पीछे नहीं रहे हैं । वे गुणों का संचय अच्छी तरह करना जानते थे, इसलिए उन्होंने उन गुणों को सुभद्रा के मुख से कहलवाया है । ये पंक्तियाँ इसके सबसे बड़े सबूत हैं ।

प्रत्येक वर्ष अनेक व्यक्ति इंगलैण्ड जाते हैं, परन्तु वे वहाँ के निवासियों के गुणों को ग्रहण न कर अवगुणों को ही अपनाते हैं—इसी की ओर कहानीकार ने संकेत किया है । इस संदर्भ में प्रेमचन्द ने भारतीयों और अंग्रेजों के कार्य-सम्पादन का तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित किया है । संध्या समय सुभद्रा इंगलैण्ड के निवासियों को सैर करते देखती है और उनकी कार्य-तत्परता एवं स्फूर्ति देखकर अत्यन्त प्रसन्न होती है । वे लोग प्रत्येक कार्य को एकाग्रचित्त

से करते हैं। वे यत्र के सदृश कार्य-सम्पादन नहीं करते हैं, प्रत्युत कार्य के साथ साथ वे आमोद-प्रमोद, खेल-कूद में भी मनोयोगपूर्वक हाथ बँटाते हैं। परन्तु भारतीयों की दशा ठीक इसके विपरीत है। यहाँ के लोगों के चेहरे पर न हास्य होता है और न रुदन ही। वे चुपचाप रहते हैं. जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें कोई उमंग है ही नहीं। यों तो कहने के लिए भारतीयों को कामों से छुट्टी नहीं मिलती हैं, परन्तु बात बिलकुल उलटी है। वे अपने समय का चौथाई ग्रश भी काम करने में नहीं लगाते हैं, वे सिर्फ काम करने का ढोंग रचते हैं। अतएव ऐसा मालूम पड़ता है कि भारतीयों का जीवन निर्जीव हो गया है।

शब्दार्थ (पृ० ५३)—प्रवल = वहुत। अपराध = कसूर। पहनावा = वेप-भूपा। कहाँ अदृश्य हो गए = आँखों से कहाँ ओझल हो गए। वस पर = किराये की मोटर पर। सचेष्ट = प्रयत्नशील, सचेत। भ्रान्ति = भ्रम। ख्याल = विचार। विश्राम = आराम। गृह-स्वामिनी = घर की मालकिन।

[४]

शब्दार्थ (पृ० ५४)—स्थूल = मोटा। वाणी = वोली। अपनी ओर खींच लेती थी = अपनी ओर आकृष्ट कर लेती थी। मधुर = मीठा। संयमित = नियत्रित। एक-एक अंग-प्रत्यग से = पूरे शरीर से। विकीर्ण हो रही थी = निकल रही थी। तुच्छ = हेय, मामूली।

शब्दार्थ (पृ० ५५)—प्रमाण = सबूत। सीविंग मशीन = कपड़े सीने की मशीन। लेडियों = औरतों। भापा = साहित्य। शेप=वचे। वस्त्राभूषण = वस्त्र और आभूपण। वैदिक रीति = वह रीति जिसके अनुसार हिन्दुओं में विवाह होता है। तिथि = तारीख। उतावले = व्यग्र। सकुचाते हुए = लजाते हुए। विघ्न = वाधा। पुरस्कार = इनाम। कमरों में प्रकाश की लहरें-सी उठ गई = युवती के खिलखिलाकर हँसने से सारा कमरा गूँज उठा। कृतज्ञ होंगे = एहसानमंद होंगे। प्रतिज्ञा = वादा, प्रण। प्रेम की वेड़िय

कितनी आनन्दमयी होती हैं=दो प्रेमियों के बीच विवाह का बधन अत्यन्त आनन्ददायक होता है।

शब्दार्थ (पृ० ५६)—जैसे बिच्छू ने काट लिया हो=सदमा। आदर=इज्जत। लावण्य=सौन्दर्य। सौभाग्य=अच्छा भाग्य। फूट-फूटकर रोने लगी=बहुत जोर से रोने लगी। निःसहाय=बे-सहारा। दुर्बल=कमजोर।

शब्दार्थ (पृ० ५७)—ज्ञानेन्द्रियाँ=ज्ञान प्राप्त करनेवाले अग। आग्रह=अनुरोध। सर्वनाश=अच्छी तरह नष्ट करना। प्रेमातुर=प्रेम से व्याकुल। सहज मूर्ति=स्वाभाविक मूर्ति। सिर धमकना=सर में दर्द होना। प्राणाधार=प्राणों का आधार। जीवनधन=पति के अर्थ में। सर्वस्व=सब-कुछ। वशीभूत कर लिया है=अपने अधिकार में कर लिया है। वाक्पटुता=बोलने में कुशलता। यौवन-मतवाली=जवानी के उन्माद में मस्त। छोकरी=लडकी। ईर्ष्या=द्वेष। सुध=होश। उन्माद की-सी दशा=पागलपन की-सी दशा। तीव्र=तेज। ज्वाला=आग। निष्ठुर=कठोर। आघात=चोट। प्रतीकार=बदला। विकल=व्यग्र, बेचैन।

उसकी सारी ज्ञानेन्द्रियाँ ... भक्ति का पुरस्कार है। (पृ० ५६-७)

व्याख्या—प्रस्तुत पक्तियों में प्रेमचन्द ने सुभद्रा की निस्सहाय दशा का अत्यन्त ही मर्मस्पर्शी चित्र अकित किया है। सुभद्रा अपने पति केशव के गुणों का वर्णन उस युवती के मुख से सुनकर आश्चर्यचकित हो उठी। यह ठीक है कि उस युवती का रूप-सौन्दर्य सुभद्रा के सामने तुच्छ है, परन्तु फिर भी केशव उसकी ओर आकृष्ट है। उस युवती के चले जाने के पश्चात् सुभद्रा फूट-फूटकर रोने लगी। उस समय सुभद्रा की दशा का वर्णन करते हुए प्रेमचन्द कहते हैं कि उस युवती की बातों को सुनने के बाद सुभद्रा पीली पड़ गई और चेतनाहीन हो गई थी। वह अपने-आपको निस्सहाय पा रही थी। वह काफी कमजोर हो गई थी जिसका अनुभव उसने उसी दिन किया। उस समय वह ऐसे सागर में डूब रही थी जहाँ उसे कोई बचानेवाला नहीं था। जब उसका पति ही उससे छिना जा रहा है तो उसके लिए इस ससार में अब अपना कहने योग्य कोई व्यक्ति न रहा। अब तो उसके जीवन में रोना-ही-रोना है, उसे

सुख कहाँ नसीब है। उस समय वह ऐसी मालूम पड़ती थी, मानों उसकी समस्त ज्ञानेद्रियाँ कार्य करने में लाचार हो गई हैं, वेकाम हो गई हैं। जिस प्रकार एक वृक्ष के ऊँचे शिखर से गिर पड़ने के पश्चात् उसके अंग-प्रत्यंग टूट जाते हैं और कार्य करने की क्षमता उसमें नहीं रह पाती है, ठीक उसी प्रकार सुभद्रा की ज्ञानेन्द्रियाँ कार्य करने में बिलकुल असमर्थ हो गई थीं। कहानीकार दुःख प्रकट करते हुए कहता है कि सुभद्रा के प्रेम और भक्ति का यही दण्ड था।

शब्दार्थ (पृ० ५८)—मनोमालिन्य = मन की मलिनता। अंतस्थल = हृदय। अणु = कण। प्रविष्ट हो गई = घुस गई। उत्सर्ग = वलिदान। प्रवृत्त = लगा। भण्डाफोड़ करके = छिपी बातों को कहकर। मसूबों = इरादों। धूल में मिला देना = अंत कर देना। कलई = भेद। पांडित्य = काबलियत। प्रतिष्ठा = इज्जत। कच्चा चिट्ठा बयान कर दूँगी = सच्ची बात कह दूँगी।

और आज जब वह बीज... बिना वृक्ष उखड़ जायेगा ? [पृ० ५८]

व्याख्या—प्रस्तुत संदर्भ 'सोहाग का शव' शीर्षक कहानी से लिया गया है। इसमें कहानीकार प्रेमचन्द ने सुभद्रा के हृदय में उठनेवाली भावनाओं का एक सजीव चित्र अंकित कर दिया है। सुभद्रा उस युवती की बातों से जब यह जानकारी हासिल कर चुकी थी कि केशव उससे विवाह करने जा रहा है, तब उसका हृदय क्रोध से जल उठा था। अपने पति के इस निष्ठुर व्यवहार को सोचकर वह व्यग्र हो उठती और उससे बदला लेने की बात सोचती। उन दोनों के बीच कभी कोई ऐसी बात भी नहीं हुई कि जिसका उसे दुःख होता। उसे केशव का ऐसा व्यवहार एक हत्यारे के सदृश मालूम होता था जो हँस-हँसकर प्राण ले लेता है। दोनों के बीच सिर्फ विवाह ही नहीं हुआ था; वरन् उन दोनों के बीच प्रेम-वृक्ष भी उत्पन्न हो चुका था। केशव के द्वारा प्रेमरूपी वृक्ष का बीजारोपण हुआ और सुभद्रा ने उस वृक्ष को अपने रक्त से सींचकर, पाल-पोसकर पल्लवित एवं पुष्पित होने के लायक बना दिया, अब वह (केशव) उस वृक्ष को

सर्वदा के लिए नष्ट कर देना चाह रहा था ; परन्तु सुभद्रा के हृदय, जहाँ वृक्ष लग चुका है, के चकनाचूर हुए विना प्रेम-वृक्ष का उखड़ना असम्भव था।

[५]

शब्दार्थ (पृष्ठ ५६)—हिंसक = हिंसा करनेवाला। धूर्त = चालाक। सर्वस्व = सब-कुछ। अर्पण कर दिया = वलिदान कर दिया। छल सकते हो = इस प्रकार धोखा दे सकते हो। अभिमान = घमण्ड। अपमान = वेइज्जती। संदेह = शक। आहट = आवाज। कपट = धोखा। थीसिस = मौलिक प्रबन्ध। छानना पड़ेगा = खोजना पड़ेगा। अनिवार्य = जरूरी।

शब्दार्थ (पृष्ठ ६०-६१)—सकोच के आवरण = लज्जारूपी पर्दा। मुख-ज्योति = मुँह की आभा। मलिन = मैला। अटक-अटककर = रुक-रुककर। परास्त = हार। घृणा-सूचक नेत्रों से = जिन आँखों से नफरत का भाव झलकता हो। इनकार = अस्वीकार। मेरी आत्मा पुष्प की भाँति खिली जा रही है = जिस प्रकार फूल धीरे-धीरे खिलता है उसी प्रकार मेरी आत्मा भी धीरे-धीरे आनन्द से गद्‌गद हो रही है। प्रत्यक्ष = सामने। यथार्थ में = वास्तव में। अर्द्धशिक्षित = जो पूर्णरूप से शिक्षित नहीं हैं। उदारचेता = उदार हृदयवाला। दुत्कार देना = फटकारना। तत्परता से = जल्दी से। भरण-पोषण = लालन-पालन। प्रवन्ध = इंतजाम। विच्छेद = अलग, टूटना। स्वाधीन = आजाद। सहमत = मानता।

[६]

शब्दार्थ (पृष्ठ ६२-३)—समस्या = प्रश्न। ज्वाला-सी दहक रही थी = आग लग गई थी। आघात = चोट। आकस्मिक = अचानक। मूर्च्छित = बेहोश। प्रतीकार = बदला। विपरीत = उलटा। अक्षम्य = जो क्षमा करने के योग्य न हो। चैन की वशी वजाये = सुख की नींद लेना। निष्ठुरता = कठोरता। आत्मरक्षा = अपना बचाव। प्रेम-प्रदर्शन = प्रेम का प्रकटीकरण। प्रवंचना = धोखा। स्वाँग = नाटक। सकल्प = प्रण। अधम = नीच।

इस अंतिम कल्पना से ···प्यासी हो जाती है। [पृष्ठ ६३]

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों मे कहानीकार ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि केशव उस युवती से विवाह कर रहा है जिससे सुभद्रा के नारी-हृदय को ठेस लगती है। इस चोट से उसमें प्रतीकार की भावना उद्भूत होती है और वह उत्तेजित हो उठती है—इसीका अत्यन्त स्वाभाविक चित्र इसमें अंकित हो पाया है। युवती की बातों से सुभद्रा को यह मालूम हो जाता है कि केशव उसे एक अर्द्धशिक्षित समझकर त्याग देना चाहता है और उसके भरण-पोषण के लिए उसकी इच्छा के अनुसार प्रबन्ध कर देने को तैयार है। इसी बात को सुनकर सुभद्रा का हृदय प्रतीकार लेने को उद्यत हो उठता है। एक समय था कि सुभद्रा केशव के लिए अपने प्राणों का कोई मूल्य नहीं समझती थी, परन्तु आज वही केशव उसे पैरों से ठुकरा रहा है, उसका सब नष्ट करने को तत्पर है। अपने पति केशव के इस निष्ठुर निर्णय से सुभद्रा का हृदय विद्रोही बन गया और वह उसके जीवन का अंत करने की बात सोचने लगी। इस स्थल पर आदर्शवादी कथाकार प्रेमचन्द ने यह बतलाया है कि यों तो नारी कोमलता का प्रतीक है, परन्तु जब उसके सतीत्व का अपहरण होने लगता है तो वह अपने प्राणों की बाजी तक लगा देती है। जब उसे पुरुष से नफरत होने लगती है तो वह उसके खून की प्यासी हो जाती है। ठीक यही परिस्थिति सुभद्रा की है। केशव ने उसे सिर्फ वासना का एक पुतला समझा था, प्रेम का पात्र नहीं; इसलिए सुभद्रा आज उसके खून की प्यासी बन गई।

शब्दार्थ (पृ० ६३-४)—उच्छ्वसित = उच्छ्वास से पूर्ण। अंतस्तल = हृदय, अंत.करण। अपार = अत्यधिक। अनुराग = प्रेम। असीम = जिसकी कोई सीमा नहीं। जीवन-प्रभात = जीवनरूपी प्रभात, जीवन की आरम्भिक अवस्था। उदय हो रहा हो = आगमन हो रहा हो। सुखद = सुखदायी। उषा-स्वप्न = उषा के स्वप्न। निःस्पंद = जिसमें स्पन्दन नहीं है। निश्चल = जो चल नहीं सकती है। अपरिचित = अनजान। हिंसा-कल्पना = हिंसा से पूर्ण विचार। विरक्ति हिंसा से भी अधिक हिंसात्मक होती है = उपेक्षा-भाव में हिंसा से भी अधिक क्रूरता निहित रहती है। महत्त्व =

ममता। दावत = भोज। पाषाण-मूर्त्ति = पत्थर की मूर्त्ति। परिचित = जानी-पहचानी। सन्नाटा = शान्ति।

विरक्ति हिंसा से भी······किसका अधिकार होता है। (पृ० ६४)

व्याख्या—उपेक्षा-भाव में हिंसा से भी अधिक क्रूरता निहित रहती है, इसी सत्य को प्रेमचन्द ने इन पंक्तियों में सिद्ध करने का प्रयास किया है। केशव के निष्ठुर व्यवहार की कल्पना कर सुभद्रा में प्रतीकार की भावना उठी थी और उसके जीवन को अंत कर देने के उद्देश्य से ही वह आर्य मन्दिर में गई थी जहाँ उसके विवाह का संस्कार हो रहा था। वहाँ पहुँचकर वह एक खम्मे की आड़ से केशव को देख रही थी, परन्तु आज के केशव और तीन वर्ष पहले के केशव में काफी वैषम्य था। उसे ऐसा प्रतीत होने लगा कि यह उसी रूप और उसी नाम का कोई दूसरा मनुष्य है। आज के केशव में हृदय को आकृष्ट करनेवाली कोई शक्ति नहीं थी, इसीलिए सुभद्रा को ऐसा प्रतीत होता था कि वहाँ पर बैठे हुए युवकों में और उसमें कोई अंतर नहीं है। उसके हृदय में ईर्ष्या की अग्नि जल रही थी, पर वह अब शान्त हो गई। केशव पहले उसके जीवन का सर्वस्व था, परन्तु जब उसने केशव के दूसरे विवाह की बात सुनी तब उसमें प्रतीकार की भावना साकार हो उठी। बदला लेने के उद्देश्य से ही वह आयी भी थी, परन्तु आज वही केशव उसे एक अपरिचित व्यक्ति-सा लग रहा था जिसके फलस्वरूप सुभद्रा को उससे विरक्ति हो गई थी। सच तो यह है कि विरक्ति में हिंसा से भी बढ़कर क्रूरता रहती है। सुभद्रा के हिंसात्मक विचारों का मूल कारण उसकी ममता थी, परन्तु अब उपेक्षा-भाव के फलस्वरूप उसकी ममता खतम हो गई। उसके हृदय में केशव के लिए किसी भी प्रकार का मोह नहीं रहा, अब वही उसके लिए पराया हो गया।

शब्दार्थ (पृ० ६५-६६ और ६७)—एकाग्र-चित्त = मन लगाकर। किसी कवि की कोमल कल्पना मूर्तिमयी हो गई हो = अमुक कवि की कोमल कल्पना मूर्ति के रूप मे प्रकट हुई हो। अनिंद्य = निर्दोष, अनिन्दनीय। प्रदर्शित हो रही थी = प्रकट हो रही थी। छवि = सुन्दरता। नौबत = मौका। छल्ला = अँगुली में पहनने के लिए सादी अँगूठी, कड़ा। आकांक्षा = इच्छा। अनुमति=

आशा। हर्ष = प्रसन्न। अवकाश = समय। द्वेष = डाह। करीना = क्रम, व्यवहार। विदुषी = पढ़ी-लिखी।

शब्दार्थ (पृ० ६६)—हवाइयाँ उड़ रही थीं = बुरी हालत थी। पथभ्रष्ट-सा = मार्ग-से च्युत व्यक्ति के समान। अंकित कर लिए थे = लिख लिये थे। गुमान = अनुमान, अन्दाजा। साक्षात् = सामने। आपदाओं = मुसीबतों। गर्वयुक्त = अभिमान के साथ। उपेक्षा = तिरस्कार। तीव्र आघात = तेज चोट। परास्त = हार। अप्रतिभ = स्फूर्ति-रहित, निर्लज्ज। निर्वाह करती है = व्यतीत करती है। रूठे हुए हैं = नाराज हैं। झल्लाते = खीझ उठते। पुरुष-प्रकृति = पुरुषों का स्वभाव। हामी भरी = स्वीकृति की सूचना दी। लौंडी = दासी, सेविका।

विवाह का सबसे ऊँचा ... नहीं कह सकती। [पृ० ६६-७०]

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियाँ उस स्थल का निर्देश करती हैं जब सुभद्रा ने अपने सारे आभूषण उस युवती को पहना दिये थे और केशव उसके घर के बाहर खड़ा था। सुभद्रा के कहने पर उस युवती ने केशव को बुला लिया था। सुभद्रा को देखकर केशव के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। वह स्फूर्ति-रहित होकर कुर्सी पर बैठ गया। पर युवती की बातों से केशव को कुछ सहारा मिल गया, वह सुभद्रा से विवाह पर वाद-विवाद करने लग गया। सुभद्रा ने पुरुष के स्वभाव पर एक संदेह प्रकट किया था, परन्तु युवती ने यह आश्वासन दिया कि उसके केशव इस कोटि के पुरुषों में नहीं गिने जा सकते हैं। इसी पर केशव ने विवाह को एक प्रकार का समझौता बतलाया और कहा कि दोनों पक्षों को अधिकार है, जब चाहें, उसे तोड़ दें। परन्तु जब सुभद्रा उस समझौते के तोड़ने का कारण जानना चाहती है, तब केशव भावावेश में एक कमजोर दलील पेश करता है कि जब मनुष्य को इसका अनुभव हो जाय कि वह इस बंधन से मुक्त होकर अधिक सुखी हो सकता है तो यही कारण है। इसपर माँफी माँगती हुई सुभद्रा कह उठती है कि आदर्श समझौता वही कहा जा सकता है जो आजीवन रहे—यह सिर्फ भारतवर्ष के लिए ही नहीं, वरन् इंगलैण्ड के लिए भी सत्य है। इंगलैण्ड की स्त्रियाँ भी तलाकों

को पसन्द नहीं करती है, क्योंकि इससे उनका जीवन भार बन गया है। नारी के समक्ष विवाह का सबसे ऊँचा लक्ष्य है—उनकी पवित्रता। उनकी पवित्रता उसी समय तक बनी रहती है जबतक उनका मन चंचल नहीं रहता है। सदियों से इस आदर्श को नारियों ने निबाहा है, लेकिन पुरुषों ने हमेशा इसे तोड़ा है। पुरुषों ने हमेशा स्त्रियों पर अत्याचार किया है, इसका साक्षी इतिहास है। उनका अत्याचार, अनाचार कबतक चलता रहेगा—यह कहना असंभव है।

शब्दार्थ (पृ० ७०-७१)—संयत = नियंत्रित। विवाद = बहस। आश्वासन = दिलासा, सान्त्वना, निवृत्ति। कदाचित् = शायद। जाग्रत् = जगा हुआ। अधीर हो उठा = व्यग्र हो उठा। बूट का लेस = जूते का फीता। अनुदार = निष्ठुर। व्यथा = दुःख। अनुराग = प्रेम। प्रमाण = सबूत। आधिपत्य = अधिकार। क्षुधा = भूख। कातर = रोना-सा। जीने = सीढ़ी।

अब उसे ज्ञात हुआ कि ...... इसमें उसे संदेह था। [पृ० ७१]

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में केशव ने सुभद्रा और उर्मिला, दोनों के चरित्रगत वैदग्ध्य पर दृष्टिपात किया है। सुभद्रा के यहाँ से वापस लौटने पर केशव का मन उद्विग्न-सा रहा और रात में बहाना करके सुभद्रा से मिलने के लिए वह चल पड़ा। मार्ग में उसके मन में अनेक प्रकार की भावनाएँ उठीं। सुभद्रा का इंगलैण्ड आना ही उसके पातिव्रत्य को सूचित करता था। उसके इस त्याग को देखकर वह चौंक पड़ा। उसके लिए उसका हृदय कराह उठा। अब उसे ऐसा प्रतीत होने लगा कि सुभद्रा के लिए उसका हृदय खाली है। उसके स्थान को उर्मिला ग्रहण नहीं कर सकती है। उर्मिला के प्रति जो प्रेमभाव जगा था वह वस्तुतः एक तृष्णा था जो उसके लावण्य एवं सौन्दर्य के कारण उत्पन्न हुआ था। जिस प्रकार एक मनुष्य बहुत-से स्वादपूर्ण पदार्थों को देखकर खाने को ललच उठता है, पर खा नहीं पाता है; ठीक वही हालत केशव की थी। सुभद्रा के जीवन में त्याग की भावना थी, परन्तु उर्मिला एक विलासिनी नारी थी। वह त्याग करने में बिलकुल लाचार थी। अब केशव सुभद्रा के लिए कराह उठता है।

शब्दार्थ (पृ० ७२-३)—असबाब = सामान। व्यर्थ = बेकार। विलब = देर। असह्य था = सहने के लायक नहीं था। समीप = नजदीक। बंधु = भाई। सोहाग का शव = सोहाग का अत। विसर्जित कर देना = वहा देना। मर्माहत-सा = चोट खाया हुआ सा।

[ङ] आलोचनात्मक प्रश्नोत्तर

प्रश्न १—कहानीकार प्रेमचन्द का जीवन-परिचय लिखिए।

उत्तर—'प्रेमचन्द का जीवन-परिचय' पढ़ें।

प्रश्न २—'प्रेमचन्द एक कहानीकार के रूप में प्रसिद्ध हैं', इसकी समीक्षा कीजिये।

उत्तर—'प्रेमचन्द के जीवन-परिचय' में दिए गए 'कहानीकार प्रेमचन्द' उपशीर्षक निबन्ध पढ़ें।

प्रश्न ३—'सोहाग का शव' शीर्षक कहानी का सारांश लिखिए।

उत्तर—कहानी का साराश पढ़ें।

प्रश्न ४—कहानी-कला की दृष्टि से 'सोहाग का शव' शीर्षक कहानी की आलोचना लिखिए

उत्तर—'सोहाग का शव' की आलोचना पढ़ें।

प्रश्न ५—केशव का चरित्र-चित्रण कीजिए।

उत्तर—केशव नामक युवक मध्यप्रान्त के पहाड़ी गाँव का रहनेवाला था। वह पढ़ा-लिखा व्यक्ति था। उसने बम्बई विश्वविद्यालय से एम० ए० की डिग्री प्राप्त की थी। देखने-सुनने में सीधा-सादा था। उसकी वेश भूषा साधारण थी जिससे यह जाहिर होता था कि उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। उसके मुख से तेज और मनस्विता झलकती थी। उसे बनाव-शृंगार से कोई दिलचस्पी नहीं थी। आधुनिक शिक्षित व्यक्तियों मे जो बाहरी दिखावट होती है, वह उसमें कतई नहीं थी। अतएव यह स्पष्ट होता है कि वह एक फैशन-परस्त युवक नहीं था। उसकी शक्ल-सूरत से ऐसा प्रतीत होता था कि या तो वह सिद्धान्तों का प्रेमी था या वाह्याडम्बरों का कट्टर शत्रु।

एम० ए० पास करने के बाद वह नागपुर के एक कॉलेज में अध्यापक हो गया था। उसे सम्भ्रान्त लोगों की संगति प्राप्त थी। नवीन युग के नये-नये वैवाहिक और सामाजिक क्रान्तियों ने उसे लेशमात्र भी विचलित नहीं किया था। वह पुरानी प्रथाओं का पोषक था, नवीन प्रथाओं से बिलकुल अप्रभावित था। पुरानी प्रथाओं पर वैसी आस्था वृद्धजनों को भी नहीं होती। प्रोफेसर हो जाने के पश्चात् उसके माता-पिता ने उसका विवाह एक साधारण बालिका से कर दिया था और प्राचीन प्रथानुसार ही उस आँख-मिचौनी के खेल में उन्हें प्रेम का रस मिल गया। इससे स्पष्ट होता है कि केशव अपने माता-पिता का भक्त था और उनकी आज्ञाएँ उसके लिए शिरोधार्य थीं।

विवाह का एक वर्ष भी न बीता होगा कि केशव को विदेश जाकर शिक्षा प्राप्त करने के लिए सरकार से एक छात्रवृत्ति मिली। यह सुनकर उसके मित्रगण अत्यन्त प्रसन्न हुए और उसे बधाइयाँ भी दीं। इससे यह पता चलता है कि वह एक मेधावी युवक था।

इस छात्रवृत्ति को पाकर वह प्रसन्न नहीं था; क्योंकि उसे तीन वर्षों के लिए विदेश में जीवन व्यतीत करना पड़ेगा और उसकी पत्नी उससे दूर रहेगी। वह अपनी पत्नी को छोड़कर विदेश नहीं जाना चाहता था, परन्तु पत्नी के आग्रह से उसे विदेश जाना पड़ा, क्योंकि वह अपनी पत्नी की बात को ठुकरा नहीं सकता था। वह पत्नी को हृदय से मानता था।

केशव विलायत पहुँचने पर पाँच महीने तक अपनी पत्नी के पास लगातार पत्र लिखता रहा, परन्तु छठे महीने से पत्र लिखने में विलंब होने लगा, क्योंकि वहाँ अब वह एक दूसरी ही कामिनी (उर्मिला) के प्रेम का भिखारी बन गया। केशव एक शीलवान्, तेजस्वी एवं चरित्रवान युवक था, फिर भी यौवन-रस में स्नात युवती उर्मिला के प्रेम-जाल में फँस गया। अतएव वासना के वशीभूत हो वह अपनी धर्मपत्नी की पति-सेवा, त्याग, प्रेम आदि को भूल बैठा। वह पाश्चात्य सभ्यता से पूर्णतया प्रभावित हो गया और सुभद्रा से भेंट होने पर उसने यह स्वीकार किया कि विवाह एक प्रकार का समझौता है; दोनों पक्षों को अधिकार है, जब चाहे, उसे तोड़ दें। परन्तु सुभद्रा के तर्क के सामने उसकी चाल नहीं चली, क्योंकि उसका तर्क आवेश पर आधारित था।

केशव अपने निवास पर लौट आया, पर उसके मानस-पटल में सुभद्रा की प्रतिमा नाचती रही। वह अपने द्वारा न्यस्त कुकर्मों—अपराधों पर पश्चात्ताप करने लगा। वह उसके त्याग को देखकर किंकर्त्तव्यविमूढ-सा हो गया। अब उसने यह अनुभव किया कि उर्मिला के साथ विवाह कर उसने एक बहुत बड़ी गलती की। वह सुभद्रा को मुख दिखाने योग्य नहीं था। सुभद्रा के प्रेम और त्याग को देखकर वह मानों एक कठोर निद्रा से जाग उठा था। उसे अब अनुभव हो रहा था कि सुभद्रा के लिए उसके हृदय में जो स्थान था, वह अब भी खाली पड़ा है। उर्मिला उस स्थान पर अपना आधिपत्य नहीं जमा सकती है। अब उसे ज्ञात हुआ कि उर्मिला के प्रति उसका प्रेम केवल एक तृष्णा था जो स्वादयुक्त पदार्थों को देखकर ही उत्पन्न होती है। वह सच्ची क्षुधा न थी। अब फिर उसे उसी सरल-सामान्य भोजन की इच्छा हो रही थी। विलासिनी उर्मिला कभी इतना त्याग कर सकती है, इसमें उसे सन्देह था। वह सुभद्रा से अपने किए अपराधों के लिए क्षमा-प्रार्थना करने चला था, लेकिन अब सुभद्रा इस संसार में न थी। अब तो सिर्फ उसके सोहाग का शव था। केशव मर्माहत होकर घास पर लेट रहा और फूट-फूटकर रोने लगा।

प्रश्न ६—'सोहाग का शव' शीर्षक कहानी से पाठकों को कौन-सा सन्देश मिलता है ? इसपर प्रकाश डालिए।

उत्तर—संसार में जितने भी कलाकार हुए हैं, उनकी कृतियों की रचना में एक उद्देश्य छिपा है। तो, भला प्रेमचन्द उसके अपवाद कैसे रहते ! प्रमचन्द की लेखनी ने जो भी कहानियाँ लिखी हैं, सबमें कुछ उद्देश्य अवश्य छिपा हुआ है, तो "सोहाग का शव" शीर्षक कहानी सोद्देश्य कैसे नहीं होती ! प्रस्तुत कहानी प्रेमचन्द की उत्कृष्ट कहानियों में एक है। इसमें भारतीय नारी के पातिव्रत्य धर्म, कर्त्तव्यपरायणता, त्यागशीलता का चित्र अंकित किया गया है। यह कहानी उनके 'आदर्शोन्मुख यथार्थवादी सिद्धान्त' का पोषक है। इसमें कहानीकार ने नारी-जीवन की एक समस्या को प्रस्तुत किया है। इस देश में पुरुषों ने स्त्रियों को एकमात्र सेविका समझा है और उन्हें सृष्टि के आदिकाल से अबतक ठुकराया है। उनके साथ पुरुषों का व्यवहार अत्यन्त

निष्ठुर रहा है—इन्हीं बातों की ओर प्रेमचन्द ने पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। इसका निराकरण करते हुए भारतीय जनता के प्रतिनिधि कथाकार प्रेमचन्द कहते हैं कि पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के रंग में स्नात होकर युवक-गण विवाह-जैसे पवित्र संस्कार को एक प्रकार का समझौता मानते हैं और उसे जब चाहे, तोड़ देने का अधिकार रखते हैं जो बिल्कुल उचित नहीं है। सच तो यह है कि विवाह एक आदर्श समझौता है जो जीवन-पर्यन्त रहे। विवाह का आदर्श पति-पत्नी दोनों की पवित्रता एवं स्थिरता पर अवलम्बित है। यदि एक ने उस आदर्श को ढीला किया तो वह कभी भी स्थायी नहीं रह सकता है। इसके साथ-ही-साथ हिंसात्मक प्रवृत्ति किसी भी कार्य के लिए साधक नहीं है, प्रत्युत वह बाधक है। जब मनुष्य पर विपत्ति के बादल मँडराने लगे तो उसे हिम्मत से काम लेना चाहिए, वैसी परिस्थिति में उसे अपना कर्त्तव्य करते रहना चाहिए, यदि पथभ्रष्ट हुआ तो वह न घर का रहेगा और न घाट का। त्याग के समक्ष संसार में कोई वस्तु नहीं है। आत्मत्याग के द्वारा ही मनुष्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं। इसीलिए यह कहा भी गया है कि साहस के साथ कर्त्तव्यपरायणता एवं त्यागशीलता में विजय निश्चित है। इसके एकमात्र उदाहरण हैं—राष्ट्रपिता महात्मा गांधी। इसी संबंध में एक लेखक ने लिखा है कि Peace hath her victory no less renowned than war, जो इस उक्ति को अपने ध्यान में रखे रहेगा उसकी विजय निश्चित है, वह कभी भी परास्त नहीं हो सकता। जीवन-संग्राम में उसे सर्वदा सफलता मिलती रहेगी।

हिन्दी के पाठकों से यह छिपा नहीं है कि प्रेमचन्द एक आदर्शवादी कथाकार हैं और वे इसकी रक्षा में सर्वदा संलग्न रहते हैं। प्रेमचन्द ने प्रस्तुत कहानी की घटना को इस प्रकार पिरोया है कि कहानी का उद्देश्य ऐनक के समान झलक उठता है। इस कहानी की सबसे बड़ी सीख यह है कि मनुष्य को चाहिये कि वे दूसरों के अवगुणों को त्यागकर उसके गुणों को अंगीकार करे, तभी जीवन में सफलता मिल सकती है।

राष्ट्रभाषा का स्वरूप

(बाबू गुलाब राय)

जन्म-संवत् १९४४ (जीवित)

[क] निबन्धकार का परिचय

'राष्ट्रभाषा का स्वरूप' निबन्ध के लेखक श्री गुलाव राय, एम० ए०, एल्-एल० बी० हैं। वे हिन्दी के सुप्रसिद्ध दर्शनशास्त्र-वेत्ता, गम्भीर आलोचक, शिष्ट हास्य-लेखक और निवन्धकार हैं। श्री गुलाबराय का जन्म माघ शुक्ल ४, संवत् १९४४ को इटावा नगर के छपैटी मुहल्ले में हुआ था। उनका मूल निवास-स्थान जलेसर, जिला एटा था।

जीवन-परिचय

उनके पितामह लाला कन्हैयालाल परचून की दूकान करते थे। बचपन में बाबू गुलाबरायजी भी उस दूकान पर बैठते थे। उसी दूकान पर अपने ताऊजी के मुख से कबीर का 'चन्दन की चुटकी भली, भली न गाड़ी भरो कबीर' वाला दोहा सुना था और परिमाण की अपेक्षा गुणों का आदर करना सीखा था। उनके पिता श्री भगवान प्रसाद इटावा के कलक्टरी कचहरी में बीस रुपये मासिक पर किरानी का काम करते थे। वे अत्यन्त धार्मिक और अद्वैत वेदान्त के परम अनुयायी थे। उन्होंने यह प्रण किया था कि जब उनका वेतन दस रुपये से बीस रुपये मासिक हो जायगा तब हक-हकूक लेना बन्द कर देंगे और बीस रुपये हो जाने पर इस प्रतिज्ञा को जीवन-पर्यन्त निबाहा। बाबू गुलाबरायजी की माँ को सूरदास के पदों से विशेष अनुराग था और उन्हें बड़े प्रेम से गाया करती थीं। इस प्रकार शुरू से ही गुलाबरायजी के दार्शनिक एवं साहित्यिक संस्कार बन गए। अपने पिता की ईमानदारी का भी उनपर अच्छा प्रभाव पड़ा।

बाबू गुलाबरायजी की प्रारंभिक शिक्षा क्रमशः तहसीली स्कूल, गवर्नमेंट स्कूल, मिशन स्कूल मैनपुरी में हुई। उन्होंने आठवें दर्जे तक फारसी पढ़ी और नवें दर्जे में आने पर संस्कृत पढ़ना शुरू किया। इस प्रकार उन्होंने सन् १६०५ में मिशन हाई स्कूल से इन्ट्रेंस की परीक्षा पास की। उन्होंने आगरा कालेज और सेन्ट जान्स कालेज, आगरा से बी० ए० (सन् १६११ में) और एम० ए० (सन् १६१३ में) की परीक्षाएँ पास कर डिग्री प्राप्त की। बी० ए० पास करने के बाद ही वे सन् १६१२ में सेन्ट जान्स कालेज में तर्कशास्त्र के अध्यापक हो गए। नौकरी करते ही उन्होंने एम० ए० (फिलासफी) की परीक्षा पास की थी। कुछ दिन बाद ही ये छतरपुर महाराज के यहाँ दार्शनिक अध्ययन में सहायक रूप से नियुक्त हुए। उन्होंने सन् १६१३ से १६३२ तक छतरपुर राज्य में नौकरी की। इस बीच में सिर्फ दो वर्ष के लिए वे एल-एल० बी० परीक्षा पास करने के लिए आगरा आए थे। वे वहाँ कुछ दिनों तक छतरपुर नरेश के प्राइवेट सेक्रेटरी और इसके पश्चात् दीवान और चीफ जज भी रहे। महाराज की मृत्यु के बाद उन्होंने वहाँ से सन् १६३२ में अवकाश ग्रहण किया। इस प्रकार उनके जीवन का अधिकाश समय छतरपुर में ही व्यतीत हुआ और यहीं रहकर उन्होंने साहित्य की सेवा करने का प्रण किया था।

बाद में वे आगरा आये। वहाँ उन्होंने जैन-छात्रावास की आश्रमाध्यक्षता स्वीकार की, परन्तु अधिक समय तक इसपर न रहे। फिर उन्होंने व्यापार करना आरम्भ किया, लेकिन इसमें उनका मन नहीं रमा। अब वे आंशिक समय देकर सेंट जान्स कालेज, आगरा में अध्यापन-कार्य करते हैं और 'साहित्य-सदेश'-नामक सुप्रसिद्ध हिन्दी पत्रिका का सम्पादन करते हैं। उनका पता है—गोमती निवास, आगरा।

गुलाबरायजी की रचनाएँ

बाबू गुलाबराय हिन्दी संसार के एक परिचित लेखक हैं। वे बचपन से ही साहित्य-रचना करते रहे हैं। जब एम० ए० के विद्यार्थी थे तभी उन्होंने कुछ निबन्ध अंग्रेजी में लिखे थे, पर उनकी संख्या अत्यन्त कम है। छतरपुर आने पर ही वास्तव में उनका लेखन-कार्य आरम्भ होता है। कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन

की गुण-ग्राहकता से उन्हें लिखते रहने का उत्साह प्राप्त हुआ। मिश्र-बंधुओं के सम्पर्क में आने के कारण उनकी रुचि और अधिक बढ़ी। उनका रचनाकाल सन् १९१४ से आरम्भ होता है। उस समय से लेकर अबतक उन्होंने जो कुछ भी लिखा है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होने दर्शन-शास्त्र एवं साहित्य-शास्त्र में कई उत्तमोत्तम ग्रंथ लिखे हैं। उनके लिखे ग्रंथ निम्नलिखित हैं—

[क] दार्शनिक ग्रंथ—शान्तिधर्म, मैत्रीधर्म, फिर निराशा क्यों, कर्त्तव्यशास्त्र, तर्कशास्त्र (तीन खण्ड, जिसपर हिन्दुस्तानी एकेडमी से पुरस्कार भी मिला है), बौद्धधर्म और पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास।

[ख] आलोचनात्मक ग्रंथ—हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास, हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, हिन्दी नाट्य-विमर्श, काव्य के रूप, सिद्धान्त और अध्ययन, हिन्दी काव्य-विमर्श, साहित्य और समीक्षा, आलोचना कुसुमांजलि, नवरस आदि।

[ग] आलोचनात्मक निबन्ध-संग्रह—प्रबन्ध-प्रभाकर और प्रबन्ध-माला।

[घ] निबन्ध-संग्रह—'मेरी असफलताएँ' और 'मेरे निबन्ध'। दोनों में आत्मकथा-सबंधी निबन्ध हैं।

[ङ] सम्पादित ग्रंथ—सत्य हरिश्चन्द्र नाटक, मुद्राराक्षस, भाषा-भूषण, प्रसादजी की कला, युगधारा, कादम्बरी-कथा-सार, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, काव्य-कुसुमाकर आदि।

[च] बाल-साहित्य—बाल-प्रबोध और विज्ञान-विनोद।

[छ] हास्यपूर्ण रचना—ठलुआ क्लब।

इन पुस्तकों के अतिरिक्त गुलाबरायजी ने और भी कई छोटे-मोटे ग्रंथ लिखे हैं तथा पत्र-पत्रिकाओं में अनेक लेख प्रकाशित हुए हैं जो अभी पुस्तक रूप में अप्रकाशित हैं।

गुलाबरायजी की रचनाओं पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका दो रूप है। एक है दार्शनिक रूप और दूसरा है साहित्यिक रूप। उनकी आरम्भिक कृतियाँ प्रायः दार्शनिक हैं जो उनके गंभीर एवं विशद अध्ययन

के द्योतक हैं। इन्हीं दार्शनिक रचनाओं के माध्यम से वे हिन्दी संसार के सामने आए। इन्हीं रचनाओं से उन्हे लोकप्रियता मिली, क्योंकि हिन्दी के लिए ये विषय बिलकुल नवीन थे। उस समय ऐसे नीरस विषयों पर कोई भी लिखना पसन्द नहीं करता था, क्योंकि लोग विचारो को वाक्यों में अच्छी तरह बाँध नहीं सकते थे। सच तो यह है कि इस प्रकार की रचनाओं की सृष्टि कर उन्होंने हिन्दी के एक अभाव की पूर्ति की।

गुलाबरायजी की साहित्य-साधना

अब उनका दूसरा रूप आता है—साहित्यिक रूप। इसे हम दो रूपो में विभाजित कर सकते हैं—(क) आलोचक के रूप में और (ख) निबन्धकार के रूप में। पहले रूप के संबंध में डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' ने लिखा है कि 'हिन्दी साहित्व में स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दर दास और मिश्र-बन्धुओं के पश्चात् यदि किसी साहित्यकार का नाम आलोचकों में सबसे प्रथम आता है तो वे हैं बाबू गुलाबराय। इस पीढ़ी के आलोचकों में बाबूजी ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जो निरन्तर समय की गति के साथ कदम मिलाते हुए आजतक चले जा रहे हैं। विद्यार्थीवर्ग और विद्वद्वर्ग में समान रूप से वे सम्मान और श्रद्धा के पात्र समझे जाते हैं। इनकी आलोचना के दो रूप हैं—१. सैद्धान्तिक और २. व्यावहारिक। जिसमें साहित्य के अंगोपागों के विवेचन के साथ कुछ सिद्धात निश्चित किए जाते हैं, वह सैद्धान्तिक आलोचना होती है और जिसमें उन सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है वह व्यावहारिक आलोचना होती है। बाबूजी ने दोनों प्रकार की आलोचनाएँ लिखी हैं।'

बाबू गुलाबरायजी की सैद्धान्तिक आलोचना-सबंधी पुस्तकों में नवरस, सिद्धान्त और अध्ययन एवं काव्य के रूप हैं। 'नवरस' का प्रथम संस्करण सन् १६२७-२८ में प्रकाशित हुआ था, परन्तु सन् १६३२ में उसका संशोधित-परिवर्द्धित बड़ा संस्करण निकला। हिन्दी साहित्य में 'नवरस' की रचना के पूर्व सिर्फ एक ग्रंथ था—महाराज अयोध्या का 'रस-रत्नाकर'। परन्तु उसमें वह विवेचन न था जो गुलाबरायजी के 'नवरस' में है। इसी ग्रंथ के बाद श्री कन्हैयालाल पोद्दार का 'काव्य कल्पद्रुम' प्रकाशित हुआ जिसका आधार

था—संस्कृत-शास्त्र। इसमें लेखक के व्यक्तित्व की झाँकी नहीं है। परन्तु गुलाबरायजीवाली पुस्तक में उनका व्यक्तित्व पूर्णरूप से मुखरित है। 'नवरस' में जो उदाहरण रखे गए हैं, वे कवियों की कविताओं से चुने गए हैं, न कि संस्कृत-कवियों से उधार लिए गए हैं।

'सिद्धान्त और अध्ययन'-नामक ग्रंथ लिखने की प्रेरणा के मूल में यह विचार था कि साहित्यालोचन के स्थान में एक ऐसी नई पुस्तक लिखी जाय जिसमें अन्यशास्त्रीय ग्रंथों से अच्छे उदाहरण दिए गए हों। यही कारण है कि पाश्चात्य और प्राच्य आचार्यों के मतों का दिग्दर्शन कराते हुए बाबूजी ने अपने इस ग्रंथ में साहित्यिक सिद्धांतों का विवेचन किया है। इसमें उनका दृष्टिकोण समन्वयात्मक रहा है। 'काव्य के रूप'-नामक पुस्तक में उन्होंने काव्य की विविधताओं का शास्त्रीय विवेचन और उनका हिन्दी से सम्बन्धित इतिहास भी दिया है। अंग्रेजी के उदाहरण केवल तुलना के लिए आए हैं। वैसे अधिकाश उदाहरण भारतीय साहित्य से ही दिए गए हैं।

गुलाबरायजी की व्यावहारिक आलोचना को हम हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास, हिन्दी-काव्य-विमर्श आदि में देख सकते हैं। कवियों की व्यावहारिक आलोचना मे उन्होंने कवि के उद्देश्य को खोजने का प्रयास किया है। इसके साथ-साथ उसके कथन और सूक्तियों के औचित्य, भाव-सुकुमारता, अलकार-लक्षणा, व्यंजना आदि की कला को दिखलाया है। उनकी आलोचना खण्डनात्मक कम होती है, लेकिन उसमें वे अपने साथ पाठक को कवि की कृति का रसास्वादन कराना अपना मुख्य ध्येय समझते हैं। वे अपनी आलोचनाएँ स्वातःसुखाय ही लिखते हैं।

उन्होंने निबन्ध भी काफी लिखे हैं। कुछ निबन्ध साहित्यिक हैं तो कुछ आत्मकथात्मक। साहित्यिक निबन्ध विशेषतया विद्यार्थियों के लिए लिखे हैं, परन्तु आत्मकथात्मक निबन्धों में उनकी प्रतिभा देखी जा सकती है। उनमें उनका व्यक्तित्व मुखरित है। उन निबन्धों में हास्य की धारा प्रवाहित होती है जिससे निबध रोचक हो जाते हैं। इस समय के निबंधकारों में उनका अन्यतम स्थान है।

बाबू गुलाबराय-जैसे अध्ययनशील विद्वान हैं वैसे ही इनके ग्रंथों और लेखों में अत्यन्त ठोस सामग्री, अत्यन्त प्रौढ़ एवं परिमार्जित भाषा मिलती है। उनकी 'भाषा-शैली उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ही स्पष्ट' सरस और सरल है।

गुलाबराय की भाषा-शैली

वे उन बातों को बहुत कम लिखते हैं, जिन्हें खुद समझ नहीं पाते। दूसरों की बातों को अपना बनाकर अपने शब्दों में कहना उन्हे अच्छा लगता है। वे 'अबजेक्टिव' (Objective) बातों को 'सबजेक्टिव' (Subjective) बनाने की कोशिश करते हैं। कितनी ही शुष्क बात हो, वे उसे साहित्यिक रग से रँगकर प्रस्तुत करते हैं। इसके लिए वे प्राचीन साहित्य से उद्धरण देते हैं और हास्य उत्पन्न करने के लिए अपने प्रसग तथा विषय के अनुकूल उनकी व्याख्या कर देते हैं। यह कहीं-कहीं दोप की हद तक पहुँच जाता है और सामान्य स्तर के पाठक को जटिलता का अनुभव होने लगता है। भिन्न-भिन्न पुस्तकों की शैली भिन्न-भिन्न है। 'फिर निराशा क्यों?' में 'कर्त्तव्य-शास्त्र' की शैली नहीं है और 'मेरी असफलताएँ' की शैली 'सिद्धात और अध्ययन' या 'काव्य के रूप' में नहीं है। वह विपय के अनुकूल बदलती रहती है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का मोह बाबूजी को है, पर हास्य-व्यग्य उपस्थित करने के लिए उर्दू शब्दों का प्रचुर मात्रा में व्यवहार करते हैं। आरंभ में अंग्रेजी के लेखकों से अधिक प्रभावित थे। इसीलिए हिन्दी के साँचे में ढालने पर भी आरंभ के लेखों में अंग्रेजी की शैली झलक जाती है। बाद में चलकर उनकी शैली का रूप स्थिर हो गया और वह विदेशी प्रभाव से मुक्त होकर शुद्ध भारतीय हो गई। बाबूजी की शैली में एक विशेष व्यक्तित्व है। कोई भी चीज उनकी वैयक्तिकता की रंगीनी के बिना नहीं रहती। यही उनकी विशेषता है। 'विज्ञान-विनोद' के वैज्ञानिक निबन्धों तक में उनकी वैयक्तिकता की रंगीनी आ गई है। जैसे सूर्य के धब्बे का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—'चन्द्र के कलक को सब कोई बतलाते हैं, सूर्य के कलंक के बारे में किसी कवि ने नहीं लिखा। बड़े आदमियों के कलक उनके तेज से छिपे रहते हैं।' बाबूजी की शैली का प्राण हास्य-व्यग्य है। साहित्यिक निबन्धों में ही नहीं, सैद्धान्तिक आलोचना के निबन्धों तक में उसके दर्शन होते हैं।

वाबूजी लिखते समय क्रम और संगति का विशेष ध्यान रखते हैं। यह तर्कशास्त्र के अध्ययन का प्रभाव है। संगति के लिए एक-एक लेख में दो-दो, तीन-तीन वार संशोधन करते हैं। वे व्यौरे की भूल-भुलैयों में से सीधा मार्ग निकालने का प्रयत्न करते हैं। व्यौरे को महत्त्व देते हुए व्यापक सिद्धान्त की खोज को विशेष महत्त्व देते हैं। इस कारण उनके ग्रंथों में सुवोधता आ जाती है। मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग द्वारा शैली में सजीवता आ जाती है। आलोचना के सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए भी वे मुहावरे ले आते हैं। जैसे कहानी के लिए वे कहते हैं—'कहानी अपने छोटे मुँह से वड़ी वात कहती है।' शैली की स्पष्टता के लिए वावूजी विचारों की स्पष्टता आवश्यक मानते हैं, इसीलिए शैली का विवेचन करते हुए उन्होंने शैली के विचारगत और भाषागत गुणों को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है। शैली के व्यापक गुण में वे दार्शनिक आधार पर एकता में अनेकता और अनेकता में एकता आवश्यक समझते हैं।' (कमलेश) वावू गुलावरायजी अपनी इन्हीं महान् एवं अनुपम विशेषताओं के कारण हिन्दी के आधुनिक गद्य-लेखकों में वहुत सम्मानित हैं। इन्होंने अपनी लेखनी से हिन्दी गद्य-साहित्य के भाण्डार को यथेष्ट रूप से भरा है, तथा भविष्य में भी इनसे हिन्दी साहित्य की वहुमूल्य सेवा होने की आशा है।

[ख] 'राष्ट्रभाषा का स्वरूप' निबन्ध का सारांश

हिन्दी राजभाषा घोषित हो चुकी है। अब उसे किसी अन्य भाषा से प्रतिद्वन्द्विता नहीं है, परन्तु पन्द्रह वर्षों तक शासन-सम्बन्धी कार्य अंग्रेजी में होंगे। अंग्रेजी विदेशी भाषा थी और देश की राजभाषा अनेक वर्षों तक रही, परन्तु वह राष्ट्रभाषा न वन सकी। हिन्दी के साथ ऐसी वात लागू नहीं होती है; क्योंकि उसका जन्म और विकास इसी देश में हुआ है, तथा उसका देश की प्रायः सभी भाषाओं से सम्बन्ध है। सच तो यह है कि हिन्दी राजभाषा घोषित होने के पहले ही राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित हुई। राष्ट्रभाषा के स्वरूप पर विचार करने के पहले हमको उसकी आवश्यकताओं को जान लेना जरूरी है, और वे इस प्रकार हैं—

(१) भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा वही हो सकती है जिसे अधिक मनुष्य बोलते हैं या उस भाषा का देश की अन्य भाषाओं से घनिष्ठ पारिवारिक सम्बन्ध हो। (२) उसे सरल होनी चाहिये (३) उस भाषा में राजनीतिक, शिक्षा-सम्बन्धी, धार्मिक और सामाजिक व्यवहार के संचालन की क्षमता हो और (४) वह देश की संस्कृति और सभ्यता का बोधक हो।

ऊपर बताई गई आवश्यकताओं में तीसरी आवश्यकता को छोड़कर हिन्दी सभी की पूर्ति करती है। तीसरी आवश्यकता की कमी के लिए हिन्दी दोषी नहीं है, बल्कि शासकवर्ग के लोग दोषी हैं जिन्होंने इसे राजनीतिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी क्षेत्रों में पनपने का अवसर नहीं दिया। इसीलिए हम इसमें कुछ कमी पाते हैं। प्रयोग के द्वारा ही भाषा की शब्दावली विकसित होती है फिर भी तात्कालिक व्यवहार के लिए कुछ प्रारम्भिक सामग्री का होना आवश्यक है। यह आनन्द का विषय है कि उसके लिए सामग्री एकत्र की जा रही है।

राष्ट्रभाषा के दो रूप हैं—एक लोकभाषा है और दूसरी साहित्य, शिक्षा और राजकाज की भाषा। नेताओं और उच्च अधिकारियों के भाषण, महत्त्वपूर्ण निर्माण-कार्य-सम्बन्धी सिनेमा-फिल्में, यात्रियों के पारस्परिक विचार-विनिमय तथा अन्तरप्रान्तीय व्यापार के लिए लोकभाषा की जरूरत है जिसका विशेष गुण सरलता होना चाहिये। इसमें तत्सम शब्दों अथवा उन तद्भव शब्दों का जो तत्सम के निकट हैं, प्रयोग होना चाहिये। क्लिष्ट एवं अप्रचलित तत्सम शब्दों का प्रयोग कतई लाभदायक नहीं है। प्रचलित उर्दू शब्दों का बहिष्कार संभव नहीं है, जैसे—हलवाई, बाजार, पुल, चश्मा, चमचा, असबाब, सामान, गरीब, जागीर आदि। उर्दू के कुछ शब्द तो दूसरी प्रान्तीय भाषाओं में भी व्यवहृत होते हैं, इसलिए उन्हें हिन्दी में रखना बहुत जरूरी है। ठीक यही बात अंग्रेजी के साथ भी लागू होती है। परन्तु यह कहना कि—'मैं इवनिंग में डेली वाक करने जाता हूँ' या 'वह स्टडीज' में इतना एबसौर्ब्ड रहता है कि अपनी बॉडी की एबसोल्यूटली कोई केयर ही नहीं करता'—किसी भी प्रकार उपयुक्त नहीं है।

हमे सिर्फ वसे प्रचलित विदेशी शब्दों को अपनाना चाहिए जो आसानी से हमारी भाषा में पच सकें। विदेशी शब्दों के अतिरिक्त हमें अन्य प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों को भी, जो हमारी भाषा में घुल-मिल सकें और जो किसी विशेष भाव को व्यक्त करने के लिए उपयुक्त हों, उन्हे अपनाना चाहिए। इतना ही नहीं, अन्य प्रान्तीय भाषाओं या विदेशी भाषाओं के शब्दों के प्रयोग के लिए हमें हिन्दी के व्याकरण के नियमों की कडाई दूर करनी होगी और कभी-कभी उसकी अवहेलना भी करनी पडेगी।

राज-काज एव उच्च शिक्षा-संवधी कार्यों में कुछ कठिन भाषा का प्रयोग होता है। इसमे पारिभाषिक शब्द ऐसे रहे जो समस्त देश में मान्य ठहरें; क्योंकि इसी पर वैज्ञानिक एवं शिक्षा-संबंधी क्षेत्रों में हिन्दी भाषा की उन्नति निर्भर करती है। अतएव पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण मे हमें निम्नांकित बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए—(१) पारिभाषिक शब्दावली का आधार अधिकतर संस्कृत तत्सम शब्द होने चाहिए, परन्तु उसे व्यावहारिक बनाने के लिए लोकभाषा के प्रचलित शब्दों का प्रयोग भी करना चाहिए। (२) पारिभाषिक शब्दों को गढ़ने की अपेक्षा वर्त्तमान साहित्य में प्रचलित प्रामाणिक शब्दों का प्रयोग करना अत्यन्त श्रेयस्कर है। इसके साथ-साथ हमें अन्य-प्रान्तीय भाषाओं से वैज्ञानिक शब्दों को भी अपनाना चाहिए, क्योंकि कुछ लोग उन शब्दों से परिचित हैं। (३) प्राचीन ग्रंथों में तर्कशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, गणित, ज्योतिष आदि विज्ञान के शब्द पाये जाते है जिन्हे यथासंभव प्रयोग करना चाहिए। (४) वैज्ञानिक शब्दों को प्रयोग करने के पहले उनकी उपयोगिता अवश्य देख लेनी चाहिए। (५) नये शब्द देखने मे अत्यन्त विचित्र मालूम पड़ते हैं परन्तु इससे घबराना नहीं चाहिए, क्योंकि वे सब शब्द प्रयोग में आने के बाद सुडौल बन जाते हैं और उनकी कुरूपता दूर हो जाती है।

शब्द-निर्माण-कार्य एक व्यक्ति का नहीं है, बल्कि उसके लिए बड़ी-बड़ी समितियों की आवश्यकता होती है जिसमें प्रत्येक भाषा के प्रतिनिधि रहे और

उनके द्वारा जो शब्दकोष निर्मित हो, उसी का प्रयोग सभी प्रान्त में हो। कहने का तात्पर्य यह है कि राष्ट्रभाषा गतिशील हो और उसका देश की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं से सम्पर्क हो। परन्तु ऐसा करने में हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उस समझौते से हमारी राष्ट्रभाषा का यथार्थ रूप विकृत न हो।

[ग] 'राष्ट्रभाषा का स्वरूप' निबन्ध की आलोचना

'राष्ट्रभाषा का स्वरूप' शीर्षक निवन्ध बाबू गुलाबरायजी का एक मौलिक निवन्ध है। यह एक विचार-प्रधान निवन्ध है जो उनके गम्भीर अध्ययन, मनन एव चिन्तन का परिचायक है। गुलाबरायजी ने विशेषतया दो प्रकार के निवन्धों की रचना की है—एक है साहित्यिक निबन्ध और दूसरा आत्मकथात्मक निवन्ध। यह एक साहित्यिक निवन्ध है। इसमें उन्होंने राष्ट्रभाषा के स्वरूप पर दृष्टिपात किया है और इसके साथ-ही-साथ उसकी व्यापकता पर भी प्रकाश डाला है।

आरभ में विद्वान लेखक ने यह बतलाया है कि बहुत वाद-विवाद के पश्चात् भारतीय संविधान के द्वारा हिन्दी राजभाषा घोषित हुई है, परन्तु उसे पन्द्रह वर्ष पश्चात् तिथिवाली चेक (Post dated cheque) मिली है। आज हमारा देश स्वतंत्र है, परन्तु इसके पहले यह गुलाम था, अग्रेजों के शासन मे था। उस समय अंग्रेजी ही हमारे देश की राजभाषा थी, परन्तु वह राष्ट्रभाषा के पद पर कभी भी प्रतिष्ठित नहीं हुई थी। सच तो यह है कि वह विदेशी भाषा थी, इसीलिए वह हमारी राष्ट्भाषा नहीं बन सकी। लेकिन, हिन्दी के साथ ऐसी बात लागू नहीं होती है, क्योंकि वह हमारे देश की भाषा है। उसका देश में ही विकास हुआ है और उसका देश की प्रायः सभी भाषाओं से सम्बन्ध है। राष्ट्रभाषा के स्वरूप पर विचार करने के पूर्व लेखक ने उसकी आवश्यकताओं पर प्रकाश डाला है और कहा है कि हिन्दी उन आवश्यकताओं की पूर्ति करती है या पूर्ति करने की सामर्थ्य रखती है। इसलिए वह राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित होने के बिलकुल योग्य है।

इसके अनन्तर लेखक ने उसके स्वरूप पर विचार किया है और बतलाया है कि उसके दो रूप हैं—एक जनसाधारण के व्यवहार की भाषा का और दूसरा राजकाज तथा शिक्षा की भाषा का। इस सिलसिले में उन्होंने दोनों के वैषम्य और साम्य पर प्रकाश डालते हुए उसकी विशेषताओं को बतलाया है। तत्पश्चात् उन्होंने पारिभाषिक शब्दों की रचना के सम्बन्ध में किन-किन बातों पर ध्यान देना चाहिए—इसकी ओर सकेत किया है। अन्त में उन्होंने एक चेतावनी भी दी है कि शब्द के निर्माण से राष्ट्रभाषा का रूप विकृत नहीं होना चाहिए, इसलिए वे सरल और सुबोध हों।

विषय की दृष्टि से प्रस्तुत निबन्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् देश के समक्ष राष्ट्रभाषा की समस्या आ खड़ी हुई और सभी की दृष्टि इसी पर केन्द्रित हो गई। नवजात राष्ट्र के लिए एक ज्वलंत प्रश्न (Burning question) बन गया है। इसपर काफी वाद-विवाद होने लगा। इस-पर सभी भाषा-भाषियों ने गरमागरम लेख लिखे, अपनी भाषा यानी बोली को राज्यभाषा बनाने का तर्क उपस्थित किया। इसी आँधी और तूफान के बीच बाबू गुलाबराय ने एक निबन्ध लिखा जो हम पाठकों के सामने है। यह उनकी एक विशिष्ट रचना है। इसमें उन्होंने अपना जो विचार व्यक्त किया है, वह अत्यन्त स्पष्ट एवं सुलझा हुआ है। उन्होंने निम्नलिखित प्रश्नों को अपने निबन्ध में उठाया है और उसका समाधान करने की चेष्टा की है। वे प्रश्न हैं—राष्ट्रभाषा क्या है, राष्ट्रभाषा का निर्माण किन तत्त्वों के सम्मिलन से हुआ है, उसकी रूपरेखा कैसी हो, उसके स्वरूप-निर्माण में कौन-सा मूल तत्त्व विद्यमान रहे, हमारे समक्ष कौन-कौन-सी समस्याएँ हैं, उन्हे हल कैसे किया जाय, आदि आदि। ये सब प्रश्न निबन्ध के मुख्य विषय हैं जिनसे परिचित हुए बिना हम अपनी राष्ट्रभाषा को गतिशील नहीं बना सकते हैं, उसे व्यापक नहीं बना सकते हैं, उसे और न उसके स्वरूप का निर्माण आसानी से कर सकते हैं। इसके साथ-ही-साथ हम यह देखते हैं कि उक्त प्रश्न को जिस ढग से लेखक ने हल किया है, वह अत्यन्त ही मर्मस्पर्शी है और विरोधियों का मुँह-तोड़ जवाब है। किसी भी भाषा का सबसे बड़ा अवगुण है उसकी

संकीर्णता और वही उसकी गति को अवरुद्ध बनाती है। सच तो यह है कि भाषा की व्यापकता उसकी सरलता, उसकी सादगी पर निर्भर करती है, न कि उसकी क्लिष्टता पर। सरलता से ही भाषा लोकप्रियता प्राप्त करती है। इसीलिए लेखक ने राय दी है कि यदि राष्ट्रभाषा हिन्दी को व्यापक एवं लोकप्रिय बनाना चाहते हैं तो उसे अनावश्यक दुरूहता एवं क्लिष्टता से लाखों कोस दूर रखें, नहीं तो उसका गौरव कम जायगा। इस निबन्ध में उनका समन्वयवादी दृष्टिकोण अभिव्यक्त हुआ है और इसीलिए सभी लोग गुलाबराय को आदर की दृष्टि से देखते हैं, उन्हें महत्ता प्रदान करते हैं।

आधुनिक युग के उत्तम कोटि के विचारात्मक निबन्ध-लेखकों में बाबू गुलाबराय का नाम भी आता है। यों तो वर्ण्य-विषय की दृष्टि से प्रस्तुत निबंध का विषय कुछ गंभीर एवं जटिल है फिर भी लेखक ने उसका विवेचन अत्यन्त ही सुन्दर ढंग से किया है। शुरू से अंत तक निबन्ध में व्यक्त विचार काफी सुलझे हुए हैं, कहीं भी बनावट यानी कृत्रिमता की गंध नहीं। इसकी अभिव्यक्ति इतनी साफ-सुथरी है कि निबन्ध की रोचकता बढ़ गई है। इसमें ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है जिससे निबन्ध का प्रवाह नष्ट हो जाय और पाठकों को शब्दकोष का आश्रय लेना पड़े। इसमें उन्होंने भाषा का सरल रूप दिया है। बाबू साहब संस्कृत के पंडित हैं, लेकिन भाषा के क्षेत्र में पांडित्य-प्रदर्शन का मोह उनमें नहीं है। शब्दों के उचित प्रयोग पर उन्होंने विशेष ध्यान रखा है। निबन्ध की भाषा में आडम्बर नहीं है, प्रत्युत स्वाभाविकता है। इसमें उनकी शैली व्याख्यात्मक रही है, इसलिए उनके वाक्य छोटे, प्रभावपूर्ण एवं संयत हैं। आदि से अंततक प्रस्तुत निबन्ध में भाषा की सादगी, वाक्यविधान की सरलता, अभिव्यक्ति की सुबोधता एव विचारों की स्पष्टता पायी जाती है। बाबूसाहब एक विनोदी कलाकार हैं और उनकी विनोदप्रियता गंभीर निबन्धों में छलक पड़ी है। कुछ उदाहरण देखिए—

(१) 'यद्यपि उसको अपने कार्यभार पूर्णरूपेण सँभालने में देर है और उसको पंद्रह वर्ष पश्चात् तिथिवाली चेक (Post dated cheque)

मिली है, तथापि अब उसकी और किसी भाषा से प्रतिद्वन्द्विता का प्रश्न नहीं रहा।'

(२) 'अब उसपर राजकीय मुहर की छाप भी लग गई है।'

(३) 'बिना पानी में पैर दिये तैरना नहीं आता।'

विषय की गंभीरता की दृष्टि से प्रस्तुत निबन्ध का कलेवर बड़ा होना चाहिए, परन्तु गुलाबरायजी ने उसे अत्यन्त ही संक्षिप्त रूप में लिखा, लेकिन कहीं भी जटिलता नहीं पायी जाती है। एक वाक्य में हम कह सकते हैं कि निबंध-कला की दृष्टि से यह एक आदर्श निबन्ध है।

[घ] शब्दार्थ, व्याख्या और आशय

शब्दार्थ (पारा १, पृष्ठ ५८)—वाद-विवाद = तर्क-वितर्क। पश्चात् = बाद। राजभाषा = राजकीय भाषा जिसे अंग्रेजी में official language कहते हैं। पूर्णरूपेण = पूर्णरूप से। उसको पन्द्रह वर्षवाली ...... का प्रश्न नहीं रहा = कहने का मतलब यह है कि भारतीय संविधान के द्वारा हिन्दी ही राजभाषा घोषित हो चुकी है, परन्तु १५ वर्षों तक शासन-संबंधी कार्य अंग्रेजी भाषा में होंगे। पंद्रह वर्ष के बाद राष्ट्रभाषा हिन्दी में कार्य किए जायेंगे, पर अब किसी दूसरी भाषा के साथ इसकी प्रतिद्वन्द्विता नहीं रही। निर्विवाद = बिना किसी विवाद के, विवाद-रहित, निश्चित। नैतिक = Moral। व्यवहार = प्रयोग। वास्तविकता = यथार्थता। परिणत होता जायगा, = बदलता जायगा। राजकीय मुहर की छाप लग गई है = वह राज्य की ओर से राज्यभाषा घोषित कर दी गई है। अधिकांश = ज्यादातर। घनिष्ठ = गहरा। व्यापक = विस्तृत। संभावना = क्षमता हो। संचालन = चलाना, गति देना। क्षमता = योग्यता। परिचायक = सूचक।

शब्दार्थ (पारा २, पृष्ठ ८६)—संगठन = मेल, संयोग, रचना। न्यूनता = कमी। भाग्यविधाता = भाग्य बनानेवाले। पनपने का अवसर = फलने-फूलने का मौका। गढ़ी नहीं जाती = बनायी नहीं जाती। सामग्री = वस्तु। परिमार्जित = संस्कृत। चलनयोग्या = प्रयोग के लायक।

तीसरी आवश्यकता की पूर्त्ति में ... .. और चलनयोग्य बनायेगा।
[पारा २, पृष्ठ ८६]

व्याख्या—प्रस्तुत संदर्भ 'राष्ट्रभाषा के स्वरूप'-शीर्षक विचारात्मक निबंध से लिया गया है। यह संदर्भ उस स्थल का निर्देश करता है जबकि लेखक ने राष्ट्रभाषा की आवश्यकताओं पर विचार कर उसकी पुष्टि करना आरंभ किया था। लेखक ने बतलाया है कि हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जो राष्ट्रभाषा की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करती है और पूरी करने की क्षमता रखती है। इतना होने के बावजूद भी उसमें एक कमी है और वह है राजनीतिक, शिक्षा-संबंधी, धार्मिक एवं सामाजिक व्यवहार के संचालन की क्षमता की न्यूनता। सच तो यह है कि इसमें भाषा का दोष नहीं है या यह कहना कि उसमें क्षमता नहीं है—यह सरासर भूल है। यथार्थ में हमारे शासकों का दोष है कि उन्होंने हिन्दी को राजनीतिक और शिक्षा-संबंधी क्षेत्रों में विकसित होने का अवसर नहीं दिया। जिस प्रकार पानी में पाँव चलाये बिना तैरना नहीं आता है उसी प्रकार बिना व्यवहार (use) के भाषा के शब्दों का निर्माण नहीं होता। कहने का तात्पर्य्य यह है कि भाषा के शब्दों का निर्माण प्रयोग से होता है, न कि उसकी सृष्टि करने से। पहले जो शब्द गढ़े जाते हैं, वे विचित्र और अस्वाभाविक होते हैं, परन्तु प्रयोग के द्वारा उन शब्दों का अनोखापन दूर हो जाता है और वे संस्कृत एवं व्यवहार के योग्य बन जाते हैं। राष्ट्रभाषा को गतिशील एवं विकसित बनाने के लिए आरंभ में कुछ नये शब्द गढ़ने होंगे जो प्रयोग के द्वारा ही परिमार्जित एवं व्यवहार-योग्य हो जायँगे।

शब्दार्थ (पारा ३, पृष्ठ ८६)—जन-साधारण = साधारण जनता। व्यवहार = प्रयोग। राजकाज = शासन-संबंधी। भिन्नता = वैषम्य। स्वाभाविक = प्राकृतिक, Natural। पारस्परिक = आपस की। स्थानीय = उस स्थान का जहाँ से कोई बात कही जाय (Local)। सार्वजनिक = सब लोगों से संबंध रखनेवाला। उच्चपदाधिकारियों = अफसरों। विचार-विनिमय = विचारों का आदान-प्रदान। चलता ज्ञान वाञ्छनीय होगा = साधारण ज्ञान अपेक्षित होगा। लाभान्वित = फायदा।

शब्दार्थ (पारा ४, पृष्ठ ८६ से ८८)—जनसाधारण के व्यवहार की भाषा = लोकभाषा। तद्भव = अपभ्रंश रूप। तत्सम = किसी भाषा का, अधिकतर संस्कृत का वह शब्द जिसका प्रयोग दूसरी या देशी भाषाओं में उसके मूल रूप में या ज्यों-का-त्यों हो। वांछनीय होगा=अपेक्षित होगा। प्रचलित = चले हुए। क्लिष्ट = कड़े, दुरूह। यथासंभव = जहाँ तक संभव हो। असबाब = सामान। गरज = जरूरत। जागीर = राज्य से मिली हुई जमीन। इमारत = महल। सहज में = आसानी से। व्यवहृत होते हैं = प्रयुक्त होते हैं। अनावश्यक = बिना जरूरत। मैं इवनिंग में डेली वाक करने जाता हूँ = प्रतिदिन संध्या समय मैं टहलने जाता हूँ। वह स्टडीज में इतना एबसौर्ब्ड रहता है कि अपनी बॉडी की एबसोल्यूटली कोई केयर ही नहीं करता=वह अध्ययन में इतना तल्लीन रहता है कि अपने शरीर की कुछ भी चिन्ता नहीं करता। भाषा के साँचे में ढाल लेना वांछनीय होगा = अपनी भाषा के व्याकरण और रचना के नियमों में बाँधकर उसे अपनी भाषा में खपा लेना होगा। अपनी भाषा की प्रकृति के विरुद्ध न चले जायँ = अपनी भाषा की स्वाभाविकता नष्ट न होने दें। अतिरिक्त = अलावा। घुल-मिल सकें = अच्छी तरह मिल जायँ। व्यक्त करने के लिए = प्रकट करने के लिए। उपयुक्त हों = ठीक हों। अनुमान = अंदाज, अटकल, अपने मन से यह समझना कि ऐसा हो सकता है या होगा। निर्माण = रचना। योग दें = मदद दें। किसी अंश में उपेक्षा करनी पड़ेगी = किसी हद तक अवहेलना करनी होगी। टकसाली भाषा = ठोंकी-पिटायी दुरुस्त भाषा। अगतिशील = अप्रगतिशील, जो चलने योग्य न रह सके। दृश्यावलियों = दृश्यों की पंक्तियाँ। सत्य = सच्चाई।

राष्ट्रभाषा केवल हिन्दी-भाषियों····का अनुभव कर सकें।

[पारा ४, पृष्ठ ८८]

व्याख्या—प्रस्तुत संदर्भ में लोकभाषा का रूप निर्धारित करते हुए विद्वान लेखक ने उसकी व्यापकता पर प्रकाश डाला है। लेखक ने बतलाया है कि सरलता उसका विशेष गुण होना चाहिए और लोकभाषा में अन्यप्रान्तीय

भाषाओं के आवश्यक एवं प्रचलित शब्दों को चुनकर स्थान देना चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि उनकी भाषा के शब्द राष्ट्रभाषा के निर्माण में सहयोग देकर उसे पुष्ट करेंगे। यह तो मानना ही होगा कि राष्ट्रभाषा सिर्फ हिन्दी पढ़े-लिखे लोगों की भाषा नहीं, प्रत्युत् समस्त देश की भाषा है, इसलिए अन्य प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग करना अनिवार्य है। साथ-ही-साथ हमें उसे खपाने के लिए व्याकरण के नियमों के वधन को ढीला भी करना पड़ेगा क्योंकि इसी से राष्ट्रभाषा को गति मिलेगी। इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि वह अपने स्थान से गिर जाय। वास्तविकता तो यह है कि यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो हो सकता है कि हिन्दी भी संस्कृत भाषा के समान नि:संतान एव प्रगतिशील हो जाय। अत: राष्ट्रभाषा साहित्य में अन्य प्रान्तों से सम्बन्धित प्राकृतिक दृश्यावलियों, वीरगाथाओं एवं परम्पराओं को स्थान मिलना चाहिए जिससे दूसरे प्रान्तवाले भी राष्ट्रभाषा के साथ अपनापन का अनुभव कर सकें।

शब्दार्थ (पारा ५, पृष्ठ ८८-८६)—अभिप्राय = मतलब। पारिभाषिक= परिभाषा से संबंध रखने वाला, जिसका प्रयोग किसी विशेष अर्थ में, सकेत रूप से होता हो (टेकनिकल)। प्रमाणीकरण = प्रमाण के रूप में मान्यता प्रदान करना (Standardisation)। सहकारिता = साथ मिलकर काम करना, सहकारी या सहायक होने का भाव (Co-operation)। यथोचित = जैसा या जितना उचित हो। अधिकतर = ज्यादातर। प्रत्यय = व्याकरण में वे अक्षर जो किसी धातु या मूल शब्द के अत में लगकर उसके अर्थ में कोई विशेषता लाते हैं, जैसे—सरलता में 'ता' प्रत्यय है। सुविधा = आराम। नितान्त वहिष्कार = बिलकुल निकाल दिया गया। सिद्धान्त और व्यवहार के बीच की खाई को कम करना पड़ेगा = भाषा संबधी जो सिद्धान्त और व्यवहार में भेद है, उसे कम करना होगा। गढ़ने की अपेक्षा = निर्माण करने की अपेक्षा। श्रेयस्कर = उत्तम। निरर्थक = बेकार। अवलोकन = खोज। पुस्तक भंडार खोजना होगा = ग्रंथों के भंडार का अध्ययन करना होगा। वर्त्तमान = विद्यमान, उपस्थित। चलन देने के पूर्व = प्रयोग करने के पहले। उपयुक्त= दुरुस्त, ठीक। अनोखेपन = अजनबीपन। विरुपता = विकृत रूप। अंग्रेजी

शब्दों के भी शाब्दिक अर्थ विचित्र होते हैं, किन्तु चलन उनमें नये रूढ़िगत अर्थ उत्पन्न कर देता है = अंग्रेजी में कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका शाब्दिक अर्थ कुछ है और प्रयोग में आने पर उसका अर्थ कुछ दूसरा ही हो जाता है। व्यक्ति के वश का काम नहीं है = मनुष्य के सामर्थ्य की बात नहीं है। समितियों = कमिटियों। शब्द-कोष = डिक्शनरी। आलमारी की शोभा न रहें = निरर्थक न रहे।

शब्दार्थ (पारा ६, पृष्ठ ८६-६०)—गतिशील = प्रवाहपूर्ण। विभिन्न = दूसरें-दूसरे। सम्पर्क = संबंध। अनुकूल = मुताबिक। चोला पहनाकर = रूप देकर। दुरूहता = क्लिष्टता। असली रूप = वास्तविक रूप।

राष्ट्रभाषा का क्षेत्र जितना ......असली रूप न खो दे।

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियाँ बाबू गुलाबराय लिखित 'राष्ट्रभाषा का स्वरूप' शीर्षक निबन्ध से उद्धृत की गई हैं। इसमें विद्वान लेखक ने एक चेतावनी दी है। उन्होंने कहा है कि राष्ट्रभाषा गतिशील होनी चाहिए और उसे देश की अन्य प्रान्तीय भाषाओं से संबंध स्थापित करना चाहिए। हमें दूसरी भाषाओं को ग्रहण करने में संकोच नहीं करना चाहिये, बशर्ते कि राष्ट्रभाषा की प्रकृति पर कोई आघात न पहुँचे। दूसरी भाषाओं के शब्दों को राष्ट्रभाषा की प्रकृति के अनुकूल बनाकर ग्रहण करना चाहिये। राजकाज और शिक्षा-संबंधी भाषा के लिए संस्कृत के तत्सम् शब्दों के आधार पर शब्दावली तैयार होनी चाहिये। परन्तु ऐसा करने में उसे दुरूहता से दूर रखना अनिवार्य है। दूसरी भाषाओं के साथ राष्ट्रभाषा का समझौता होना उसकी व्यापकता पर अवलंबित है। लेकिन समझौता करने के समय हमें यह याद रखना चाहिये कि राष्ट्रभाषा का रूप विकृत न हो जाय।

[ङ] आलोचनात्मक प्रश्नोत्तर

प्रश्न १—श्री गुलाबराय का आलोचनात्मक परिचय दीजिये।

उत्तर—लेखक का परिचय पढ़ें।

प्रश्न २—'गुलाबराय की भाषा-शैली उनके व्यक्तित्व का द्योतक है'—इसकी पुष्टि कीजिए।

उत्तर—'गुलावराय की भाषा-शैली' उपशीर्षक पढ़ें, जो लेखक के परिचय में दिया गया है।

प्रश्न ३—'राष्ट्रभाषा का स्वरूप' शीर्षक निबन्ध का सारांश लिखिए।

उत्तर—निवन्ध का सारांश पढ़ें।

प्रश्न ४—बाबू गुलावराय लिखित निवन्ध 'राष्ट्रभाषा का स्वरूप' की आलोचना लिखिए।

उत्तर—निवन्ध की आलोचना पढ़ें।

प्रश्न ५—पठित्त निवन्ध के आधार पर यह वतलाइए कि राष्ट्रभाषा की कौन-कौन-सी आवश्यकताएँ हैं? क्या हिन्दी उन सब आवश्यकताओं को पूरी कर सकी है। इसकी विवेचना कीजिए।

उत्तर—प्रस्तुत निवन्ध में विद्वान लेखक श्री गुलाव राय ने राष्ट्रभाषा के स्वरूप पर विचार किया है, परन्तु उस पर विचार करने के पहले उन्होंने निम्नलिखित आवश्यकताएँ वतलायी हैं जिनसे परिचित हो जाना अत्यावश्यक है और वे हैं—

(क) राष्ट्रभाषा के पद पर वही भाषा प्रतिष्ठित हो सकती है जिसे देश के अधिकांश निवासी वोलते हैं। यदि वोलते न भी हों तो उस भाषा का देश की अन्य भाषाओं से घनिष्ट पारस्परिक संवंध हो। उसमें भविष्य के लिए अधिक व्यापक होने की संभावना हो।

(ख) वह सरल हो।

(ग) उस भाषा में राजनीतिक, शिक्षा-संबंधी, धार्मिक और सामाजिक व्यवहार के संचालन की क्षमता हो।

(घ) वह देश की संस्कृति और सभ्यता का सूचक हो।

इससे पता चलता है कि राष्ट्रभाषा वही है जो पूरे राष्ट्र की भाषा है, जिस भाषा में राज्य के समस्त कार्य सम्पन्न होते हैं, जिसे देश के अधिकांश लोग वोलते हैं, जो राष्ट्र की सभ्यता एवं संस्कृति की परिचायक हो, इन सब गुणों से विभूषित भाषा ही राष्ट्रभाषा होने को क्षमता रखती है।

हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है और भारतीय संविधान द्वारा राज्यभाषा

घोषित हो चुकी है। हिन्दी ही देश की एक ऐसी भाषा है जो ऊपर लिखित अवश्यकताओ की पूर्ति करती है और पूरी करने की योग्यता रखती है। और सब आवश्यकताओं की तो वह अपने स्वभाव और सगठन से पूर्ति करती ही है, परन्तु तीसरी आवश्यकता की पूर्ण पूर्ति में कुछ कमी समझी जा सकती है। कहने का तात्पर्य्य यह है कि तीसरी आवश्यकता राजनीतिक, सामाजिक, शिक्षा-संबधी, धार्मिक व्यहार के सचालन की क्षमता की पूर्ति में कुछ न्यूनता है। इसके लिए हिन्दी भाषा को दोषी कहना या यह कहना कि उसमें यह आवश्यकता पूरी करने की क्षमता नहीं है, भूल है। सच तो यह है कि उसमे यह क्षमता है, परन्तु शासकों ने या देश के भाग्य-विधाताओं ने इसे राजनीति, उच्च शिक्षा संबधी क्षेत्रो में बढ़ने का मौका ही नहीं दिया। भाषा के शब्दों का निर्माण व्यवहार से होता है, गढने से नहीं। पहले जो शब्द गढ़े जाते हैं, उनमें विचित्रता रहती है, अनोखापन रहता है, परन्तु जब वे शब्द प्रयोग में आने लगते हैं तो वे संस्कृत एव व्यवहार-योग्य हो जाते हैं। इसीलिए राष्ट्रभाषा को आगे बढ़ाने के लिए कुछ शब्दों को गढ़ना होता है जो प्रयोग के माध्यम से परिमार्जित एवं चलन योग्य बन जाते हैं।

प्रश्न ६—आप लोकभाषा से क्या समझते हैं और उसमें किन-किन तत्वों का होना जरूरी है? पठित निवन्ध के आधार पर उत्तर दीजिये।

उत्तर—हमारी राष्ट्रभाषा के दो रूप हैं; एक जन-साधारण के व्यवहार की भाषा का और दूसरा राजकाज तथा शिक्षा की भाषा का। लोकभाषा का अर्थ है—जनसाधारण के व्यवहार की भाषा। यह अन्तर्प्रान्तीय भाषा है। सरलता इसका विशेष गुण है। यद्यपि तद्भव शब्द तत्सम शब्दों से सरल होते हैं तथापि अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार के लिए तत्सम शब्दों का या उन तद्भव रूपो का, जो तत्सम के निकटतम हों, व्यवहार वाछनीय होगा क्योंकि तत्सम शब्दों का सब भाषाओं में प्राय: एक-सा रूप रहता है। तद्भव रूप भिन्न-भिन्न प्रान्तों में अलग-अलग होते हैं। तत्सम् शब्दों में कुछ सरल और प्रचलित होते हैं तथा कुछ क्लिष्ट और अप्रचलित। क्लिष्ट एव अप्रचलित तत्सम शब्दों की उपेक्षा आवश्यक है। प्रचलित उर्दू के शब्दो का वहिष्कार संभव नहीं

है, जैसे—हलवाई, बाजार, पुल, शीशी, चमचा, चश्मा, असबाब, सामान, तकल्लुफ, डाकखाना, तमाशा, हाल, मिसिल, अर्जी, पुर्जा, परवाह, गंदा, गरज, गरीब, जागीर, इमारत, गर्दिश, गिरवी, जगह, जमीन आदि। इनमें से कुछ तो शब्द ऐसे हैं जो गुजराती- बंगला, मराठी आदि भाषाओं में प्रयुक्त होते हैं, इसलिए हमें ऐसे शब्दों को लोकभाषा में स्थान देना होगा। इसके अलावे अंग्रेजी में कुछ ऐसे शब्द हैं जो विशेष रूप से प्रयुक्त होते हैं, उन्हे हम निकाल नहीं सकते। जो शब्द चलन में आ गए हैं उनमें से भी आवश्यक शब्द हमें लेना चाहिए और उनको अपनी भाषा के साचे में ढाल लेना चाहिए। अन्य भाषा के शब्दों को ग्रहण करते समय हमें सदा ध्यान रखना चाहिए कि हम अपनी भाषा की प्रकृति के विरुद्ध न चले जायँ, वरन् वे राष्ट्रभाषा के साँचे में ढले हों।

सच तो यह है कि राष्ट्रभाषा किसी प्रान्त की भाषा नहीं है। वह हिन्दी भाषा-भाषियों की सम्पत्ति नहीं है, प्रत्युत समस्त राष्ट्र की वस्तु है, उस पर सबका बराबर अधिकार है। राष्ट्रभाषा की गतिशीलता पर इसकी व्यापकता अवलम्बित है। इसलिए इसे व्यापक बनाने के लिए अपनी भाषा के साहित्य में हमको अन्य प्रान्तों से सम्बन्ध रखनेवाली प्राकृतिक दृश्यावलियों, वीरगाथाओं और परम्पराओं को भी स्थान देना होगा जिससे कि अन्य प्रान्तवाले हमारी भाषा के सत्य और अपनापन का अनुभव कर।

प्रश्न ७—आप राजकाज और उच्च शिक्षा-संबंधी भाषा से क्या समझते हैं। पारिभाषिक शब्दों की रचना किस आधार पर की जाय, बतलायें? उत्तर संक्षेप में लिखे।

उत्तर—राष्ट्रभाषा के दो रूपों में एक है राजकीय और उच्च शिक्षा-संबधी भाषा, जो लोक भाषा की अपेक्षा कुछ क्लिष्ट होती है, लेकिन यह अर्थ नहीं कि यह लोक भाषा से बिल्कुल भिन्न भाषा होती है और बिल्कुल दूसरी जान पड़ती है। पारिभाषिक शब्दावली का सारे देश के लिए प्रमाणीकरण जरूरी है क्योंकि जबतक हमारी शब्दावली सम्पूर्ण देश में न समझी जायगी तब तक न तो वैज्ञानिक क्षेत्र में ही सहकारिता सम्भव हो सकेगी और न विद्यार्थी

ही यथोचित लाभ उठा सकेंगे। शब्द-निर्माण किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा नहीं होता है वल्कि उसके लिए बडी-बड़ी समितियाँ होती हैं जिन्हे पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण में निम्नांकित बातो का ध्यान रखना चाहिए—

(१) पारिभाषिक शब्दावली का आधार अधिकतर संस्कृत तत्सम शब्द होना चाहिए। संस्कृत शब्दो में प्रत्यय लगाकर उन्हे विभिन्न रूप सुविधा के साथ दिए जा सकते हैं। यह सुविधा साधारण भाषा में कम रहती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि साधारण भाषा के जो शब्द प्रयोग में आ निकले हैं (जैसे बिजली से गरम और ठढे तार), उनको बिलकुल निकाल दिया जाय। हमें मजदूरों की भाषा को भी मान देना आवश्यक होगा क्योंकि विज्ञान को व्यावहारिक बनाने के लिए सिद्धान्त और व्यवहार के बीच की खाई को कम करना पड़ेगा।

(२) पारिभाषिक शब्दों को गढ़ने की अपेक्षा वर्तमान साहित्य में प्रचलित शब्दों का प्रमाणीकरण अधिक उत्तम होगा। जो वैज्ञानिक साहित्य की हिन्दी और अन्य प्रान्तीय भाषाओं में रचना हो चुकी है उसको हमें एकदम निरर्थक नहीं बना देना है। जनता उन ग्रन्थों की शब्दावली से किसी अंश में परिचित भी हो चुकी है। इसके लिए हमें न केवल हिन्दी के ही वैज्ञानिक ग्रन्थो का अवलोकन करना होगा वरन् प्रान्तीय भाषाओं की पुस्तकों को भी पढ़ना पड़ेगा।

(३) प्राचीन ग्रन्थों से हमें तर्कशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, गणित, ज्योतिष आदि विज्ञानों की शब्दावली चुन लेनी चाहिए क्योंकि उनमें इन शास्त्रों से सबन्धित बहुत-कुछ मूल्यवान ज्ञान वर्तमान हैं।

(४) वैज्ञानिक शब्दावली को चलने देने के पूर्व प्रयोग में लाकर देख लेना चाहिए कि वह प्रयोग कहाँ तक उपयुक्त बैठता है।

(५) हमें नये शब्दों के अनोखेपन से नहीं घबड़ाना चाहिए। शब्द प्रचलित हो जाने पर अजनबी नहीं रहते और उनकी विरूपता भी अभ्यास के कारण सुडौल बन जाती है। अंग्रेजी शब्दों के भी शाब्दिक अर्थ विचित्र होते हैं लेकिन चलन उनमें रूढ़िगत अर्थ उत्पन्न कर देता है।

वसन्त आ गया है

(डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी)

जन्म सं० १९६४ (जीवित)

[क] लेखक का परिचय

जीवन-परिचय

डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी का जन्म श्रावण शुक्ल ११, संवत् १९६४ को बलिया जिले के अन्तर्गत दुबे का छपरा नामक ग्राम में हुआ था। वे सरयूपारीण ब्राह्मण हैं। उनका वंश ज्योतिष विद्या के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध था। उनके प्रपितामह ने काशी में रहकर करीब-करीब अट्ठाइस वर्षों तक ज्योतिष-शास्त्र का गंभीर अध्ययन किया था। द्विवेदीजी के पिता श्री अनमोल द्विवेदी भी एक विद्वान् और प्रसिद्ध पंडित थे। उनकी माता का नाम था श्रीमती ज्योतिकली देवी, जो बम्हमौली के विख्यात पंडित स्व० देवनारायण की कन्या थीं। इस प्रकार उनका समस्त परिवार ही सरस्वती का प्रिय पात्र था, इसलिए द्विवेदीजी के रक्त में आचार्यत्व का संस्कार होना अनिवार्य था।

हजारी प्रसादजी बचपन से ही विद्या प्रेमी थे और वे अपने चाचा पं० बाँके दुबे की देखभाल में थे। एक तरह उनके चाचा ही उनके विद्यार्थी-जीवन के निर्माता थे। उन्होंने द्विवेदी का नाम बसरिकापुर के मिडिल स्कूल में लिखाया था और उनकी प्रेरणा से ही उन्होंने सन् १९२० में मिडिल की परीक्षा पास की थी। संस्कृत से प्रेम उन्हें अपने पूर्वजों से ही विरासत के रूप में मिला था, इसीलिए मिडिल की परीक्षा पास करने के दो वर्ष बाद सन् १९२२ से

संस्कृत पढ़ना शुरू किया और संस्कृत की प्रवेशिका परीक्षा पास की। सन् १६२३ में उनका नाम काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में लिखाया गया जहाँ से उन्होंने एडमिशन की परीक्षा सन् १६२७ में पास की और उसी वर्ष उनकी शादी भी हुई। उन्होंने सन् १६३० में आई० ए० और आचार्य (संस्कृत) की परीक्षाएँ पास कीं। सन् १६३३ तक उन्होंने बी० ए० की परीक्षा दे देने की भी कोशिश की, परन्तु अपने स्वास्थ्य की खराबी के कारण वे परीक्षा न दे सके और उन्हें पढ़ाई का क्रम तोड़ देना पड़ा।

सन् १६३० में द्विवेदीजी ने अध्यापक के रूप में शान्तिनिकेतन में प्रवेश किया और अनेक वर्षों तक वे वहाँ के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित रहे। सम्प्रति वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हैं। जिन दिनों शान्तिनिकेतन में वे अध्यापन-कार्य कर रहे थे, उन्हीं दिनों उन्हें साहित्य-प्रणयन की प्रेरणा मिली। इस साहित्य-निर्माण की प्रेरणा को कवीन्द्र रवीन्द्र, बनारसी दास चतुर्वेदी, क्षितिमोहन सेन और विधुशेखर भट्टाचार्य आदि विद्वानों ने जीवित रखा और समय-समय पर काफी प्रोत्साहन दिया जिसके फलस्वरूप द्विवेदीजी हिन्दी साहित्य के एक अनमोल रत्न बन गए हैं।

हिन्दी-साहित्य की ओर द्विवेदी को खींचने का श्रेय बनारसी दास चतुर्वेदी को ही प्राप्त है। द्विवेदीजी कई भाषाओं के जानकार हैं और उनका अध्ययन-क्षेत्र काफी विस्तृत एवं प्रौढ़ हैं। वे गुटबन्दी और आत्मप्रचार से काफी दूर हैं। अपनी विद्वता के कारण ही वे सन् १६४७ में करॉची हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के साहित्य-परिषद् के अध्यक्ष और सन् १६४८ में दरभंगा में होनेवाले ओरियंटल कान्फरेंस (Oriental Conference) के सभापति रह चुके हैं। हिन्दी के प्रकाण्ड पण्डित होने के कारण ही लखनऊ विश्वविद्यालय (सन् १६४०) और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने उन्हें 'डाक्टर आफ लिटरेचर' (Doctor of literature) की उपाधि से विभूषित किया है। 'सूरसाहित्य' पर मध्यभारत साहित्य-समिति इन्दौर ने उन्हें स्वर्णपदक प्रदान कया है और 'कबीर' नामक पुस्तक पर उन्हें मंगला प्रसाद पारितोषिक मिल

चुका है। उन्होंने 'विश्व-भारती पत्रिका' और 'अभिनव भारती ग्रंथमाला' का भी सम्पादन बड़ी योग्यतापूर्वक किया है। बम्बई के हिन्दी विद्यापीठ के दीक्षान्त-समारोह के वे सम्मानित अध्यक्ष रह चुके हैं। भगवान उन्हे दीर्घायु बनावें, हमारी यही कामना है।

द्विवेदीजी की रचनाएँ

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ही एकमात्र ऐसे आलोचक हैं जिनका लोहा लेना कठिन है। वे साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान हैं। वे एक मौन साधक हैं और आत्मप्रचार की ओछी भावना से काफी दूर हैं। उन्होंने कई भाषाओं का अध्ययन, मनन और चिन्तन किया है। उस अध्ययन एवं अनुशीलन से उन्होंने जो कुछ भी अर्जित किया है, उसे अपनी विलक्षण प्रतिभा से चमका दिया है जहाँ तक साधारण आलोचकों का पहुँचना दुर्वार है। उनका समस्त साहित्य दो प्रकार का है—अनूदित और मौलिक।

[क] अनूदित रचनाएं—प्रवन्ध चिन्तामणि, पुरातन प्रवन्ध सग्रह, प्रवन्ध कोश, विश्व-परिचय, लाल कनेर और मेरा बचपन। अंतिम तीन ग्रन्थ कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर के लिखे हैं।

[ख] मौलिक रचनाएं—१. सूर-साहित्य, २. हिन्दी साहित्य की भूमिका, ३. कबीर, ४. प्राचीन भारत तथा कला-विलास, ५. नख-दर्पण में हिन्दी कविता, ६. विचार और वितर्क, ७. अशोक के फूल, ८. हमारी साहित्य की समस्याएं, ९. बाणभट्ट की आत्मकथा, १०. सूरदास की कविता, ११ नाथ-सम्प्रदाय, १२. चौरगी नाथ की प्राण संकली, १३. रवीन्द्रनाथ के राष्ट्रीय गान, १४. कबीरपंथी साहित्य, १५. साहित्य का साथी, १६. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, १७. हिन्दी साहित्य (उद्गम और विकास), १८. साहित्य का मर्म, १९. मध्य-कालीन साहित्य में प्रेम-साधना, २०. कल्पलता आदि।

इसके अतिरिक्त, उनके बहुत-से फुटकर निबन्ध पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे पड़े हैं और उन्होंने बहुत-से ग्रंथों का सम्पादन भी किया है।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी एक सफल आलोचक होने के साथ-साथ एक निबन्धकार भी हैं। हिन्दी आलोचना-क्षेत्र में द्विवेदी का कार्य सन् १९३० के आसपास आरंभ होता है और सन् १९३४ में उनका पहला ग्रन्थ 'सूर साहित्य' प्रकाशित हुआ। सन् १९४० में क्रमशः 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' और 'कबीर' का प्रकाशन हुआ। सन् १९४१ में ही विद्यार्थियों के काम की एक पुस्तक प्रकाशित हुई 'नख-दर्पण में हिन्दी कविता'। इन सभी ग्रन्थों के द्वारा डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी की ओर सभी की दृष्टि आकृष्ट हुई। जिस समय 'सूर साहित्य' प्रकाशित हुआ था उस समय श्री रामचद्र शुक्ल की 'भ्रमरगीत-सार' की भूमिका के अतिरिक्त पुस्तकाकार रूप में सूर के संबंध में कोई अच्छी सामग्री न थी, अतः यह ग्रंथ सभी को किसी-न-किसी रूप में अच्छा लगा। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' और 'कबीर' द्वारा एक स्थान पर पुस्तकों के रूप में संकुचित दृष्टि साहित्यिकों तथा साहित्य के विद्यार्थियों को यह आभास मिला कि हिन्दी साहित्य और उनके साहित्यकारों को बहुत ही व्यापक सांस्कृतिक परिप्रेक्षित में रखकर देखा जा सकता है, साथ ही उन्हें यह भी आभास मिला कि इस प्रकार से देखने के लिए प्रभूत सामग्री भी प्राप्त है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि उक्त तीन रचनाओं द्वारा हजारी प्रसाद द्विवेदी की स्थिति पुष्ट हुई और भविष्य मे वे इस क्षेत्र में विकास करते गए। इस प्रकार उन्हे समीक्षक के रूप में हिन्दी के सम्मुख लाने मे ग्रन्थों का ऐतिहासिक महत्त्व है।

द्विवेदीजी की साहित्य-साधना

इन्हीं ग्रन्थों में श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी की समीक्षा पद्धति तथा उसके मान के मूल सूत्र और आधार भी दृष्टिगत हुए जो उनकी आगामी रचनाओं में प्रस्फुटित होते गए। जो सामग्री हमारे सामने उपस्थित है, जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है, उसके आधार पर यह स्पष्ट है कि डा० द्विवेदी ने समीक्षण-कार्य उस समय आरंभ किया था जिस समय छायावाद-रहस्यवाद युग अपनी पूरी उठान के बाद उतर रहा था। उनके प्रथम तीन पुस्तकों को देखने से ज्ञात होता है कि आरभ में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी की समीक्षा-पद्धति गवेषणा के सहारे चलती है। बहुमुखी शास्त्रज्ञता के कारण के आलोच्य में जो

तत्त्व देखते हैं उसके मूल की ढूँढ़-खोज करने में बराबर प्रवृत्त रहते हैं, इस प्रकार उनकी समीक्षा और गवेषणा साथ-साथ चलती है। वे समीक्षक ही नहीं गवेषक भी हैं। वे साहित्य का मूल्याकन गवेषणा के आधार पर करते हैं। प्रायः स्थानों पर तो ऐसा हुआ है कि साहित्य का मूल्यांकन दब गया है और गवेषणा ही उभर गई है। गवेषणा का संबंध व्यापक अध्ययन-मनन अथवा पांडित्य से है और साहित्य के मूल्यांकन का संबंध मर्मस्पर्शी पैनी दृष्टि से। मूल्याकन का संबंध विवेचन, प्रतिपादन (Interpretation), सच्ची पकड़ और इन सबके साथ ही वैयक्तिक तटस्थता से है। गवेषक मूल तक जाकर सामग्री हमारे सामने ला रखता है, प्राप्त सामग्री की तुलना आलोच्य से कर देता है, और सजीव वर्गीकरण प्रस्तुत कर देता है। गवेषक का काम लेखा-जोखा लेना है। इसके पश्चात् समीक्षक उसका मूल्याकन करता है। तात्पर्य्य यह कि द्विवेदीजी गवेषक और समीक्षक दोनों हैं। हम पुन यह कहना चाहते हैं कि उनका गवेषक का रूप समीक्षक के रूप से अधिक भास्वर है। उनके इस रूप के दर्शन हमें उनकी उक्त आरंभिक रचनाओं में ही हुए थे। नाथ सम्प्रदाय, हिन्दी साहित्य का आदिकाल तथा मध्यकालीन धर्म साधना के पश्चात् हमारी धारणा और भी पुष्ट हो गई है, जिनमें उनकी गवेषणा का सुफल हिन्दी साहित्य के लिए अनेक रूपों में फला दिखाई पड़ रहा है—विशेषतः 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' में। द्विवेदीजी ने सैद्धान्तिक समीक्षा स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं के बराबर लिखे हैं। इस कोटि का एक ग्रन्थ 'साहित्य का साथी'—उन्होंने अवश्य लिखा है जिसका महत्व सैद्धान्तिक समीक्षा की दृष्टि से उतना अधिक नहीं है जितना कि विद्यार्थियों की उपयोगिता की दृष्टि से। हाँ, सिद्धात संबंधी उनके कई समीक्षात्मक ग्रन्थ हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि श्री द्विवेदी ने व्यावहारिक समीक्षा के ही ग्रंथ प्रधानतः लिखे हैं। ऐसे ही ग्रंथों में उन्होंने साहित्य और भाषा-संबंधी अपने उपज्ञात सिद्धांत और विचार यथाप्रसंग प्रकट किए हैं। ऐसे प्रसंगों में हमें श्री द्विवेदीजी की साहित्य अथवा साहित्यकार संबंधी यथार्थ पकड़ की अभिज्ञता होती है। अपने गवेषणात्मक ग्रन्थों अथवा निबन्धों में वे अनेक स्थलों पर ढूँढ़ खोज के आधार पर

यथार्थ निर्णय पर पहुँचे हैं और जहाँ गवेषणात्मक सामग्री का अभाव है, जिसके कारण किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता, वहीं उन्होंने आनुमानिक ढंग से अपना मत प्रकट कर दिया है। साहित्य तथा भाषा-संबंधी आधुनिक अथवा वर्त्तमानकालीन समस्याओं के विषय में भी उन्होंने व्यापक विवेचना के पश्चात् अपनी सम्मति दी है। इससे यह भी साफ है कि साहित्य-संबधी सिद्धांत निर्धारण तथा साहित्य तथा भाषा-संबंधी समस्याओं के हल दोनों पर उनकी दृष्टि गई है।

द्विवेदीजी एक कुशल आलोचक ही नहीं प्रत्युत् सफल निबन्धकार के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। वे हिन्दी के उच्चकोटि के निबन्धकारों में से हैं। उनके निबन्धों के दो प्रसिद्ध संग्रह हैं—'अशोक के फूल' और 'विचार और वितर्क।' उनके कुछ ऐसे निबन्ध भी हैं जो अभी तक पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित नहीं हुए हैं। उनके निबन्ध दो प्रकार के हैं—समीक्षात्मक और विचारात्मक। समीक्षात्मक निबध भी दो कोटि में विभक्त किये जा सकते हैं जिनमें प्रथम श्रेणी में वैसे निबधों की गणना होती है जिसमें सिद्धांतों का निवेदन रहता है और द्वितीय श्रेणी में वे निबन्ध हैं जिसमें साहित्यकारों की रचनाओं पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया जाता है। इस कोटि के निबन्धों में उनकी वैज्ञानिक दृष्टि स्पष्ट रूप से विद्यमान रहती है।

उनके विचारात्मक निबन्ध भी दो भागों में बाटे जा सकते हैं—"प्रथम श्रेणी में ऐसे निबन्धों की गणना की जा सकती है जिनमें उन्होंने छोटी-सी-छोटी बात को लेकर अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया है। इससे उनकी विचार-शक्ति, अनुभूति की गहराई तथा चिंतन शैली का यथेष्ठ परिचय मिल जाता है। हमें यह ज्ञात हो जाता है कि वह साधारण-से-साधारण विषय को गंभीर रूप देने तथा उस पर अपने व्यक्तित्व और अपने अध्ययन एवं चिंतन का रंग चढ़ाने में अत्यन्त कुशल हैं। वह धार्मिक तथा दार्शनिक प्रवृत्ति के निबन्धकार हैं। इसलिए उनके इस श्रेणी के निबन्धों में दार्शनिक तत्त्वों की प्रधानता रहती है। द्वितीय श्रेणी के विचारात्मक निबन्धों के विषय सामाजिक जीवन-संबंधी होते हैं। अपने ऐसे निबंधों में उन्होंने जनहित की दृष्टि से

अपने विषय पर विचार प्रकट किया है और उसके संबंध में उपयोगी एवं क्रियात्मक सुझाव दिए गए हैं।"

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सनातन जीवन-दर्शन, प्राचीन ज्ञान और साहित्य-सिद्धांत को नवीन अनुभवों से मिलाकर अपने निबंधों की रचना की है। उनके निबंध गहन अध्ययन के विस्तृत पट पर बने वर्त्तमान जागरण के मनोहर चित्र है। रंग पुराने है चमक नवीन; प्राण प्राचीन है, गति आधुनिक, आस्थाएँ श्रद्धा-प्रेरित हैं, उनको जीवन का स्वरूप देनेवाला कर्म विज्ञानसम्मत। साधारण और सामान्यतम विषय पर लिखे गए निबंध में भी द्विवेदीजी का प्राणवान पाण्डित्य और सूक्ष्म चिंतन मधुर शैली में बोलता है। सभी सीमाक्षेत्रों से निबन्ध के विषयों का चुनाव, प्रकार और शैली की अनेकरूपता, संस्कृति समन्वय, मानव के प्रति अकम्पित आस्था और ज्योतिर्मय भविष्य की आशा', उन्हे हिन्दी निबंधकारों में गौरवपूर्ण स्थान दिलाती है। विविधता को कसौटी मानें तो द्विवेदीजी हिन्दी में अप्रतिम हैं। धन्य-धन्य है समाज, अशोक के फूल, वसंत आ गया, हिंदी का भक्तिकाल, धन्य है वह देश आदि निबध की विविधता के उदाहरण हैं। उनके निबंध विशेषतया वर्णनात्मक ही हैं, फिर भी इनमें द्विवेदीजी की भावुकता उमड़ पड़ती है। 'पाठक से प्रत्यक्ष, सीधा और महत्वपूर्ण संबंध स्थापित कर उसे साथ ले चलने के अतिरिक्त अन्य प्रकार से भी निबंधकार का व्यक्तित्व रचना में आता है 'निज' के विषय में कहना। अनेक निबन्धों में द्विवेदीजी का 'निज' इतना साकार हो गया है कि वे व्यक्ति प्रधान हो गए हैं। अशोक के फूल, वसंत आ गया है, शिरीष के फूल, आम फिर बौरा गए हैं आदि में इनके व्यक्तित्व का यही रूप आया है। वस्तु-विषय-वर्णन करते-करते सहसा अपने राग-विराग करना भी व्यक्तित्व का प्रकाशन है। ऐसे अवसर पर कला की माँग का ध्यान किये बिना लेखक निज को निरावरण करना है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के प्रौढ़ निबन्धकार हैं। द्विवेदीजी अपने निबन्धों में व्याख्यात्मक हैं। इस स्थल पर वे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से अलग बैठते हैं, क्योंकि शुक्लजी बहुत थोड़े में अपनी बातें

कहते हैं। उनके निबंधों में मनोविश्लेषण की प्रणाली है, परन्तु द्विवेदीजी के साथ ऐसी बात लागू नहीं होती है। द्विवेदीजी ने मनोवृत्तात्मक निबंध नहीं लिखे हैं, उनके विषय सामाजिक जीवन से संबंधित हैं या साहित्य के विभिन्न अंगों से। इसीलिए द्विवेदीजी के निबंधों मे अभी उन बातों का समावेश नहीं हो पाया है जो शुक्लजी के निबंधों में है, फिर भी निबंधों के रूप में हमें उनके जो विचार प्राप्त हुए हैं, वे साहित्य के गौरव की वस्तु हैं और उस पर हम सहर्ष गर्व कर सकते हैं।

द्विवेदीजी की भाषा-शैली

द्विवेदीजी बड़े ही अध्ययनशील एवं गम्भीर विद्वान हैं। अतएव उनके निबंधों में विचारों की मौलिकता एवं नूतनता के साथ भाषा की प्रौढ़ता एव गंभीरता के दर्शन होते हैं। भाषा विधान की दृष्टि से उनका झुकाव तत्समता की ओर ही है, संस्कृत साहित्य की ही नहीं, भाषा को भी छाप उनपर है। पर न तो संस्कृत की दुरुहता, और न समासात्मकता ही प्रत्युत्, उनका आदर्श है, सुबोध, सरल, स्वच्छ और सार्थक भाषा लिखना। उनके वाक्यविधान सीधे-सादे हैं, मिश्र और सशलिष्ट वाक्य बहुत कम। भाषा में न तो पं० रामचन्द्र शुक्ल के समान कसाव है और न जैनेन्द्र कुमार की शैली के समान संक्षिप्तता। द्विवेदीजी के वाक्य पूर्ण और अत्यन्त स्पष्ट हैं। बहुत छान-बीन करने पर हम शायद एक-आध वाक्य क्रियाहीन पाते हैं जो छायावादी निबन्धकारों या समीक्षकों की एक खासियत है। उनमें हाट-बाजार की व्यावहारिकता जैनेन्द्र जैसी नहीं है। संस्कृत के पारगत विद्वान होने के कारण इनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम् शब्दों का आधिक्य होना स्वाभाविक ही है। वैसे तो वे अधिकतर संस्कृत के प्रचलित शब्दों का ही प्रयोग करते हैं, लेकिन कहीं-कहीं अत्यन्त दुरूह एव अप्रचलित शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं, यहाँ तक कि विभक्तियाँ भी सस्कृत के अनुसार प्रयुक्त करते हैं, कुछ उदाहरण लीजिए—कौलीन्य, स्वादु उदुम्बरम्, उत्स, आसिंजित, विलय, अध्यहमिका, ततःकिम, पदे-पदे, चिद्विपयक, इन्द्रियग्राह, मरुकान्तार, कर्कर-भस्म, गण्डूष-सेक, गोधूम, गगनोपमावस्था आदि। संस्कृत के उपसर्ग तथा प्रत्यययुक्त एवं समस्त

प्रयोग से इनकी भाषा कुछ क्लिष्ट प्रतीत होती है, जैसे—उद्भासित, जीवनेच्छा, आसमुद्र विस्तीर्ण, संभ्रान्तवंशीय, योगासमासीन आदि, किन्तु इसके साथ ही कहीं-कहीं मुहावरों के प्रयोग द्वारा इनकी भाषा चलती हुई भी दिखाई पड़ती है, जैसे—सनक का शिकार, गला घोंट देना, जीवनेच्छा को नमस्कार कर दिया होता, आदि। संस्कृत के शब्दों के साथ-साथ उर्दू के बोलचाल के शब्द उनकी भाषा में रहते हैं, पर उनकी संख्या कम है—चीज, गलती, ईमानदारी, दिमाग, शौक, काबू, खुदगर्जी, आदमीनुमा, वशर्ते, वगावत, हिदायत, मिजाज, कमबख्त, सल्तनत, कदर, जालिम, हजरत, अलबत्ता, बुजुर्ग, गुस्ताखी, वावजूद, गलतवयानी आदि शब्द सामान्यतः मिल जाते हैं। भाषा में घरेलूपन लाने के लिए स्थानीय और देशज शब्दों का प्रयोग करते हैं जिससे भाषा में मिठास और ममता का समावेश होता है। आवश्यकता पड़ने पर अंग्रेजी शब्दों का भी व्यवहार करते हैं—अधिकतर पारिभाषिक या दैनिक व्यवहार में आनेवाले शब्द। इनका प्रयोग कभी हिन्दी अर्थ के साथ, कभी शुद्ध अंग्रेजी रूप में। ये इतने कम प्रयुक्त हुए हैं कि उनका प्रभाव भाषा-शैली पर नहीं के बराबर है। वे शब्द हैं—सुर, बटोर, सिंगार-पटार, घरफूँक मस्तीवाला, फक्कड़पन, पारसाल, आशापोसना, वेतुकी, खखड़, अटकलपच्चू, फवेरा, ठूँठ, अधकचरा, Table talk, Modernism, Up to date, Post mortem, Theory, Law and order, Judicial criticism, Subjective, Objective आदि-आदि। इनकी शैली में वह गति (force) बहुत कम आ पाया है, जो निबन्ध का प्राण है। उसमें कसाव कम, ढीलापन अधिक, वक्रता का अभाव, सरलता का प्राधान्य है। कहने का तात्पर्य्य यह है कि इनकी भाषा में सरलता और क्लिष्टता का अद्भुत समन्वय है। इनके वाक्य भी अधिकाश लम्बे और विचार-गुम्फित होते हैं, किन्तु उनका संगठन बहुत ही पुष्ट और सुव्यवस्थित होता है। वाक्यों की सुदीर्घता, शब्दों की क्लिष्टता एव विचारों की गभीरता के कारण उनके निबंध वड़ी एकाग्रता एव मननशीलता के साथ पठनीय होते हैं।

डा० द्विवेदीजी के अधिकतर निबंधों की शैली प्रसादात्मक है। उनके अनेक निबंधों में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की परिचयात्मक शैली तक दृष्टिगोचर होती है। उनके वर्णनात्मक निबंधों में ज्ञानवर्द्धक सामग्री एकत्र है। उनके दो-चार निबन्ध भावात्मक शैली के भी हैं—अशोक के फूल, वह चला गया आदि। भावात्मक आवेश शैली का एक अन्य रूप भी कई निबन्धों में मिलता है—प्रशंसात्मक और सवेदनात्मक। 'धन्य है वह देश', 'धन्य है वह समाज', 'धन्य है वह भूमि' में संवेदनात्मक भावोच्छ्वास बिखर पड़ा है। 'हाय हाय', 'धन्य धन्य' तो भारतेंदुकालीन बूढ़ी शैली की याद दिलाते हैं। यह धन्य धन्य, हाय हाय तो हास्यास्पद ही लगता है। तत्सम्-भाषा-शैली का एक उदाहरण लीजिए—

"विराट ब्रह्माण्ड निकाम को दूरत्व और परिणाम उनके कोटि-कोटि नक्षत्रों का अग्निमय आवर्त नृत्य बहुत विस्मयजनक है। उन समस्त ब्रह्माण्डों से अधिक प्रचण्ड शक्तिशाली, अधिक आश्चर्यजनक। अत्यन्त नग्न स्थान में रहकर, नगण्यतर काल में बास कर वह इस विपुल ब्रह्माण्ड को जानने की इच्छा रखता है, और सफल होता जा रहा है।"

द्विवेदीजी की विवेचना-प्रधान शैली साहित्य-समीक्षा और सिद्धांत-निरूपण संबंधी निबन्धों में मिलती है। इसके लिए उनके आलोचनात्मक ग्रंथों को देखिये। उनकी विवेचना की विशेषता है वाद रहित, बिना विरोध अपनी बात कह देना। इसी शैली के अन्तर्गत विश्लेषण शैली का भी कहीं-कहीं समावेश हो गया है। सिद्धात निरूपण में बहस और विवाद से बचते हैं। स्पष्टता और स्वच्छता शैली की बहुत बड़ी विशेषता है।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी की कृतियों के अनेक स्थलों पर भाषा की वक्रता और चमत्कारिता की झलक मिलती है और एक आध स्थलों पर विचित्र प्रयोग भी है, लेकिन दुस्तर यात्रा की सफलता पर पगों में लगे एक-दो क्षतों के समान ही—वे विशेष महत्त्व नहीं रखते। प्रसादात्मकता का इतना ध्यान उन्होंने रक्खा है कि भाषा का कसाव, गठन, संक्षिप्तता और व्यंजना का वह

अभाव बन गई है। जहाँ-तहाँ निबन्धकार के व्यक्तित्व का गांभीर्य और चिंतन की नुकीली और चुभीली शक्ति ही अपेक्षित हो गई है। सम्पूर्णता का विचार करें तो उनके निबन्ध हिन्दी में एक अभिवृद्धि अवश्य हैं।

उपसंहार

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि साहित्य के क्षेत्र में द्विवेदीजी की देन अत्यन्त ही व्यापक एव महत्त्वपूर्ण है। आज वे अपने कार्यदान तथा पद द्वारा समीक्षक के रूप में ही नहीं, वरन् साहित्यिक आचार्य और नेता के रूप में विद्यमान हैं और उसके प्रभाव का क्षेत्र बहुत व्यापक है। सभी को वे अपने प्रभाव-क्षेत्र में समेटे हैं। ऐसी हालत में उनका दायित्व भी बहुत व्यापक हो गया है, जो यथार्थ तटस्थता तथा विवेक द्वारा ही वास्तविक सुफल लाएगा।

[ख] 'वसंत आया है' का सारांश

निबन्धकार जिस स्थान पर बैठ कर लिख रहा है, उसके निकट कुछ वृक्ष हैं। उन वृक्षों में एक शिरीष भी है जिसमें लम्बी-लम्बी सूखी छीमियाँ लटक रही हैं। थोड़ी-सी हवा चलने में वे खड़-खड़ा उठती हैं। एक नीम है जिसमें कुछ पत्तियों के सिवा और कुछ नहीं है। दो कृष्ण चूड़ाएँ हैं। स्वर्गीय कवीन्द्र रवीन्द्र के हाथों के लगाए हुए ये अन्तिम वृक्ष हैं जो अभी बच्चे हैं। दो-तीन अमरूद के वृक्ष हैं जो सदा एक-से रहते हैं। एक स्थान पर एक मित्र ने मल्लिका का एक पौधा लगा रखा है। वह किसी प्रकार बच रहा है। उसी ने करवीर और कोरिदार के झाड़ भी लगा रक्खे हैं। दो कचनार के वृक्ष भी इस शान्ति-निकेतन में हैं। दोनों एक ही दिन लगाए गए। एक स्वस्थ है, लेकिन इनमें फूल नहीं है और दूसरा मरियल-सा है पर फूलों से लदा है। लेखक को कचनार फूल की लाली बहुत अच्छी लगती है। इन फूलों की पकौड़ियाँ भी बनती हैं। यह कैसा दुर्भाग्य है कि जो पेड़ स्वस्थ है उसी में फूल बिल्कुल नहीं। कमजोरों में ही शायद अधिक भावुकता होती है। लेखक का पेशा है पढ़ना और लिखना। उसका कहना है कि उसने पढ़ा है कि भारतवर्ष के जवानों में कोई उमग नहीं है। वह

'शान्ति निकेतन' में पेड़-पौधों को और भी बुरा पाता है। दुनिया में जब वसंत आता है तो चारों ओर हल्ला हो जाता है, लेकिन इन वृक्षों को कोई खबर नहीं है। अंत में महुआ वसंत का अनुभव करता है, परन्तु जामुन तो और भी उसके बाद फुलाता है। इसी प्रकार अलग-अलग वृक्ष अलग-अलग समय फूलते हैं। इनमें सबसे अच्छा है अमरूद, जो बारहों महीने वसंत मनाता है। शान्ति-निकेतन के हिन्दी-भवन के सामने गंधराज फूलों की कतारें हैं जो अजीब हैं। उनके लिए मौसम का कोई बंधन नहीं। पानी पड़ा और वे फूले। एक घास है विष्णुकान्ता। जैसा इसका नाम सुन्दर है वैसे ही इसके फूल भी। जब पुरवैया बहती है तो यह झूमने लगती है। बरसात के मौसम में यह खूब खिलती है। उससे कुछ दूरी पर पलास है जो खूब फूला हुआ है। उसे कैसे मालूम हुआ कि वसंत आ गया है? लेखक समझता है कि वसंत का आना न आना अपने मन पर निर्भर करता है। दुबले-पतले कचनार में वसंत आ गया, परन्तु मोटा वृक्ष झख रहा है। दुनिया में हल्ला हुआ कि वसंत आ गया है, लेकिन निबन्धकार के पास बुखार आया है—यह भी भाग्य का ही खेल है।

[ग] 'वसंत आ गया है' निबंध की आलोचना।

'वसंत आ गया है' शीर्षक निबंध डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'अशोक के फूल' नामक निबंध-संग्रह से लिया गया है। यह एक विचारात्मक निबन्ध है जो द्विवेदीजी की सूक्ष्मदर्शिता का सूचक है। इस निबन्ध को पढने से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदीजी एक मामूली-सी बात को अत्यन्त सुन्दर ढंग से रंजित कर सकते हैं। अतएव हम देखते हैं कि द्विवेदीजी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने प्राचीन ज्ञान और नवीन अनुभवों का संतुलन अपने जीवन में बना लिया है। उनकी इसी विशेषता के कारण उनमें एक व्यक्तित्व प्रधान निबंधकार के सभी गुण आ गए हैं। एक ओर जहाँ गुलाबराय की उद्धरण-बहुल शैली में कविता का अभाव है वहाँ द्विवेदीजी पूर्णतया कवि भी हैं। उनके इस निबन्ध में उनकी अनुभूति व्यक्त हुई है। निबन्ध लेखक की स्वयं अपनी

अनुभूति भी होती है। द्विवेदीजी में इस प्रकार के निबन्ध-लेखक के सभी गुण विद्यमान हैं, किन्तु एक बात इस निबन्ध में अब भी नहीं आ सकी है। खास कर अत्यधिक कवित्व होने के कारण, रीड के शब्दों मे कुछ धुंधली हो गई है। वह है स्वयं को उपस्थित करने की प्रवृत्ति, जो 'वसंत आ गया है', निबन्ध में काफी स्पष्ट रूप से उभरी है। दूसरा गुण व्यंग्य है जो द्विवेदीजी के जीवन के साथ इतना घुला-मिला है कि उसके बिना अपनी समस्त गम्भीरता एवं अध्ययन के रहते हुए भी वे पूरे नहीं लगते। गंभीर-से-गभीर स्थलों पर जहाँ कुछ समय पहले कवित्व की घटा छायी थी, वहाँ अचानक हास्य की सुनहली धूप चमक उठती है। अंग्रेज लेखक गार्डिनर के 'बस कन्डक्टर' की तरह द्विवेदीजी की यह कोशिश रहती है कि वे जहाँ रहते हैं किसी को बहुत देर तक गम्भीर मुख-मुद्रा बनाये बैठे रहने नहीं देना चाहते। उनके ये गुण एक ही जगह देखे जा सकते हैं। एक मरियल काँचनार को सर से पाँव तक पुष्पित देखकर वे कलम उठा लेते हैं और धीरे-धीरे अपने आपको उसी की बगल में खड़ाकर एक काँचनार की ही तरह अपना लेखा ठयोढा हमारे समक्ष प्रस्तुत कर देते हैं। "सब-के-सब वृक्ष बुरी तरह चुप हैं; कहीं भी उल्लास नहीं, पर कवियों की दुनियाँ में हल्ला हो गया। प्रकृति रानी नया शृंगार कर रही हैं और फिर न जाने क्या ? कवि के आश्रम में रहता हूं नितान्त ठूँठ नहीं हूं पर भाग्य प्रसन्न न हो तो कोई क्या करे ?

"पढ़ता-लिखता हूं। यही पेशा है। सो दुनिया के बारे में पोथियों के सहारे थोड़ा बहुत जानता हूं। पढ़ा है हिन्दुस्तान के जवानों में कोई उमंग नहीं है। इधर देखता हूं कि पेड़-पौधे और भी बुरे हैं। सारी दुनियाँ में हल्ला हो गया, पर इन कमबख्तों को खबर ही नहीं। थोड़ी दूर पर यह पलाश ऐसा फूल हुआ है कि ईर्ष्या होती है मगर उसे किसने बताया कि वसंत आ गया है। मैं थोड़ा-थोड़ा समझ सकता हूं। वसंत आता नहीं ले आया जाता है। यह मरियल काँचनार ले आया है। अपने मोटे राम तैयारी कर रहे हैं ·· और मैं ?··· ·· मुझे बुखार आ रहा है। सारी दुनियाँ मे हल्ला हो गया है कि वसंत आ रहा है

पर मेरे पास आया है बुखार। अपने काँचनार की ओर देखता हूं और सोचता हूं कि मेरी वजह से तो कहीं नहीं रुका है ?" (वसंत आ गया है)

अपने ही ढंग से समस्याओं का मनोरंजक निष्कर्ष निकालने की प्रवृत्ति के कारण द्विवेदीजी को छोटी-छोटी कथाओं और मुहावरों का प्रयोग करना पड़ा है। इसमें हमें गभीर हास्य को देखकर हिन्दी के हास्य साहित्य पर लगाए गए लांछण झूठ ही लगते हैं।

प्रस्तुत निबन्ध का विषय अत्यन्त ही साधारण है, परन्तु निबन्धकार ने अपनी तूलिका से इस प्रकार सजाया-सँवारा है कि निबन्ध अत्यन्त रोचक बन गया है।

निबन्ध की भाषा में सरसता है. परन्तु तत्सम् शब्दों का आधिक्य है। इसमें उर्दू के शब्दों का प्रयोग भी अधिक हुआ है, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उन्हे उर्दू के शब्दों से नफरत है। उर्दू के कुछ शब्द ये हैं—जवान, नादान, मुर्दनी, महसूस, गुल्म, कम्बख्त, पेशा, दुनियाँ, मौज, अजीब, कायल, मजाक; वजह आदि। इसमें मुहावरे नाममात्र के लिए प्रयुक्त हुए हैं। सरसता लाने के लिए उन्होंने कहीं-कहीं प्रान्तीय एवं देशज शब्दों का व्यवहार किया है, यथा—छिम्मियाँ, ठूँठ, मरियल, ललाई, माती, लहक, पुरवैया, मोटेराम आदि। एक-आध स्थल पर सस्कृत की उक्ति भी प्रयुक्त हुई है। सच तो यह है कि विचार-शृंखला में ऐसा तारतम्य है कि पाठक का मन विषयवस्तु से इधर-उधर हट नहीं पाता है। शैली की दृष्टि से द्विवेदी विचार प्रधान निबन्धकारों में अन्यतम स्थान रखते हैं। 'द्विवेदीजी के जीवन का यह गगा-जमुनी रंग ही उनके निबन्धों का विश्लेषण है। स्वयं वे अपने निबन्धों में जितने उपस्थित हैं उतना और कहीं नहीं।'

[घ] शब्दार्थ, व्याख्या और आशय

शब्दार्थ (पृ० ९१)—शिरीष=एक पेड़ का नाम, देहातवाले इसे 'सिरसा' या 'सिरसई' भी कहते हैं। छिम्मियाँ=फलियाँ। झड़ने के रास्ते में है=झड़ रहे हैं। अस्थिमालिका=हड्डियों की माला। उन्मत्त=पागल-सा।

कापालिक = शैव मत का माननेवाला तान्त्रिक साधु जो मनुष्य की खोपड़ी लिए रहता है और मदिरा मास खाता है। भैरव = शंकर, शिव के एक गण, जो उनके ही अवतार माने जाते हैं। कुसुम = फूल। जन्म = उत्पत्ति। ततो = तब। पल्लवाः = पत्तियाँ। गंध = महक। किसलयिकाओं = छोटी-छोटी पत्तियों। उमग = जोश। चिंह = निशान। मसें भींगो हैं = मूछें निकलने लगी हैं। कृष्णचूड़ा = वृक्ष का नाम, काली घुँघचियों के पेड़। वृक्षावलि = पेड़ों की कतार। मरे फागुन = फागुन के बीच। मसृण = मुलायम और चिकना। सूच्यग्र = सूई का अगला भाग। शिखंत = चोटी। सूखे सावन भरे भादों = सावन हो या भादो-सभी दिन। श्वेत = उजला। जाती-पुष्पों = एक जाति के फूलों। केदार = वृक्ष के नीचे का थाला। जाती-पुष्पों का एक केदार है = देशी फूलों की एक क्यारी है। संशोधन = सुधार। अस्थान = थाला। मल्लिका = एक प्रकार का वेला। गुल्म = पौधा। करवीर = कनेर का पेड़। कोविदार = पेड़ का नाम। प्रकृति-रानी = प्रकृति जो रानी की तरह है।

एक शिरीष है ... नाम गंध भी नहीं है। (पृष्ठ ६०)

व्याख्या—डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी शान्ति-निकेतन के खुले वातावरण में बैठे हैं और कुछ लिख रहे हैं। वहाँ के वृक्षों का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि उन वृक्षों के बीच एक शीरीष का वृक्ष है जिसमें लम्बी-लम्बी सूखी हुई छीमियाँ लटक रही हैं। उस वृक्ष के कुछ पत्ते तो झड़ गए हैं और कुछ झड़ने ही वाले हैं। ये पत्ते जरा-सा हवा के लगते ही उसी प्रकार खड़खड़ा कर हिल उठते हैं जिस प्रकार हाथ में खप्पर लिए हुए, मदिरा-मास आदि खानेवाले तान्त्रिक साधु के गले की हड्डियों की माला खड-खड़ा उठती है। इस स्थल पर निवन्धकार ने सूखी हुई छीमियोंवाले शिरीष के पेड़ की तुलना उस तान्त्रिक साधु से की है जिसके गले में हड्डियों की माला रहती है। आगे चलकर निवन्धकार कहते हैं कि फूल उत्पन्न होते हैं, उसके पश्चात् नयी-नयी पत्तियाँ भी उत्पन्न होती हैं, ऐसा नियम है, परन्तु इस वृक्ष के साथ ऐसी बात नहीं है। उसका तो न कहीं नाम ही मालूम होता है और न

कोई गंध ही। कहने का तात्पर्य्य यह है कि उसमें नयी पत्तियों के उत्पन्न होने का कोई लक्षण ही नजर नहीं आता है।

जाती पुष्पों का एक ... जाने क्या-क्या। (पृ० ६१-२)

व्याख्या—प्रस्तुत गद्य-संदर्भ में शान्ति-निकेतन के पौधों का वर्णन करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि वहाँ मिट्टी का एक थाँवला भी है जिसमें एक ही जाति के कई फूल के पौधे लगे हुए हैं, परन्तु इन पौधों पर इस प्रकार की मुर्दनी छायी हुई है कि उसे देखकर कवि की ख्यातियों पर लिखित निवन्ध में उन्हे (लेखक को) हेरफेर करने की जरूरत महसूस होती है। लेखक के कहने का तात्पर्य्य यह है कि कवियों के वर्णनों के अनुसार इन फूलों में खुशी नजर आनी चाहिए थी, परन्तु उसके स्थान पर उदासी छायी हुई है। यह स्वाभाविक नहीं है। आगे चलकर द्विवेदीजी कहते हैं कि शान्ति-निकेतन के एक स्थान पर एक मित्रने मल्लिका का एक पौधा भी लगा दिया है, परन्तु उसमें भी कोई मस्ती नहीं है। वह सिर्फ जी रहा है। दो कनेर और एक कोरिदार के वृक्ष भी उसी मित्र के द्वारा लगाए गए हैं, परन्तु वे भी बिल्कुल शान्त खड़े हैं। उनमें भी हँसी-खुशी नहीं हैं। सभी पौधों पर दृष्टिपात करने के वाद लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि कहीं भी वसन्त का आनन्द नजर नहीं आता। दूसरी ओर कवियों के ससार में यह समाचार फैल गया है कि ऋतुराज वसत आ गया है, प्रकृतिरानी नये प्रकार से अपनी सजावट कर रही है। इसी प्रकार की और भी अनेक वातें फैल रही हैं, परन्तु द्विवेदीजी यहाँ कुछ भी नहीं देखते हैं।

शब्दार्थ (पृ० ६२)—शृंगार = सजावट। नितान्त = बिल्कुल। ठूँठ = डंडा। काँचनार=कचनार। विडम्बना = मजाक। मरियल = मरा-सा। टहनियाँ = छोटी-छोटी डालें। अग्रसर=आगे चलनेवाला। सथाल-बालिका= सथाल जाति की लड़की। ललाई = लाली। भाती है = अच्छी लगती है। लहक उठा = फूल उठा है। कम्वख्तों = वेहूदों। संदेश = खवर। साधन = जरिया। महुआ = एक पेड़। कालिदास = संस्कृत के एक वहुत बड़े कवि।

लाड़ला = प्यारा। कर्णिकार = कनक चम्पा का पेड़। काल = समय, ऋतु। मौज = आनन्द। गंधराज = एक फूल का नाम। पाँत = कतार।

सारी दुनियाँ में हल्ला ...... नौ महीने का। (पृ० ६२)

व्याख्या—विद्वान लेखक शान्ति-निकेतन के खुले वातावरण में बैठा हुआ है। वह वसंत का वर्णन करते हुए कहता है कि सारे संसार में यह समाचार फैल गया कि वसंत ऋतु का आगमन हो गया है, परन्तु वहाँ पर के पेड़-पौधों पर उसका कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा है। इनमें कोई भी परिवर्तन नहीं हो पाया है। इससे प्रतीत होता है मानो इन्हे वसंत के आगमन की कोई सूचना अभी तक नहीं मिली है। इसलिए कभी-कभी लेखक सोचता है कि इन पौधों तक सूचना देने का कौन-सा सुन्दर साधन हो सकता है। महुआ इसलिए बदनाम है कि वह सबके बाद वसंत का अनुभव करता है अर्थात् सबके बाद उसमें फूल लगते, हैं परन्तु जामुन तो और भी उसके (महुआ के) बाद फूलता है। संस्कृत के कवियों में श्रेष्ठ हैं कालिदास, जिनका प्रिय वृक्ष है कनक-चंपा, उसमें तो और भी बाद में फूल फूलता है अर्थात् जेठ में फूलता है। यहाँ पर किसकी-किसकी गणना कराई जाय, सबों की तो वही दशा है। यह देखकर लेखक को ऐसा प्रतीत होता है कि वसंत ही भागता भागता फिरता है। वह देश में नहीं भागता है वरन् सभी जगह भागता फिरता है। लेखक के कहने का मूल तात्पर्य्य यह है कि अलग-अलग पेड़-पौधों के लिए अलग-अलम समय में वसन्त का आगमन होता है।

शब्दार्थ (पृ० ६३)—ऋतु-विशेष = कोई खास मौसम। चर्चा = जिक्र। विष्णुकान्ता = विष्णु के समान शरीरवाली, एक घास का नाम। मनोहर = सुन्दर। बलिहारी = निछावर। नील = नीला। मेदुर = कोमल। पुरवैया = पूरब की ओर से बहनेवाली हवा। नाचीज = तुच्छ। लता = लम्बी। पलास = एक वृक्ष। ईर्ष्या = डाह। नियति = भाग्य।

वसन्त आता नहीं ...... तैयारी कर रहे हैं। (पृ० ६३)

व्याख्या—वसंत ऋतु का आगमन कब होता है?—इसी का वर्णन करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि वसंत स्वयं नहीं आता है वरन्

ले आया जाता ह। लेखक के कहने का तात्पर्य्य यह है कि यों तो चैत और वैसाख में—जब वसंत के आने का समय है—वह आता ही है, परन्तु वस्तुतः जब पेड़-पौधों में नयी पत्तियाँ नहीं निकल आतीं, नये फूल नहीं खिल उठते, तब तक उनके लिए वसंत नहीं कहा जा सकता। अत: वास्तविक वसत का वही समय है जब पेड़-पौधों मे नयी पत्तियाँ या नये फूल उग आते हैं। वसंत का अर्थ है—आनन्द और उत्साह। मानव-हृदय में जब आनन्द और उत्साह भर जाता है तो उसी समय उसके लिए वसत का आगमन माना जाता है। वसंत ऋतु के सिर्फ आने से ही वास्तविक लाभ नहीं है और आनन्द (या उत्साह) का आना मानव-हृदय पर अवलम्बित है। इसीलिए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि वसंत आता नहीं है प्रत्युत् वह ले आया जाता है। अपने इस कथन की पुष्टि के लिए वे दो कचनार के पेड़ों का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। वह कचनार का वृक्ष जो मरे हुए के सदृश दुबला-पतला है, उसमें पुष्प खिल उठे हैं। अतएव हम देखते हैं कि उसके लिए वसंत आ गया है। परन्तु एक दूसरा कचनार का वृक्ष है, जो मोटा-ताजा है, परन्तु उसमें फूल नहीं लगे हैं, अतः उसके लिए वसत का आगमन नहीं हुआ है। वस्तुत: लेखक का यह तर्क बिल्कुल ठीक है कि वसत को कोई अपने ऊपर ले आता है—उस पर वह स्वय नहीं आता है।

मुझे बुखार आ ·· यह नहीं रुका है। (पृ० ९३)

व्याख्या—लेखक कहता है कि ससार में ऋतुराज वसंत का आगमन हुआ, है परन्तु लेखक बुखार से पीड़ित है। इसके कहने का तात्पर्य्य यह है कि वसतागमन से चारो ओर ही प्रसन्नता प्रसन्नता है परन्तु उसी भाग्य लेखक के साथ मजाककर रहा है। बुखार के कारण लेखक के हृदय की प्रसन्नता दूर भाग गयी है, उसमें मस्ती नहीं है। बुखार ने उसकी समस्त खुशी को हर लिया है। वह सोचता है कि उसके द्वार पर लगे हुए कचनार को भी कदाचित् उसके ही दुःख को देखकर वसत की बहार में आनन्द नहीं आता है। यही कारण है कि वह हरा-भरा नहीं दिखलाई पड़ता है। शायद यह हो सकता है कि वह कचनार लेखक के स्वास्थ होने की बाट जोह रहा है कि जब लेखक स्वस्थ होकर प्रसन्न

हो उठे तभी वह वसन्त की वहार का आनन्द ले और फले फूले। इसीलिए वसंत के आने के बावजूद भी कचनार प्रसन्न नहीं है।

[ङ] अलोचनात्मक प्रश्नोत्तर

प्रश्न १—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उत्तर—लेखक का परिचय पढ़ें।

प्रश्न २—आचार्य द्विवेदी को साहित्य-साधना पर निवन्ध लिखिए।

उत्तर—'साहित्य-साधना' उपशीर्षक निबंध पढ़ें।

प्रश्न ३—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को भाषा शैली पर एक अलोचनात्मक निबंध लिखे।

उत्तर—'भाषा शैली' नामक उपशीर्षक निबध पढ़ें।

प्रश्न ४—'वसंत आ गया है' शीर्षक निबंध का साराश लिखें।

उत्तर—निवन्ध का साराश पढ़े।

प्रश्न ५—'वसंत आ गया है' निवध की समीक्षा कीजिये।

उत्तर—निबंध की आलोचना पढ़े।

प्रश्न ६—प्रस्तुत निवन्ध से हमें कौन-सी सीख मिलती है? इस पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—प्रत्येक कलाकृति के पीछे लेखक का अपना एक खास विचार छिपा रहता है जिसे हम संदेश को सज्ञा से अभिभूत कर सकते हैं। राष्ट्रीय कवि मैथिलीशरण गुप्तने एक स्थल पर लिखा है कि साहित्य का एक मात्र अर्थ मनोरंजन नहीं है, वल्कि उपदेश देना भी उसका कर्त्तव्य है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के इस निवन्ध के पीछे भी एक उद्देश्य है। इसका विषय तो देखने में अत्यन्त साधारण है परन्तु समस्या वहुत ही गंभीर है। वसत के आगमन से चारो ओर प्रसन्नता-ही-प्रसन्नता दिखलाई पड़ती है परन्तु कुछ स्थानों में प्रसन्नता नाम मात्र के लिए भी नहीं होती है। इसीलिए निवधकार कहता है कि वसत स्वयं नहीं आता प्रत्युत वह ले आया जाता है। अपने इस कथन की पुष्टि के लिए उन्होंने कचनार के दो वृक्षों का उदाहरण प्रस्तुत किया है।

वह कचनार का वृक्ष जो मरे हुए के सदृश्य दुबला-पतला है, उसमें फूल खिल उठे हैं। अत एव हम देखते हैं कि उसके लिए वसंत आ गया है। परन्तु एक दूसरा कचनार का वृक्ष है, जो मोटा-ताजा है लेकिन उसमें फूल नहीं लगे हैं, इसलिए उसके लिए वसत का आगमन नहीं हुआ है। वस्तुत: लेखक का यह तर्क बिलकुल ठीक है कि वसत को कोई अपने ऊपर ले आता है—उसपर वह स्वयं नहीं आता है। वसतागमन से लोगों में आनन्द का भाव विद्यमान रहना चाहिये, परन्तु ऐसी बात नहीं पायी जाती है। इस देश के नौजवानों में किसी प्रकार का उमग नहीं। उन्हे देखकर ऐसा मालूम होता है मानों उन्हें वसंतागमन का पता ही नहीं। इसीलिए निबंधकार ने सूत्र रूप में निर्देश किया है कि वसत समय के साथ भागता चलता है और उसें जो चाहे अपने संग ले आ सकता है। अतः यह स्पष्ट होता है कि वसत तो मनुष्य की इच्छा पर निर्भर करता है।

धर्म और घुमक्कड़ी

(राहुल सांकृत्यायन)

जन्म संवत् १८९२ (जीवित)

[क] राहुलजी का जीवन-परिचय

श्री राहुल साकृत्यायन त्रिपिटकाचार्य सुप्रसिद्ध और उद्भट लेखक हैं। उनका जन्म विहार प्रान्त के सारन जिले के अन्तर्गत सन् १८९५ ई० में हुआ था। 'इनके पिता का नाम पडित गोवर्द्धन पाण्डेय था और राहुलजी के बचपन का नाम है केदारनाथ पाण्डेय। आरंभ से ही उनकी पढ़ने-लिखने तथा देशाटन करने के प्रति बड़ी

जीवन-परिचय

अभिरुचि थी। सन् १९०७ में घर छोड़कर वे हावड़ा (कलकत्ता) चले आये और उस समय उनके हाथ में 'गुलवकावली' थी और साथ-ही-साथ चिंतित भी। इसी रूप में पं० बनारसी दास चतुर्वेदी ने राहुलजी को हावड़ा स्टेशन पर देखा था और चतुर्वेदीजी द्वारा पूछे जाने पर राहुलजी ने उन्हें कह सुनाया था। वह यों है—'मैं उर्दू मिडिल का विद्यार्थी हूँ। अपने नाना के पास से भाग कर यहाँ आया हूँ। मेरे नाना हैदराबाद (दक्षिण) में फौज में नौकर थे। अब वे बूढ़े हो चुके हैं। अक्सर वे नानी को अपनी यात्राओं का हाल सुनाते रहते हैं। इससे मेरे मन में भी यात्रा करने की धुन समाई, इसलिए यहाँ भाग आया हूँ। उर्दू की किताब में मैंने पढ़ा है—

सैर कर दुनिया की गाफिल जिन्दगानी फिर कहाँ ?
जिन्दगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहाँ ?

इसीलिए घर से दुनिया की सैर करने निकल पड़ा हूँ।' सन् १९०७ के राहुल और आज के राहुल में आसमान जमीन का भेद है। उसी समय से उन्हें घूमने का एक रोग हो गया है और वह आज तक है। उनकी शिक्षा के विषय में चतुर्वेदीजी ने लिखा है कि 'राहुलजी ने किसी विश्वविद्यालय में शिक्षा नहीं पाई; पर साथ ही यह कहना अधिक ठीक होगा कि उन्होंने दरअसल 'विश्व' के विद्यालय में आँख खोलकर घूमते हुए खूब शिक्षा प्राप्त की है। उर्दू-मिडिल उन्होंने जरूर पास किया था और गणित में तमीज भी पाई थी; पर उर्दू की वजह से उनके नम्बर कम हो गए और उन्हें छात्रवृत्ति न मिल सकी। नतीजा यह हुआ कि वे आगे नहीं पढ़ सके। उर्दू-मिडिल पास करने के बाद उन्होंने लघु कौमुदी, सिद्धान्त कौमुदी पढ़ी। फिर डेढ़ वर्ष तक आगरे के मुसाफिर विद्यालय में अरबी पढ़ते रहे। फूफा के पास संस्कृत पढ़ी, फिर काशी में तीन वर्ष तक संस्कृत का अध्ययन करते रहे। अंग्रेजी पढ़ने की धुन सवार हुई तो १९१३ में काशी के डी० ए० वी० स्कूल में सातवें दर्जे में भर्ती हो गए, पर तीन महीने से अधिक न पढ़ सके। इसके बाद सिलोन में भी बहुत दिनों तक पाली भाषा का अध्ययन किया। हाँ, एक सरकारी विश्वविद्यालय में राहुलजी ढाई वर्ष तक शिक्षा पाई थी और उसका भूल जाना

राहुलजी और सरकार दोनों के प्रति कृतघ्नता होगी। १६२१ तथा १६२४-२६ में आप ढाई वर्ष तक जेल में रहे। राहुलजी उन साधु-संन्यासियों में से नहीं हैं, जिनके कानों तक देश की स्वाधीनता के संग्राम की ध्वनि ही नहीं पहुँचती और जो अपने देश की मुक्ति के प्रयत्न में कुछ भी सहायता न देते हुए व्यक्तिगत मोक्ष के लिए लालायित रहते हैं।" (रेखाचित्र)

इस प्रकार हम देखते हैं कि राहुलजी ने हिन्दी, संस्कृत, फारसी, अरबी, पाली आदि कई भाषाओं की जानकारी प्राप्त की। कहा जाता है कि संयोगवश इनका प्रथम विवाह उनकी इच्छा के प्रतिकूल किशोरावस्था में हो गया। बस, वे इस बात से रुष्ट होकर देशाटन करने के लिए निकल पड़े। सबसे पहले वे भारत और नेपाल की सीमाएँ कौशलपूर्वक पारकर तिब्बत पहुँच गए। वहाँ उन्होंने पाली भाषा और बौद्ध-ग्रंथों का कई वर्षों तक गहन अध्ययन किया। बौद्ध साहित्य से प्रभावित होकर उसी धर्म में दीक्षित हो गए। राहुलजी का अधिकांश जीवन संसार के विभिन्न देशों की यात्रा करते ही बीता है। वे एशिया के प्रायः समस्त देशों का भ्रमण कर चुके हैं। रूस, चीन, जापान, लंका, अफगानिस्तान, ईरान, एशिया माइनर, लद्दाख आदि देशों [में भ्रमण करने के साथ ही उन्होंने यूरोप के भी अनेक प्रमुख देशों, यथा इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, टर्की आदि का भी विस्तृत पर्यटन किया है। वे रूस में अनेक वर्षों तक रहे और साथ-ही-साथ इन्होने लेनिनग्राड विश्वविद्यालय में अध्यापन-कार्य भी किया। सन् १६४५ में वे भारत लौट आये। उन्होंने वहाँ एक रूसी महिला से विवाह भी किया जिससे उन्हे लड़के-लड़की भी हुए। भारत में आने पर इन्हे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सभापति भी बनाया गया। राहुलजी में अनेक गुण हैं, अद्भुत परिश्रमशीलता है, अदम्य पौरुष है और गम्भीर विद्वता है। सबसे बढ़कर बात यह है कि वे 'गाफिल' नहीं हैं और अपनी नौजवानी में दुनियाँ की खूब सैर करते हुए हमारे साहित्य और समाज का मुख उज्ज्वल कर रहे हैं। आजकल वे मंसूरी में रहकर अपनी लेखनी को जीवित रखे हैं।

महापडित राहुल साकृत्यायन एक महान घुमक्कड़ होने के साथ ही उद्भट लेखक भी हैं। उन्होंने अपनी देश-देशान्तर यात्रा सम्बन्धी अनेक पुस्तकें लिखी हैं। उन्होंने अनेक बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद भी किया है। आये दिन उनकी रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में भी प्रकाशित होती रहती हैं। उन्होंने अब तक जितनी रचनाएँ की हैं उतनी अब तक किसी ने भी नहीं की है। उन्होंने अपनी अविरत लेखनी से करीब-करीब पाँच दर्जन पुस्तकों की रचना की है। उनका समस्त साहित्य इस प्रकार है—

राहुलजी की रचनाएँ

(१) यात्रा—मेरी लद्दाख यात्रा, लंका, तिब्बत में सवा वर्ष, मेरी तिब्बत यात्रा. मेरी योरप यात्रा, जापान, ईरान, सोवियतभूमि और घुमक्कड़ शास्त्र।

(२) साम्यवाद और राजनीति—बाईसवीं सदी, साम्यवाद ही क्यों, दिमागी गुलामी, क्या करें, तुम्हारी क्षय, सोवियत न्याय (अनुवाद), राहुलजी का अपराध, सो० स० कम्यूनिस्ट पार्टी का इतिहास (दो भाग), मानव समाज, मार्क्सवाद, पाठावलि, आज की समस्याएँ।

(३) साहित्य और इतिहास—पुरातत्व निबन्धावलि, तिब्बत में बौद्धधर्म, इस्लाम धर्म की रूप रेखा, हिन्दी-काव्यधारा, साहित्य-निबन्धावलि।

(४) उपन्यास और कहानी--शैतान की आँख, विस्मृति के गर्भ में, जादू का मुल्क, सोने की ढाल, जीने के लिए, सतमी के बच्चे, वोल्गा से गंगा, सिंह सेनापति, जो दास थे, जय यौधेय।

(५) दर्शन—वैज्ञानिक भौतिकवाद और दर्शन दिग्दर्शन।

(६) विज्ञान—विश्व की रूपरेखा।

(७ जीवनी—नये भारत के नये नेता, मेरी जीवन-यात्रा।

(८) बौद्धधर्म—बुद्धचर्या, मज्झिम निकाय, दीछ निकाय, विनय पिटक, धर्मपद, बौद्ध दर्शन।

(९) तिब्बती भाषा—तिब्बती बालशिक्षा, तिब्बती व्याकरण।

(१०) संस्कृत—विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, अभिधर्मकोश, प्रमाणवार्तिकम्।

(११) संस्कृत—सिंहल (चार पुस्तकें)

(१२) भोजपुरी नाटक—जपनिया राछछ, जरमनवा के हार निहिचय, देशभक्त, ई हमर लड़ाई, टुनमुन नेता, तीन नाटक।

यह है राहुल साकृत्यायन का समस्त साहित्य, जिसका दायरा अत्यन्त विस्तृत एव व्यापक है।

राहुलजी की साहित्य-साधना

राहुलजी हिन्दी के एक सिद्धहस्त लेखक हैं। वे एक वड़े ही विद्वान, अन्वेषक एव देश-विदेश का परिभ्रमण करनेवाले अनुभवी व्यक्ति हैं। उनकी लेखनी धारावाहिक रूप से विभिन्न विषयों—धर्म, राजनीति, यात्रा-वर्णन, उपन्यास, कहानी पुरातत्व आदि पर निरन्तर चलती रहती है। उनकी लेखनी कभी भी शिथिल नहीं रहती है। इसमें सन्देह नहीं कि राहुलजी ने हिन्दी-साहित्य के भण्डार को अपने लिखे ग्र थों से भरा है, किन्तु इनकी रचनाओं में साम्प्रदायिकता की स्पष्ट छाप है। बौद्ध धर्म में दीक्षित हो जाने के कारण तथा रूस में कई वर्षों तक रहने के कारण इनकी रचनाओं में साम्यवाद और बौद्धधर्म की गहरी छाप है। अतः इनकी रचनाओ की मूल आत्मा भारतीय सस्कृति के स्वर से भिन्न प्रतीत होती है। बुद्ध की आचार-शिक्षा को भारतीयों ने भले ही अपना लिया, किन्तु उनके अनात्मवाद और अनीश्वरवाद को वह कभी अगीकार न कर सका। इसीसे वह भारत में अधिक दिनों तक टिक भी न पाया है। साम्यवाद की जन्मभूमि रूस है। भारत की राष्ट्रीयता भी रूसी साम्यवाद अंगीकृत करने को प्रस्तुत नहीं है। इस दशा में राहुलजी के ग्र थों को यदि साहित्य-जगत् में सम्मान न मिल सका, तो वह विशेष आश्चर्य की बात नहीं है।

राहुल जी का महाप्राण व्यक्तित्व कर्म, वाणी और विचार तीनों की विभूतियों से सम्पन्न है। उनके विचार-पाडित्य- के दो पक्ष हैं—एक पुरात्त्व का व्यापक और गभीर ज्ञान, दूसरा का आधुनिक समाजवादी दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का ठोस व्यवहारिक और सैद्धान्तिक ज्ञान। उनके उपन्यासों का सम्पूर्ण कलेवर इन्हीं दो आधारों पर खड़ा हुआ है। 'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' क्रमशः लिच्छविगण, और यौधेयगण के सामूहिक जीवन-सघर्ष का चित्रण करते है, जैसा कि इनके नामों से स्पष्ट है। इसमें सदेह नहीं की इन दोनों उपन्यासों

में प्रधानतः एक-एक व्यक्ति के जीवन-वृत्त का विवरण है—'सिंह सेनापति' में लिच्छवि-वीर सिंह और 'जय यौधेय' में यौधेय-वीर जय का, परन्तु फिर भी इनमें से कोई भी व्यक्ति-प्रधान उपन्यास नहीं है। ये दोनों व्यक्ति वास्तव में गण-जीवन के भी प्रतीक हैं। राहुलजी के पास ऐश्वर्यमयी कल्पना है, ऐतिहासिक सामग्री का अक्षय भण्डार है, एकान्त स्वच्छ और निर्भ्रान्त जीवन-दर्शन है और सहस्त्रों वर्षों के व्यवधान के आर-पार देखनेवाली तीव्र दृष्टि है, परन्तु कथा-शिल्प विशेष नहीं है। इन उपन्यासों में औपन्यासिक घटना-विधान और चरित्र-चित्रण का वहुत-कुछ अभाव-सा ही है—राहुलजी न तो आकर्षक नाटकीय परिस्थितियों की सृष्टि कर सके हैं और न चारित्रिक द्वन्द्वों की उद्भावना ही। उसका कारण यह है, कि राहुलजी की दृष्टि प्रतिपाद्य और इतिहास पर केन्द्रित रही है। मनोवैज्ञानिक विश्लेशण का धैर्य उनमें नहीं है। उनकी घटनाओं की गतिविधि और पात्रों का चरित्र-विकास प्रतिपाद्य के अनुसार पहले से ही इतने रूप में निर्धारित हो जो जाते हैं कि द्वन्द्व उत्पन्न ही नहीं हो पाता। राहुलजी की कला सृजनात्मक होने की अपेक्षा विवरणात्मक ही अधिक है। उनमें विवरण उपस्थित करने की अतुल क्षमता है—और ये विवरण सर्वत्र अत्यन्त वैचित्र्यपूर्ण और सजीव होते हैं। इसका कारण है राहुलजी का अनुभव जो विस्तृत पाडित्य तथा देश-विदेश की यात्राओं से समृद्ध और परिपुष्ट है। फिर भी जो वर्णन हुआ है, वह अत्यन्त रोचक, सजीव और ज्ञानवर्द्धक है। यह एक मान्य सत्य है कि 'अधिकतर जो सज्जन विद्वान होते हैं और जिनका जीवन अनुसधानो में बीतता है उनमें मौलिक प्रतिभा नहीं के बराबर रहती है लेकिन जब हमारी दृष्टि राहुल जी की ओर जाती है तब हमारा इस नियम से विश्वास उठ जाता है क्योंकि इन्होंने 'सिंह सेनापति' प्रभृति उपन्यासों की रचना कर जहाँ एक ओर अपनी विचित्र रुचि का परिचय दिया है वहीं हिन्दी संसार की एक विशेष आख्यायिका—परम्परा का निर्वाह करते हुए उसे नवीन मार्ग दिखाने का भी आश्चर्यजनक प्रयत्न किया है। कहने का तात्पर्य्य यह है कि यदि एक ओर ये अपने कथा-साहित्य द्वारा हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यासकार देवकीनदन खत्री के तिलस्मी मार्ग का अनुसरण

करते हैं तो दूसरी ओर उसके सर्वश्रेष्ठ औपन्यासिक प्रेमचन्द की अति यथार्थ-वादी धारा में भी निष्णात दृष्टिगोचर होते हैं।" (हिन्दी के कहानीकार)

राहुलजी ने कहानियाँ भी लिखी हैं पर उनकी संख्या कम है। उनकी कहानियों में यथार्थवादी रूप ही पाया जाता है। उनकी एक प्रगतिशील कहानी है 'सतमी के बच्चे' जिसमें 'समाज के एक अत्यन्त दलित, शोषित एवं सर्वहारा वर्ग की नारी के मातृत्व का दयनीय तथा अत्यधिक विवश चित्र अंकित किया है।' सतमी के सभी पुत्र औषधि के अभाव में मृत्यु की गोद मे जाकर सो जाते हैं, इनमें जो दृश्य उपस्थित किया है वह अत्यन्त ही मर्मस्पर्शी एवं हृदय-विदारक है। इस दृष्टि से उनकी कहानियाँ अत्यन्त सुंदर बन पड़ी है।

राहुलजी ने दार्शनिक ग्रन्थों का प्रणयन किया है जिसमें 'दर्शन दिग्दर्शन' का विशेष महत्त्व है। इस महत्वपूर्ण और विशाल ग्रन्थ में भारतीय, यूनानी और इस्लामी धर्म की विस्तृत विवेचना है। साथ ही आधुनिक काल की यूरोपीय दार्शनिक विचारधारा का भी इस ग्रन्थ में समावेश है। वेकन और हॉब्स से लेकर निट्जशे, ब्राडले, वेगसाँ, लेनिन और रसल जैसे विचारकों का समावेश ग्रन्थ को और भी अधिक उपादेय बना दिया है। पिछले चार-हजार वर्षों में भारत, ईरान, यूनान, मिश्र और यूरोप के तत्ववेताओं ने मूल मानव-समस्याओं पर जो कुछ सोचा है, उसे अत्यन्त सुन्दर रूप में, ऐतिहासिक और सामाजिक पृष्ठभूमि के साथ लेखक ने यहाँ उपस्थित कर दिया है। उनकी यह रचना संसार के अन्य देशों की दार्शनिक चिन्ता के बीच में भारतीय दर्शन के गौरव को भी प्रतिष्ठित करेगी और भारतीय दर्शन के विद्यार्थियों को शुष्क दार्शनिक वाद-विवादों से ऊपर उठाकर नई विचार-धाराओं और नई दार्शनिक शैलियों में अनुप्राणित करेगी।

राहुलजी ने समय-समय पर अनेक साहित्यिक अधिवेशनों और सम्मेलनों में भाषण दिये हैं। उनमें बहुत से महत्वपूर्ण भाषण 'साहित्य निबन्धावलि' के नाम से संग्रह के रूप में प्रकाशित हुए हैं। अतः उनके साहित्य संबंधी विचारों को एक स्थल पर जानने का इससे उत्तम दूसरा माध्यम नहीं हो सकता। इन निबन्धों में कुछ के शीर्षक हैं—हिन्दी भाषा की प्राचीनता,

साहित्य-चर्चा मातृभाषाओं का प्रश्न, प्रगतिशील लेखक, भोजपुरी, हमारा साहित्य आदि। 'हमारा साहित्य' वह निवन्ध है जो लेखक ने अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ३५ वें अधिवेशन में अध्यक्ष पद से पढ़ा था। लेखक का विश्वास है कि बीसवीं शताब्दी के अन्त तक उस समय की विश्व की किसी भाषा के साहित्य से हिन्दी साहित्य पिछड़ा नहीं रहेगा। ऐसे साहित्य के विकास, उसकी समृद्धि और शक्ति की कहानी 'साहित्य निवन्धावलि' के निवन्धों में पायी जाती है। 'साहित्य निबन्धावलि' हिन्दी के गिने-चुने निवन्ध-संग्रहों में से एक है। इसके अध्ययन से वंचित रहना गंभीर साहित्य की अमूल्य निधि से वंचित रहना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राहुलजी की प्रतिभा वहुमुखी है। वे एक साथ गम्भीर दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, समाजशास्त्री, उपन्यासकार, नाटककार और कहानी लेखक हैं। साहित्य के जिस क्षेत्र में भी इस महान लेखक ने लेखनी चलायी है, उसी में चमत्कार उत्पन्न किया है। उनके इसी गुण के कारण हिन्दी में आज इन्हे सबसे अधिक पढ़ा जाता है। हमारी भाषा के ये अत्यन्त लोकप्रिय साहित्यिक हैं।

राहुलजी की भाषा-शैली

महापंडित राहुल सांकृत्यायन अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा-प्राप्त व्यक्ति है। उनका प्राणवान व्यक्तित्व पर्यटक, परिव्राजक, असीम ज्ञान-सम्पन्न विद्वान, महान अन्वेषक और अनेक दर्शनों के दिग्दर्शक के रूप में जाना जाता है। उन्होंने साहित्य के प्रत्येक अंग को सम्पन्न बनाया है। वे संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित तो हैं ही, साथ-ही-साथ संसार की अनेक भाषाओं के ज्ञाता भी हैं। संस्कृत के परम विद्वान होते हुए भी भाषा-शैली में वे जनप्रिय भाषा लिखने के पक्षपाती हैं। सरल भाषा में गूड़ से गूढ़ बात कहने की शक्ति उनमें है। उनकी भाषा में प्रवाह और प्रसाद गुण पूर्णरूप से विद्यमान है। वे शब्दों के प्रयोग में, संस्कृत के विद्वान होते हुए भी, उदारता से काम लेते हैं। संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग के साथ उर्दू के शब्दों का भी स्वच्छन्द प्रयोग उनकी भाषा में मिलता है, जैसे— तजुर्वा, ऐरे-गैरे, खाक, हद, मामला, उज्र, वेफिक्र, नकद धर्म आदि। उर्दू के

शब्द ही नहीं, बल्कि कहावतों और मुहावरों के यथेष्ट प्रयोग से इनकी भाषा में सजीवता भी पूर्णरूप से है। कुछ मुहावरों के उदाहरण लीजिये—गला फाड़ कर, उस बूँद से भेंट नहीं, चार लात लगा गए, खाक छानते फिरे, धता बता दिया, मुलम्मेवाले महात्माओं, बोलवाला हो गया, यमराज को निमंत्रण देना होता, पैर तोड़ कर बैठ गई, चिट्ठी-चिट्ठी उड़ा दिया, चूल्हा हाथ से छूट गया, झंडा गाड़ आना, गैंठ कर रख दिया, तेली के बैल, आँख में धूल झोंकना आदि। मुहावरों के समान कहावतों का भी सुन्दर प्रयोग इनकी भाषा में मिलती है, जैसे—'महिमा घटी समुद्र की रावण बसा पड़ोस', 'करतल भिक्षा तरुतल वास' आदि। मुहावरो और कहावतो के प्रयोग से भाषा मे प्रवाह और शैली में बडी सजीवता आ जाती है। राहुलजी की भाषा-शैली में इसीसे सजीवता मानों कूट-कूट कर भरी हुई है और इसीसे लेखक के व्यक्तित्व की झलक हमें उनकी रचनाओं में मिल जाती है। सच तो यह है कि एक सामान्य विषय का सर्वसाधारण की सामान्य एव चलती हुई भाषा में लिखा जाना सर्वथा उपयुक्त है। ऐसी ही भाषा लोकप्रिय होती है। यहाँ पर उनकी भाषा का एक उद्धरण देना असगत न होगा—

"यहूदी पैगम्बरों ने घुमक्कड़ी-धर्म को भुला दिया, जिसका फल शताब्दियों तक उन्हे भोगना पड़ा। उन्होंने अपने जानते चूल्हे से सिर निकालना नहीं चाहा। घुमक्कड़ धर्म की ऐसी भारी अवहेलना करनेवाले की जैसी गति होनी चाहिए, वैसी गति उनकी हुई। चूल्हा हाथ से छूट गया और सारी दुनिया में घुमक्कड़ी करने को मजबूर हुए, जिसने आगे उन्हें मारवाड़ी सेठ बनाया; या यों कहिए कि घुमक्कड़ी धर्म की एक छींट पड़ जाने से मारवाड़ी सेठ भारत के यहूदी बन गए। जिसने इस धर्म की अवहेलना की, उसे रक्त के आँसू बहाने पड़े। अभी इन बेचारों ने बड़ी कुर्बानी के बाद और दो हजार वर्ष की घुमक्कड़ी के तजुर्बे के बल पर फिर अपना स्थान प्राप्त किया। आशा है कि स्थान प्राप्त करने से वह चूल्हे में सिर रखकर बैठनेवाले, नहीं बनेंगे।"

उपर्युक्त उद्धरण में भाषा का प्रवाह, सजीवता, चलतापन, सुबोधता, सरलता आदि जहाँ कतिपय विशेषताएँ हैं, वहाँ कहीं-कहीं वाक्य विन्यास की शिथिलता का दोष भी लक्षित होता है। उपर्युक्त उद्धरण का चौथा वाक्य आगे चलकर अनावश्यक विस्तार के कारण स्पष्ट रूप से शिथिल तथा व्यति क्रम पूर्ण प्रतीत होता है। प्रचुर परिमाण में लिखनेवाले प्रायः लिखने की धुन में ऐसी त्रुटियों पर ध्यान नहीं देते और इस प्रकार की भद्दी भूलें कर डालते हैं। राहुलजी की भाषा में भी यही खटकनेवाली त्रुटि है। काफी तायदाद में हमेशा लिखते रहने की झोंक में राहुलजी अपने वाक्य विन्यास में कहीं-कहीं शिथिल दिखाई पड़ते हैं। उनके वाक्य प्रायः लम्बे होते हैं और सगठन में व्याकरण की भूलें यत्र-तत्र हो जाती हैं, जैसे—"लेकिन समाज के अगुओं ने चाहे कितना ही कूप-मण्डूक बनाना चाहा, लेकिन इस देश में माई-के-लाल जब तक पैदल होते रहे, जिन्होंने कर्म-पथ की ओर संकेत किया।" ('घुमक्कड़ शास्त्र' पुस्तक के प्रथम निबंध 'अथातो घुमक्कड़ जिज्ञासा' शीर्षक निबन्ध के ग्यारहवें अनुच्छेद से उद्धृत है)। एक ही वाक्य में खण्डों का आरम्भ 'लेकिन' शब्द से खटकता है। साथ ही इससे वाक्य की अर्थ-संगति भी नहीं बैठती। वे अपने निबंध की रोचकता बढ़ाने के लिए कहीं-कहीं प्राचीन कथाओं एवं महापुरुषों के दृष्टान्त दे दिया करते हैं। इनकी शैली विषय तथा प्रसंग के अनुसार परिवर्तित होती रहती है और उसमें चुभते व्यंग्य तथा अनोखी जिन्दादिली रहती है।

राहुलजी अपनी अलौकिक विद्वत्ता के कारण ही विदेशों में भी प्रसिद्ध हैं। उन्होंने संसार के समक्ष जो अप्राप्य सामग्री प्रस्तुत की है, उसका लोहा सारा संसार मानता है। यदि वे खोज नहीं करते तो हिन्दी के अनेक कवि प्रकाश में नहीं आते इसलिए वे हमेशा अमर रहेंगे।

(ख) 'धर्म और घुमक्कड़ी' का सारांश

कुछ लोगों की धारणा है कि धर्म और आधुनिक घुमक्कड़ी में काफी विरोध है, परन्तु यह धारणा बहुत ही गलत है क्योंकि अनेक धर्मों के संस्थापक

ही प्रथम कोटि के घुमक्कड़ थे। अनेक व्यक्तियों ने धार्मिक ग्रन्थों की खोज में दूर-दूर देशों का भ्रमण किया। फाहियान, हुएन-साङ, ईत्सिङ, और मार्को पोलों के यात्रा-वृतान्त इसके अन्यतम उदाहरण हैं। संसार में कुछ घुमक्कड़ों के यात्रा-वृतान्त की हमें जनकारी नहीं है और कुछ अधिक सख्या में घुमक्कड़ भी हैं जिन्होने एक शब्द भी अपनी यात्रा के सबंध में नहीं लिखा। लगभग दो सौ भारतीय पंडितों ने तिब्बत की यात्रा की थी और उन्हे किन-किन मुसीबतों का सामना करना पड़ा, उसका ज्ञान हमें किंचित्मात्र भी नहीं है। आज से नौ सौ वर्ष पहले स्मृति-ज्ञान कीर्ति ने तिब्बत की यात्रा की थी और दूसरे के लिए संस्कृत ग्रन्थों का भोटिया भाषा में अनुवाद किया। वे घुमक्कड़राज थे, परन्तु उन्होंने अपनी यात्रा सम्बंध में कुछ नहीं लिखा। वे मगध के एक बड़े विद्यापीठ के मेधावी तरुण पंडित थे। जिस समय स्मृति का अविर्भाव हुआ था, उस समय भारत में बड़े-बड़े घुमक्कड़ थे। उन दिनों सारे संसार में भारतीय सस्कृति को मान दिया जाता था और सर्वत्र भारतीय सास्कृतिक दूतो की माग थी। एक विद्याप्रेमी तिब्बती बौद्ध अपने देश में कुछ भारतीय पंडितों को ले जाने के लिए आया था। स्मृति और उनका एक तरूण साथी चलने को तैयार हो गए। स्मृति और उनके साथी पैदल ही नेपाल पहुँचे, परन्तु नेपाल में हैजे से उस तिब्बती बौद्ध की मृत्यु हो गयो। भाषा नहीं जानने के कारण स्मृति और उसके साथी के लिए तिब्वत जाना कठिन कार्य था। फिर भी मार्ग में बाधाओं को झेलते हुए दोनों तिब्बत पहुँचे।

स्मृति संस्कृत के धुरंधर पंडित थे और तिब्बत में उस भाषा का ज्ञान प्राप्त करना जरूरी समझा, जिसके लिए तिब्बती जनता से घुल-मिल जाना जरूरी था। ब्रह्मपुत्र नदी को पार कर वे तनाक पहुँचे और एक के यहाँ नौकरी कर ली। वहाँ रहते हुए उन्होंने तिब्बती भाषा का ज्ञान प्राप्त करने के साथ-साथ पुस्तकों और अक्षरों से भी परिचय प्राप्त कर लिया। स्मृति को घुमक्कड़ी का चस्का लग चुका था और इसलिए वे कभी भी एक जगह बैठे नहीं रह सकते थे। इसी बीच एक तिब्बती विद्याप्रेमी को स्मृति के सबध मे खबर मिली और वह उन्हें पकड़ कर ले गया। स्मृति कभी भी अपने देश को नहीं लौटे।

अब उनका कार्य हो गया था—शिष्यों को पढ़ना और ग्रन्थों का अनुवाद करना। स्मृति को बौद्धधर्म से अनुराग था। इसी प्रकार उन्होंने घूमते-घूमते अपनी जीवन-लीला वहीं समाप्त कर दी।

स्मृति के अलावे भी हजारों बौद्ध-धर्मावलम्बियों ने एशिया, मकदूनिया, क्षुद्र एशिया, मिस्र से लेकर बोर्नियो और फिलिपाइन के द्वीपों तक पर्यटन किया, जहाँ आज भी उनकी पवित्र अस्थियाँ बिखरी पड़ी हैं। उस बौद्ध-धर्मावलम्बियों ने ही नहीं, प्रत्युत् ब्राह्मण धर्मावलम्बियों ने भी अपने जीवन के मूल्यवान वर्षों को विद्या और कला के अध्ययन में लगाकर देशाटन को निकल पड़े थे जिनकी दुर्दम्य साहसपूर्ण यात्राओं के गवाह हैं—समुद्र की लहरें। इन्हीं घुमक्कड़ों ने जावा को संस्कृति का पाठ पढ़ाया; चम्पा और कम्बोज में भी भारतीय सभ्यता एव संस्कृति का प्रचार किया था। आज भी जावा में बड़े-बड़े सस्कृत के शिलालेख, कम्बोज के सुन्दर गद्य-पद्यमय विशाल अभिलेख विद्यमान हैं जो भारत के यशस्वी घुमक्कड़ों के कीर्तिस्तंभ हैं। आज से डेढ़ हजार वष पहले भारतीय घुमक्कड़ साइबेरिया की बैकाल झील तक पहुँचे थे जहाँ आज भी लोग भारत का नाम श्रद्धा से लेते हैं। कोरिया के व्रज पर्वत जापान के मनोरम कोयासान, तुङ्-हुवान् की गुफाओं और अफगानिस्तान के बामियान में भारतीय घुमक्कडों के गौरवपूर्ण चिन्ह आज भी मिलते हैं जिन्हें देखकर हम गौरव का अनुभव करते हैं।

भारतीय घुमक्कड़ बौद्ध भी थे, ब्राह्मण भी थे। घुमक्कड़ धर्म की सभी बातों मे विश्वास नहीं रखते हैं क्योंकि वे नानातत्व में एकत्व ढूँढते हैं। तत्पश्चात् लेखक ने अपनी दक्षिणी-यात्रा का उदाहरण देते हुए इस बात को सिद्ध किया है कि घुमक्कड़ों के समक्ष धर्म की महत्ता नहीं है। सन् १९१३ में लेखक विजयनगर के खण्डहरों में पहुँचा जहाँ उसे एक वृद्ध घुमक्कड़ से मुलाकात हुई और कुछ ही समय के बाद वहाँ पर एक तीसरा घुमक्कड भी आ पहुँचा। तीनों तम्बाकू पीने लगे और उसी सिलसिले में देश-देशान्तर की बातें होने लगीं। वृद्ध घुमक्कड़ एक मुसलमान फकीर था, दूसरा (याने लेखक उस समय) शंकराचार्य और रामानुजाचार्य के सम्प्रदायों को मानने वाला

और तीसरा था एक सन्यासी, परन्तु तीनों का सबसे बड़ा धर्म था—घुमक्कड़ी। तत्पश्चात् तीसरे घुमक्कड के अनुरोध पर लेखक तुंगभद्रा के तीर पर गया जहाँ तीन घुमक्कड़ और थे। पाँचो घुमक्कड़ों ने 'लेना हो शंकर, गाँजा है न कंकर, कैलाशपति के राजा, दम लगाना हो तो आ जा' कहते हुए तम्बाकू पीते हुए, रूखा सूखा भोजन पर देश-देशान्तर की बातें कर रात काटी। सच तो यह है कि घुमक्कड़ धर्म की संकीर्ण सीमाओं से काफी ऊँचे उठे रहते हैं. उनमें से कोई भी धर्म, जाति, देश आदि के बारे में नहीं पूछता। उनमें 'मैं' और 'मेरे' की भावना नहीं रहती। उनका सबसे बडा गुण होता है निश्चिन्तता।

घुमक्कड़ धर्म की संकीर्ण सीमाओं को पार कर जाता है। इस दृष्टि से ईसाई घुमक्कड़ ब्राह्मण-धर्मी घुमक्कड़ से अधिक उदार होते हैं; मुसलमान घुमक्कड़ इन बातो मे और भी उदार होता है। परन्तु वास्तविक उदारता एवं सहिष्णुता बौद्ध-धर्मी घुमक्कड़ों में पायी जाती है क्योंकि बौद्ध-धर्म उस नदी के समान है जो अपने नाम-रूप को त्याग कर समुद्र में जाकर एक हो जाती है। उसमें न छूआछूत की गुंजाइश है और न जात-पाँत की। यही एक धर्म है जिसने घुमक्कड़ों के लिए एशिया के बड़े भाग का दरवाजा खोल दिया है। वे धर्म को व्यक्तिगत वस्तु मानते हैं। उनमें आत्मीयता रहती है। आत्मीयता पर धर्म का किसी तरह का व्याघात नहीं होता। सभी घुमक्कड़ साधु सुंदरसिंह का नाम आदर से लेते हैं जो एक ईसाई घुमक्कड़ थे और हिमालय के दुर्गम प्रदेशों मे हमेशा इधर-उधर जाते रहने में रस लेते थे। कहने का मतलब यह है कि घुमक्कड़ और धर्म-सम्प्रदाय सम्बन्धी बाहरी बंधन से प्रभावित नहीं होता है।

इस्लाम धर्म के प्रादुर्भाव के पहले दोनों मध्य एशिया मे घुमक्कड़ साधुओं का बोलबाला था और वहाँ दक्षिण से भारतीय, पूर्व से चीनी बौद्ध, पश्चिम से नेस्तोरी (ईसाई) आर मानी-पंथी साधु पहुँचते थे। उसके अलग-अलग मठ और मन्दिर भी थे, परन्तु एक दूसरे के लिए मन्दिर का द्वार भी बन्द नहीं था। आज से करीब-करीब ग्यारह सौ वर्ष पहले मध्य-एशिया में इस्लाम जैसे कट्टर धर्म का आगमन हुआ जिसने तलवार की धार पर लोगों से उस धर्म को अपनाने

के लिए विवश बनाया परन्तु उसकी तलवार से रक्षा के लिए बौद्ध, मानी और नेस्तोरी पंथ के साधुओं ने एक छत के नीचे रहकर अपना जीवन बिताया और उसी के नीचे इस्लामी तलवार के नीचे अपनी गर्दनें दे दीं। इतना ही नहीं, जब पूर्व-मध्य एशिया मे बौद्ध साधु भागकर दक्षिण में लदाख के बौद्ध देश में आये, तो वे अपने साथ नेस्तोरी बधुओं को भी लेते आये। इससे पता चलता है कि घुमक्कड़ों में भ्रातृभाव रहता है। इस्लामी मुल्लाओं ने जब घुमक्कड़ी के मर्म को समझा तब उनमें भी धार्मिक सहिष्णुता की भावना का प्रादुर्भाव हुआ। इससे साफ जाहिर होता है कि घुमक्कड़ धार्मिक और साम्प्रदायिक संकीर्णताओं से दूर रहते हैं। प्रथम श्रेणी का घुमक्कड़ श्रेष्ठ पुरुष माना जाता है और वह मानव-मानव में संकीर्ण भेद-भाव को नहीं पसन्द करता है। वे लोग देववाद और पूजा-पाखण्ड को पसन्द नहीं करते हैं। उसका मुख्य उद्देश्य 'सेवा करना' होता है। उनके सामने मानवता की सेवा ही सबसे बड़ा धर्म है और धर्मान्धता सबसे बडा अधर्म है। घुमक्कड़ों ने उच्च साहित्य की रचना की, उच्च कला का निर्माण किया, मानव-समाज की आर्थिक, सास्कृतिक और मानसिक प्रगति में सहायता दी। यह ठीक है कि कुछ घुमक्कड़ों में विशेष धर्म के प्रति श्रद्धा-भाव हो, परन्तु जो श्रेष्ठ घुमक्कड़ हैं, वे घुमक्कड़ी के आदर्श से विचलित नहीं होते। इसे हम सिद्धान्तहीनता नहीं कह सकते हैं। सिद्धान्तहीनता तो तब है, जब वह अपने उक्त सद्भाव को छिपाना चाहता है।

आजकल कुछ घुमक्कड़ ऐसे भी मिलते हैं जिसका किसी भी धर्म से कोई भी संबध नहीं है, पर ऐसे घुमक्कड बुरे नहीं कहे जा सकते। जब वे घुमक्कड़ी के आदर्श को भूल जायँ, तब हम उन्हें बुरा कह सकते हैं। जो धर्मों से सन्यास ले लेते हैं, वे और भी उच्चतम घुमक्कड़ी के आदर्श को अपने जीवन का अंग बना लेते हैं। वे सबसे अधिक अपने घुमक्कड़ बन्धुओं और मानव-समाज का कल्याण करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं तथा सबको मित्रतापूर्ण दृष्टि से देखते हैं।

[ग] "धर्म और घुमक्कड़ी" निबन्ध की आलोचना

घुमक्कड़ी पर 'घुमक्कड़शास्त्र' जैसा डेढ़-पौने दो सौ पृष्ठों का ग्रंथ लिखना लेखक श्री राहुल साकृत्यायनजी की मौलिक सूझ और धारावाहिक लेखन-शक्ति

का परिचायक है। 'धर्म और घुमक्कड़ी' शीर्षक निवन्ध इसी ग्रंथ का एक परिच्छेद है जिसमें लेखक ने सच्चा घुमक्कड कौन है, उसकी महत्ता क्या है, उनके समक्ष धर्म का क्या महत्त्व है, उनके आदर्श क्या है, उन्हीं की सरसरी तौर पर चर्चा की है। इसमें सदेह नहीं कि विद्वान लेखक ने अपनी विस्तृत जानकारी के बल पर देश और विदेश के अनेक घुमक्कड़ों के दृष्टान्तों के द्वारा घुमक्कड़ी को ससार की सर्वश्रेष्ठ वस्तु और घुमक्कड़ को समाज का अन्यतम हितकारी सिद्ध कर दिया है लेखक ने जिन घुमक्कड़ों के दृष्टान्त दिए हैं, वे इतिहास और पुराणों द्वारा मान्य हैं। इन घुमक्कड़ों के द्वारा मानव-समाज का जो कल्याण हुआ है, उसे भी कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।

ससार में अनेक शास्त्र हैं, पर राहुलजी ने 'घुमक्कड़ शास्त्र' नामक एक नवीन शास्त्र की सृष्टि कर अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है। घुमक्कड शास्त्र को अन्य शास्त्रों (यथा धर्मशास्त्र, ब्रह्मशास्त्र आदि) से अत्यधिक महत्त्व दिया है और घुमक्कडी को धर्म एवं ब्रह्म से भी श्रेष्ठ वस्तु माना है। इस निवन्ध में उन्होंने धर्म और घुमक्कडी का संबंध स्थापित करते हुए बतलाया है कि धर्म और घुमक्कड़ी में कोई विरोध नहीं है। लोगों के बीच जो यह फैली हुई धारणा है, वह बिलकुल गलत है। इसकी पुष्टि के लिए उनका यह कथन सर्वमान्य है कि 'प्रथम श्रेणी के घुमक्कड़ ही कितने धर्मों के संस्थापक हुए और कितनों ने धर्म से संबंधित हो अद्भुत साहस का परिचय देते हुए दुनियाँ के दूर-दूर देशों की खाक छानी।' इसके साथ-साथ उन्होंने 'घुमक्कड़ी' के आदर्श पर भी दृष्टिपात किया है। प्रस्तुत निबन्ध का विषय कुछ गभीर होते हुए भी अरुचिकर है, परन्तु विद्वान लेखक ने उसे इस ढग से लिखा है कि विषय हृदयग्राही एवं रोचक बन गया है। इसे पढ़ने से सर में दर्द नहीं होता है, प्रत्युत् इससे मनोरजन ही होता है। घुमक्कड़ी के आदर्श को बतलाते हुए लेखक ने अनेक उदाहरणों के द्वारा यह सिद्ध किया है की जो सच्चे घुमक्कड़ होते हैं, उनमें जाति-पाँति, देश, धर्म, रूप-रग आदि का भेद-भाव नहीं होता है। वे धर्म की संकीर्णताओं से ऊपर उठे होते हैं। वे तो

अनेकत्व में एकत्व ढूँढ़ते हैं। उनमें 'मैं' और 'मेरे' की भावना नहीं रहती है। निश्चिन्तता ही उनका सर्वोपरि गुण होता है।

घुमक्कड़ी जैसे गंभीर विषय पर लिखना एक सधे साधक का ही काम है। उस पर सब कोई नहीं लिख सकता है। इस प्रकार के निबन्ध लिखने के लिए गंभीर अध्ययन, अनुभव एवं सूझ-बूझ का होना अनिवार्य है। राहुलजी ने अनेक देशों का भ्रमण किया है और अनुभव प्राप्त किया है। वे बचपन से ही एक घुमक्कड़ जीव रहे हैं और विभिन्न देशों के घुमक्कड़ों को देखकर यह अनुभव किया है कि घुमक्कड़ों में धर्मान्धता, देववाद, पूजा-पाखण्ड, वैराग्य, आदि का कोई स्थान नहीं। उनका प्रधान उद्देश्य होता है सेवा। मानवता की सेवा ही उनका सबसे बड़ा धर्म और धर्मान्धता सबसे बड़ा अधर्म है। अनेक घुमक्कड़ों ने मानव-समाज की बहुमूल्य सेवा की है। उन्होंने अपने अनुभव के बल पर देश-विदेश के घुमक्कड़ों एवं महापुरुषों का उदाहरण देते हुए यह प्रमाणित किया है कि 'घुमक्कड़ी व्रत और संकीर्ण साम्प्रदायिकता साथ नहीं चल सकती।'

राहुलजी एक बौद्ध-भिक्षु हैं और इस निबंध में उनका व्यक्तित्व मुखरित हो उठा है। प्रस्तुत निबन्ध के पढ़ने से लेखक पर बौद्धधर्म का गहरा प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। अवसर पाते ही उन्होंने भगवान बुद्ध के प्रति एवं बौद्धधर्म के प्रति अपनी गहरी श्रद्धा का परिचय दिया है, वह उनके पक्षपात-पूर्ण धार्मिक दृष्टिकोण का यथेष्ट परिचायक है, जैसे—"स्मृति का बौद्ध-धर्म से अनुराग था। हर एक घुमक्कड़ का स्मृति से अनुराग होगा, फिर कैसे हो सकता है कि कोई व्यक्ति स्मृति के धर्म (बौद्धधर्म) को अवहेलना की दृष्टि से देखे।" [भाग २, पृष्ठ १०८] अथवा "लेकिन सबसे हीरा धर्म घुमक्कड़ के लिए जो हो सकता है, वह है बौद्धधर्म, जिसमें न छूआछूत की गुंजाइश, न जात-पाँत का। वहाँ मंगोल चेहरा और भारतीय चेहरा, एशियाई रंग और योरोपीय रंग, कोई भेदभाव उपस्थित नहीं कर सके। जैसे नदियाँ अपने नाम-रूप को छोड़कर एक हो जाती हैं, उसी तरह यह बुद्ध धर्म है। इस धर्म ने घुमक्कड़ों के लिए

एशिया के बड़े भाग का दर्वाजा खोल दिया है।" [पारा ६, पृष्ठ ११३] अब जरा ब्राह्मण-धर्म के प्रति लेखक के विचार देखिए—"ईसाई घुमक्कड़ ब्राह्मण-धर्मी घुमक्कड़ से इस बात में अधिक उदार हो सकता है।" [पारा ६ पृष्ठ ११३] इस प्रकार की पक्तियों का लिखना विद्वान लेखक के लिए निस्सन्देह अशोभनीय है।

राहुलजी एक साम्यवादी हैं परन्तु कट्टर नहीं। उनके विचार प्रगतिशील हैं, इसीलिए उनकी कृतियों में इसी प्रकार के विचार मिलते हैं। प्रस्तुत निबंध में अंधविश्वासों, धार्मिक सकीर्णताओं तथा बाह्याडम्बरों के विरूद्ध तर्क पाये जाते हैं। कहीं-कहीं हास्य एव व्यग्य के चंद छींटे भी देखने को मिलते हैं; उदाहरण-स्वरूप कुछ पक्तियाँ लीजिए—"सभी धर्मों ने केवल देववाद और पूजा-पाखण्ड तक ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं समझी।" [पारा ११, पृष्ठ ११४] अथवा, "कैथोलिक साधु तेली का बैल नहीं है और न रेलों तथा जहाजों तक ही गति रखता है।" [पारा ६, पृष्ठ ११३]

भाषा-शैली की दृष्टि से प्रस्तुत निबन्ध रोचक है। भाषा प्रवाहपूर्ण-प्रासादिक सरल एवं सुबोध है। वे शब्दों के प्रयोग में, संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान होते हुए भी, उदारता से काम लेते हैं। संस्कृत के तत्सम, शब्दों के प्रयोग के साथ-साथ उर्दू के शब्दों का भी स्वच्छ प्रयोग किया है, जेसे—गुंजाइश, उम्र, सितारा नौबत, मुश्किल, गुजारा, खाक, हालत, चस्का, ख्याल, तलवार आदि। मुहावरों और कहावतों का भी यथेष्ट प्रयोग हुआ है जिससे भाषा में पूर्णरूप से सजीवता आ गई है, यथा—'देशों की खाक छानी, सितारा उस वक्त ओज पर था, अपनी नाव डुबा चुके हैं, ठोकपीटकर, सारा गुड़ गोबर है, फूटी आँखों नहीं देखना चाहती थी, चस्का लग जाना, किसी एक खूँट से बराबर के लिए बंध नहीं सकते थे, मातृभूमि का मुँह नहीं देखा, अनन्त निद्रा में विलीन हो गए, कूपम मण्डूक होना, मानव-जीवन की सुंदर मदिरा छलक रही थी, पंथों के बीच लटक रहा था, धर्मो से सन्यास लेना, गाँठ के पैसे, तेली का बेल, लेना हो शंकर, गाजा है न कंकर, कैलाशपति के राजा,' दम लगाना हो तो आ जा' आदि। राहुलजी सस्कृत के पंडित होते हुए भी

भाषा-शैली में वे जन-जन की भाषा के लिखने के पक्षपाती थे। एक सामान्य विषय का सर्वसाधारण की सामान्य एवं चलती हुई भाषा में लिखा जाना सर्वथा उपयुक्त ही है। ऐसी ही भाषा लोकप्रिय होती है। यहाँ पर उनकी भाषा का एक उदाहरण देने के लिए प्रस्तुत निबन्ध का एक उद्धरण देना असंगत न होगा—यथा—"लेकिन घुमक्कड़ को यह आत्मीयता किसी संकीर्ण अर्थ मे नहीं लेनी चाहिए। उसके लिए चाहे कोई रोमन कैथोलिक या ग्रीक सम्प्रदाय का भिक्षु हो, यदि वह भिक्षुपम की उच्च सीढ़ी अर्थात् प्रथम श्रेणी के घुमक्कड़ के पद पर पहुँच गया है, तो उसे ईसाई साधु को देखकर उतना ही आनन्द होगा जितना अपने सम्प्रदाय के व्यक्ति से मिलकर। उसके वर्ताव मे उसी समय बिलकुल अंतर हो जाएगा, जब कि मालूम हो जायगा कि कैथोलिक साधु तेलीका बैल नहीं, हैं और न रेलों तथा जहाजों तक ही गति रखता है। जहाँ उसने अफ्रीका के सेहरा, सीनाई पर्वत की यात्रा की कुछ बातें बतलायीं कि दोनों में सगापन स्थापित हो गया।" [पारा ९, पृष्ठ ११३]

उपर्युक्त उद्धरण में भाषा का प्रवाह, सजीवता, चलतापन, सुबोधता, सरलता आदि जहाँ कतिपय विशेषताएँ हैं, वहाँ कहीं-कहीं वाक्य-विन्यास की शिथिलता का दोष भी लक्षित होता है। जैसे—'लेकिन' से वाक्य का आरंभ ठीक नहीं है और इस उद्धरण के दूसरे वाक्य आगे चलकर अनावश्यक विस्तार के कारण स्पष्ट रूप से शिथिल एवं व्यक्तिक्रमपूर्ण प्रतीत होते हैं। सच तो यह है कि प्रचुर परिमाण में लिखनेवाले प्रायः लिखने की धुन में ऐसी त्रुटियों पर ध्यान नहीं देते और इस प्रकार की भद्दी भूलें कर डालते हैं। ठीक यही बात राहुलजी के साथ चरितार्थ होती है।

[घ) शब्दार्थ, व्याख्या और आशय

शब्दार्थ (पारा १, पृ० १०६-७)— पाठक=पढ़नेवाले। भ्रम=संदेह विरोध=भेद, वैषम्य, वैमनस्य। संस्थापक=स्थापना करनेवाले। दूर-दूर देशों की खाक छानी=दूर-दूर देशों का भ्रमण किया, यात्रा किया। फाहियान=

एक चीनी यात्री। मार्को पोलो=एक यूरोपीय यात्री। यात्रा वृत्तान्त=यात्रा का विवरण। दुर्दम्य=कठिन। स्मृति ज्ञान कीर्ति=एक नाम, जो संस्कृत का बड़ा भारी विद्वान था। सुरक्षित=अच्छी तरह रक्षा की हुई। कृतज्ञ होना=एहसानमद। मेधावी=तेज बुद्धिवाला। तरुण=नवयुवक। भारत-मही=भारतवर्ष की भूमि। घुमक्कड़-वीरों से विहीन=घूमनेवाले वीर पुरुषसे खाली। धुन=लगन। सस्कृति का सितारा उस वक्त ओज पर था=कहने का तात्पर्य्य यह है कि उस समय भारतीय सस्कृति का बोलबाला था। संकल्प=प्रण।

शब्दार्थ (पारा २, पृ० १०७-८)— ठोक-पीटकर=समझा बुझा कर। धुरन्धर=बेहद, बहुत। गुड़-गोबर=बेकार। विघ्न=बाधा। मेषपालन=पशु-पालन। मजूरी=नोकरी। फूटी आँखों नहीं देखना=बिल्कुल पसन्द नहीं करना। चस्का लग जाना=मजा मिल जाना। एक खूँटे से बराबर के लिए बंध नहीं सकते थे=एक स्थान पर हमेशा नहीं रह सकते थे। मातृभूमि का मुँह नहीं देखा=लौटकर मातृभूमि नहीं आए। अनुराग=प्रेम। अवहेलना=उपेक्षा।

शब्दार्थ (पारा ३, १०८)— अनन्त निद्रा में विलीन हो गए=मृत्यु के मुँह में चले गए। ब्राह्मणधर्मी=ब्राह्मण धर्मावलम्बी। कूपमंडूक=मूर्ख।

एक स्मृति नहीं, हजारों ... में लगाकर कर बाहर निकल पड़ते थे।
[पारा ३, पृष्ठ १०८]

व्याख्या—प्रस्तुत गद्य-सदर्भ महापंडित राहुल सांकृत्यायन लिखित 'धर्म और घुमक्कड़ी' शीर्षक निवन्ध से लिया गया है। इसमे लेखक ने यह बतलाया है कि आज से हजारों वर्ष पूर्व भी भारत-भूमि घुमक्कड़ों से भरा पूरा था। मगध के विद्यापीठ के मेधावी तरुण पंडित स्मृति ने अपना जीवन घूमने में ही बिता दिया और मातृभूमि का मुँह नहीं देखा। प्राचीन काल मे स्मृति ने ही सिर्फ नहीं, प्रत्युत् उनके समान हजारों बौद्ध-धर्मावलम्बियों ने दूर-दूर देशों का भ्रमण किया। उनलोगों ने सिर्फ एशिया ही नहीं, बल्कि मकदूनिया, क्षुद्र एशिया, मिस्र से लेकर बोर्नियो और फिलिपाइन के द्वीपों तक दौरा किया और इस प्रकार

अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी। आज भी उनकी पवित्र अस्थियाँ उन देशों में विखरी पड़ी मिलती है। उस समय सिर्फ बौद्ध ही देशाटन को नहीं निकले थे बल्कि ब्राह्मण-धर्मावलम्बी भी गए थे। वे लोग कूप-मण्डूक नहीं थे। उनलोगों ने भी घुमक्कड़ी की महत्ता को समझा था और विद्या एवं कला के अध्ययन में अपना समस्त जीवन लगाकर देश-भ्रमण को निकल जाया करते थे।

शब्दार्थ (पारा ४, पृष्ठ १०८-९)— रत्नाकर की लहरें=समुद्र की लहरें। उनके साहस के साक्षी हैं=घुमक्कड़ों की साहसपूर्ण यात्राओं के गवाह हैं। पाठ पढ़ाया=सदेश दिया। धुरधर=प्रकाण्ड। तेली का बैल=तेली का बैल एक ही स्थान पर घूमता रहता है, वह कहीं नहीं जाता है।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अर्थात्, इस देश मे ऐसे-ऐसे सपूतों ने जन्म लिया हैं जिन्होंने अपने चरित्र के द्वारा यहाँ की सभ्यता, संस्कृति एवं शिक्षा का संदेश सारे संसार को दिया।

शिलालेख=पत्थर पर खोदा हुआ (विशेषतः प्राचीन) कोई प्राचीन लेख। गद्य-पद्यमय=गद्य और पद्य में लिखा हुआ। अभिलेख=किसी विषय के सबंध में लिखी हुई सब बातें (रेकार्ड)। यशस्वी=जिसे यश मिला हो, कीर्त्तिमान्। कीट-पतगों=कीड़ों-मकोड़ो की तरह। चक्कर काट आये थे=घूम आये थे। वज्र=कठोर। मनोरम=सुन्दर। सहस्र-बुद्ध गुहाओं=हजारों बुद्ध की गुफायें। हमारी छत गज-भर की हो जाती है=हमारा हृदय गौरव देखकर पुलकित हो उठता है। विनम्र हो जाता है=श्रद्धा से झुक जाता है। घरघुसुओं=घर में ही घुसे रहनेवालों।

सभी जगह अपने घुमक्कड़ी ... ...लायक ही रह गई है?

[पारा ४, पृ० १०९]

व्याख्या—प्रस्तुत अवतरण में भारतीय घुमक्कड़ों के अलौकिक कार्यों को देखकर लेखक अपने हृदय के भावों को अभिव्यक्त करता है। उसने बतलाया है कि भारतीय घुमक्कड़ों ने संसार के सभी देशों का भ्रमण किया है और इसके

प्रमाण हैं जावा के बड़े-बड़े संस्कृत के शिलालेख और कम्बोज के सुन्दर गद्य-पद्यमय विशाल अभिलेख। ये सब शिलालेख और अभिलेख उन घुमक्कड़ों के कीर्ति-स्तंभ हैं, जो इस संसार को कूच कर चुके हैं। उस समय से लेकर अब तक अनेक मनुष्यों ने जन्म ग्रहण किया, परन्तु उनसे संसार को कोई लाभ नहीं पहुँचा। उन लोगों ने कीड़े-मकोड़ों की तरह जन्म लिया और मर गए। आज से डेढ़ हजार वर्ष पूर्व हमारे भारतीय घुमक्कड़ साइबेरिया की बैकाल झील में गए थे और अपने कार्यों के कारण भारत का गौरव बढ़ाया जिसके फलस्वरूप आज वहा के लोग भारत का नाम आदर से लेते हैं। कहने का तात्पर्य्य यह है कि ससार के कोने-कोने में उनके गौरवपूर्ण चिन्ह आज भी विद्यमान हैं, उदाहरणार्थ कोरिया के पर्वत, जापान के मनोरम कोयसान, तुङ्-हुवान् की बुद्ध-गुफायें, और अफगानिस्तान के बामियान हैं। इन स्थानों में उनके कीर्ति-चिन्ह बिखरे पडे हैं जिसे देखकर भारतीयों का हृदय गौरव से भर जाता है। उन घुमक्कड़ों के प्रति हमलोगों का मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है और संसार के सामने हमारा सर ऊँचा हो उठता है। अंतिम पंक्तियों में लेखक लाक्षणिक ढग से चुटकी लेते हुए कहा है कि भारतवर्ष ही एक ऐसी भूमि है जहाँ अनेक महान् आत्मओ ने जन्म ग्रहण किया है, अपना गौरव बढ़ाया है, परन्तु उस आज उसी पुण्य-भूमि में ऐसे व्यक्ति पैदा हुए हैं जो घर मे ही घुसे रहनेवाले हैं। वे कहीं भी बाहर नहीं जाते हैं। उनकी घुमक्कड़ी-वृत्ति मर चुकी है।

शब्दार्थ (पारा ५, पृ० १०६-१०)—पुनीत = पवित्र। होड़ लगाई थी = बाजी लगाई थी। सम्पादित भी किया = पूरा भी किया। बुद्धिवादी = बुद्धि पर आस्था रखनेवाला। आचरण = अनुष्ठान, व्यवहार, चालचलन, (Conduct)। नानात्व = अनेक तत्व। एकत्व = एक तत्व। खण्डहर = भग्नावशेष। मानव-जीवन की सुन्दर मदिरा छलक रही थी = मानव-जीवन का अत्यन्त ही सुन्दर और समृद्धि-काल था। मणि-माणिक्य = मणियों से जड़ा हुआ। आपण-शालायें = विशाल इमारतें। जगमगा रही थीं = चमक रही थीं। शिल्पी = कारीगर, किसी शिल्प का अच्छा ज्ञाता, (टेकनीशिअन)।

निर्माण = रचना, बनाना। पकवान = घी या तेल में तला या पकाया हुआ खाद्य-पदार्थ; सुगन्धित = अच्छी गन्धवाली। जीभ को सिक्त होने से रोकना मुश्किल था = जीभ में पानी आने को रोकना कठिन था। भव्य देवालय = देवताओं के सुन्दर घर। वीथियों = मार्गों, रास्तों। तरुणियाँ = स्त्रियाँ। नवीन परिधान = नये वस्त्र। भ्रमर-सदृश = भौंरों के समान। चमत्कृत = चमत्कार पूर्ण। अतीत = भूतकाल। मानस = मन, हृदय। बीहड़ कंकाल = घने अस्थि-पजर।

हमारे ये भारयीय घुमक्कड़ ·· एकत्व को ढूँढ़ निकालता है।

[पारा ५, पृ० १०६]

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियां 'धर्म और घुमकड़ी' शीर्षक नि न्ध से ली गई हैं। यहाँ पर राहुल साकृत्यायन ने धर्म और घुमकड़ो का सबंध निरूपित करते हुए यह बतलाया है कि प्राचीन युग में भारतीय घुमक्कड़ सिर्फ बौद्ध ही नहीं, प्रत्युत् ब्राह्मण भी थे।

घुमक्कड़ धार्मिक संकीर्णताओ से दूर रहते हैं, वे धर्म की सभी बातों पर आस्था नहीं रखते। उनका अपना उद्देश्य होता है। वे सभ्यता एव सस्कृति के संदेशवाहक होते हैं। यही कारण है कि हमारे प्राचीन भारतीय घुमक्कड़ों ने अनेक देशों का पर्यटन कर सभ्यता एव सस्कृति का पावन संदेश दिया। सिर्फ घुमक्कड़ ही नहीं वरन् बुद्धिवादी व्यक्ति भी धर्म की सभी बातों पर विश्वास नहीं करते हैं और न प्रत्येक व्यक्ति घुमक्कड़ों के सभी प्रकार के व्यवहार (बर्ताव) से सहमत ही हो सकता है। तब यह स्पष्ट होता है कि ऐसी परिस्थिति में घुमक्कड़ ही धर्म की सभी बातों पर विश्वास किस प्रकार करें। इसीलिए घुमक्कड़ तो अनेकता में एकता को खोज निकालते हैं।

शब्दार्थ (पारा ६, पृ० ११०-११)—शुष्कता = नीरसता। कृतज्ञ है = एहसानमंद है। ज्येष्ट = बड़े। विरत = जो अनुरक्त न हो, जो काम छोड़कर अलग हो गया हो, विमुख, निवृत्त। देशान्तर = दूसरा देश, विदेश। गोष्ठी = सभा, मंडली। नौबत आई = समय आ गया। तीर = किनारा। तीन मूर्त्तियाँ = तीन घुमक्कड़। चिरपरिचित = पुरानी जान-पहचानवाले। सर्वोपरि =

सबसे ऊपर। पंथों के बीच में लटक रहा था = सम्प्रदायों की भूल-भूलैया में पड़ा था। उदार = दाता, दानशील, बड़ा, ऊँचे दिल का, विचारों की संकीर्णता और दुराग्रह से दूर रहकर किसी विषय पर विचार करनेवाला।

शब्दार्थ (पारा ७, पृष्ठ १११-२)—मढ़ियों = छोटे घरों। मृगछाला = मृग का चमड़ा। गाँठ = जेब। प्रयोजन = काम, उद्देश्य, अभिप्राय, काम, अर्थ, उपयोग। निर्धम = खूब लहकती हुई आग। साफी = गाँजे की चिलम के नीचे लगाने का छोटा कपड़ा। सर्व ज्येष्ठ = सबसे बड़ा। टान = कस। राशि = टुकड़े। सकल्प = पक्का इरादा, निश्चय। समर्थन किया = यह कहना कि अमुक विचार, सुझाव या प्रस्ताव ठीक है या इसके अनुसार काम होना चाहिये; किसी मत का पोषण। अनुमान = अंदाज। प्रवचना = किसी को धोखा देने या ठगने का काम, छल, ठगपना।

शब्दार्थ (पारा ८, पृष्ठ ११२)— काफिर = मुसलमानो के अनुसार उनसे भिन्न धर्म माननेवाला, ईश्वर को न माननेवाला, निर्दय। तुच्छ-सी = छोटी-सी। उज्र = विरोध, आपत्ति विरुद्ध वक्तव्य टिक्कर = सेंकी हुई रोटी। ग्रंथियों = बंधनों। छिन्न कर डाला = अंत कर दिया।

शब्दार्थ (पारा ९, पृष्ठ ११३)— नशे में चूर = नशे में मतवाला। सबसे हीरा धर्म = सबसे श्रेष्ठ धर्म। गुंजाइश = स्थान। उपस्थित = हाजिर, विद्यमान। तेली का बैल नहीं है = एक स्थान पर नहीं रहने वाला है। आत्मीयता = अपनापन। भिक्षु = भिखारी। सगापन = अपनापन। सम्मान = आदर। दुर्गम = भयंकर, बीहड, जहाँ पहुँचना कठिन हो।

'जैसे नदियाँ अपने नामरूप ……आत्मीयता देखने में आती है।

[पारा ९, पृष्ठ ११३]

व्याख्या—प्रस्तुत अवतरण राहुलजी विरचित 'धर्म और घुमक्कड़ी' शीर्षक निबंध से उद्धृत किया गया है। इसमें विद्वान् लेखक ने बौद्धधर्म की उदारता पर प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि घुमक्कड़ धार्मिक एव साम्प्रदायिक संकीर्णताओं से दूर रहते हैं, मानव-मानव में संकीर्ण भाव को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। धर्म की संकीर्ण सीमा-संबंधी उदारता ब्राह्मण-धर्मी घुमक्कड़ों का

अपेक्षा ईसाई घुमक्कड़ों में विशेष रूप से पाई जाती है। मुसलमान फकीर जो सच्चे घुमक्कड़ होते हैं, वे भी इन बातों में अधिक उदार होते हैं। परन्तु इस प्रकार की वास्तविक सहिष्णुता एव उदारता बौद्ध-धर्मावलम्बी घुमक्कड़ों में अधिक है। घुमक्कड़ों के लिए बौद्धधर्म अत्यन्त श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें जात-पाँत, छुआछूत, रूप-रंग, अमीर-गरीब, याने किसी भी प्रकार का भेद-भाव नहीं पाया जाता है। यहाँ सब बराबर हैं। इन्हीं सब कारणों से बौद्धधर्म का प्रचार समस्त एशिया में हो चुका था। इसीलिए आज भी चीन, जापान, कोरिया, कम्बोज, स्याम, सिंहल, तिब्बत, मंगोलिया आदि देशों में आत्मीयता देखने को आती है, सर्वत्र अपनापन का भाव विद्यमान है। इसका श्रेय है बौद्धधर्म को। बौद्ध-धर्म ने अपनी विशाल उदारता के कारण ही एशिया के एक बड़े भाग का दरवाजा घुमक्कड़ों के लिए खोल दिया। सच तो यह है कि बौद्ध धर्म भी एक सरिता के समान है। जिस प्रकार नदियाँ अपना नामरूप छोड़कर समुद्र में मिलकर एक हो जाती हैं और उनका कोई अस्तित्व नहीं रह पाता है, उसी प्रकार किसी भी देश, जाति, रूप रंग, के लोग बौद्धधर्म में शिक्षित हो जाने पर इन बाह्य भेदों को त्याग देते हैं और बौद्ध कहलाने लगते हैं। यही एक ऐसा धर्म है जिसमें छुआछूत, जात-पात, रूप-रंग, भेद-भाव का पूर्णत· अभाव है।

शब्दार्थ पारा १०, पृष्ठ ११५)—घुमन्त् = घूमनेवाली। तलवार के नीचे अपनी-अपनी गर्दनें दे दी = इस्लाम धर्म के प्रचारकों ने तलवार के जोर पर धर्म स्वीकार कराना चाहा, परन्तु इन्होंने उसे स्वीकार न कर अपनी जान दे दीं। महान् = बड़ा। भ्रातृभाव = भाई-भाई का भाव। मुल्लाओं = साधुओं।

मध्य एशिया में ऐसे अनेक ......उनके फकीरों में आने लगी।

[पारा १०, पृष्ठ ११४]

व्याख्या—प्रस्तुत संदर्भ में विद्वान लेखक ने पाठकों को यह बतलाया है कि घुमक्कड़ी सहिष्णुता और भ्रातृभाव का पाठ पढ़ाती है। आज से एक हजार वर्ष पहले पूर्व मध्य एशिया घुमक्कड़ों का अखाड़ा था और वहाँ भारतीय, चीनी, ईसाई और मान-पंथी साधुओं का आगमन होता रहता था। सभी लोगों के अलग-अलग मठ और मन्दिर थे, परन्तु सभी घुमक्कड़ों के लिए

सभी मठ-मन्दिरों के द्वार खुले थे। जब आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले इस्लाम जैसे कट्टर धर्म का आगमन मध्य-एशिया में हुआ तो इस्लाम धर्म प्रचारकों ने समझाने की जगह तलवार की धार पर धर्म-परिवर्तन कराने की चेष्टा की। ऐसी परिस्थिति में उनकी तलवार से रक्षा के लिए सभी साधुओं ने एक छत के नीचे अपना जीवन व्यतीत किया। घुमक्कड़ों में बन्धुत्व की भावना रहती है। यहाँ तक कि जब पूर्व मध्य-एशिया से बौद्ध घुमक्कड़ लदाख आये तो अपने साथ नेस्तोरी बंधुओं को भी लाया था। इससे साफ जाहिर होता है कि उनमें सहिष्णुता एवं अपनापन का भाव था, लेकिन इस्लामी मुल्लाओं में इसकी कमी थी। जब इस्लामी मुल्लाओं ने घुमक्कड़ी का महत्व समझा तब उनमें भी धार्मिक सहिष्णुता का विकास हुआ।

शब्दार्थ (पारा ११, पृष्ठ ११४-५)—व्रत = प्रण। धर्मान्धों = धर्म के जोश में अंधे। इतिश्री = अंत। सृजन किया = रचना किया। तल = सतह। सद्भाव = प्रेम और हित का भाव, मेल-जोल, मैत्री।

प्रथम श्रेणी के घुमक्कड़ को हम ......के लिए तैयार नहीं होता।

[पारा ११, पृष्ठ ११४-५]

व्याख्या—प्रस्तुत अवतरण में राहुल सांकृत्यायन ने बतलाया है कि जो घुमक्कड़ होते हैं, वे धर्म की सीमाओं से काफी दूर रहते हैं। श्रेष्ठ घुमक्कड़ तो मानव-मानव में संकीर्ण भेद-भाव को घृणा की दृष्टि से देखता है। राहुलजी के अनुसार श्रेष्ठ पुरुष वही है जो साम्प्रदायिक संकीर्णताओं से दूर रहता है। धर्म के कारण एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य में जो वैषम्य-भाव रहता है, उसका वह विरोध करता है। वह धर्म की कल्याणकारी प्रवृत्ति को श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। वह देववाद, पूजा-पाखंड आदि को कतई पसंद नहीं करता है। केवल देववाद और पूजा-पाखंड में ही धर्म का अंत नहीं है। उसका प्रधान उद्देश्य है सेवा। मानवता की सेवा ही उनका सबसे बड़ा धर्म है और धर्मान्धता सबसे बड़ा अधर्म। अनेक घुमक्कड़ों ने मानव-समाज की बहुमूल्य सेवाएँ की हैं; उच्च साहित्य की रचना की है, उच्च कला का निर्माण किया है। मानव-समाज की आर्थिक, सांस्कृतिक एवं मानसिक प्रगति में योग दिया है। सच तो यह है कि जिन देशों

में धर्म ने मानवता की प्रगति में सहायता दी है, उन देशों के निवासी धर्म को श्रद्धा एवं प्रेम के साथ देखते हैं तथा वे ऐसे धर्म से विलग होना कतई पसंद नहीं करते हैं।

इसीलिए धर्मों की सारी निर्दोष····· सद्भाव को छिपाना चाहें।

[पारा ११, पृष्ठ ११५]

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियाँ 'धर्म और घुमक्कड़ी' शीर्षक निबन्ध से ली गई हैं। इसमें विद्वान लेखक ने बतलाया है कि जिस प्रकार धर्म ने मानवता की सेवा की है, उसी प्रकार उसने घुमक्कड़ी के आदर्शों के विकास में भी योग दिया है।

यह कटु सत्य है कि घुमक्कड़ धर्म और साम्प्रदायिक संकीर्णताओं से काफी दूर रहते हैं। जो धर्म मानवता की साहित्यिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रगति में योग देता है, उसे लोग श्रद्धा एव प्रेम की दृष्टि से देखते हैं। इसीलिए घुमक्कड़ समस्त धर्मों को दोष-रहित भावनाओं एव प्रवृत्तियों को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। यह हो सकता है कि कुछ घुमक्कड़ों को किसी विशेष धर्म के प्रति अधिक श्रद्धा और सम्मान हो, पर यह धर्म उनकी व्यक्तिगत वस्तु है। जो श्रेष्ठ घुमक्कड़ हैं, वे घुमक्कड़ी के आदर्श से विचलित नहीं होते। सच तो यह है कि उनकी श्रद्धा समस्त धर्मों की कल्याणकारी प्रवृत्ति के प्रति रहती है। इसे सिद्धान्तहीनता कहना भ्रमात्मक है क्योंकि घुमक्कड़ अपने प्रेम और हित के भावों को छिपाता नहीं है।

शब्दार्थ (पारा १२, पृष्ठ ११५)—विस्तृत = फैला हुआ। भूखण्ड = पृथ्वी, भूमि का एक हिस्सा। अपरिमित = जिसकी कोई सीमा नहीं। आलोड़न= मथना, हिलोरना, विचार। उच्चतम = सबसे ऊँचा। धर्मों से सन्यास ले सकता है = धर्मों से अपना सम्बन्ध तोड़ ले सकता है। हितैषी = भलाई करने वाले, हित चाहनेवाले। नास्तिक = जो ईश्वर पर विश्वास नहीं करता। कठोर वाग्बाण = कटुवचन।

समय पड़ने पर नास्तिक · · मित्रतापूर्ण दृष्टि से देखना।

[पारा १२ पृष्ठ ११५]

व्याख्या—प्रस्तुत संदर्भ में विद्वान लेखक ने वतलाया है कि घुमक्कड़ी और धर्म की संकीर्ण सीमाएँ साथ नहीं चल सकती हैं। प्रथम श्रेणी का जो घुमक्कड़ होता है वह धर्मान्धता का विरोध करता है परन्तु धर्म की कल्याणकर प्रवृत्ति को श्रद्धा और प्रेम की दृष्टि से देखता है। ऐसा भी सभव है कि कुछ घुमक्कड़ों का किसी भी धर्म से किसी भी प्रकार का संबंध नहीं है, परन्तु ऐसे घुमक्कड़ बुरे नहीं कहे जा सकते हैं। हम बुरे उन्हीं घुमक्कड़ों को कह ककते हैं जो घुमकड़ी के आदर्श को भूल गए हैं। यह हो सकता है कि ससार के विभिन्न हिस्सों का भ्रमण करने एवं अपरिमित ज्ञान के आलोड़न करने से धर्म से वह अपना संबंध तोड़ ले, किन्तु वह घुमक्कड़ी के आदर्श को कदापि नहीं भूल सकता है। क्योंकि घुमक्कड़ी का आदर्श ही उसके जीवन का मुख्य अंग होता है। धर्म से सन्यास लेने पर भी घुमक्कड़ अन्य घुमक्कड़ों तथा मानव-समाज का कल्याण करना ही अपना कर्त्तव्य समझते हैं और किसी सच्चे धर्मावलम्बी घुमक्कड़ के प्रति उपेक्षापूर्ण दृष्टि नहीं रखते, अपने कटुवचन से दुःखित नहीं करते, प्रत्युत् वन्धुत्व का भाव रखते हैं।

[ड़] आलोचनात्मक प्रश्नोत्तर

प्रश्न १—महापंडित राहुल सांकृत्यायन का जीवन परिचय लिखिए।

उत्तर—लेखक का परिचय पढ़ें।

प्रश्न २—राहुलजी की वहुमुखी प्रतिभा पर एक छोटा सा आलोचनात्मक निवन्ध लिखे।

उत्तर—लेखक के परिचय में 'साहित्य-साधना' संवंधी अनुच्छेद पढ़ें।

प्रश्न ३—"धर्म और घुमक्कड़ी" का सारांश लिखिये।

उत्तर—साराश पढ़े।

प्रश्न ४—"धर्म और घुमक्कड़ी" शीर्षक निवन्ध की आलोचना लिखिए।

उत्तर—निवन्व की आलोचना पढ़ें।

प्रश्न ५—'राहुल सांकृत्यायन' के अनुसार घुमक्कड़ी का क्या आदर्श है? पठित निवन्ध के आधार पर अपना उत्तर लिखिए।

उत्तर—महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने 'धर्म और घुमक्कड़ी' शीर्षक निबन्ध में घुमक्कड़ी को संसार की सर्वश्रेष्ठ वस्तु माना है। अपने विचारों की पुष्टि के लिए उन्होंने अनेक धार्मिक उदाहरणों को प्रस्तुत किया है और कहा है कि घुमक्कड़ी एक सागर के सदृश महान् है, विशाल है। इसमें धर्म और घुमक्कड़ी का सबंध स्थापित करते हुए उसके आदर्श पर प्रकाश डाला गया है। लेखक की दृष्टि में घुमक्कड़ी एक व्रत है जो सकीर्ण साम्प्रदायिकताओं से परे होता है। घुमक्कड़ी धर्म की संकीर्ण सीमाओं से बची रहती है। जो सच्चा घुमक्कड़ होता है वह मनुष्य-मनुष्य में धर्म को लेकर जो भेद-भाव हैं, उनका वह विरोध करता है। घुमक्कड़ों के लिए धर्म एक व्यक्तिगत वस्तु है। घुमक्कड़ों मे आत्मीयता रहती है। उनमें धर्म, छुआछूत, रूप-रंग, जात-पाँत, आदि के भेद-भाव का पूर्णतया अभाव रहता है क्योंकि घुमक्कड़ मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं मानता है। उनमें 'मैं' और 'मेरे' की भावना नहीं रहती है। चिन्ताहीनता उनका सर्वोपरि गुण है। घुमक्कड़ी वैराग्य, वेदान्त, सन्यास आदि को प्रवंचना समझती है। कहने का तत्पर्य्य यह है कि घुमक्कड़ धर्म एवं सप्रदाय संबंधी बाह्य बधन से बिल्कुल अप्रभावित रहते हैं। उनमें भ्रातृभाव रहता है। उनका एकमात्र आदर्श है—सहिष्णुता एवं उदारता। उनके सामने किसी प्रकार का भेद-भाव महत्व नहीं रखता है। इसका अत्यन्त सुन्दर उदाहरण राहुलजी ने प्रस्तुत किया है, वह इस प्रकार है—आज से एक हजार पूर्व मध्य एशिया घुमक्कड़ों का केन्द्र था जहाँ देश-देश के घुमक्कड़ पहुँचते थे। दक्षिण से भारतीय, पूर्व से चीनी बौद्ध आते, पश्चिम से ईसाई और मानी-पंथी साधु आते थे। वे सब अपना-अपना मठ-मन्दिर बनाते थे, परन्तु सभी घुमक्कड़ों के लिए सभी मन्दिर खुले थे। लेकिन हजार-ग्यारह सौ वर्ष पहले मध्य-एशिया में इस्लाम जैसा कट्टर धर्म पहुँच गया। उसने समझाने की जगह तलवार से काम लिया परन्तु सभी धर्म के घुमक्कड़ एक छत के नीचे रहकर इस्लाम के तलवार का सामना किया। यहाँ तक कि जब पूर्वी मध्य एशिया से बौद्ध साधु भागकर दक्षिण में लदाख के बौद्ध-देश में आये, तो वे अपने साथ-साथ नेस्तोरी (ईसाई) बन्धुओं को भी लेते आये। इस महान भ्रातृभाव को इस्लामी मुल्लाओं ने नहीं समझा

था परन्तु आगे चलकर उनमें घुमक्कड़ी का बीज जब जमने लगा, तो सभी धर्मों के साथ सहिष्णुता भी उनमें आने लगी। अतएव यह स्पष्ट होता है कि घुमक्कड़ी भ्रातृभाव को जन्म देती है और साहिष्णुता का पावन सदेश देती है।

घुमक्कड़ी सभी धर्मों को उदार दृष्टि से देखती है, वह देववाद, पूजा-पाखण्ड का विरोध करती है परन्तु धर्म की कल्याणकारी प्रवृत्ति को श्रद्धा की दृष्टि से देखती है। केवल देववाद और पूजा-पाखण्ड में ही धर्म का अन्त नहीं है। अनेक धर्मों ने मानव-जाति की बहुमूल्य सेवाएँ की हैं; उच्च साहित्य का सृजन किया है, उच्चकला का निर्माण किया है और मानव समाज की मानसिक तथा आर्थिक प्रगति में योग दिया है। घुमक्कड़ी धर्म की इन प्रवृत्तियों को श्रद्धा की दृष्टि से देखती है और धर्मान्धता का तीव्र विरोध करती है। घुमक्कड़ो का मुख्य उद्देश्य होता है—मानवता का कल्याण करना तथा सबों के साथ मैत्री स्थापित करना।

कादम्ब या विष

(डाक्टर रामकुमार वर्मा)

जन्म संवत् १९६२ (जीवित)

[क] एकांकीकार का परिचय

डाक्टर रामकुमार वर्मा का जन्म मध्यप्रदेश के सागर जिले में सवत् १९६२ विक्रमीय (याने १५ नवम्बर सनं १९०५) में हुआ था। उनके पिता श्रीलक्ष्मी प्रसाद वर्मा डिप्टी-कलक्टर थे और इसीलिए उन्हे सरकारी काम से विभिन्न स्थानों में घूमना पडता था। अतएव डा० वर्मा को प्रारम्भिक शिक्षा मध्य प्रदेश के भिन्न-भिन्न स्कूलों में

जीवन-परिचय

हुई, विशेष कर रामटेक और नागपुर के मराठी स्कूलों में उनकी शिक्षा के चार वर्ष बीते। हिन्दी की शिक्षा उन्हे अपनी माता श्रीमती राजरानी देवी से मिली जो तुलसी-मीरा के पद बड़े प्रेम से गाया करती थी और प्रभात वेला में उन्हे जगाने के लिए 'भोर भयो जागहु रघुनन्दन' का स्वर छेड़ती थीं। कविता के प्रति उनका जन्मजात प्रेम था। वह एक विदुषी महिला थीं और कुछ कविताएँ भी स्वय लिख लिया करती थीं। अपनी माँ की स्वरलहरी में डा० रामकुमार वर्मा को कविता का स्पन्दन मिला और उन्हीं के स्नेहाचल में उनको कविता का वरदान भी प्राप्त हुआ।

शुरू से ही वर्माजी एक भावुक एवं अध्ययनशील विद्यार्थी थे। जब वे अष्टम वर्ग के विद्यार्थी थे, तब उनके एक गुरु थे श्री विश्वम्भर प्रसाद गौतम, जो अपनी कविताओं को 'विद्यार्थी' नामक पत्रिका में प्रकाशित कराते थे। उस समय उन कविताओं की प्रतिलिपि करने का अवसर वर्माजी को प्राप्त होता था। प्रतिलिपि करते समय वे उन कविताओं को गा-गाकर पढ़ा करते थे। उनके बड़े भाई श्री रघुवीर प्रसाद भी काव्य-रचना करते थे, जब वे अपनी कविताएँ पिता के पास भेजते तब वे उन्हें स्वर-विस्तार से पढ़ा करते थे। उनकी 'भिन्न-भिन्न परिस्थितियों की रेखाएँ काव्य के केन्द्र-विन्दु पर ही एकत्रित होने के कारण' उनके 'हृदय में कविता की प्रवृत्ति जगी और उनके काव्य जीवन का प्रभात हुआ।'

शुरू से ही डा० रामकुमार वर्मा एक भावुक एव अध्ययनशील विद्यार्थी थे। वे नियमित रूप से हिन्दी के प्रतिष्ठित कवियों की रचनाओं को पढ़ा करते थे। उनके प्रिय कवि थे—गोस्वामी तुलसीदास। वे अपने साथ हमेशा गुटका रामायण रखा करते थे। कोई ग्रंथ निश्चित अवधि के भीतर समाप्त कर लेने पर वे अपनी माँ से पुरस्कार पाया करते थे, इस प्रकार वे हिन्दी साहित्य की ओर उन्मुख हुए। सन् १९२० में उन्होंने प्रथमा परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की और तब से उनके अध्ययन का प्रिय विषय बन गया हिन्दी साहित्य। सन् १९२१ में वे एंट्रेंस के विद्यार्थी थे और तत्कालीन असहयोग-आन्दोलन में स्कूल छोड़ दिया। उनके पिताजी ने उन्हे बहुत समझाया लेकिन

वे अपने प्रण पर अटल रहे। उन दिनों उनकी दिनचर्या इस प्रकार थी— प्रात:काल राष्ट्रीय झंडे लेकर भारत माता का गीत गाते हुए सड़कों पर घूमना, दिन में खद्दर बेचना, संध्या को सभा में भाषण देना और रात्रि में हिन्दी साहित्य का अध्ययन करना। प्रभातफेरी में नए-नए गीतों की आवश्यकता और हिन्दी साहित्य के प्रति प्रेम उन्हे कविता लिखने के लिए बार-बार प्रेरित करता था। अन्त में उनकी यह प्रेरणा सफलीभूत भी हुई।

अभ्यास करते-करते वे प्रतिदिन काव्य-रचना करने लगे। राष्ट्रीय आन्दोलन के समय उन्होंने जो कविता लिखी थी उसकी दो पंक्तियाँ बानगी के रूप में देखिये—

नहीं डरेंगे नहीं डरेंगे तोपो से तलवारों से।
नहीं डरेंगे लेशमात्र भी भीषण कारागारों से॥

सन् १९२२ में उन्होंने 'देश सेवा' शीर्षक एक कविता लिखी थी जिस पर उन्हें ५१) रुपये का 'खन्ना पुरस्कार' मिला था। इस सफलता पर उनकी माँ ने भी ५१) रुपये का पुरस्कार देकर उनका उत्साह बढ़ाया था। इन रुपयों में से उन्होंने दस रुपये के कुर्त्ते बनवाकर शेष रुपये कांग्रेस कमिटी को दे दिए थे। सन् १९२३ मे उन्होंने फिर से स्कूल में पढ़ना शुरू किया और उसी वर्ष एन्ट्रेंस की परीक्षा पास की। इसके बाद उन्होंने एफ० ए० पढ़ने के लिए राबर्टसन कालेज, जबलपुर में नाम लिखवाया। वहाँ के कालेज से 'नर्मदा' नाम की पत्रिका निकलती थी, उसमें वे बराबर कृष्ण और प्रेम पर कविताएँ लिखा करते थे, फिर श्री सहगल के आग्रह पर वे 'चाँद' में भी कविताएँ भेजने लगे। सन् १९२५ में वे प्रयाग विश्वविद्यालय में पढ़ने लगे। वहाँ से सन् १९२७ में बी० ए० और सन् १९२९ में हिन्दी में एम० ए० प्रथम श्रेणी में पास किया। उसी समय प्रयाग विश्वविद्यालय में एक हिन्दी लेक्चरर की आवश्यकता हुई। विश्वविद्यालय के तत्कालीन अधिकारी उनकी योग्यता से अच्छी तरह परिचित थे जिसके फलस्वरूप उस पद पर वे नियुक्त कर लिए गए। बहुत दिनों तक इस पद पर कार्य करने के उपरान्त वे मध्यप्रान्त के शिक्षा-विभाग के डिप्टी डायरेक्टर होकर चले गए, परन्तु वहाँ उनका जी न

लगा। फलतः वे प्रयाग लौट आए। नागपुर विश्वविद्यालय ने उन्हे पी०-एच० डी० की उपाधि से विभूषित किया।

डा० रामकुमार वर्मा हिन्दी साहित्य के एक ज्योति-स्तम्भ हैं और उनकी प्रतिभा बहुमुखी है। उन्होंने साहित्य के सभी अंगों को सजाया-सँवारा है।

रचनाएँ

उनका रचना काल सन् १६३० से शुरू होता है। उनके जीवन का प्रत्येक क्षण साहित्य-रचना और उसके अध्ययन में व्यतीत होता है। उन्होंने साहित्य को अपनी शैली दी है। उनकी समस्त रचनाएँ इस प्रकार हैं—

(क) काव्यग्रंथ—कुल-ललना, चितवन, अजलि, रूपराशि, चित्ररेखा, चन्द्रकिरण, वीर हमीर, चितौड़ की चिता, अभिशाप, निशीथ, आकाशगगा।

(ख) आलोचना-ग्रंथ—साहित्य-समालोचना, कबीर का रहस्यवाद, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, संत कबीर, हिन्दी साहित्य का सक्षिप्त आलोचनात्मक इतिहास।

(ग) गद्यकाव्य—हिमहास।

(घ) निबन्ध-सग्रह—विचार-दर्शन।

(ङ) एकांकी नाटक—पृथ्वीराज की आँखें, रेशमी टाई, शिवाजी, चार ऐतिहासिक एकांकी नाटक, चारूमित्रा, कौमुदी महोत्सव।

(च) सम्पादित पुस्तके—हिन्दी गीतिकाव्य, कबीर पदावली, जौहर, आधुनिक हिन्दी काव्य, एकाकी, वृहद् सत कबीर, सक्षिप्त सत कबीर आदि।

सन् १६३५ में उन्हें 'चित्ररेखा' काव्य पर दो हजार रुपये का देव पुरस्कार और सन् १६३७ में 'चन्द्रकिरण' पर पाँच सौ रुपये का 'चक्रधर' पुरस्कार मिल चुका है। वे हिन्दी के माने हुए विद्वान हैं।

वर्माजी की साहित्य-साधना

डाक्टर रामकुमार वर्मा हिन्दी साहित्य के एक कुशल कलाकार हैं। उनकी रचनाओं की तालिका देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी प्रतिभा अनेक रूपों में प्रस्फुटित हुई हैं। वे एक सफल कवि, विद्वान आलोचक एव कुशल एकाकी नाटककार हैं। उनका साहित्यिक जीवन काव्य-रचना से शुरू होता है। वे हिन्दी की

नवीन धारा के एक जागरूक कवि हैं। उनकी कविता में कल्पना एवं अनुभूति का संतुलित समन्वय है। उनकी प्रारंभिक रचनाएँ इतिवृत्तात्मक है, उसके बाद की रचनाएँ कल्पना-प्रधान हैं और बाद में अनुभूति-प्रधान रचनाएँ हैं। अनुभूति प्रधान रचनाओ में रहस्यवादी भावना की प्रमुखता है और इस श्रेणी की कविताओं पर कबीर की रहस्यमयी भावना का प्रभाव है। इनकी कविता को दो रूपों में देखते हैं—(क) वर्णनात्मक काव्य और (ख) मुक्तक और गीतिकाव्य। इनकी वर्णनात्मक रचनाएँ प्रायः इतिहास से संबंधित है, इस प्रकार की कविताओं में 'शुजा' और 'नूरजहाँ' है। इन दोनों में भाव और विचार का सुन्दर समन्वय हुआ है। डा० वर्मा की कविता का दूसरा पक्ष है—मुक्तक काव्य या गीतिकाव्य। इस पक्ष के काव्य में कल्पना एव भाव से युक्त अनुभूति की प्रधानता होती है। कवि की कल्पना अत्यन्त उच्च कोटि की है।

डा० वर्मा एक सफल आलोचक के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। उन्होंने कबीर का रहस्यवाद और हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास लिखकर अपने अध्ययन, अनुशीलन एव विद्वता का परिचय दिया है। उन्होंने आलोचना प्रधान जो कृतियाँ हिन्दी संसार के समक्ष प्रस्तुत की है वह अत्यन्त ही खोजपूर्ण एव ठोस हैं। हिन्दी आलोचना-जगत में ऐसी खोजपूर्ण रचनाएँ प्रस्तुत करनेवाले कम ही कलाकार हैं। उनकी आलोचना करने का ढग ऐतिहासिक होने के साथ-साथ तार्किक भी है और उसे प्रस्तुत करने का ढग अत्यन्त ही हृदयग्राही है।

डाक्टर रामकुमार वर्मा सिर्फ कवि और आलोचक ही नहीं प्रत्युत् सफल एकाकी नाटककार भी हैं। आधुनिक हिन्दी एकाकी साहित्य में युगान्तर करनेवालों नाटककारों में वर्माजी प्रमुख हैं। इनके पाश्चात्य टेकनीक और विचारों से प्रभावित, नये ढंग के एकाकियों द्वारा हिन्दी में नये युग का प्रारभ होता है। डा० वर्मा ने अनेक समाजिक, समस्या-प्रधान, पौराणिक, भौतिक हास्य-व्यंग्यमय तथा भावात्मक एकाकी प्रस्तुत करके नाट्यक्षेत्र में विविधता का संचार किया है किन्तु ऐतिहासिक नाटकों के क्षेत्र में इनकी प्रतिभा सबसे

अधिक प्रस्फुटित हुई है। ऐतिहासिक नाटककारों में ये सबसे बडे टेकनीशियन हैं। उनका प्रथम एकाकी है—'बादल की मृत्यु', जो संवत् १९८७ की रचना है। इसी के आसपास हिन्दी-नाट्य-साहित्य का अभ्युदय होता है। अतएव यह स्पष्ट है कि हिन्दी के एकांकी की उन्नति और विकास में डा० वर्मा का विशेष योग है। उन्होंने हिन्दी एकाकी साहित्य में अपनी बहुमुखी प्रतिभा के सशक्त अनुरोध से अनेक प्रकार की शैलियों का सफतापूर्वक सन्निवेश और उसका नेतृत्व किया है। इसीलिए वे हिन्दी एकांकी के जनक माने जाते हैं। उन्होंने अबतक ५७ एकाकी लिखे हैं जिनमें १८ ऐतिहासिक, १६ सामाजिक, ९ हास्यरस संबधी, ८ साहित्यिक, ४ पौराणिक, और दो राष्ट्रीय हैं।

डा० वर्मा के एकांकी नाटकों पर शा, इब्सन, मेटरलिंक इत्यादि के नाटकों का प्रभाव है परन्तु 'अपने एकाकियों में उन्होंने विदेशी काया में भारतीय आत्मा की इतनी सुंदरता से प्रतिष्ठा की है कि शरीर और आत्मा—दोनों में सामंजस्य स्थापित हो गया है।' उन्होंने अपने नाटकों में मनोवैज्ञानिक संघर्षों का सूक्ष्म विवेचन किया है और साथ ही हिन्दी साहित्य में एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उन्होंने निराशापूर्ण परिस्थितियों का अत्यन्त सुंदर वर्णन किया है। उनके नाटक अधिकतर दुखान्त हैं। 'रेशमी टाई' 'पुरुष या स्त्री' और 'अठारह जुलाई की शाम' नाटकों से उनकी आदर्शवादी कलाकारिता टपकती है। इनसे उनकी सांस्कृतिक और साहित्यिक उद्देश्य की चरम भावना का पता चलता है। उनके समस्त नाटको का वस्तु-निर्माण विरह से उत्पन्न होता है और नाटकों का उद्घाटन एक कौतूहल (Curiosity) के साथ होता है। उनका चरित्र-चित्रण अत्यन्त सफल है। चारित्रिक द्वन्द्व उनके सभी नाटको के प्राण है और उसी के विकास में उनकी कला का विकास हुआ है। हृदय को अधिक-से-अधिक स्पर्श करनेवाली परिस्थिति पैदा करनेवाले पात्रों का चयन रामकुमार वर्मा अपने नाटकों में करते हैं और उनकी सबसे बड़ी विशेषता है पात्रों की मानसिक परिस्थिति के अनुसार ही घटनाओं की क्रिया और प्रतिक्रिया के रूप में संवादों का प्रयोग। अभिनय की दृष्टि से उनके सभी नाटक सफल हैं और उनके नाटकों में रंगमंच की समस्त आवश्यकताओं की

पूर्ति हुई है। इसका एकमात्र कारण यह है कि वे स्वयं एक सफल अभिनेता हैं और रगमंच की समस्त आवश्यकताओं एवं कठिनाइयों से पूर्णतः परिचित है। उन्होंने रगमच के समस्त विधानो का अध्ययन कर अपने नाटकों में प्राण-प्रतिष्ठा की है। यत्र-तत्र उनके नाटकों में हास्य और व्यग का भी युद्ध देखने को मिलता है लेकिन उसकी मात्रा कम है। इससे नाटक का गाम्भीर्य नहीं टूटता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्मा हिन्दी के सफल एकांकीकार हैं और उन्होने जो एकाकी साहित्य हिन्दी को प्रदान किया है उनका महत्व भी अत्यधिक है।

डा० वर्मा की भाषा-शैली

डाक्टर रामकुमार वर्मा की भाषा में साहित्यक सौंदर्य है और साथ-साथ कलात्मकता भी। उसमें तत्सम् शब्दों को प्रधानता रहती है, परन्तु क्लिष्टता नहीं। उसमें प्रसाद गुण की मात्रा अधिक होती है। उनका शब्दचयन भावों और विचारों के अनुरूप होता है। उनकी भाषा के दो रूप हमें मिलते हैं—व्यावहारिक एवं साहित्य का उनकी व्यवहारिक भाषा में सस्कृत के तत्सम् शब्दों के साथ-साथ उर्दू-फारसी के शब्दों का भी समावेश रहता है, परन्तु साहित्यिक भाषा में ऐसी वात नहीं पायी जाती है। उनके एकाकी नाटकों में साहित्यिक भाषा का ही रूप विद्यमान है, लेकिन उसका रूप और स्तर सर्वत्र एक-सा नहीं है। वर्माजी की भाषा देश, काल और पात्र के अनुरूप होती है। 'उनका जो पात्र जिस वर्ग का, जिस काल का, जिस संस्कृति का होता है उसी के अनुरूप वह अपनी भाषा में अपने विचारों को अभिव्यक्त करता है। भाषा हिन्दी ही रहती है, पर उसके रूप और स्तर में भिन्नता आ जाती है। उनकी भाषा से पात्र का और पात्र से भाषा का स्पष्ट चित्र सामने आ जाता है। उनके पात्र मुसलमान भी हैं और हिन्दू भी। मुसलमान पात्रों की भाषा पर फारसी-अरबी का प्रभाव है और हिन्दू पात्रों की भाषा पर सस्कृत का। इससे उनकी भाषा अधिक स्वाभाविक है।' उनकी साहित्यिक भाषा अत्यन्त प्रौढ़, चुस्त और प्रभावोत्पादक है। भाषा के कलात्मक सौंदर्य के साथ-साथ अनुभूति-पूर्ण, हृदय-ग्राही और स्वाभाविक

वाक्यों का प्रयोग उनकी रचनाओं में मिलता है। यत्र-तत्र उनकी रचनाओं में मुहावरा का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है।

डाक्टर वर्मा की शैली अत्यन्त सजीव, प्रभावोत्पादक एव प्रवाहपूर्ण होती है। उनकी कविताओं में दो शैलियाँ देखने को मिलती हैं—इतिवृत्तात्मक एवं जीवात्मक, परन्तु एकांकियों में कई प्रकार की शैलियों का समन्वय हुआ है और वे हैं—भावात्मक शैली, विश्लेषणात्मक शैली, आलकारिक शैली, परिचयात्मक शैली और व्यग्यात्मक शैली। प्रेम के प्रसगों का वर्णन करने में भावात्मक शैली का उपयोग करते हैं जिसमें उनके हृदय की सरसता एक सरिता का रूप धारण कर लेती है और पात्रों के मनोभावों के सूक्ष्म विश्लेषण में विश्लेषणात्मक शैली का आश्रय ग्रहण करते हैं। आलंकारिक शैली का प्रयोग अधिकाश प्रेम-प्रसगो में भावात्मक शैली के अन्तर्गत हुआ है। पात्र जब साधारण प्रेम की स्थिति से ऊँचे उठ कर काल्पनिक हो जाते हैं तव वे इसी शैली का उपयोग करते हैं। इस शैली में अनुभूति और कल्पना का सयोग रहता है। इसलिए इसमें गद्यकाव्य का सा आनन्द मिलता है। सरल उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं के सफल आयोजन से इसमें जो चटक-मटक, चुलबुलाहट और रगीनी आ जाती है वह अवर्णनीय है। चित्रोपमयता इसकी मुख्य विशेषता है। परिचयात्मक शैली का व्यवहार उन पात्रों के द्वारा हुआ है जो गत घटनाओं का परिचय मात्र देते हैं और इस शैली की भाषा सरल एव साधारण होती है।

व्यग्यात्मक शैली का प्रयोग विशेषतया ऐसे अवसरों पर देखने को मिलता है जहाँ पर एक पात्र दूसरे की आलोचना अप्रत्यक्ष रूप (Indirect Method) से करना चाहता है। इससे व्यग मार्मिक एव चुटीले उतरते हैं। डा० रामकुमार वर्मा की एक एकाकी है—'सही रास्ते', जिसमें उन्होंने सचाई और ईमानदारी का मार्ग प्रशस्त किया है। इसमें समाज के उन व्यक्तियों पर व्यंग है, जो वाहर से कुछ हैं और अंदर से खोखले तथा वेईमान। सत, महात्मा से लेकर वकील, प्रोफेसर, कवि, सेठ, अफसरों तक की पोल खोली गई है। इसमें समाज के सभ्य एव शिक्षित व्यक्तियों की कमजोरियों पर भारी व्यग किया है। सत्यप्रकाश के पत्रों के कुछ अंश देखिए, कितने तीखे हैं—

"दुनियाँ में आकर मैंने देखा कि दुनियाँ में सचाई और ईमानदारी दोनों नहीं हैं। खुशी के बजाय दर्दोगम है और ईमानदारी की जगह बेईमानी ... ... ।"

सेठ गिरधारीमल को भेंट-स्वरूप एक खून से भरी बोतल दी जाती है जिसके साथ पत्र में लिखा है —"इस खून से मैं आपकी सहायता करना चाहता हूँ। आपकी मिलें तेल नहीं पीतीं. वे पीती हैं गरीब मजदूर का खून। खाना न मिलने की वजह से बेचारे मजदूरों में कितना खून रह गया होगा, यह तोआप जानते हैं ......आपकी मिलों में खून की कमी होने पर यह खून काम में लाइएगा ... ...थोड़ा ही सही, कुछ काम तो चलेगा।"

प्रो० महेन्द्रकुमार को दश चश्मे दिए जाते हैं। पत्र में लिखा है—"आप समझते हैं कि दुनियाँ से आँख बन्द करके किताबों को आँखे फाड़-फाड़ कर पढ़ने से लियाकत आती है। पैदा कीजिए ऐसी लियाकत आप। दुनियाँ की हस्तियों से अनजान रहकर मेरी तरफ से आप लाखों किताबे पढ़ते रहें।"

डाक्टर वर्मा के नाटकों में भारतीय समाज के अनेक व्यंग्यात्मक चित्र मिलते हैं। ऊपर से सभ्यता का मुलम्मा चढ़ाए जो व्यक्ति धोखा दे रहे हैं, उन्हे उधेड़ कर सबके सामने रख दिया गया है। इस यथार्थ के साथ आदर्श का जो समन्वय वर्माजी के सामाजिक नाटकों में मिलता है, वह व्यावहारिक है। आप झूठी भावुकता में बह गये हैं, वल्कि एक गूढ़ विचारक के रूप में अपने वर्त्तमान सामाजिक विधान की जर्जरता पर आलोचनात्मक दृष्टि डाली है। ये हमें अपने समाज के कुछ अंगों पर सोचने को विवश करते हैं, साथ ही आदर्श भी उपस्थित करते हैं।' (हिन्दी एकाकी और एकांकीकार, पृष्ठ ११८) उन्होंने कुछ ऐसे एकांकी भी लिखे हैं जिसमें हास्यरस की मन्दाकिनी प्रवाहित होती है। इस कोटि के एकांकी-नाटकों में 'छींक', 'फीमेल पार्ट', 'फेल्ट हैट', 'एक तोले अफीम की कीमत' का नाम लिया जा सकता है। इन एकाकियों में हास्य-रस की निष्पत्ति अत्यन्त सुन्दर ढंग से हो पायी है।

उपर्युक्त विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि डा० रामकुमार वर्मा ने भाषा-शैली की दृष्टि से अनेक उत्कृष्ट एकांकियों की रचना की है। उनकी भाषा पात्र की स्थिति और मर्यादा के अनुकूल है और शैली भाव-व्यंजक, प्रवाहमय एवं स्वाभाविक। प्रत्येक वाक्य में शब्द नगीने की तरह जड़े हैं और अपने नाटकीय गुण से पाठकों एवं दर्शकों का मन मोह लेते हैं। उनमें नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने की अपूर्व क्षमता भी है। इसीलिए एक आलोचक ने ठीक ही लिखा है कि उनके नाटक की भाषा में एक सुरुचि है, साहित्यिक सौन्दर्य है और है एक कलात्मकता। शब्द इस प्रकार चुने हुए हैं मानों एक सुचतुर माली ने सुगन्धित पुष्पों को एकत्रित कर एक माला गूँथ दी हो। इस प्रकार रामकुमार वर्मा की भाषा में ओज, लालित्य और अर्थ-गौरव है।' निष्कर्ष यह है कि वर्माजी एकांकी-कला के सफल निर्माता हैं और एकांकीकारों में उनका नाम अमर रहेगा।

[ख] 'कादम्ब या विष' का सारांश।

परम भट्टारक महाराजाधिराज कुमार गुप्त महेन्द्रादित्य मगध का सम्राट था और कुमार स्कन्दगुप्त वहाँ का युवराज। सम्राट की छोटी रानी का नाम था अनन्तदेवी, जो पुरगुप्त की माता भी थी। पुरगुप्त सम्राट का छोटा पुत्र था और सुनन्दा अनन्तदेवी की अंतरंग परिचारिका थी।

अनन्त देवी अत्यन्त विलासप्रिय थी और सुन्दरी भी जिसे मगध-सम्राट अपने हृदय की महारानी समझते थे। सौन्दर्य और विलास के आवरण में रहते-रहते उसकी महत्वाकांक्षा बढ़ती गई। वह अपना शृंगार कर दर्पण के समीप बैठ गई है और अपनी अंतरंग परिचारिका सुनन्दा से वार्त्तालप करती है। जिससे यह स्पष्ट होता है कि उसने अपने को यथार्थरूप में मगध-सम्राट की महादेवी बनाने और अपने पुत्र पुरगुप्त को युवराज घोषित करने का षड्यन्त्र रचा। इस षड्यन्त्र की रचना में पुरगुप्त का भी हाथ रहा है। जिस हूण सैनिक टिण्डल को स्कन्दगुप्त ने बन्दी बनाया और पैरों पर गिर कर गिड़गिड़ाने के बाद छोड़ दिया, उसे रुपयों का प्रलोभन देकर सम्राट का वध कराने का षड्यन्त्र रचा।

एक रात मगध-सम्राट की छोटी रानी अनन्त देवी ने अपने कक्ष को कामदेव-कक्ष के समान सजाया। उसके शयन कक्ष में विलास की समस्त वस्तुएँ एकत्रित थीं। वहाँ कादम्ब का पात्र रखा था जिसमें चम्पक की सुगन्धि भरी थी। वह कादम्ब-रस का पान करती है और उसे स्वादिष्ट बताकर कहती है—'इसका पान करने पर ऐसा अनुभव है, सुनन्दा! जैसे मैं इन्द्र के नन्दन-निकुंज में कल्पवृक्ष के किसलयों पर शयन कर रही हूँ और विद्याधर और किन्नरियाँ मेरे समक्ष सुगन्धि को ही राग बनाकर गा रहे हैं। इन्द्राणी मेरे चरण-पल्लवों को चूम रही हैं और स्वयं इन्द्र मरुत् को इस बात का संकेत कर रहे हैं कि वायु धीरे बहे। मेरे ओठों की लालिमा शुष्क भी न बने और मेरे केशों के तिरछे छोर मेरे मस्तक के समीप नृत्य करते रहें।' इसके बाद वह षड्यंत्र की ओर संकेत करती हुई कहती है—'मैंने ऐसे विधान की रचना की है जिससे स्कन्द पर आर्यपुत्र का विश्वास वैसे ही क्षुब्ध हो उठेगा जैसे ग्रीष्मकाल में बड़े-बड़े तालाबों का पानी सूख जाने से मछलियाँ लोटने लगती हैं।' इसी बीच छोटी रानी को यह सूचना मिलती है कि मगध-सम्राट कुमारगुप्त का प्रवेश होता है। वह सम्राट का स्वागत कर उनसे बैठने का आग्रह करती हैं। वे बैठते हैं और उसके रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा करते हैं। कादम्ब का पान शुरू होता है। पारसीक नर्त्तकियों का नृत्य-गायन प्रारम्भ हुआ। वे दौर पर दौर चलाये जा रहे थे। उसका प्रभाव बढ़ता जा रहा था। वे अलसाये और मादक स्वर में कहने लगे—'प्रिये। मेरी आँखों में एक स्वप्न तैर रहा है। तुम हो, मैं हूँ और हमारे सामने कादम्ब की नदी बह रही है। हम और तुम उसमें स्नान कर रहे हैं। मैं जब कभी उस नदी में तैरते हुए सिर उठाता हूँ तो तुम कादम्ब के छींटे मुझ पर उछाल रही हो। वे छींटे मेरे मुख पर पड़ते हुए मेरे हृदय में भी समा रहे हैं और मुझे हँसी आ रही है।' कादम्ब का पान अधिक कर लेने से उनकी चेतना दूर भाग रही थी, इसी समय पुरगुप्त ने आकर यह खबर दी कि स्कन्दगुप्त हूण षड्यन्त्रकारियों से उनका वध करना चाहता था। यों तो पुरगुप्त और उसकी माता अनन्त देवी ने सम्राट के हृदय में यह बात बैठा देने की चेष्टा की कि उनके विश्वास की छाया में युवराज स्कन्दगुप्त की महत्वाकांक्षा

षड्यंत्र में परिणत हो गई है, परन्तु सम्राट को इन दोनों की बातों पर विश्वास नहीं हुआ। अनन्त देवी के कहने पर पुरगुप्त उस टिण्डल नामक हूण को सम्राट के समक्ष प्रस्तुत करता है जो इस बात की पुष्टि करता है कि वह युवराज स्कन्दगुप्त की आज्ञा से उनके शयन-कक्ष की तोरण-शाल-भजिका की मूर्ति की ओट में काले वस्त्रों के आवरण में छिपा था और सोई हुई अवस्था में सम्राट के वध करने की ताक में था। सम्राट कुमारगुप्त ने स्कन्दगुप्त से बात करने की इच्छा प्रकट की, परन्तु अनन्त देवी ने उन्हे यह कह कर रोका कि वह स्कन्द को प्रातःकाल उनके समक्ष प्रस्तुत करेगी। उसने सम्राट को इतना अधिक कादम्ब पिलाया कि उनका सिर घूमने लगा और उनकी आखें भी नहीं खुल सकतीं थीं। तब छोटी रानी ने उनके समक्ष एक आज्ञा-पत्र प्रस्तुत किया और उसे मंत्री कुमारामात्य पृथ्वीसेन द्वारा भेजा हुआ आवश्यक आज्ञा-पत्र बतला कर उस पर उनका हस्ताक्षर करवा लिया।

स्कन्दगुप्त शयन-कक्ष में प्रवेश करता है, परन्तु 'अनन्त देवी उसे पिता का दर्शन करने की आज्ञा नहीं देती है। उस पर पिता की हत्या का आरोप लगाया जाता है और यह सूचित किया जाता है कि इसीलिए वह युवराज-पद से च्युत कर दिया गया है और अब युवराज है उसका पुत्र पुरगुप्त। इसके सबूत के लिए वह उस आज्ञा-पत्र को दिखलाती है जिस पर उसने कुछ समय पहले हस्ताक्षर करवाया था। इस पर स्कन्द यह कह कर मालव के लिए प्रस्थान करता है कि 'जन्मभूमि की दुर्दशा मैं किसी प्रकार भी सहन नहीं कर सकूँगा। शरीर में अन्तिम रक्त-विन्दु के रहते मैं किसी भी विदेशी और अत्याचारी को मगध की भूमि पर पैर नहीं रखने दूँगा।" मगध का शासन विलास की छाया में नहीं हो सकता, कृपाण की छाया में होगा। पिताजी के जागने पर उन्हें मेरा प्रणाम निवेदन करना और कहना कि स्कन्द उन्हीं के आदेश से मालवा की ओर चला गया। विजय प्राप्त करके ही लौटेगा।' सच तो यह है कि उसे क्या मालूम कि पिता चिरनिद्रा में निमग्न हैं।

[ग] 'कादम्ब या विष' की आलोचना

डाक्टर रामकुमार वर्मा के एकांकी नाटकों का एक संग्रह है 'ऋतुराज'।

इसी संग्रह से 'कादम्ब या विष' शीर्षक एकाकी उद्धृत किया गया है। प्रस्तुत एकांकी सवत् २००८ में लिखा गया था। यह एक ऐतिहासिक नाटक है जिसकी कथा गुप्त-साम्राज्य से संबंधित है। इसकी कथावस्तु प्रख्यात् वंश की है। उनके ऐतिहासिक नाटकों के सबंध में प्रो० रामचरण महेन्द्र ने लिखा है—'उन्होंने प्राचीन ऐतिहासिक घटनाएँ लेकर ऐतिहासिक पात्रों में नवजीवन तथा उसी आवेगमय स्फूर्ति का संचार किया है, जो उनके काल में रही होंगी। उन्होंने न केवल अपने ऐतिहासिक पात्रों को प्रतिष्ठित विद्वानों द्वारा प्रतिपादित ऐतिहासिक अनुसंधानों के अनुसार ही प्रस्तुत कर उनके सही व्यक्तित्व की रक्षा की है, प्रत्युत् प्रत्येक व्यक्ति, दृष्टिकोण और परिस्थिति को स्पष्ट और पूरे तर्क से अपनी बात कहने का अवसर प्रदान किया है, तथा तत्कालीन ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक पृष्ठभूमि में पात्रों के भावो के अनुसार कथनोपकथन, भाषा तथा शिष्टाचार स्थिर किया है। अपने पात्रों और ऐतिहासिक परिस्थिति की प्रमाणिकता में रामकुमार वर्मा अंग्रेजी के सर वाल्टर स्काट (Sir Waltor Scott) के समक्ष आ खड़े होते हैं। इनमें इतिहास हँसता है, खेलता है, दण्ड देता है तथा अपना जीवन एक बार पुनः जीता हैं। इनमे उन्होंने ऐसे आदर्श की प्रतिष्ठा की है, जो जीवन की व्यावहारिकता से ओतप्रोत होकर नैतिक दृष्टि से जनता के लिए कल्याणकारी है। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से वे अपने क्षेत्र में प्रसाद और प्रेमचन्द के समकक्ष रखे जा सकते हैं, क्योंकि उन्होंने भारतीय इतिहास के चरित्रों का विश्लेषण कर उनमें ऐसी प्राण-प्रतिष्ठा की है जो ऐतिहासिक सत्य से ओतप्रोत होते हुए भी जीवन के स्पन्दन से सजीव है।'

प्रस्तुत नाटक की कथा-योजना के लिए उन्होंने भारतीय इतिहास के एक हृदयस्पर्शी घटना को चुना हैं जो हमारे जीवन से दूर नहीं है। बल्कि वह ऐसी घटना है जो ऐतिहासिक होते हुए मानव तथा समाज की स्वाभाविकता में प्रविष्ट होकर गति, प्रेरणा तथा शक्ति प्रदान करनेवाली है। इसमें परिस्थिति, देश, समाज और संस्कृति की पृष्ठभूमि का ऐतिहासिक अध्ययन मिलता है। डा० वर्मा का यह अध्ययन अत्यन्त पूर्ण है और इसके लिए उन्होंने ऐतिहासिक ग्रंथों की पूरी छानबीन की है। इसकी कथावस्तु ऐतिहासिक घटनाओं के अनुसार

है, इसमें शयन-कक्ष और उसकी सजावट आदि का वर्णन कल्पना के बल पर है। अनन्त देवी के इतिहास से उसका जो व्यक्तित्व मिला है, उसे मनोवैज्ञानिक ढंग से सुसज्जित किया गया है। उसकी उक्तियाँ एक विलासिता नारी का रूप प्रकट करती है। नाटक की पृष्ठ भूमि के छोटे-मोटे संकेत भी ऐतिहासिक बल पर ही निर्मित किए गए हैं।

प्रस्तुत एकांकी में सिर्फ एक ही घटना, परिस्थिति अथवा समस्या की मुख्यता रही है। और वह है स्कन्दगुप्त का निर्वासन और पुरुगुप्त के युवराज पद की अभिसन्धि। इसीका जीता-जागता चित्र अंकित है। इसमें अनन्त देवी, कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त का चरित्रांकन अधिक महत्व रखता है जिसमें अनन्तदेवी का चरित्र विशेष रूप से मुखरित हो पाया है। शेष अन्य पात्रों का गौण स्थान है। डा० वर्मा ने इस एकांकी की रचना में संकलन द्वय (काल और स्थान का संकलन) को महत्व दिया है। एकांकीकार ने एक ही घटना से संबंध रखनेवाले विविध दृश्यों का वर्णन कराया है, लेकिन उन सब दृश्यों में से वे ऐसा दृश्य चुन लेते हैं जिसमें उन सभी दृश्यों का समाहार हो जाता है और उसे एक ही अंक के अंतर्गत स्थान देते हैं। इसी में उनकी प्रतिभा का चरमोत्कर्ष है, इसीमें उनकी कला का रहस्य है। इस एकांकी के वस्तु-विकास का आधार है पात्रों का 'द्वन्द्व' जो आदि से अंत तक स्पष्ट है। यह एक नायिका प्रधान एकांकी है और इसमें पात्रों की संख्या भी बहुत कम है। उनके पात्रों का चरित्रांकन मनोवैज्ञानिक ढंग से हो पाया है। इसमें संवाद चुस्त एवं दुरुस्त उतरे हैं। इसमें पात्रों में परस्पर जो संवाद मिलता है उससे उनकी चारित्रिक विशेषताएँ अभिव्यक्त हो पायी हैं। जहाँ कहीं भी डा० वर्मा के पात्र भावुक हो उठे हैं, वहाँ की भाषा कवित्वपूर्ण हो गई है, परन्तु उसकी स्वाभाविकता अक्षुण्ण है। संवाद कला का बाह्यपक्ष है भाषा। इसमें उनके वाक्य स्पष्ट एवं आकार में लघु हैं जिसमें भावों और विचारों का गांभीर्य है। संवाद की भाषा में व्यर्थ के शब्द नहीं प्रवेश कर पाये हैं। इसी संवाद योजना में उनकी प्रतिभा का चमत्कार दीख पड़ता है। यह एकांकी अभिनय के योग्य है। इसमें रंगमंच के योग्य बनी रहने की खूबियाँ हैं।

डा० वर्मा एक आदर्शवादी एकांकीकार हैं और इसके साथ-साथ राष्ट्र प्रेमी भी हैं, जिसका प्रमाण है स्कन्दगुप्त की उक्तियाँ, यथा—'जन्म भूमि की दुर्दशा मैं किसी प्रकार भी सहन नहीं कर सकूंगा। शरीर में अन्तिम रक्त-विन्दु के रहते मैं किसी भी विदेशी और अत्याचारी को मगध की भूमि पर पैर नहीं रखने दूंगा। युवराज न बनकर सही सैनिक बनकर तो मैं अपनी मातृभूमि की रक्षा का अधिकार रखता हूँ।' उपसंहार के रूप में डा० वर्मा संदेश देते हैं—'पुरुष! स्वामी बनकर सौन्दर्य की सराहना कर, सेवक बनकर आत्मसमर्पण न कर।'

इसमें भारतीय और पश्चिमी नाट्य-सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय हो पाया है। यह एक दुःखान्त एकाँकी होते हुए भी एक सफल रचना है।

[घ] शब्दार्थ, व्याख्या और आशय

शब्दार्थ (पृ० ११६)—संकेत = इशारा। आवरण = पर्दा। महत्वाकाक्षा = उच्च अभिलाषा। पोषित होती है = पलती जाती है। शयन करती है = सोती है। वैभव = ऐश्वर्य। द्विजिह्व = दो जीभ। सर्पिणी = साँप की मादिन। दंशन = दाँत से काटना, डँसना। निर्वासन = नगर, देश या गाँव से दण्ड स्वरूप बाहर निकाला जाना, विसर्जन, निकालना। अभिसन्धि = अंतिम आशय। घुटने टेकना = आधीन होना, आत्म समर्पण करना। कादम्ब = वाण, कदम्ब का फूल। मूर्च्छा = विरह की एकादश दशाओं में अंतिम दशा। सराहना कर = प्रशंसा कर। नर्तकियाँ = नाचनेवाली।

शब्दार्थ (पृ० ११७)—दर्पण = ऐनक, आइना। वार्त्तालाप = बातचीत। केशराशि = केशों का समूह। नेत्रों में आँसुओ के मोती देखे हैं = मोती का तात्पर्य्य उज्जले कण से है, इसके कहने का आशय यह है कि उसकी आँखो में मोती के समान आसू हैं, जिसे उसने देखा है। कोर = कोने में। झलक उठे थे = निकल आए थे। उषाकाल = प्रातःकाल। निद्रा = नींद। श्रांति = शान्ति। प्रियवादिनी = मधुर बोलनेवाली। छोर = किनारा। नीलाकाश = नीले आकाश। कला पारखी = कला को परखनेवाली। शयन-पर्यंक =

सोने की पलंग। पीठिका = आसन। केतकी के पराग से = केवड़ा फूल के पराग से। कर्पूर-पल्लवों = कपूर के पत्तों से। सुवासित = सुगन्धित।

उषाकाल की निद्रा ··· ···सोने में सुगन्धित हो। [पृ० ११७]

व्याख्या—प्रस्तुत काव्यात्मक पंक्तियाँ 'कादम्ब या विष' शीर्षक एकांकी से ली गई हैं। इसमें सम्राट् की छोटी रानी अनन्तदेवी की अंतरंग परिचारिका ने उनके सौन्दर्य का वर्णन किया है। अनन्त देवी अपना शृंगार कर चुकी है और वह दर्पण के निकट बैठी हुई सुनन्दा से वार्त्तालाप कर रही है। सुनन्दा उनकी केशराशि में मोतियों की माला सजा रही है, इसी समय अनन्त देवी उससे अपनी सुन्दरता के संबंध में पूछती है जिसके उत्तर में वह कहती है कि जिस समय प्रातःकाल वह सोई रहती हैं, उस समय वह अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होती हैं, क्योंकि उस समय उनके मुख पर सौन्दर्य के साथ शान्ति एवं माधुर्य के साथ मादकता रहती है। अपने कथन की पुष्टि वह एक उदाहरण द्वारा करती है। उसका कहना है कि जिस प्रकार सोना सुन्दर होता है और यदि उसमें सुगन्ध हो तो उसकी महत्ता बढ़ जाती है, ठीक उसी प्रकार प्रातःकाल की निद्रावस्था में उनके मुख की सुन्दरता के साथ जो शांति एवं मादकता रहती है, वह उनके मुख-सौन्दर्य को द्विगुणित कर देती है।

शब्दार्थ (पृ० ११८)—शयन-कक्ष = सोने का कमरा। प्रतिमाओं = मूर्त्तियों। वक्षस्थल = छाती। कुंकुम = केसर। कलहंसों = राजहंसों। कोकिलाओं = कोयलों। मुस्कान का संवाद भिजवा दो = खुश होने की खबर दे दो। मनोभावों = मन में उत्पन्न होनेवाले भावों। संदेश-वाहक = संदेश पहुँचानेवाले। विरहोच्छ्वास = विरह के उच्छ्वास। सारिका = मैना। कूजन-सा = कूक के समान। चन्द्रिका = चाँदनी। तीक्ष्ण = तेज। स्वामिनी= मालकिन।

नहीं, आर्यपुत्र शयन-मन्दिर ··· ···चकोर की दृष्टि हो। [पृ० ११८]

व्याख्या—प्रस्तुत उक्ति छोटी रानी अनन्त देवी की है और इससे उनकी चारित्रिक विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं। सुनन्दा जाने की आज्ञा माँगती है, पर अनन्त देवी यह कह कर कि सम्राट् उसके शयन-कक्ष में आनेवाले हैं, आज्ञा

नहीं देती है। उसके हृदय की कामना है कि उनका (सम्राट्) उचित स्वागत कर वह अपने प्रेम का प्रदर्शन करेगी। उसकी सबसे बड़ी आकांक्षा यह है कि उसकी बोली संदेश-वाहक राजहंस के सदृश हो, उसके विरह के उच्छ्‌वास सारिका के मधुर स्वर के समान हो, उसका प्रणयानुरोध कोकिल की कूक की तरह हो और उसकी दृष्टि उसी प्रकार लगी रहे जिस प्रकार मद-विह्वल चकोर की दृष्टि चाँद पर केन्द्रित रहती है। उसके कहने का तात्पर्य्य यह है कि वह सम्राट् कुमारगुप्त के स्वागत के मनोभावों में इस प्रकार लीन हो जाए कि उन्हे (सम्राट् को) उसके कृत्रिम प्रेम की तनिक भी गन्ध न मिले।

शब्दार्थ (पृ० ११९)—वादन=बाजा, बाजा बजाना। ज्ञात होता है= मालूम पड़ता है। अनगिनती=जिसकी गणना नहीं हो सके। मृदंग= एक प्रकार का बाजा जो कदु का बनता है। चमत्कारपूर्ण=चमत्कार से भरा हुआ। पद-चाप=पावों के चिन्ह। तीव्र=तेज। रोष=क्रोध। प्रयत्न= चेष्टा। प्रहार=चोट। आघातों=चोटें। व्यक्त कर रहा है=प्रकट कर रहा है। भाग्यहीन=अभागा।

शब्दार्थ (पृ० १२०)—परिचारिका=सेविका। मनोविनोद=मनोरंजन। सामग्री=वस्तु। जिज्ञासा=उत्सुकता। महत्ता=सत्ता। श्रद्धानत=श्रद्धा से झुकना। शुष्क हो रहा है=सूख रहा है। चम्पक=चम्पा का फूल। नंदन के निकुंज=स्वर्ग का उपवन। किसलय=नये पल्लव। शयन कर रही हूँ= सो रही हूँ। विद्याधर=इन्द्र के दरबार के गायक। किन्नरियाँ=अप्सराएं। समक्ष=सामने। इन्द्राणी=इन्द्र की पत्नी। मरुत्=हवा। संकेत कर रहे हैं= इशारा कर रहे हैं। दिव्य=अलौकिक। मादक=मद भरा। सौभाग्य= सुन्दर भाग्य।

इसका पान करने पर ऐसा ···जगा कितना मादक है। [पृष्ठ १२०]

आशय—सम्राट कुमारगुप्त की छोटी रानी अनन्तदेवी अपनी अंतरग परिचारिका सुनन्दा से बातचीत कर रही है। वर्तालाप के सिलसिले में अनन्त देवी चम्पक की सुगन्धि से पूर्ण कादम्ब का पान कर लेती है जिससे वह एक सुख का अनुभव करती है। इन पंक्तियों में उसने उसी सुख का वर्णन किया

है। वह कहती है कि कादम्ब पान से उसे ऐसा प्रतीत होता है मानों वह स्वर्ग के उपवन में लगे कल्पवृक्ष के पल्लवों पर सोयी हुई है और उसे विद्याधर एव अप्सराएँ गन्ध का ही राग बना कर गा रही हैं। इन्द्र की पत्नी उसके चरण को चूमती है और स्वयं इन्द्र मारुत को यह आज्ञा देते हैं कि वह धीरे-धीरे बहे जिससे उसके अधरों की लालिमा तिरोहित न हो जाए और उसके केशों के छोर उसके मस्तकपर नाचते रहे। इन पक्तियों में अनन्तदेवी की विलासप्रियता का अत्यन्त सुन्दर चित्र अंकित हुआ है।

शब्दार्थ (पृष्ठ १२१)—नासिका = नाक। प्रवाहित होती है = बहती है। दृष्टि = देखने की शक्ति। नेत्रों = आँखें। संचारित = गतिशील। साकार होता है = मूर्तिमान होता है। चरणों की दिशा = पांवों की गति। कक्ष = कमरा। कथन = कहना। लेखनी प्रस्तुत है = कलम हाजिर है। कृपाण = तलवार। वाहुपाश = जिस भाँति भुजाओं के वधन में जकड़ दिया जाता है, उसी भाँति यह फूलों की माला सम्राट को जकड़नेवाली है। पारसीक = पारस देश की। प्रवन्ध = इंतजाम।

शब्दार्थ (पृष्ठ १२२)—असमर्थ = लाचार। ज्वाला = लपट, अग्नि-शिखा, ताप। प्रताड़ित होने लगती है = उठने-गिरने लगती है। भयभीत = डरा हुआ। प्रतिक्षण = हर एक पल। आतंकित किये रहती है = डराती रहती है। सहचरी = संगिनी।

तो ज्वाला उठना चाहती ······प्रताड़ित होना चाहती है।

[पृष्ठ १२२]

व्याख्या—यह अनन्त देवी की उक्ति है। इससे उसके आत्मवल का परिचय मिलता है। वह अपने अतरग परिचारिका सुनन्दा से कहती है कि जिस प्रकार आग से स्वयं अग्नि-शिखा प्रज्वलित हो उठती है, आकाश में वादलों के आच्छादित होते ही विजली कौंध उठती है, तेज हवा से लहरें उठने गिरने लगती हैं उसी प्रकार वह भी अपने कार्यों का सम्पादन कर सकती है। अब वह अवला नारी नहीं है, उसमें अद्‌भुत सामर्थ्य है। वह अपनी विलक्षण कार्य-क्षमता के सवध में कहती है कि जिस प्रकार अग्नि-शिखा स्वयं धधक उठती

है, विद्युत् (बिजली) कौंध उठती है, लहरें उठने-गिरने लगती हैं, ठीक उसी प्रकार आज वह अपने दुर्दम्य कार्यों का सम्पादन स्वयं करना चाहती है इस गद्य-सदर्भ में अनन्तदेवी की महत्वाकांक्षा स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हो पायी है।

जब नारी को अपने ··· ···शक्ति की देवी बन ! [पृष्ठ १२२]

व्याख्या—प्रस्तुत अवतरण में डाक्टर रामकुमार वर्मा ने अनन्तदेवी के मुख से यह कहलवाया है कि नारी अबला नहीं है प्रत्युत् वह सबला है, शक्ति की देवी है। इस कथन की पुष्टि के लिए वह अपनी अंतरंग परिचारिका सुनन्दा से कहती है कि उसे उसकी (अनन्तदेवी) अलौकिक बातों को सुनकर भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। वह सुनन्दा के भयभीत होने पर आश्चर्य प्रकट करती हुई कहती है कि जब नारी में आत्मविश्वास की कमी रहती है तब वह भयभीत होती है। यदि उसमें आत्मबल विद्यमान है, आत्मविश्वास है तो उसके हृदय के अंदर भय का भाव ही उत्पन्न नहीं हो सकता। नारी एक शक्ति है और वह एक ऐसी शक्ति है कि यदि वह वर्त्तमान के साथ भविष्य को संजाने-संवारने का भार अपने हाथों में ले ले तो उसकी विलक्षण शक्ति को देखकर बिजली की तड़प भी लज्जित हो जाय। आज नारी अबला है, वह पुरुषों की सेविका बन गई है, वह उसी पर निर्भर करने की अभ्यस्त हो गई है जिससे उसकी शक्ति क्षीण हो गई है। यही कारण है कि वह अपने आत्मविश्वास एवं आत्मबल को खो बैठी है। आज तो वह इतनी लाचार हो गई है कि भविष्य की कल्पनामात्र से ही वह भयभीत हो जाती है। इसलिए सुनन्दा को प्रेरित करती हुई अनन्त देवी कहती है कि अब उसे अबला का रूप धारण किए रहना नहीं चाहिए बल्कि सबला बनना चाहिए।

शब्दार्थ (पृष्ठ १२३)—योग्यता = काबिलियत। साधना करनी पड़ती है = कार्य सिद्धि के लिए उपासना करनी होती है। आकाश चूमती है = आसमान को छूती है। युद्ध = लड़ाई, संघर्ष। जिज्ञासा = उत्सुकता। परिणाम = फल। स्वामिनी = मालकिन। छद्मवेशी = रूप बदले हुए। रुष्ट हो सकती हूँ = अप्रसन्न हो सकती हूँ। रोष = क्रोध। क्षीण आयुवाला = कम

उम्रवाला। सहचरी = साथी। अत्यन्त गोपनीय = बहुत गुप्त। द्वार = दरवाजे। क्रोधाग्नि = क्रोध की आग।

शब्दार्थ (पृष्ठ १२४)—क्रोधाग्नि को छेड़नेवाले = क्रोध की अग्नि को भड़काने वाले। शक्तिहीना = निर्बल। पवन = वायु। खरोंच लगना = छिला जाना। बाहु = भुजा। कुंज = उपवन। पुष्प-शय्या = फूलों की सेज। समीर = हवा। अनवरत प्रहार = लगातार चोट। भस्मी-भूत होंगे = खाक हो जाएँगे। विधान = क्रिया, आचार, व्यवस्था, कथन, उपाय, अनुष्ठान। क्षुब्ध होना = खीझ उठना। मछलियाँ लोटने लगती हैं = मछलियाँ तड़पने लगती हैं।

पवन के झोंकों से चौंक ... फुफकार बन जाती है। [पृष्ठ १२४]

व्याख्या—प्रस्तुत गद्य-संदर्भ में डा० रामकुमार वर्मा ने अनन्तदेवी के मुख से कहला कर यह बतलाया है कि राजनीति के क्षेत्र में लोग सत्ता और अधिकार-प्राप्ति के लिए ऐसे-ऐसे भयकर कार्यों का सम्पादन करते हैं, जो मानवीय दृष्टि से हेय हैं। कुमारगुप्त की छोटी रानी अनन्तदेवी अपनी अंतरग परिचारिका सुनन्दा से कहती है कि पवन के हल्के झोंकों से जो स्त्री चौंक उठती है, जिन स्त्रियों के शरीर में फूलों की पंखुरियों से खरोंच लग जाता है, वैसी स्त्रियाँ राजनीति से नहीं खेल सकती हैं। ये सब बातें किसी कुंज में पुष्प-शय्या की बातें हैं। राजनीति में कोमल नारियों की जरूरत नहीं पड़ती है, इसके लिए सबला की आवश्यकता है। राजनीति के क्षेत्र में किसी उपवन की पुष्प-शय्या धधक उठती है, जो फूल देखने में लाल मालूम पड़ते हैं वे आग के शोले बन जाते हैं और ठंढी हवा भयंकर सर्पों की फुफकार बन जाती हैं। कहने का मूल भाव यह है कि राजनीति के रंगमंच में कोमल बातें नहीं होती हैं प्रत्युत् भयकर घटनाएँ घटती रहती हैं।

मैंने ऐसे विधान की रचना ... मछलियाँ लोटने लगती हैं। [पृ० १२४]

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में एकाकीकार ने भविष्य में घटनेवाला भयंकर षड्यंत्र की ओर संकेत किया है। इसमें अनन्तदेवी द्वारा रचित षड्यन्त्र का अंकन हुआ है। वह अपनी अंतरग परिचारिका सुनन्दा से वार्त्तालाप के

सिलसिले में कहती हैं कि यह कटु सत्य है कि मगध-सम्राट कुमारगुप्त युवराज स्कन्दगुप्त पर अत्यधिक विश्वास करते हैं, उनकी आस्था स्कन्दगुप्त पर अत्यधिक है। परन्तु उसने अब ऐसी व्यवस्था कर रखी है जिससे उसके प्रति मगध-सम्राट का विश्वास उसी प्रकार खीझ उठेगा जिस प्रकार गर्मी के दिनों में तालावों का पानी सूख जाता है और उसमें निवास करनेवाली मछलियाँ (पानी की कमी के कारण) तड़पने लगती हैं। कहने का तात्पर्य्य यह है कि उसके द्वारा ऐसे षड्यंत्र की रचना हुई है जिसे देखकर आज युवराज स्कन्दगुप्त के प्रति मगध-सम्राट के विश्वास का अत हो जायगा। इससे यह स्पष्ट होता है कि अनन्त देवी षड्यंत्र-रचना में अत्यन्त कुशल है।

शब्दार्थ (पृष्ठ १२५)—षड्यंत्र = कपट प्रबन्ध। लोभ = लालच। मार्ग का कंटक = रास्ते का काँटा। गोपनीय रख = छिपाये रख। मुख से उच्चरित होनेवाले शब्दो से = मुँह से बोले हुए शब्दो से। वेणी = जूड़ा। चरण-पीठिका = पैर रखने का आसन। कौशेय वस्त्र = रेशमी कपड़ा। कसौटी = सोना के परखने का एक काला पत्थर। कंचन = सोना।

शब्दार्थ (पृ० १२६)— अनुराग = प्रेम। भस्म = खाक। साहचर्य = साथ। प्रहार = आघात, चोट। सुरक्षित रहे = अच्छी तरह से रक्षा होती रहे। पैर अग्रसर हो रहे थे = पाँव आगे की ओर बढ़ रहे थे।

इसलिए स्त्री बन गया कि पुरुष····प्रहारों से सुरक्षित रहे।

[पृ० १२६]

व्याख्या—प्रस्तुत संदर्भ में एकाकीकार ने मगध-सम्राट कुमारगुप्त की उक्ति के द्वारा अनन्तदेवी के सौन्दर्य का वर्णन किया है। उसके अनुपम सौंदर्य से प्रभावित होकर मगध-सम्राट कह उठते हैं कि वह ऐसी सुन्दर मालूम पड़ती है मानों जिस कामदेव को भगवान शिव ने भस्म कर डाला था, वही आज नारी बनकर उसके शरीर को पाकर मूर्तिमान हो उठा है। उसने (कामदेव) नारी का रूप इसलिए ग्रहण किया है कि वह समस्त प्रकार के आघातों से अच्छी तरह बचा रहे, उस पर उनके द्वारा की गई चोटों का कतई प्रभाव नहीं पड़े। नारी को 'शक्ति की देवी' की संज्ञा मिली है क्योंकि उस पर

भगवान शंकर या किसी भी पुरुष के लिए प्रहार करना संभव नहीं है। कामदेव ने इस तरह का षड्यंत्र रच कर अपने आप को सुरक्षित बना लिया है।

शब्दार्थ (पृ० १२७)— आदेश = आज्ञा। समीर = हवा। अनत = जिसका अन्त नहीं। करों=हाथों। तरल = गीला। कृतार्थ हुई=धन्य हुई।

शब्दार्थ (पृ० १२८)—वकुल = मौलसिरि। उत्फुल्ल = प्रसन्न। अरुण= लाल। पदाघात = चरणों का आघात। मयूर=मोर। मंजु = मीठी, मधुर। अनुमति=आज्ञा। साम्य = समता। निरंतर = हमेशा।

शब्दार्थ (पृ० १२६)— मिलाप = मिलन। सृष्टि होगी = रचना होगी। क्रिया-कलाप=काम-काज। गायन = गाना। तुम्हारे भविष्य पर भी छाय = तुम निहाल हो उठो। नूपुर = पैंजनी। कली = जो फूल अविकसित अवस्था में है। राका = पूर्णिमा की रात्रि। अरुणाई = लालिमा। तट=किनारा। सिकत-कण = बालू के कण।

नूपुर की झनकार, जैसे वायु ...मानों प्यार। नूपुर की झनकार।

[गीत, पृष्ठ १२६]

व्याख्या—कुमारगुप्त अनन्त देवी के शयन-कक्ष में उसके साथ बैठे हैं। नर्तकियाँ नृत्य करती हुई गाती हैं कि आज पूर्णिमा की रात है जिसमें उनकी (नर्तकियों की) नूपुरों की झंकार इस प्रकार गूँजित हो रही है जिस प्रकार वायु ने ध्वनि की चञ्चल माला पहन ली है। उस रात्रि में कलिकाएँ उपवनों में इस प्रकार विकसित हुई हैं, मानों प्रियतमा से प्रियतम मिल गए हैं तथा उन दोनों की अधूरी प्रेमकथा इस पूर्णिमा-रात्रि में मूर्तिमान हो उठी है। जिस तरह कुशल लहरें किनारे आकर बालू के कणों को सिक्त करती है, उसी तरह सकोच (लज्जा या व्रीड़ा, जो नारी का आभूषण है) की वकिम लालिमा ने प्रेम को प्राणदान दिया है।

शब्दार्थ (पृ० १३० से १४६)—मौन = चुप। स्वामी = मालिक, प्राण-नाथ। सहस्रो = हजारों। सरिताएँ = नदियाँ। सर्वस्व = सबकुछ। सकेत = इशारा। शयन करना चाहता हूँ = सोना चाहता हूँ। तुमुल = कोलाहल। कर्कश = कठोर। कठ-स्वर = कठ की आवाज। काड = घटना। ज्ञात =

मालूल। प्रस्थान = चले जाना। उछाल रही हो = फेंक रही हो। समा रहे हैं = प्रवेश कर रहे हैं।

रिक्त = खाली। प्रतिहिंसा = बदला लेने। रक्त = खून। मेरे लाल = मेरे पुत्र। स्पष्ट = साफ। कालिमा = धब्बा। अजन = आँखों में लगाने की काली वस्तु। विष = जहर। पददलित होगी = पाँवों से रौंदी हुई होगी। संभावना = उम्मीद।

स्वच्छन्दतापूर्वक = स्वतत्र होकर। दंशित कर सकते हैं = डँस सकते हैं। तक्षक = बड़े भयंकर सर्प। प्रमाण = सबूत। अटल = जो टल नहीं सकता। स्नेह = प्रेम। मर्यादा-पालक = यर्मादा की रक्षा करनेवाले। राघवेन्द्र = रामचन्द्र। सुशील = शीलवान। दुर्लभ = जो कठिनता से प्राप्त हो। खिलौना बन रहा है = कठपुतला बन रहा है। स्थिर = शान्त।

महत्वाकांक्षा = ऊँची इच्छा। परिणत हुई है = बदल गई है। चरम = अंतिम। कुतूहलता = उत्सुकता, जिज्ञासा। अपराध = कसूर। परिस्थिति = दशा। संकेत = इशारा। समक्ष = सामने। अपार = जिसका पार नही है, अत्यन्त। व्यर्थ = बेकार। कलुषित = मैला।

पूर्व = पहले। पार्श्व = ओट। आवरण = पर्दा। प्रतीक्षा = इन्तजार। प्रतिकूल = उलटा। विह्वल = व्यग्र, बेचैन। सहम उठीं = डर गईं। पराजित किया = हरा दिया।

अनन्त निद्रा में = महा निद्रा में। शयन कराने के लिए = सुलाने के लिए। दुर्भावना = बुरी भावना। उपस्थित = हाजिर। किंचित मात्र = जरा भी। सौम्य = सज्जन। राज्याधिकार = राज्य का अधिकार। कलंकित = कलंकपूर्ण। साक्षी = सबूत। प्रदान = देने।

अन्तःकरण की ध्वनि = हृदय की आवाज। निर्णय = फैसला।

सर्वनाश था = सब कुछ नाश था। प्रभाव = असर। विश्राम = आराम। आभास = झलक। वध की योजना = हत्या का षड्यंत्र। अरुचिकर = जो रुचि के अनुकूल नहीं हो।

प्रतिविम्ब = झलक, छाया। व्यस्त होंगी = लगी होंगी। आज्ञा-पत्र = आज्ञा दी जानेवाली कागज। निवेदन = अनुरोध।

स्वप्नों की चित्रशाला मेरी आँखों में खींच दी है = मदिरा का इतना प्रभाव हो गया है कि मेरी आँखों में सिर्फ स्वप्न के ही चित्र नाच रहे हैं। चैतन्य हो जाइये = सचेत हो जाइए। प्रस्थान=रवाना।

पितृभक्त = पिता का भक्त। नंदनवन = इन्द्र के उपवन। वसंत-श्री = वसंत की शोभा। अमरावती की शची=इन्द्र की स्त्री। अशान्त = चंचल।

अपमानित = वेइज्जत। अनजान = जाने विना। दम्भ=पाखण्ड। पूज्य= पूजनीय। निद्रा भंग न हो जाय = नींद टूट न जाय। द्रवित = पिघलना।

उत्पत्तिकर्त्ता = सृष्टिकर्त्ता, रचना करनेवाले। पालक = पालनेवाला। कपट = धोखा। अवसर = मौका। परिवर्तित कर दें = बदल दें। प्रतिवन्ध= रोक। अनुचित = जो उचित नहीं। पुण्य-सूचक = पुण्य को सूचित करनेवाले। कौतुक = आश्चर्य।

सम्मिलित किया = शामिल किया। शपथ = कसम। सहज = आसान। कृपाण = तलवार।

मानवता = आदमियत, इसानियत। क्षुब्ध = खीझ। शिरोधार्य है = सिर पर धारण है। लाछन = कलंक। भुलावे में = चक्कर में। सकट = विपत्ति। विदेशियों = विदेश में रहनेवालो। आततायियों = दुष्टों।

अभिमान = घमण्ड। जननी = माता। दुर्दशा = खराव दशा। प्राणों का चीत्कार है = आत्मा की आवाज है। प्रलोभन = लोभ, लालच। उपरान्त = वाद। अभिसन्धि = कुचक्र। अनुपस्थिति = गैरहाजिरी।

आदेश = आज्ञा। विजय = जीत। कटक काँटा। सार्थक हो गया = चरितार्थ हो गया। पान करें = पीयें। कुशल = होशियार।

शव्दार्थ (पृ० १४७)—सूचना=खवर। अस्वस्थ = स्वस्थ नहीं। अभिमान= गर्व। तूर्य = तुरही वाजा। मान्य हो = मानी जाय। एकाधिपत्य = एक का आधिपत्य।

मगध का शासन विलास की " विलास की छाया में। [पृ० १४७]

व्याख्या—प्रस्तुत संदर्भ में डा० रामकुमार वर्मा ने अनन्तदेवी की चारित्रिक विशेषताओं पर दृष्टिपात किया है। यह अनन्तदेवी की उक्ति है। स्कन्दगुप्त ने अपनी सौतेली माँ को चेतावनी के रूप में कहा था कि 'मगध का शासन विलास की छाया में नहीं हो सकता, कृपाण की छाया में होगा।' उसी सम्बन्ध में अनन्तदेवी अपनी अंतरंग परिचारिका सुनन्दा से कहती है कि स्कन्दगुप्त के कथन में वास्तविकता नहीं है। वह एक विलासिनी नारी है और उसके विचार भी उसी प्रकार के हैं, इसीलिए वह कहती है कि विलासिनी होकर भी वह मगध का शासन कर सकती है। अपने कथन की पुष्टि के लिए एक उदाहरण देती हुई कहती है कि जिस प्रकार डमरू के स्वर से नाग (सर्प) मोहित होकर मदमस्त बन जाता है, उसी प्रकार वह मगध की प्रजा को विलास की छाया में आकृष्ट करेगी तथा उस पर उसका ही एकमात्र शासन होगा, किसी दूसरे का नहीं।

[ङ] आलोचनात्मक प्रश्नोत्तर

प्रश्न १—डा० रामकुमार वर्मा का जीवन-परिचय लिखिए।

उत्तर—एकांकीकार का जीवन-परिचय पढ़ें।

प्रश्न २—डा० रामकुमार वर्मा की साहित्य-साधना पर एक छोटा-सा निबन्ध लिखिए।

उत्तर—डा० वर्मा की साहित्य साधना वाले अंश को पढ़ें।

प्रश्न ३—'कादम्ब या विष' शीर्षक एकांकी का सारांश लिखिए।

उत्तर—एकाकी का साराश पढ़े।

प्रश्न ४—'कादम्ब या विष' शीर्षक एकाकी की आलोचना प्रस्तुत कीजिये।

उत्तर—प्रस्तुत एकाकी की आलोचना पढ़ें।

प्रश्न ५—मगध-सम्राट् कुमारगुप्त की चारीत्रिक विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—परम भट्टारक महाधिराज कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य मगध के सम्राट् हैं। उन्हें दो रानियाँ हैं जिनमें बड़ी का नाम देवकी है और छोटी का

अनन्तदेवी। देवकी से उत्पन्न पुत्र स्कन्दगुप्त युवराज है, परन्तु अनन्तदेवी का पुत्र पुरगुप्त नहीं। मगध-सम्राट् रूप-सौन्दर्य के प्रेमी हैं और अनन्तदेवी में वह सौन्दर्य प्राप्त है, इसीलिए वे उसकी ओर अत्यधिक आकृष्ट हैं। वे स्त्री के बाह्य रूप से प्रभावित हो जानेवाले व्यक्ति हैं। वे सरल, निष्कपट और साधु प्रकृति के व्यक्ति हैं। वे कादम्ब पान करने पर अपनी चेतना खो बैठते हैं और बिना समझे-बूझे आज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर कर देते हैं। उस हस्ताक्षर से क्या लाभ-हानि होगी, इस पर विचार नहीं करते हैं। इस दृष्टि से वे अविवेकी प्रतीत होते हैं। जिस व्यक्ति पर उनका विश्वास जम जाता है, वह अटल रहता है। कादम्ब-पान के कारण ही उन्हें जीवन से हाथ धोना पड़ता है। उनकी सबसे बड़ी कमजोरी है—सब लोगों पर विश्वास करना। इसमें उनका आंशिक चरित्रांकन हुआ है।

शुष्को वृक्षः

(श्री सियाराम शरण गुप्त)

जन्म संवत् १९५२ (जीवित)

[क] निबन्धकार का परिचय

हिन्दी के राष्ट्रकवि डा० मैथिलीशरण गुप्त के छोटे भाई सियारामशरण गुप्त जी का जन्म भाद्रपक्ष-शुक्ल १५, संवत् १९५२ को झासी जिलान्तर्गत चिरगाव नामक ग्राम के एक साधारण वैश्य परिवार में हुआ था। उनके पिता श्री रामचरणजी भी काव्य प्रेमी और कवि थे। इसके साथ ही साथ, वे सस्कृत के विद्वान् एव वैष्णवधर्म के अनुयायी भी थे। इसलिए आरंभ में उनके जीवन का सियारामशरण पर विशेष प्रभाव पड़ा।

जीवन-परिचय

उनकी प्रारंभिक शिक्षा ग्राम के पाठशाला में हुई। कुछ दिनों तक उनका विद्याभ्यास इसी प्रकार का रहा, परन्तु जब उनके उपर घर का कार्य सभालने का भार आ पड़ा तो उन्हे स्कूली शिक्षा से वंचित होना पड़ा और घर पर ही सरस्वती की आराधना में लग गए। थोड़े ही समय में स्वतंत्र रूप से घर पर ही हिन्दी, सस्कृत, बंगला, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं का स्वाध्याय करने लगे। बड़े भाई की देखा देखी उनमें भी काव्य-रचना की रुचि जाग्रत हुई। उनकी नैसर्गिक काव्य प्रतिभा जाग पड़ी और स्व० गणेशशंकर विद्यार्थी और मुंशी अजमेरीजी से विशेष प्रोत्साहन प्राप्त कर वे उन्नति करने लगे। उनकी पहली कविता सन् १६१० में काशी के इंदु पत्र में प्रकाशित हुई थी। धीरे-धीरे 'सरस्वती' में वे लिखने लगे और साहित्यानुराग उत्तरोत्तर बढता गया। इस तरह स्वाध्याय एव कवियों तथा साहित्यकारो के संसर्ग से उन्होंने अपना साहित्यिक जीवन प्रारम्भ किया और क्रमशः नवीन धारा के कवियों में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया। तदनन्तर वे साहित्य के विभिन्न अंगों पर रचनाएँ करने लगे और उनके कई उपन्यास, कहानी-सग्रह, नाटक, कविता, अतुकान्त गीतिनाट्य, निबन्ध आदि प्रकाशित हुए। वे आज भी साहित्य रचना में संलग्न है।

वे स्वभाव से सरल एव सज्जन व्यक्ति है। उनमें किसी भी प्रकार का आडम्बर नहीं है। वे प्रदर्शन एवं आत्मप्रचार से दूर रहनेवाले साहित्यकार हैं। उनके जीवन का एक मात्र उद्देश्य है सेवाभाव का प्रचार। वैष्णव धर्म में उनका अधिक विश्वास है। वे राम के परम भक्त हैं। वे गांधीवाद के सिद्धान्तों के पोषक हैं। उनके हृदय में करुणा और दया है। इसीलिए उनके साहित्य में मानवता और विश्वप्रेम का भाव पाया जाता है।

किसी भी साहित्यकार का महत्व आँकने के लिए उसके युग को देखना आवश्यक है। सियारामशरण गुप्त के युग एवं महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "द्विवेदीजी के प्रोत्साहन से मैथिलीशरण ने खड़ी बोली को पद्य की भाषा बनाने में पर्याप्त परिश्रम किया। राष्ट्रीयता से प्रेरित होकर देश

की हीन अवस्था और प्राचीन गौरव का गान भी होने लगा था। 'समाज-सुधार और देश के नैतिक उत्थान में योगदान ही हिन्दी काव्य का कर्त्तव्य बन चुका था। परन्तु उसकी नीरसता और अनगढ़ भाषा उसे जन-समाज में आदर का पात्र नहीं बनने देती थी। हिन्दी कविता में भाव और भाषा दोनों ही रसिक काव्यप्रेमियों को निराशा प्रदान करते थे। सियारामशरण गुप्त की प्रारम्भिक भाषा में सौन्दर्य तो नहीं मिलता, परन्तु उनकी भावुकता उमड़ पड़ती थी। आध्यात्मिकता की ओर इनकी विशेष प्रवृत्ति रही। फलस्वरूप इनके गद्य की भाषा में विचार की प्रधानता भी मिलती है। राष्ट्रीयता और मानवता की प्रतिष्ठा मे इन्हें विशेष रुचि मिली। दार्शनिक तत्वों के विवेचन में भावना और अनुभूति का मिश्रण करनेवाले ये सर्वप्रथम आधुनिक गद्यकार हैं। कहानी कला मे गुप्तजी को विशेष सफलता मिली। इनकी कुछ कहानियाँ तो हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों मे स्थान पाने योग्य हैं। साहित्य के द्वारा गाँधीवाद का प्रचार करनेवाले ये एकमात्र सफल लेखक हैं। इनके गद्य का सर्वोत्कृष्ट रूप इनके नाटको में मिलता है जो कहीं-कहीं गद्यकाव्य का रूप धारण कर लेता है। नाटक, उपन्यास, कहानी और निबन्ध इत्यादि साहित्य के सभी अंग इनकी लेखनी से पुष्ट हुए हैं, परन्तु ये विशेषतः कवि के रूप में ही प्रसिद्ध हैं।" (हिन्दी गद्य का संक्षिप्त परिचय, पृष्ठ संख्या ७६)।

सियाराम शरण का युग और उनका महत्व

हिन्दी साहित्य-संसार में श्री सियारामशरण गुप्त का अपना महत्व है। उनकी सभी रचनाएँ विभिन्न प्रकार की हैं। उनका रचना-काल सन् १९१० से शुरू होता है। उनकी विशेष रुचि काव्य-रचना की ओर है लेकिन श्वास-रोग के रोगी होने के कारण वर्ष में आठ नौ महीने काव्य का सृजन नहीं करते हैं। जब श्वास रोग जोर पकड़ लेता है तो उनका हृदय शुष्क हो जाता है तब ऐसी स्थिति में वे गद्य की ओर झुकते हैं। इसीलिए उनकी गद्य-रचनाएँ संख्या मे कम हैं, उनकी रचनाएँ यदा-कदा पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती हैं। उनका समस्त साहित्य इस प्रकार है—

रचनाएँ

(क) काव्य-संग्रह—मौर्य-विजय, दूर्वादल, आत्मोत्सर्ग, अनाथ, विषाद, आर्द्रा, पाथेय, मृण्मयी, बापू, उन्मुक्त।

(ख) अतुकान्त गीति-नाट्य—निष्क्रिय प्रतिशोध और कृष्णा कुमारी।

(ग) उपन्यास—गोद और नारी।

(घ) कहानी-संग्रह—कोटर और कुटीर, अंतिम आकांक्षा, मानुषी।

(ङ) नाटक—पुण्यपर्व। (च) निबन्ध संग्रह—झूठ-सच।

सियारामशरण गुप्त कवि के रूप में विशेष प्रसिद्ध हैं, लेकिन उनकी रचनाओं की तालिका से यह स्पष्ट होता है कि उनकी प्रतिभा बहुमुखी है। 'उन्होंने अपनी प्रतिभा के विकास के लिए साहित्य का प्रत्येक कोना झाँका है और उससे स्फूर्ति, चेतना सामग्री एकत्र की है। इसीलिए हिन्दी का वर्त्तमान युग उन्हे कई रूपों में देख चुका है।'

साहित्यिक विशेषताएँ

उन्होंने दो प्रकार के काव्य लिखे हैं—कथात्मक और मुक्तक। सियारामशरण गुप्त मुक्तक काव्य लिखने में विशेष रूप से सफल हुए हैं। उनकी कविताओं को हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—राष्ट्रीयताप्रधान (मौर्य-विजय, आत्मोत्सर्ग); भावप्रधान (विषाद, आर्द्रा); रहस्यवाद या छायावाद प्रधान (दूर्वादल और पाथेय) और कथात्मक काव्य (बापू)। काव्य-रचना के अतिरिक्त उन्होंने उपन्यास और नाटक भी लिखे हैं। वे कहानी और उपन्यास कला से भी परिचित हैं। नारी और गोद इनके दो प्रसिद्ध उपन्यास हैं। इनकी कहानियों में चरित्र-चित्रण की विशेषता है। 'निष्क्रिय प्रतिशोध' एक गीतिनाट्य है जो उस समय लिखा गया था जब महात्मा गाँधी दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह आन्दोलन चला रहे थे। 'पुण्य-पर्व' उनका नाट्य ग्रंथ है। उनकी गद्य-रचनाओं में रचना चमत्कार की अपेक्षा चरित्र-चित्रण और भाव-गाम्भीर्य अधिक पाया जाता है। वे गद्य लिखने में भी अत्यन्त प्रवीण हैं।

'झूठ-सच' सियाराम शरण गुप्त के निबन्धों का संग्रह है, जिसमें कल्पना और यथार्थ दोनों का मिश्रण है और यह नामकरण एक नये ढङ्ग से पुस्तक के अन्तिम लेख पर हुआ है। विद्वान लेखक ने इन रचनाओं को 'निबन्ध का

गौरव दिया है, किन्तु आज जब व्यक्ति-विशेष के स्फुट विचारों से ऊपर उठकर यह एक क्रमबद्ध साहित्यिक कृति है, तब यह संज्ञा इनके उपयुक्त नहीं। कहानी, संस्मरण, स्केच वे कुछ हों, पर निबन्ध कहे जाने योग्य इनमें थोड़े ही हैं ; 'बातों का संग्रह', 'डायरी के पृष्ठ', या एक सामान्य शब्द 'लेख' इनके लिए कहीं उपयुक्त था।

साहित्य में अवश्य है, परन्तु साथ ही और भी कुछ। आलोच्य लेखों में लेखक का अहम् विशेष है, और इस कारण लेखक के कथित 'बन्धुजनों' तक को लय करने की मात्रा उनमें थोड़ी है। यद्यपि लेखों में यहाँ वहाँ गभीर विचार हैं, तथापि वे बिखरे रहने के कारण डायरी के रूप में होकर सीधी सफलता प्राप्त कर सकते थे। किसी पूर्व परिचित घटना को आगे बढ़ाने की अलग अपनी शैली में 'बहस की बात' 'मनुष्य की आयु दो सौ वर्ष', 'अन्य भाषा का मोह', 'शुष्को वृक्षः', 'छुट्टी' और 'कवि चर्चा' नामक लेख सयत बन पड़े हैं। किंचित अस्पष्ट शीर्षक में गम्भीर विचारों की शृंखला 'साहित्य और राजनीतिक' लेखक के 'अहम्' को अजमेरीजी के व्यक्तित्व में घुला देनेवाला सफल सस्मरण 'मुंशीजी' मौलिक उपादान से पुष्ट जीवन और साहित्य का योग्य विवेचन 'साहित्य में क्लिष्टता', यथार्थ पर आश्रित नीति और विज्ञान की मनोरजक कल्पना 'घोड़ासाही', तथा सुधा में पूर्व-प्रकाशित भ्रमण का रोचक विवरण 'हिमालय की झलक' अपने वास्तविक अर्थ में निबन्ध है, और 'साल का नया दिन' भी एक विचारपूर्ण टिप्पणी है। 'घूंघट में' 'उसकी बोली' और 'झूठ सच' तो कहानी के बहुत निकट है और थोडे कौशल से वे भरी पूरी कहानी बनकर 'घूंघट में' के विचारों में वासना की गध तथा 'झूठ-सच' में कल्पना का कलुषित रूप दबा सकती थीं, और तब 'उसकी बोली' में प्राचीनता को नये साँचे में ढालने का भी पूरा सौन्दर्य दिखाई देता। जो भी हो लेखक के विचार अपने हैं, और उनका अनूठापन सब स्थानों पर दिखायी देता है।

इतना होने पर भी हम यह देखते हैं कि सियारामशरण का भोला, सरल निष्कपट एवं निरावरण व्यक्तित्व 'झूठ-सच' के संग्रहीत निबन्धों में बोलता है। उनके निबंधों की अन्तर्धारा है—भारतीय परम्परा एवं संस्कृति के प्रति पूर्ण

आस्था और लोकमंगल की कामना। 'उस धारा में बहकर न तो वे वर्त्तमान घाट से दूर जा पड़ते हैं और न जीवन से परे की धुन्धली कल्पना को अपना पाथेय बनाते हैं। अपने अग्रज मैथिलीशरण गुप्त का प्रभाव कहिये या वैष्णव लोक-संग्रह का आदर्श, कहीं-कहीं उनमें उपदेश को उकसा देता है।' 'झूठसच' में व्यक्तिगत निबन्धों का संचयन हुआ है जिनमें 'कल्पना की उड़ानें एवं मधुर वैयक्तिक संस्पर्श भरे पड़े हैं।' इसमें प्रकार की दृष्टि से अनेकरूपता मिलती है। 'किसी प्रकार का निबन्ध हो, युवक की भावुकता, बालक की मुग्धता, सहृदय की आनन्दानुभूति और कवि की मधुरता उसमें जहाँ-तहाँ छलकती है— सानुपातिक रूप में सौंदर्य-चित्रण उनमें है, सौंदर्य पान उनमें है, मनमोहक रंगीनी भी उनमें है। उनके व्यक्तित्व का सबसे बड़ा अनुरोध है—आत्मीयता। वे पाठक से पलभर में अपनापन स्थापित कर लेते हैं, निरावरण होकर उसके सामने आते हैं। लगता है, आप जैसे बिना थके क्षणों में किसी चिर-परिचित से घरेलू बातचीत कर रहे हैं। सभी रचनाओं में वैयक्तिकता भी अपेक्षित मात्रा में है, जिनको उपस्थित करना निबन्ध का बड़ा आकर्षण है—यह आकर्षण इनमें मिलेगा।' वे मानवता के परम समर्थक और पीड़ितों एवं दलितों के प्रति उत्कट सहानुभूति रखनेवाले हैं। स्वदेश-प्रेम भी उनकी कृतियों में प्रभूत मात्रा में प्रकट होता है।

सियारामशरण गुप्त की भावाभिव्यक्ति-शैली अपने ढंग की निराली है। उनके निबन्ध में गभीर विचारधारा के साथ तीव्र भावाभिव्यक्ति बराबर दिखाई पड़ती है। इससे उनमें मस्तिष्क के आहार के साथ हृदय को तृप्त करनेवाली

भाषा-शैली

सामग्री भी उपलब्ध होती है। उनकी भाषा व्यवहारिक एवं सरल होने के साथ-साथ अत्यन्त शुद्ध और परिमार्जित होती है। उनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम् शब्दों की ही प्रधानता दिखाई पड़ती है। विदेशी शब्द—उर्दू, फारसी, अङ्गरेजी आदि ढूँढ़ने पर भी नहीं दिखाई देते। 'कृतित्व', 'वाञ्छनीय', 'मानचित्र', 'अनुल्लंघनीय', 'हस्तामलकवत्', उन्मेष, अज्ञावस्था आदि दुरूह संस्कृत के तत्सम शब्द भी आपकी भाषा में प्रयुक्त हैं। कुछ देशज शब्दों को समयानुकूल प्रयोग के द्वारा साहित्य में

स्थान मिल गया है। बीच-बीच में वे मुहावरों एवं उद्धरणों का भी उपयोग करते हैं—'फेंटा कसे रहने की आवश्यकता', दैव के आसरे', 'हस्तामलकवत', 'सब उघरे सौंहै, नाहिं कवि आखर,' 'नित प्रति पून्यो ही', 'तुरन्त दान, महा कल्यान,' 'अब्रह्मराय–अब्रह्मराय' आदि कहीं-कहीं मुहावरों या आप्त वाक्यों का अनुवाद करके भी प्रयोग करते हैं। उनकी भाषा-शैली मे निबंध की वक्रता, संक्षिप्तता और व्यंजना नहीं आ पाई है, जो उनकी सबसे बड़ी निर्बलता है। उनके निबंधों में प्रसादात्मकता और घरूपन का इतना अधिक प्रभाव है कि निबध के कसाव और गठन में बाधा पड़ी है। आपसी बातचीत की पद्धति कभी-कभी निर्बल बन जाती है, यह निर्बलता उनकी भाषा में घुस गई है। इससे उनकी भाषा सदोष भी हो गई है और फैली-फैली भी, जिसके फलस्वरूप वाक्य में कहीं कोई अटकाव नहीं, कहीं कोई उलझन नहीं, कहीं कोई गुत्थी नहीं। भाषा में न संस्कृतपन है और न उर्दू-फारसीपन। साधारणतः उनके वाक्य छोटे होते ही हैं, परन्तु भावावेश के स्थलों में लम्बे वाक्य भी लिखे गए हैं।

वाक्यों के लम्बे होने पर भी उनमें कहीं संगठन की शिथिलता नहीं है और न कहीं प्रवाह में अवरोध ही है। उनकी भाषा के शब्दों में लाक्षणिक प्रयोग भी मिलते हैं तथा उनमें ध्वन्यात्मकता भी निहित है। हाँ एकाध स्थल के वाक्य अत्यन्त भद्दे उतरे हैं, यथा—"एक दूसरे से विभिन्न होकर भी ये परस्पर एक दूसरे के लिए 'अब्रह्मराय अब्रह्मराय' का चीत्कार नहीं करते'–यह वाक्य शैली का बहुत ही भद्दा नमूना है। 'एक दूसरे', 'परस्पर', और 'एक दूसरे' की आवृत्ति भाषा को संक्षिप्तता, सार्थकता, सुन्दरता, सबलता और स्वस्थता से दूर कर देती हैं। उक्त वाक्य इस प्रकार लिखा जाना ज्यादा सुन्दर होता—'परस्पर भिन्न होकर भी ये 'अब्रह्मराय-अब्रह्मराय' का चीत्कार नहीं करते।' इस से लाभ यह होता है कि पाँच शब्दों का व्यर्थ प्रयोग बच जाता। अनेक स्थल ऐसे हैं, जहाँ ऐसी ही ढीली और व्यर्थ शब्द-भार से दबी शैली मिलती है।

सियारामशरण गुप्त की शैली विभिन्न प्रकार की है। शैली की विभिन्नता उनकी मानसिक अवस्था को व्यक्त करती है। इनकी शैली में व्यक्तिगत चिंतन और भावनाओं का समन्वय पाया जाता है। एक अवतरण लीजिये—

"वृक्षों के इस छोटे झुरमुट के नीचे आकर मैं देखता हूं कि छाया और प्रकाश के ये छोटे छोटे बच्चे यहाँ एक दूसरे से हिलमिलकर खेल रहे हैं। वसंत का भीना-भीना पवन वृक्ष के पल्लवों को गुदगुदाता है और छाया और प्रकाश के ये सरल बच्चे लोट-पोट होकर गिर पड़ते हैं एक दूसरे के ऊपर।" [अपूर्णा]

उपर्युक्त पंक्तियाँ वर्णनात्मक निबंध की हैं। इसमें अर्द्ध-चंद्रमयी वसंत यामिनी का सुन्दर चित्र अंकित है। भाषा का भोलापन, काव्यात्मकता एवं प्रसादात्मकता देखने योग्य है। इसमें एक विशेष जीवन-दर्शन की झलक मिलती है और विचारों की उत्तेजना भी।

एक दूसरा अवतरण देखिये—

"पर अब कुछ सावधानी की आवश्यकता है, नहीं तो आरोप किया जायगा कि लेखक को बहस में मुंह की खानी पड़ी है, इसी से छिपे-छिपे वह तर्क की निन्दा कर रहा है। इस पर मेरा कहना यह है कि जीभ राम का नाम लेने में ही हार सकती है, बहस या तर्क करने में नहीं।" [बहस]

—इसमें शिल्पशैली का भी पूर्ण प्रतिनिधित्व हो जाता है। वाक्य सरल, अमिश्र और असंश्लिष्ट—अभिधात्मकता अधिक, लाक्षणिकता एवं व्यंजनात्मकता कम। प्रायः उनकी सभी रचनाएँ प्रसाद शैली के अन्तर्गत आ जाती हैं। एक उदाहरण लीजिये—

"वर्त्तमान लेखक ने अपना रास्ता खोज लिया है। वह जब दूसरों को संतोष देने में असमर्थ है, तब वह आज अपने आप ही को संतुष्ट और हलका बनावेगा। कितने ही बंधुओं के अनुग्रह का ऋणी होने का ही आनन्द मना लेग—पर मैं दिवालिया नहीं हूं। अन्ततः ऐसा न हो जाऊं प्रयत्न मेरा यही है।" [ऋणी]

सियारामशरण गुप्त की शैली का एक आधार व्यंग्य भी है। वे निबन्ध के बीच-बीच में व्यंग्य की शीतल बौछार करते हैं जिससे निबन्ध की एकरसता दूर भाग खड़ी होती है। कुछ उदाहरण काफी हैं—

(क) 'एक का मुक्का और दूसरे का सिर तो आपस में मिल सकता था पर उनके मत नहीं।'

(ख) मनुष्य की जीभ बिना सींग के सींग तो चला सकती है।

(ग) पहले जो सवारी थी, अब वह सवार हो गया है, जो सवार था वह सवारी हो गई है।

(घ) इस युग का घोड़ा पशु नहीं, यह सौभाग्य है या दुर्भाग्य।

—ये सब व्यंग्य काफी मार्मिक एवं तात्विक हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सियारामशरण गुप्त की शैली की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी सजलता और यह स्वयं उनका ही गुण है। कहीं भी वे अपनी पंक्तियों से दूर नहीं होते और स्वयं छिपे रहने की उन्हें आदत नहीं है इसलिए उनके साहित्य के पढ़ने का एक ही अर्थ होता है, सियारामशरण को पढ़ना। वाल्ट व्हिटमैन की Comrade, if thou toucheth a book, toucheth a man वाली उक्ति जितनी सच स्वयं इनके साथ है उतनी हिन्दी में और किसी के साथ नहीं है। स्वयं सियारामशरण जी अपने को इन्हीं कृतियों में जीवित मानते हैं।

कुछ त्रुटियों के रहने के बावजूद भी, अभिव्यक्ति की सच्चाई के कारण इनकी भाषा में आकर्षण उत्पन्न करने की शक्ति है जो विरले निबन्धकारों में मिलती है। उनके निबन्धों के स्वरूप में कुछ ऐसा अनुरोध जरूर है कि उनको पढ़कर मन रसानुभूति पाता है। गुप्तजी आधुनिक निबंधकारों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

[ख] 'शुष्को वृक्षः' निबन्ध का सारांश

एक दिन की घटना है कि निबन्धकार ने खेत की मेंड़ पर एक सूखे बबूल के वृक्ष को देखा और उसके मुख से अनायास यह प्रसिद्ध वाक्य निकल पड़ा—'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे'। वह उस शुष्क वृक्ष को देखकर यह न कह

सका कि 'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः'। इससे साहित्य-समालोचक लोग उसे रसहीन भले ही मानें पर लेखक को यह विश्वास है कि उसने जो कुछ भी कहा है वह कठोर होते हुए भी बिलकुल सत्य एव यथार्थ है। इस संबंध में निबन्धकार को एक आख्यायिका का स्मरण हो आया। 'कादम्बरी' के प्रसिद्ध प्रणेता महाकवि बाणभट्ट मृत्यु-शैया पर पड़े थे। उनकी जीवन-लीला समाप्त होनेवाली थी पर उनका मन शान्त नहीं था, क्योंकि उनकी अमर रचना अधूरी पड़ी थी। दोनों पुत्रों से उन्हे यह आश्वासन मिला कि वे उनकी अधूरी कादम्बरी को पूरी कर देंगे। परन्तु, बाणभट्ट के सामने यह प्रश्न उठा कि वह किस पुत्र को यह कार्य-भार सौंपे। इसलिए उन्होंने उसकी परीक्षा लेने का सकल्प किया और एक शुष्क वृक्ष की ओर संकेत कर पूछा—'यह क्या है?' वह कवि की तत्कालीन अवस्था का प्रतिरूप था। ज्येष्ठ पुत्र ने उसे देखकर कहा—'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे।' इस उक्ति में बाणभट्ट ने कर्कशता पायी और तब निराश होकर उसने कनिष्ट पुत्र की ओर देखा, तब उसने कहा—'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः।' कनिष्ट पुत्र की उक्ति सुनते ही बाणभट्ट की निराशा आशा में परिणत हो गयी और उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया कि अधूरी कादम्बरी की पूर्त्ति कनिष्ट पुत्र के द्वारा ही सभव है और उसे यह कार्य-भार सौंपा जिसने कालक्रम में अपना नाम अप्रकट रखकर अपने पिता की अमर रचना की पूर्ति की। उसी समय से बाणभट्ट का ज्येष्ठ पुत्र साहित्य-रसिकों की वितृष्णा का भाजन बना और कनिष्ट पुत्र उनकी श्रद्धा का पात्र। यह बिलकुल सच है कि कनिष्ट पुत्र की उक्ति में सरसता है, माधुर्य है, स्वर, ताल और संगीत है, परन्तु ज्येष्ठ पुत्र की उक्ति में कर्कशता अन्तर्निहित है। तब सवाल यह उठता है कि ज्येष्ठ पुत्र के मुख से कोमल-कान्त पदावली क्यों नहीं निकली? इसका मुख्य कारण यह था कि एक सूखे वृक्ष को, जो शव के समान था, जिसकी त्वचा सूखकर हड्डियों के समान कठोर हो गई थी, उसे देखकर 'कोमलकान्त पदावली' कहना मानों बेढोल की शहनाई बजाना होता, असमय बेसुरा तान अलापना था।

महाकवि बाणभट्ट के द्वारा उसके दोनों पुत्रों की जो परीक्षा हुई, वह

उनकी पारिवारिक बात थी, परन्तु इस घटना के बाद शताब्दियों से हमारे पंडित समालोचक जो अन्याय करते रहे हैं, उस पर अवश्य आपत्ति उठायी जा सकती है। कवि बाणभट्ट ने अपने पुत्र के साथ अन्याय किया था, लेकिन यदि वे मृत्यु-शय्या पर पड़े न होते तो शायद इस कर्कश वाक्य का ही अभिनन्दन करते। यह सत्य है कि कोमलता एक अच्छी वस्तु है और सब लोग उसकी ओर आसानी से खिंच जाते हैं, परन्तु सूखे वृक्ष में भी शीतलता का अभाव नहीं। चिलचिलाती धूप में काम करनेवाले मजदूर सूखे वृक्ष की छाया में ही शीतलता का अनुभव करते हैं। उनके समक्ष निकट के उपवन का कुछ भी महत्त्व नहीं है, क्योंकि वहाँ तो वन्य पशु रहते हैं। किन्तु हमारे समालोचकों की समझ में यह बात नहीं आती, वे सूखे वृक्ष की शीतलता का अनुभव नहीं करते और कठोर की उपेक्षा कर कोमलता के उपवन में विचरण करते रहते हैं। सच तो यह है कि इस 'शुष्को वृक्ष.' में जो आनन्द है, उसकी ओर उनकी दृष्टि नहीं गई है।

निबंधकार का कथन है कि कठोरता में भी रस है। कनिष्ठ पुत्र की उक्ति 'नीरस तरुरिह विलसित पुरतः' युक्तिसगत रही है, वह एक प्रकार से उसका उपहास करना है। यह दायित्वहीनता का बोधक है। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि कहनेवाला यथार्थ से बहुत दूर है, जीवन से बिलकुल अलग है। यही कारण है कि उसके वाक्य में प्राण नहीं आ सका है, उसमें यथार्थता नहीं आ सकी है। जिस प्रकार बीज को सबसे पहले मिट्टी के नीचे जाकर गल जाना पड़ता है, तब उससे एक माधवी लता अंकुरित होती है; ठीक उसी प्रकार सत्साहित्य की रचना दुःख-वहन करने के बाद होती है। बिना भार या दायित्व के सुन्दर साहित्यिक कृति का निर्माण नहीं हो सकता है, जो सजीव एवं प्राणवान हो। कहने का मतलब यह है कि ज्येष्ठ पुत्र की उक्ति से उस शुष्क वृक्ष का विशद् एवं यथार्थ चित्र अंकित हो जाता है। यही कारण है कि यह सजीव प्राणवान् एवं जीवन्त चित्र बन गया है। यह ठीक है कि इसकी भाषा ऊबड़-खाबड़ है, जो उचित ही है। अर्थ न समझनेवाले को

भी वह शुष्कता का बोध करा देती है। उसके कारण वर्णित चित्र ऐसा हो गया है कि चित्र का आशय अपने-आप सुस्पष्ट हो जाता है।

कादम्बरी एक-से-एक सुन्दर चित्रों की मनोरम चित्रशाला है। उसमे कहाँ-कहाँ इतने थोड़े में ऐसे ही अन्य प्राणवान् चित्र हैं, यह तो विद्वान ही बता सकते हैं। लेकिन इस अनादृत एवं लाछित चितेरे कवि (ज्येष्ठ पुत्र) ने अपनी इस छोटी और आकस्मिक कृति में ही सूखे वृत्त को जो चिरजीवन और सजीवता दे रक्खी है, उसके लिए निबन्धकार उनका चिर ऋणी रहेगा।

[ग] 'शुष्को वृत्तः' की आलोचना

श्री सियारामशरण गुप्तजी के व्यक्तिगत निबन्धों का एक सग्रह है 'झूठ-सच'। उसी सग्रह से प्रस्तुत निबन्ध लिया गया है। यह उनके प्रसिद्ध एवं उत्कृष्ट निबन्धों में एक है। 'शुष्को वित्तः' एक वैयक्तिक निबन्ध (Personal Essay) है। इस प्रकार के निबन्धों में सबसे बड़ी विशेषता यह रहती है कि उसमें अभिव्यक्ति और विचार उनके जीवन से संबधित होते हैं और उसमें अपना दृष्टिकोण होता है। समस्त निबन्ध पढ जाने के पश्चात् हम देखते हैं कि यह एक वैयक्तिक निबन्ध न होकर विचार प्रधान निबंधहै। इसमें साहित्य-सम्बन्धी कुछ विचारों का विश्लेषण हुआ है और निबन्धकार का अपना निर्णय भी मुखरित है। देखने में तो निबन्ध का विषय अत्यन्त फूहड़ है, जिस पर एक सधा हुआ कलाकार ही लिख सकता है। इस विषय पर निबन्ध लिखने के लिए निबन्धकार के पास कल्पना का अनन्त वैभव हो, तभी वह लिखने में सफलता प्राप्त कर सकता है। यह हम जानते हैं कि श्री सियारामशरण गुप्त हिन्दी के एक लब्धप्रतिष्ठ कवि है और उनके पास कल्पना का प्राचुर्य है। इसलिए हम प्रस्तुत निबन्ध में विषय की गम्भीर विवेचना न पाकर कल्पना की उड़ानें (Flight of imagniation) और जीवन के वैयक्तिक सस्पर्श का समन्वय पाते हैं।

निबन्ध का आरभ अत्यन्त सीधा-सादा है, उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि निबन्धकार एक चित्रकार की तरह उसका एक चित्र अकित कर देगा,

परन्तु कुछ ही पंक्तियों के पश्चात् उसमें निबन्धकार के मन की रंगीनी दिखाई पड़ने लगती है जो अत्यन्त ही मार्मिक एव हृदयग्राहिणी है। यथा—

"खेत की मेंड़ पर बबूल का एक वृक्ष है। सूखा हुआ है। कहीं न कहीं इसमें जीवनरस अब भी प्रवाहित है। पर कहां, किस जगह है इसका वह जीवन-रस, यह इन आंखों से नहीं देखा जा सकता। छाल इसकी स्निग्ध-सचिक्कण नहीं है। बहुत पहले से नही है। वह जगह-जगह उखड़ी हुई है। उसे मानों इस बात को किसी तर्क से प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं कि वह इय अनगिनती कांटों की ही सहोदरा है, अग्रजा है। सूक्ष्म न हो सकने पर भी अपनी स्थूलता में ही उसने इनके साथ अपनी एकरक्तता प्रकट कर रक्खी है। दूर से इसकी ओर देखने से ही आंखों में जैसे कुछ चुभता है।"

इस प्रकार निबन्ध का आरंभ करता हुआ निबन्धकार आगे बढता है और कहता है कि उस शुष्क वृक्ष को देखने के अनन्तर उसके मुख से अचानक संस्कृत का एक प्रसिद्ध वाक्य निकल पड़ता है—"शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे"। इसी पर वह एक टीका-टिप्पणी आख्यायिका प्रस्तुत करता है। वह बाणभट्ट के जीवन से संबंधित है जिससे निबन्ध में कथात्मक रोचकता आ गई है और उससे पाठकों की उत्सुकता जाग्रत होती है।

वह आख्यायिका 'कादम्बरी' के अमर प्रणेता बाणभट्ट के जीवन से संबंधित है। बाणभट्ट मृत्यु-शय्या पर पड़े-पड़े जीवन की अंतिम घड़ियाँ गिन रहे थे; पर उनका हृदय अशान्त था क्योंकि उनकी 'कादम्बरी' अधूरी थी। दोनो पुत्रों ने उन्हें सान्त्वना दी कि वे उसे पूरा कर देंगे पर इससे उन्हें संतोष न हुआ। उन्होंने दोनों पुत्रों की परीक्षा के लिए एक शुष्क वृक्ष की ओर संकेत किया जिसे देखकर उनके ज्येष्ठ पुत्र ने कहा—'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे', पर उस कर्कश वाणी को सुनकर उनकी निराशा घनीभूत हो उठी। तत्पश्चात् कनिष्ठ पुत्र की ललित उक्ति 'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः' सुनकर उनका हृदय प्रसन्न हो उठा और उसे कादम्बरी पूरा करने की आज्ञा प्रदान की। प्रस्तुत निबन्ध का लेखक कहता है कि कनिष्ठ पुत्र की उक्ति में सरसता है, माधुर्य है, स्वर, ताल और

संगीत है, परन्तु उसने किसी भार या दायित्व से अनुप्राणित होकर ही ऐसा कहा था, जो काल्पनिक ससार की वस्तु है, यथार्थ भूमि की नहीं। अतएव उसके कथन में सच्चाई नहीं है। यह उसकी दायित्व-हीनता है, आनन्द एव पलायन का प्रयास है। सत् साहित्य की रचना तो तभी सभव है जब साहित्यकार काल्पनिक जगत् से उत्तम इस मिट्टी की दुनिया में आकर जीवन के विकराल प्रश्नों को सुलझाना सीखे। इस दृष्टि से हम देखते हैं कि निबन्धकार सियारामशरणगुप्त एक प्रगतिवादी कलाकार हैं। यही कारण है कि वे कहते हैं कि 'जब तक कहीं कोई भार न हो, दायित्व न हो, तब तक साहित्य का उद्रेक नहीं होता। बीज को मिट्टी के बीच दबना पड़ता है, अंगों को गला देनेवाली पीड़ा वहन करनी पड़ती है। इसके बिना उसमे से किसी माधवीलता का उद्गम भी नहीं होने पाता। अतएव यह स्पष्ट होता है कि निबन्धकार के कहने का तात्पर्य्य यह है कि साहित्य सिर्फ खयाली पुलाव नहीं है प्रत्युत् वह कठोर सत्य की अभिव्यक्ति है, इसलिए वह ज्येष्ठ पुत्र की उक्ति को विषय की दृष्टि से युक्तिसगत मानता है।

प्रस्तुत निबन्ध भावावेश में लिखा हुआ एक विचारात्मक निबन्ध है। एक छोटी-सी बात को उन्होंने इस ढग से प्रस्तुत किया है कि वह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय बन गया है। उनकी भावाभिव्यक्ति शैली अपने ढग की निराली है। उनके निबन्ध में गंभीर विचारधारा के साथ-साथ तीव्र भावाभिव्यक्ति सर्वदा दीख पड़ती है। इसीलिए इसमें मस्तिष्क के आहार के साथ हृदय को तृप्त करनेवाली सामग्री भी उपलब्ध होती है। इसके साथ-साथ इस निबन्ध मे उनकी आत्मीयता भी द्रष्टव्य है जिसके फलस्वरूप वे पाठक से पल भर में अपनापन स्थापित कर लेते हैं। यह है उनकी सबसे बड़ी विशेषता।

श्री सियारामशरण गुप्तजी की भाषा अत्यन्त ही शुद्ध और परिमार्जित है। छोटे-छोटे वाक्यों में विचार एव भाव की धारा गगा-यमुना की धारा की तरह प्रवाहित होती है। कहीं कोई बाधा नहीं, अटकाव नहीं, उलझन नहीं और न कहीं गुत्थी है। इस निबन्ध की भाषा में सस्कृत के तत्सम् शब्दों की ही प्रधानता है। स्निग्ध-सचिक्कण, उत्ताप, कृतित्व, समाश्वस्त, अनादृत, वाग्देवी,

उद्यापान, अलक्षित, वितृष्णा, एकरक्तता, मुमूर्षु, तिष्ठति, द्वित्व आदि दुरुह संस्कृत के तत्सम् शब्द भी इनकी भाषा में प्रयुक्त हुए हैं। विदेशी शब्द—उर्दू, फारसी, अंग्रेजी आदि ढूंढ़ने पर शायद, एकाएक मिल जाय, परन्तु दिखाई नहीं पड़ते।" भाषा को प्राणवान बनाने के लिए निबन्धकार ने कहीं कहीं मुहावरों का भी प्रयोग किया है, यथा—चुभता है, अपना काम कर चुकी थी, तुल गया, वृक्ष का शव है, तान अलापना, प्राण के उच्छ्वास से तरंगायित नहीं हो सका आदि। कहीं-कहीं मार्मिक सूक्तियाँ भी हैं—'कोमलता अच्छी वस्तु है' 'जब तक कहीं कोई भार न हो, दायित्व न हो, तब तक साहित्य को उद्रेक नहीं होता' आदि। कहीं-कहीं पर निबन्धकार ने मनोवेदना एवं खीझ को भी बड़े सयत् व्यंग्य द्वार प्रकट किया है, जैसे—"यह अस्वीकार करने का उपाय नहीं है कि इस पद में माधुर्य है सरसता है, स्वर ताल और संगीत है। यह इसमें सब कुछ है और यही कारण है जिससे मेरे मुंह से यह वाक्य इस समय नहीं निकल रहा है। सामने एक सूखा वृक्ष दिखाई दे रहा है। वृक्ष नहीं, यह वृक्ष का शव है। त्वचा तक इसकी सूखकर हड्डियों जैसी कठोर हो गई है। उसे देखकर किस तरह मैं तान अलापने लगूं? आज के सिनेमा में, थियेटर में, ऐसा दिखाई देता है। वहाँ ऐसा दिखाई देता है, इसलिए मैं भी वैसा ही करूं, यह कोई अच्छी दलील नहीं।" (पृष्ठ १६०) इस उद्धरण के अंतिम दो वाक्यों में मार्मिक व्यंग्य की अभिव्यक्ति हो पायी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि निबन्ध की भाषा बड़ी सशक्त एवं प्रसादपूर्ण है, उसमें प्रवाह भी यथेष्ठ रूप में है। आम तौर से इसमें वाक्य तो छोटे ही हैं, किन्तु भावावेश के स्थानों में लम्बे वाक्य भी लिखे गए हैं। वाक्यों के लम्बे होने पर भी उसमें कहीं संगठन की शिथिलता नहीं है और न कहीं प्रवाह में अवरोध ही है। इसकी भाषा में शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग भी मिलते हैं और उनमें ध्वन्यात्मकता भी निहित है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि निबंध अपेक्षाकृत छोटा होने पर भी अत्यन्त रोचक एवं प्रभावोत्पादक है।

[घ] शब्दार्थ, व्याख्या और आशय

शब्दार्थ (पारा १, पृष्ठ १८६)—मेड़ = खेतों आदि की सीमा का सूचक मिट्टी की ऊँची रेखा या बाँध, सीमा, हद। जीवन-रस—जीवन का रस अर्थात् प्राण। स्निग्ध-सचिक्कण = स्वच्छ और बहुत चिकना। तर्क = वाद = विवाद। अनगिनती = जिसकी गणना न हो सके। सहोदरा = बहन। अग्रजा = बड़ी बहन। सूक्ष्म = अत्यन्त क्षीण। स्थूलता = मोटापन। चुभता है = गड़ता है।

उसे मानों इस बात को ……… ………प्रकट कर रक्खी है।

[पार १, पृष्ठ १८६]

व्याख्या—प्रस्तुत अवतरण में निबन्धकार ने एक सूखे वृक्ष की शुष्कता का वर्णन किया है। बबूल का एक वृक्ष है जो खेत की मेड़ पर स्थित है। वह सूखा हुआ है जिसे देखकर निबन्धकार को ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें कहीं-न-कहीं जीवन रस जरूर प्रवाहित हो रहा है। वह जीवन रस किस स्थान पर है, उसे दर्शक की आँखें नहीं देख पाती हैं। इसको छालों में अब वह चिकनापन नहीं है जो पहले था, प्रत्युत कई स्थानों में छाल उमड़ी हुई है। उन छाल को देख कर निबन्धकार को ऐसा मालूम पड़ता है कि ये छाले इस बबूल-वृक्ष की असख्य कांटों की बहन है, बड़ी बहन है। यह ठीक है कि ये छालें काँटों के सदृश पतली नहीं हैं, प्रत्युत् मोटी हैं। ये छालें पतली पतली न हो सकने पर भी अपनी मोटाई में हीं काँटों के साथ अपनी एकरक्तता प्रकट कर रही हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वे छालें काँटों के समान हो गई हैं। यह शुष्क वृक्ष दूर से ही दर्शकों को अपनी ओर आकृष्ट करता है जिसे देखकर उनकी आँखों को पीड़ा का अनुभव होने लगता है। कहने का मतलब यह है कि दर्शक उक्त वृक्ष की व्यथा की ओर आकृष्ट हो जाते हैं।

शदार्थ (पारा २, पृष्ठ १८६)—शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे = सूखा हुआ वृक्ष आगे खड़ा है। समालोचक = समालोचना लिखनेवाले। रसहीनता = शुष्कता। नीरसतरुरिह विलसति पुरतः = रसहीन वृक्ष आगे शोभायमान है। आवृत्ति = दुहराता। एकटक = एक दृष्टि से।

शब्दार्थ (पारा ३, पृष्ठ १८६-८७)—सहसा = अचानक; आख्यायिका = कथा। छुटपन = बचपन। कादम्बरीकार = कादम्बरी नामक ग्रंथ के प्रणेता। कृति = रचना। उनकी जीवन-लीला समाप्त होने पर आ गई = वे मरने-मरने पर हो गए। मरण-शय्या = मृत्यु की खाट। उपस्थिति = हाजिरी। खिस-कने को तैयारी = हटने की तैयारी। उत्ताप = गर्मी, ताप, वेदना, पीड़ा, कष्ट, दुःख। मनोवेदना = मानसिक दुःख। इतर = दूसरा, अन्य, नीच, साधारण। रसना = जीभ। वाग्देवी = सरस्वती। उन्मुक्त = छुटकर। चिरकाल = बहुत समय-तक जो विद्यमान रहेगा। पत = तह। कनक-पद्म = सोने का कमल। जलाशय = वह स्थान जहाँ पानी जमा होकर ठहरा रहता है जैसे झील, नदी आदि। पुरातत्त्ववेता = जो प्रचीन कालकी वस्तुओं के आधार पर पुराने अज्ञात इतिहास का पता लगाता है। चिरन्तन = पुराना। आतुर = व्यग्र। अशान्त = जो शान्त नहीं है। मधुरिमा = मिठास, मधुरता। नदन-कानन = स्वर्ग में इन्द्रका उपवन। कादम्वरी वीणा = सरस्वती की वाणी। उद्यापन = समाप्ति की क्रिया। उपचार = दवादारू। शमन = दमन।

अव इसलिए वहाँ इसकी . .. . . भय और चिन्ता।

[पारा ३, पृष्ठ १८७]

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में निवन्धकार ने संस्कृत की एक आख्यायिका का उदाहरण देकर महाकवि वाणभट्ट—की जो कादम्वरी ग्रंथ के प्रणेता थे, मनोदशा का वर्णन किया है। वाणभट्ट 'कादम्वरी' का प्रणयन प्रारम्भ कर चुके थे, एकाएक बीमार पड़ गए। उनकी मृत्यु निकट आ गई थी और उनकी जीवन-लीला समाप्त होनेवाली थी। वीमारी अपना असर अच्छी तरह डाल चुकी थी, उनका शरीर शिथिल हो चुका था। उनके शरीर में न कोई उत्ताप ही था और न पीड़ा ही थी, परन्तु उनका मन शान्त नहीं था। उनकी मनोदशा सीमारहित थी। तव प्रश्न यह उठता है कि उनकी अशान्ति का मुख्य कारण क्या है? क्या वे मृत्यु से डर गए थे या सांसारिकता की माया में फँस गए थे। वास्तव में ऐसी बात नहीं थी। उनकी आत्मा अत्यन्त महान् थी। उन्होंने सरस्वती की वीणा का अमृत-पान किया था। इतना ही नहीं, उन्होंने अपनी

अमर कृतियों के माध्यम से दूसरे लोगों को भी सरस्वती की वीणा का अमृत-पान कराया था। तो भला ऐसी महान् आत्मा को मृत्यु से भय क्यों होता?

कवि अच्छी तरह जानता……ऊपर ही दिखाई देगा।

[पारा ३, पृष्ठ १८७]

व्याख्या—इन पक्तियों में निबन्धकार ने कवि बाणभट्ट के हृदय में उठे हुए भावों को अनुभव कर मूर्तिमान करने की चेष्टा की है। महाकवि बाणभट्ट मरण-शय्या पर पड़े थे और दिन-ब-दिन उनकी मृत्यु निकट आ रही थी। उनकी जीवन-लीला समाप्त होनेवाली थी, उनका शरीर शिथिल हो चुका था पर उनका मन चचल था, उनकी मनोदशा अनन्त थी। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वे मृत्यु के भय से अशान्त थे। भला ऐसे विद्वान व्यक्ति को मृत्यु का भय कैसे होता। वे इस सत्य से अच्छी तरह परिचित थे कि शरीर नाशवान है, क्षणभंगुर है, मायावी है, परन्तु आत्मा अमर है। 'वे यह अच्छी तरह जानते थे कि उन्हे इस ससार में अधिक दिनों तक जीवित नहीं रहना है परंन्तु, उनकी अमर कृति 'कादम्बरी' कभी-भी नष्ट होनेवाली नहीं है, वह चिर नवीन, शाश्वत एव चिरन्तन है। इस ससार में एक बाद दूसरी शताब्दियों का आगमन होता रहेगा परन्तु कादम्बरी साहित्य की शिरोमणि बनी रहेगी जिस प्रकार सूखे जलाशय में भी कमल रहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रणेता की मृत्यु के अनन्तर भी उसकी कृति अमर रहेगी।

शब्दार्थ (पारा ४, पृष्ठ १८८)—कनिष्ठ = छोटा। समाश्वस्त = अच्छी तरह सन्तुष्ट होना। मनीषी = पडित, ज्ञानी, बुद्धिमान्। उपयुक्त = ठीक। वात्सल्य-जनित = वात्सल्य से उत्पन्न। कृति = रचना। लोक = ससार। समस्या-सी = प्रश्न-सा। निर्णय = फैसला। प्रतिरूप = तस्वीर, चित्र। ज्येष्ठ तनय = बडे पुत्र।

शब्दार्थ (पारा ५, पृष्ठ १८९)—ललित = मधुर। अवस्था = उम्र। शैशव = बचपन। अप्रकट रखकर = छिपाकर। साहित्यरसिक = साहित्य के प्रेमी। चिरकाल = हमेशा। अनुगृहित = एहसानमद, कृतज्ञ।

शब्दार्थ (पारा ६, पृष्ठ १८८)—सयोग = मिलन। श्रोताजनों = सुननेवाले लोग। कनिष्ट तनय = छोटे पुत्र। वितृष्णा = आलोचना, निन्दा। कर्कश = कठोर। परख=परीक्षा, जांच। कृती = बना हुआ। प्रयास= परिश्रम।

शब्दार्थ (पारा ७, पृष्ठ १८६-६०)—तुल जाना = डट जाना। निर्णय = फैसला। वचित = अलग किया हुआ, रहित। अस्वीकार = नामजूर। शव=लाश, मुर्दा। त्वचा = छाल। तान अलापने लगूँ = गाना गाने लगूँ। दलील=तर्क।

यह अस्वीकार करने का उपाय ··· कोई अच्छी दलील नहीं।

[पारा ७, पृष्ठ १६०]

व्याख्या—प्रस्तुत अवतरण में निबन्धकार सियारामशरण गुप्त न बतलाया है कि एक सूखे वृक्ष के सम्बन्ध में महाकवि बाणभट्ट के दोनों पुत्रों ने अपनी-अपनी दो भिन्न उक्तियाँ प्रस्तुत की थीं और उन उक्तियों में बाणभट्ट ने अपने छोटे पुत्र की उक्ति—'नीरसतरुरिह विलसित पुरतः' को विशेष रूप से पसंद किया क्योंकि उसमे कोमलता, मधुरता एवं लालित्य था। परन्तु, निबन्धकार की दृष्टि एक सूखे वृक्ष पर पड़ी तो अचानक उसके मुख से बाणभट्ट के ज्येष्ठ पुत्र की उक्ति 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' ही निकल आयी, 'नीरस तरुरिह विलसित पुरतः' नहीं। यह सत्य है कि 'नीरसतरुरिह विलसित पुरतः' एक कोमल कान्त पदावली है, उसमे लालित्य है, सरसता, स्वर-ताल एव सगीत है जिसे पढ़कर हृदय रसमग्न हो जाता है। परन्तु निबन्धकार का कथन है कि उस शुष्क वृक्ष को देखकर, जिसका ढाँचा मात्र बच गया है और जिसकी त्वचा सूख जाने के कारण हड्डियों की तरह कठोर हो गई है, उसके (निबन्धकार) मुख से कोमल कान्त पदावली का उच्चारण न होकर ज्येष्ठ पुत्र की उक्ति 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' ही निकलती है। निबन्धकार कहता है कि शुष्क वृक्ष के इस दृश्य को देखकर 'नीरस तरुरिह विलसित पुरतः' कहना मानों बेवक्त की शहनाई का बजना या असमय में तान अलापना है। निबन्धकार ने एक मीठी चुटकी लेते हुए कहा है कि आजकल सिनेमा में स्थान, पात्र और स्थिति का

बिना विचार किए ही पात्र गाने लगते हैं, जो बहुत भद्दा लगता है। अतएव जिस प्रकार सिनेमा के पात्र बिना समझे-बूझे गाने लगते हैं उसी प्रकार वह (लेखक) भी शुष्क वृक्ष को देखकर ललित पदावली कहना शुरू करे—यह तर्क युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है।

शब्दार्थ (पारा ८, पृ० १६०)—पारिवारिक = कौटुम्बिक। प्रयोजन = मतलब। पण्डित = विद्वान। आपत्ति = एतराज,उज्र, किसी बात को ठीक न मानकर उसके सम्बन्ध मे कुछ कहना। निर्मम = कठोर।

शब्दार्थ (पारा ९, पृ० १६०-१ —ईर्ष्या = डाह। आसन्न मरणावस्था = मृत्यु के निकट। कर्कश = कठोर। अभिनन्दन = बधाई, स्वागत। प्रमोदन = आनन्द। रीति = ढंग।

शब्दार्थ (पारा १०,पृ० १६१)—आश्रय = सहारा। उपवन = कानन। कर्त्तव्य का आग्रह = काम करने की उत्कट इच्छा। तीव्र = तेज। क्रीड़ा—खेल। वन्य = जगली। आदेश = आज्ञा। विचरण करना = घूमना।

कर्त्तव्य का आग्रह उसके····दृष्टि नहीं गई। [पारा १०, पृ० १६१]

आशय—प्रस्तुत सदर्भ में निबन्धकार ने हरीभरी लता और सूखे वृक्ष का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। उसका कथन है कि हरी भरी लता में कोमलता और शीतलता होती है जिसकी ओर मानव का मन स्वतः आकृष्ट हो जाता है, परन्तु शुष्क वृक्ष में भी शीतलता का अभाव नहीं। सभी लोग हरी-भरी लता की छाया में ही रहना अच्छा समझते हैं, परन्तु चिलचिलाती धूप में काम करनेवाले मजदूर सूखे वृक्ष की ही छाया में शीतलता का अनुभव करते हैं। उनके लिए निकट के उपवन का कुछ भी महत्व नहीं है क्योंकि, वहाँ तो जंगली जानवर रहते हैं, परन्तु हमारे समालोचकों को ये बातें समझ में नहीं आती है। वे लोग कोमलता के ससार में विचरण करना श्रेयस्कर समझते हैं, उनके समक्ष कठोरता की कोई महत्ता नहीं है। कहने का भाव यह है कि शीतलता सिर्फ कोमलता में ही नहीं प्रत्युत् कठोरता में भी रहती है। इस दृष्टि से 'इम शुष्को वृक्ष.' में भी आनन्द अन्तर्निहित है।

शब्दार्थ (पारा १२, पृ० १६१-२)—आख्यान = कथा। रसज्ञता = रस को समझने का ज्ञान। प्रलोभन = लालच। मुमूर्षु = जो मरने के समीप हो। संकेत = इशारा। कला के नीर से = कला के द्वारा। निर्देशकर्त्ता = ईश्वर। गुरुत्व = महत्व। गहन = गंभीर, गहरा।

शब्दार्थ (पारा १२, पृ० १६२-६३)—प्रत्यक्ष = सामने। सुस्वादु = स्वादपूर्ण। उपहास = मजाक। आसन्न = निकट। दायित्व = भार। वहन करनी पड़ती है = सहनी पड़ती है। उद्गम = जन्म।

जब तक कहीं कोई ······नहीं होने पाता। [पारा १२, पृ० १६३]

व्याख्या—प्रस्तुत अवतरण श्री सियारामशरण गुप्तजी रचित 'शुष्को वृक्षः' शीर्षक निबन्ध से उद्धृत किया गया है। इसमें निबन्धकार ने बतलाया है कि बाणभट्ट के कनिष्ट पुत्र की उक्ति 'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः' में वास्तविकता नहीं है जो ज्येष्ठ पुत्र के कथन में विद्यमान है। कनिष्ट पुत्र की उक्ति उसकी दायित्वहीनता का बोधक है। उसके मुख से जो माधुर्यपूर्ण उक्ति निःसृत हुई है वह ऐसा प्रतीत होता है मानों उस सूखे वृक्ष पर एक मीठा-सा व्यंग्य है। साहित्य रचना किस प्रकार होती है, उसे निबन्धकार एक उदाहरण द्वारा पुष्ट करता है। बीज को पहले मिट्टी के नीचे जाकर गल जाना पड़ता है, तब कहीं उसमे एक माधवी लता अंकुरित होती है। अतएव यह स्पष्ट होता है कि दुःख वहन के पश्चात् ही एक नयी वस्तु की रचना होती है। उसी प्रकार अच्छे साहित्य का सृजन भी दुःख वहन करने के पश्चात् ही होता है। जो साहित्यिक रचना जितनी ही सजीव एवं प्राणवान होगी, उसकी रचना में उतना ही दायित्व एवं भार होगा। कहने का तात्पर्य्य यह है कि दुःख-वहने के उपरान्त ही एक नवीन वस्तु की सृष्टि होती है और साहित्य का उद्रेक दायित्व और भार के बिना नहीं होता है।

शब्दार्थ (पारा १३-१४, पृ० १६४)—अनुभव = महसूस। कल्पना-लोक = काल्पनिक संसार। विशद = विस्तृत। अलक्षित = बिना लक्ष्य के। अन्तर्दृष्टि = आन्तरिक आँखों से। ऊबड़-खाबड़ = रूखी सूखी। उचित = ठीक। बोध = प्रकट। सुस्पष्ट = अच्छी तरह जाहिर होना।

शब्दार्थ (पारा १५, पृ० १९३-४)—मनोरम = मन को प्रसन्न करनेवाली। जीवन्त = प्राणवान। पण्डितजन = विद्वान लोग। अनादृत = जिसका अनादर किया गया है। लांछित = उपेक्षित। चितेरे = चित्रकार। निवेदित कर रहा हूँ = अनुरोध कर रहा हूँ। अंकन-चातुरी = चित्र अंकित करने की कुशलता। दुर्भाग्य = बुरा भाग्य। आकस्मिक = एकाएक, अचानक। चिर ऋणी रहेंगे = हमेशा के लिए कृतज्ञ रहेंगे।

[ङ] आलोचनात्मक प्रश्नोत्तर

प्रश्न १—श्री सियारामशरण गुप्त का जीवन-परिचय संक्षेप में लिखिये।

उत्तर—'जीवन-परिचय' निबन्ध पढ़ें।

प्रश्न २—श्री सियारामशरण गुप्त की साहित्य-साधना पर एक छोटा-सा निबन्ध लिखिए।

उत्तर—'जीवन परिचय' में दिया हुआ 'साहित्य-साधना' शीर्षक अवतरण पढ़ें।

प्रश्न ३—श्री सियारामशरण गुप्त की भाषा-शैली पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—'जीवन-परिचय' में लिखित 'भाषा शैली' शीर्षक अंश को पढ़े।

प्रश्न ४—'शुष्को वृक्षः' का सारांश लिखिये।

उत्तर—निबन्ध का सारांश पढ़े।

प्रश्न ५—'शुष्को वृक्षः' का आलोचनात्मक परिचय दीजिए।

उत्तर—निबन्ध की आलोचना पढ़ें।

प्रश्न ६—श्रीसियाराम गुप्त ने शुष्को वृक्षः' शीर्षक निबन्ध के द्वारा पाठकों को कौन-सा संदेश देने का प्रयास किया है? इस पर प्रकाश डालिये।

उत्तर—प्रस्तुत निबन्ध का विषय अत्यन्त ही महत्वहीन है परन्तु, निबन्धकार की अन्तर्दृष्टि ने उसे ऐसा बाना पहनाया है कि निबन्ध की महत्ता में चार चाँद लग गए हैं। इस निबन्ध की काया को उन्होंने एक आख्यायिका के द्वारा पुष्ट कर यह बतलाया है कि संसार के सभी प्राणी कामलता में ही २८

पाते हैं, परन्तु निबंधकार का व्यक्तिगत विचार यह है कि कठोरता में भी रस पाया जाता है और कोमलता त्याज्य है क्योंकि वह अस्वादिष्ट भी होती है। यह सच है कि हरा-भरी लता में कोमलता भी है और शीतलता भी। परन्तु, सूखे वृक्ष में भी शीतलता का अभाव नहीं। यह भी स्वीकार करने योग्य तक है कि कोमलता की शीतलता श्रेयस्कर है और कोई भी मनुष्य उसकी शीतलता को त्याग कर एक सूखे वृक्ष की छाया में जाकर आश्रय ग्रहण नहीं करेगा परन्तु खेतों में चिलचिलाती धूप में खटनेवाले मजदूरों को सूखे वृक्ष की छाया ही शीतलता प्रदान करती हैं, उनके लिए निकट के उपवन का कुछ भी महत्व नहीं है क्योंकि वहाँ तो जंगली पशु निवास करते हैं। परन्तु, हमारे साहित्य-समालोचक इस बात को समझने में समर्थ नहीं हैं। इसका कारण यह है कि वे सौन्दर्य एवं कोमलता के अनन्य भक्त हो गए हैं और उसे छोड़कर यथार्थ की दुनियाँ में विचरण करना नहीं चाहते हैं। उनकी एकमात्र आकांक्षा रहती है काल्पनिक संसार की सैर। यही कारण है कि वे सूखे वृक्ष को 'वृक्ष का शव' न कह कर 'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः' की संज्ञा से विभूषित करते हैं।

परन्तु, निबन्धकार सियारामशरण गुप्त का कहना है कि साहित्य का उद्रेक दायित्व और भार के बिना नहीं होता। साहित्यकार को पलायनवादी नहीं होना चाहिए, उसे यथार्थ की भूमि पर उतरना चाहिए, उसे जीवन के प्रश्नों को सुलझाना चाहिए। इस दृष्टि से हम देखते हैं कि श्री सियारामशरण गुप्तजी एक प्रगतिवादी कलाकार हैं। अतएव उनका यह कथन अत्यन्त महत्व-पूर्ण है कि 'जब तक कहीं कोई भार न हो, दायित्व न हो, तब तक साहित्य का उद्रेक नहीं होता। बीज को मिट्टी के नीचे दबना पड़ता है, अंगों को गला देनेवाली पीड़ा वहन करनी पड़ती है। इसके बिना उनमें से किसी माधवी लता का उद्‌गम भी नहीं होने पाता।' (पृष्ठ १६३) इसके कहने का तात्पर्य्य यह है कि साहित्य कल्पना की वस्तु नहीं है, प्रत्युत् वास्तविकता से समन्वित रचना है। इसलिए निबन्धकार हमें बतलाता है कि हमलोग कठोरता को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखें।

प्रश्न ७—"जब तक कहीं कोई भार न हो, दायित्व न हो, तब तक साहित्य का उद्रेक नहीं होता।"

—सियारामशरण गुप्त के इस कथन की सार्थकता पर आप अपना युक्ति-युक्त विचार पठित निबन्ध के आधार पर प्रस्तुत कीजिये।

उत्तर—निबन्धकार सियारामशरण गुप्त ने एक खेत की मेंड़ पर एक सूखे वृक्ष को देखकर यह कहा था—"शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे।" इस उक्ति के साथ-साथ उसे एक आख्यायिका की याद ताजी हो गई जो बाणभट्ट के जीवन से सम्बन्धित है। बाणभट्ट मृत्युशय्या पर अंतिम घड़ियाँ गिन रहे थे और दोनों पुत्रों की परीक्षा के लिए उन्होंने एक शुष्क वृक्ष की ओर संकेत किया। उस वृक्ष को देखकर उनके ज्येष्ठ पुत्र ने 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' कहा और कनिष्ठ पुत्र ने 'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः' कहा। उन्होंने ज्येष्ठ पुत्र के कथन में रसहीनता, शुष्कता एव रुक्षता पायी और कनिष्ट पुत्र की उक्ति में उन्हे सरसता, माधुर्य मिला। दूसरी उक्ति से बाणभट्ट की आत्मा प्रसन्न हो उठी, इसीलिए उन्होंने अपने कनिष्ट पुत्र को 'कादम्बरी' पूरा करने की आज्ञा दी। यही कारण है कि बाणभट्ट का कनिष्ट पुत्र साहित्य-रसिकों के लिए श्रद्धा का प्रिय पात्र बना और ज्येष्ट वितृष्णा का भोजन। तब निबन्धकार गुप्तजी के मानस-पटल में एक प्रश्न उठता है, वह यह कि क्या बाणभट्ट के कनिष्ट पुत्र का कथन सत्य है? निबन्धकार का व्यक्तिगत विचार है कि उसका कथन यथार्थता से परे है, वह बिलकुल असंगत है। उसका कहना है कि एक शुष्क वृक्ष, जो कंकाल की तरह एक ढाँचा मात्र रह गया है, उसके लिए कोमलकान्त पदावली का कहना एक मखौल के समान है, बेवक्त की शहनाई है। यह मखौल नीरसता से पूर्ण है। यह उनकी दायित्वहीनता का बोधक है। निबन्धकार कहते हैं कि कनिष्ठ पुत्र की उक्ति कल्पना-लोक की उक्ति है, उसमें वास्तविकता की गंध नहीं है, वह यथार्थता से बहुत दूर है। यह ठीक है कि उस पद में माधुर्य है, सरसता है, स्वर, ताल और संगीत है, परन्तु, वह जीवन से अलग है। निबन्धकार को ऐसा प्रतीत होता है मानों कहनेवाला (बाण-भट्ट का कनिष्ठ पुत्र) कल्पना लोक की किसी ललित लता के सरस उपवन में

जाकर बैठ गया है और वहीं से ऐसी उक्ति कह रहा है। इस दृष्टि से विचार करने पर निबन्धकार का निर्णय यह है कि इसे शुष्क वृक्ष के लिए कोमल-कान्त-पदावली का प्रयोग करना युक्ति सगत नहीं है। सच तो यह है कि एक शुष्क वृक्ष के लिए 'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः' कहना उसका उपहास करना है, मखौल उड़ाना है।

इस प्रकार कनिष्ठ पुत्र की उक्ति की आलोचना करते हुए निबन्धकार सियारामशरण गुप्त वाणभट्ट के ज्येष्ठ पुत्र की उक्ति 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' को युक्ति-संगत मानते हैं। उनका कहना है कि शुष्क वृक्ष को देखकर एक दर्शक के हृदय में जिस प्रकार का भाव उठता है, ठीक उसी प्रकार का भाव ज्येष्ठ पुत्र की उक्ति में अभिव्यक्त हो पाया है। इस तरह हम देखते हैं कि दर्शक और उसकी (ज्येष्ठ पुत्र) उक्ति में काफी साम्य है। अतएव उसने अपने कथन के द्वारा उस शुष्क वृक्ष का विशद् एवं यथार्थ चित्र अंकित किया है। इसीलिए यह उक्ति अत्यन्त प्राणवान बन गया है। इस वाक्य का उच्चारण करते-करते मानस पटल पर अलक्षित रंगों में सूखे वृक्ष का एक ऐसा चित्र अंकित होता है जिसे एक बार अन्तर्दृष्टि से देख लेने पर भुलाया नहीं जा सकता। भाषा इसकी ऊबड़-खाबड़ है। वह उचित ही है। अर्थ न समझनेवाले को भी वह शुष्कता का बोध कर देती है। उसके कारण वर्णित चित्र ऐसा हो गया है कि नीचे लिखा हुआ परिचयात्मक गद्य पढ़ना आवश्यक नहीं रहता, चित्र का आशय अपने आप सुस्पष्ट हो जाता है। इसी वाक्य को सूखे वृक्ष को सजीव करने का श्रेय प्राप्त है। इसीलिए निबन्धकार ने उपसंहार के रूप में कहा है कि जिस तरह बीज को प्रथमतः मिट्टी के नीचे जाना पड़ता है, मिट्टी के नीचे गल जाना पड़ता है, तब उसके एक माधवी लता अंकुरित होती है उसी प्रकार सत्साहित्य की रचना दुःख-वहन करने के पश्चात् होती है। यह कहना बिलकुल सच है कि बिना भार या दायित्व के किसी भी साहित्यिक कृति की रचना नहीं हो सकती जो सजीव एवं प्राणवाण हो। सुतरां यह कथन सार्थक है कि बिना भार या दायित्व के साहित्य का उद्रेक नहीं होता।

बदलू

(श्रीमती महादेवी वर्मा)

जन्म संवत् १९६४ (जीवित)

[क] लेखिका का परिचय

हिन्दी की सुविख्यात कवियित्री महादेवी वर्मा का जन्म संवत् १९६४ में फर्रुखाबाद में हुआ था। उनके पिता का नाम श्री गोविन्द प्रसाद वर्मा एम० ए०, एल० एल० बी० और माता का नाम श्रीमती हेमरानी वर्मा है। उनके पिता विद्वान् हैं और भागलपुर में शिक्षक थे। उनके नाना भी ब्रजभाषा के कवि और भक्त पुरुष थे। उनकी माता भी विदुषी और भक्त थीं। वे पद-रचना भी करती थीं। उन्होंने सूर, तुलसी और मीरा का साहित्य अपनी माता से ही पढ़ा। उनके भाई श्री जगमोहन वर्मा एम०ए०, एल० एल० बी० और श्री मनमोहन वर्मा एम० ए० शिक्षित व्यक्ति हैं। इस प्रकार उनका सारा परिवार ही शिक्षित एवं भक्त रहा है।

जीवन-वृत्त

महादेवी वर्मा की प्रारंभिक शिक्षा इन्दौर में हुई। उन्होंने छठे वर्ग तक इन्दौर में शिक्षा पाई। घर पर चित्रकारी, संगीत आदि की शिक्षा पायी। ग्यारह वर्ष की उम्र में उनका विवाह डाक्टर स्वरूप नारायण वर्मा के साथ हुआ। विवाहोपरान्त कुछ समय के लिए उनकी शिक्षा बन्द रही, क्योंकि उनके श्वसुर लड़कियों की शिक्षा के पक्ष में नहीं थे। लेकिन उनके देहावसान के बाद उन्होंने प्रयाग में आकर अपनी शिक्षा फिर से आरम्भ की और

संवत् १९७७ में मिडिल की परीक्षा प्रथम श्रेणी (First Division) में पास की। इस परीक्षा में उत्तरप्रदेश के सम्पूर्ण विद्यार्थियों में इनका स्थान सर्वप्रथम रहा। इसके फलस्वरूप उन्हे छात्रवृत्ति मिली और साथ-ही-साथ हिन्दी विषय में स्वर्णपदक मिला। इसीसे उनकी प्रतिभा का अनुमान लगाया जा सकता है। संवत् १९८१ में उन्होंने मैट्रिक परीक्षा भी प्रथम श्रेणी में पास की और फिर उन्हे उत्तरप्रदेश में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त हुआ। फिर आगे बढ़ने के लिए उन्हें छात्रवृत्ति मिली। संवत् १९८३ में उन्होंने आई० ए० पास की और संवत् १९८५ में उन्होंने प्रयाग के क्रास्थवेट गर्ल्स कालेज से बी० ए० परीक्षा संस्कृत और दर्शन लेकर सर्वप्रथम होकर पास की। आज उनकी कविताओं के पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि अपने विद्यार्थी जीवन में इन्होंने दर्शन का कितना गंभीर अध्ययन किया था। इस परीक्षा में कालेज से आठ लड़कियाँ उस वर्ष सम्मिलित हुई थीं जिनमें उनका सर्वप्रथम स्थान रहा। इसके बाद एम० ए० पढना शुरू किया, परन्तु शारीरिक अस्वस्थता के कारण एक वर्ष के लिए पढ़ाई स्थगित कर देनी पड़ी। पूर्ण स्वस्थ न होने पर भी दूसरे वर्ष ही पढना आरम्भ कर दिया और संस्कृत विषय लेकर एम० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण हुईं। यही कारण है कि उनका शब्द-भण्डार अत्यन्त ही विशाल है।

बचपन से ही कविता की ओर उनकी विशेष रुचि थी। पहले वह ब्रजभाषा में कविता करती थीं, किन्तु बाद में खड़ी बोली की कविता का प्रभाव उन पर पड़ा और वह खड़ी बोली में काव्यरचना करने लगी। पहले उनकी रचनाएँ 'चाँद' में प्रकाशित होती थी परन्तु, फिर धीरे धीरे सभी मुख्य पत्र-पत्रिकाओं में निकलने लगीं। एम० ए० पास करने के बाद वह प्रयाग-महिला-विद्यापीठ की प्रधानाध्यापिका के पद पर नियुक्त हुई और अब तक उस पद पर प्रतिष्ठित हैं। उनके कारण उक्त विद्यापीठ समस्त भारत की श्रेष्ठ शिक्षण-संस्था मानी जाने लगी है और उनकी लोकप्रियता के कारण दक्षिण भारत, आसाम तथा पंजाब तक की लड़कियाँ उसमें शिक्षा प्राप्त करने आती हैं। वे कई वर्षों तक 'चाँद' की सम्पादिका भी रही हैं और आजकल 'साहित्यकार' नामक

पत्रिका का भी सम्पादन कर रही हैं। इधर पाँच वर्ष हुए, उन्होंने 'साहित्यकार -संसद' नाम की एक संस्था की स्थापना की है और इस संस्था के द्वारा वह आर्थिक कठिनाइयों में उलझे हुए कलाकारों को सहायता प्रदान करती हैं। 'नीरजा' काव्य-संग्रह पर सेकसरिया-पुरस्कार और 'यामा' पर मंगला प्रसाद पारितोषिक उन्हें मिल चुका है, जिसमें सेकसरिया पुरस्कार की रकम ५००) को उन्होंने महिला विद्यापीठ, प्रयाग को दान कर दिया—यह है महादेवी वर्मा जैसी कवयित्री की अपार उदारता का ज्वलंत दृष्टान्त।

महादेवी वर्मा वर्त्तमान हिन्दी कविता में अपना अन्यतम स्थान रखती हैं और उन्होंने आधुनिक छायावाद रहस्यवाद की सैकड़ों कविताएँ लिखी हैं।

महादेवी वर्मा की रचनाएँ

वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों को मूर्तिमान अंकित करने में बहुत सफल रहती हैं। उनकी कविताओं में मधुर वेदना की अनुभूति होती है। यही कारण है कुछ आलोचकों ने उन्हें आधुनिक युग की मीरा कहा है। उन्होंने कविताओं के अतिरिक्त कुछ कहानियाँ और विचारपूर्ण निबन्ध भी लिखे हैं। उनकी रचनाएँ प्रधानतया दो प्रकार की हैं—पद्य और गद्य। उनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं।

[क] काव्य संग्रह—१. नीहार २. रश्मि ३. नीरजा ४. सांध्यगीत और ५. दीपशिखा। 'यामा' नामक काव्य-संग्रह में नीहार, रश्मि, नीरज और सांध्यगीत की कविताओं का संकलन एक विस्तृत भूमिका के साथ है।

[ख] रेखाचित्र—१. अतीत के चलचित्र २. स्मृति की रेखाएँ और ३. शृंखला की कड़ियाँ।

[ग] आलोचना—महादेवी का विवेचनात्मक गद्य। यह गंगा प्रसाद पाण्डेय द्वारा सम्पादित ग्रन्थ है।

महादेवी ने 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' नामक की दो

महादेवी का गद्य-साहित्य

पुस्तकें लिखी हैं जो 'रेखाचित्र' की संज्ञा से विभूषित हैं। रेखाचित्र न कहानी है और न गद्य-गीत, न निबन्ध है और न संस्मरण; रेखाओं से जीवन के विविध रूपों का आकार देने की प्रणाली की विशेषता को अपना कर ही शब्दों द्वारा जीवन के विविध

रूपों को साकार करनेवाले शब्द-चित्रों को 'रेखाचित्र' की संज्ञा प्रदान की गई है। महादेवी के रेखाचित्र उनके जीवन से संबंधित हैं। जिन पात्रों का चित्रण इनमें हुआ है वे कलाकार की जीवनकथा का हृदय छूनेवाले अंग हैं। 'हमारे साहित्य में पुरुष की आँखों से देखा हुआ समाज पर्याप्त आ चुका है, किन्तु यह पहला गंभीर प्रयत्न है जो नारी की आँखों से समाज का चित्रोद्घाटन करता है। शरद ने समाज की मर्यादा का भार देवियों के कंधे पर डाल दिया है, 'अतीत के चलचित्र' में महादेवी ने उसे ही सँभाला है। यह पुस्तक एक स्वच्छ सामाजिक दर्पण है, अत्याचारी इसमें अपनी मुखाकृति देख सकते हैं और नारी अपनी साधना का प्रकाश। इसका प्रत्येक आख्यान साँचों में ढली सुघर सृष्टि की तरह सुडौल है। किन्तु, कवित्व के नीचे वस्तुत्व दब नहीं गया है बल्कि वह हृदय-स्निग्ध होकर पत्थर से संगमर्मर हो गया है। काव्य के मानस-लोक की महादेवी का समाज-लोक 'अतीत के चलचित्र' में है। उनकी कविताओं में अनुभूतियों का संगीत है, उनके संस्मरणों में अनुभूतियों की स्वरलिपि, उनके जीवन का अनुभव सूत्र। शरद की आर्य्य-कन्याएँ यदि अपने संस्मरण स्वयं लिखती हैं तो उनकी कथा का जो वास्तविक और सात्विक रूप होता वही इन जीवित कहानियों में है। तथापि इनमें भी रसात्मकता और चित्रात्मकता है। पात्रों का चरित्र-चित्रण इतना सजीव है मानों वे पृथ्वी से उठाकर शब्दों में रोप दिये गए हैं।' (साहित्यिकी)। अतएव महादेवी के संस्मरण मूलतः समाज केन्द्रिक है। उसने जनता के पीड़ित जीवन को स्वर दिया है। उसने समाज के दुःख-दैन्य, उसके स्वार्थों और अभिशापों का प्रतिकार किया है। उसमें एक विद्रोही की आत्मा रुदन कर रही है। उसका मूल उत्स अपनी पीडा में नहीं, समाज में दिन रात चलने वाले अन्यायों और अत्याचारों में है। अब हम उनकी दोनों पुस्तकों का विश्लेषण क्रमशः करते हैं।

'अतीत के चलचित्र' श्रीमती महादेवी वर्मा की प्रथम गद्य पुस्तक है। यद्यपि यह प्रथम गद्य पुस्तक है, फिर भी कहीं ऐसा नहीं लगता कि गद्य के सौष्ठव में कहीं कोई कमी रह गई है या उसकी आकृति या गढ़न में ही कोई गुंजाइश

या पालिश की कमी है। वरन् इसके प्रतिकूल मनोवेगों के धारण करने की असीम क्षमता, चित्र उपस्थित करने की मनोवैज्ञानिक शैली और कविता का-सा रस उसमें सहज ही मिल जाता है कहानी और कविता जैसे गद्य-वीणा के दो तूंबे हैं जिनके सहारे सधे हुए तारों के साथ वह सहेज कर रखी हुई है।

प्रस्तुत पुस्तक में कवयित्री के निजी जीवन से सम्बन्धित ग्यारह संस्मरण दिए हुए हैं। इन संस्मरणों में समाज की विषमता से पीड़ित स्त्री पुरुष की करुण कथाएँ हैं। इन ग्यारह चित्रों के सहारे लेखिका के भी जीवन-पट की ग्यारह ही झाँकियाँ हमें मिलती हैं। उसके बाल्यावस्था से लेकर आज तक के विशेष संस्कार और आदर्श इनमें उभर आये हैं। किन घटनाओं और चरित्रों ने महादेवी वर्मा पर अपना स्थायी असर छोड़ा है और वे कहाँ तक उसके व्यक्तित्व के साथ ही कवित्व के निर्माण में भी सहायक हुए हैं, यह इस पुस्तक को पढ़कर सहज ही में जाना जा सकता है। 'अतीत के चलचित्र' में जीवन और साहित्य परस्पर एक दूसरे से गुँथे हुए चले हैं। लेखिका ने शायद चेष्टा इस बात की की है कि 'जिन चरित्रों के संस्मरण मैं लिखने जा रही हूँ, मेरी कलम से पुस्तक में वे ही प्रधानता पाने पायें; और मैं अपने आपको उनके बीच में छिपा जाऊँ।' परन्तु, पात्रों के चरित्र ने वह कोशिश कर दिखायी है कि लेखिका उनसे छिप नहीं सकी, वे स्थान-स्थान पर बरसाती नदी के उबाल की तरह उसे ऊपर उठा लाये हैं। करुण भाव की उपासना और उसकी पुष्टि इन संस्मरणों का मुख्य मतव्य है। लेखिका हमारी सामाजिक विषमताओं के गहरे अंधकार में भीतर घुसकर मर्म को छू देती है। पीछे के छः संस्मरणों में हमें जो इन अनाथों के चित्र मिलते हैं वहाँ हम यह पाते हैं कि कवयित्री महादेवी वर्मा जो अपनी कविता के द्वारा कला की एकान्त साधिका के रूप में हमें अपनी ओर खींचती रही हैं, वे ही मानो यह कह रही हैं कि—देखो भाई, कला साधना है अवश्य, पर हमारे जीवन की एक यह आवश्यक साधना है कि हम अपनी न केवल श्रद्धा का ही दान (जैसा कि आजकल के ज्यादातर प्रगतिशील कहलानेवाले करते हैं) इन भारत के अर्थ और समाज पीड़ित लोगों को देते रहें वरन् अपनी सामर्थ्य के अनुसार इस व्यवस्था के मूलोच्छेदन में

क्रियात्मक रूप से लग जायँ। श्रीमती महादेवी वर्मा जैसा कि इन संस्मरणों के पढ़ने से ज्ञात होता है अपने बचे हुए समय का सदुपयोग केवल आकाश के तारों को देखकर दुःख के गीत लिखने में ही नहीं करतीं बल्कि, वे अनाथ बच्चों को दूर गाँव जाकर शिक्षा देने में भी करती हैं। उनके वेतन या रायल्टी का उपयोग अपनी देह और कमरे की कलात्मक चित्र सज्जा पर ही नहीं होता वरन् उससे कुछ धूल में पड़े हुए रत्न भी चमकते हैं। उनके कवि और व्यक्ति में देखने को बहुत दूरी का अन्तर मालूम होता है, परन्तु करुणा की अन्तर्धारा मानों इन्हीं दोनों कुलों को छूती हुई प्रवाहित है और न व्यक्तित्व में आडम्बर ही है। जो कुछ भी है, वह सब सहज अन्तर की प्रज्वलित अग्नि से आलोकित है। उनकी कविता के सत्य की प्रतिष्ठा इन संस्मरणों से अवश्य होगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

महादेवी वर्मा ने चित्रकला सीखते समय शायद आकृतियों का अध्ययन बड़े सूक्ष्म प्रकार से किया, ऐसा मालूम होता है। व्यक्ति का चित्र उपस्थित करते समय वे उसकी रेखा रेखा को कितनी कुशलता से उपस्थित करती हैं, इसका नीचे एक उदाहरण है—'पक्का रंग पर गठन में विशेष सुडौल, मलिन मुख जिसमें दो पीली पर सचेत आँखे जड़ी सी जान पड़ती थी, कसकर बन्द किये हुए पतले ओठों की दृढ़ता और सिर पर खड़े हुए छोटे-छोटे रूखे बालों की उग्रता उसके मुख की संकोच भरी कोमलता से विद्रोह कर रही थी। उभरी हड्डियोंवाली गर्दन को सम्हालते हुए, झुके कन्धों मे रक्तहीन मटमैली हथेलियों और टेढ़े मेढ़े कटे हुए नाखूनों युक्त हाथोंवाली पतली बाहे ऐसो झूलती थीं जैसा ड्रामा मे विष्णु बननेवाली नकली भुजाएँ। निरन्तर दौड़ते रहने के कारण उस लचीले शरीर मे दुबले पैर ही विशेष पुष्ट जान पड़ते थे। बस ऐसा ही था वह सीधा। न नाम मे कर्त्तव्य का गुंजाइश न शरीर मे।'

इन चित्रों में वे अपनी असाधारण कर्त्तव्यशक्ति से भी काम लेती चलती हैं, जिससे रूप में अधिक स्पष्टता आ सके। स्थान-स्थान पर पुरुषवर्ग पर तीव्र

व्यग्य फेंके हैं और नारी के किंचित विद्रोहिणी होने की ओर तो इशारा कम है पर, उसके स्वावलम्बन को प्रोत्साहन खूब दिया गया है।

महादेवी की दूसरी पुस्तक है—'स्मृति की रेखाएं' जिसका धरातल ठोस और यथार्थ है। इसमें सात रेखाएं हैं—भक्तिन, चीनी फेरीवाला, जंगिया और उसका भाई, मुन्नू की माँ, ठकुरी बाबा, बिबिया और रंगिया। इन सातों चित्रों में करुणा और वेदना की अभिव्यक्ति हुई है। महादेवी ने स्मृति की जिन सात रेखाओं में बाँधने का प्रयास किया है वे लेखिका के जीवन के इतने निकट हैं कि वर्णित पात्र एवं परिस्थियों के अन्तस्तल के कण-कण का भावपूर्ण अंकन मुखरित हो उठा है। इन रेखाओं में कहानी सा आनन्द मिलता है। इसमें ऐसे चित्र अकित हुए हैं, जो करुणा को (जब तक वह कुम्भकरणी निद्रा में मग्न न हो और शायद तब भी) जगाये बिना न रहेंगे। चित्रों की वास्तविकता करुणा को और भी बल प्रदान करती हैं। इसमें छायावादिनी कवियित्री के नीरव आक्रोशमय प्रगतिवादी रूप के दर्शन होते हैं। ये चित्र वायुयानी केमरा से लिए हुए नहीं है प्रत्युत् सामने बैठकर अकित किए हुए रेखाचित्र हैं और वे कवि और चितेरे की डाठामेढ़ी में कवि को ही विजयपताका प्रदान करते हैं इसमें सामाजिक व्यग्य-मिश्रित करुणा के अश्रु पीकर भी दिखाई देते हैं। पुस्तक के पात्र करुणा को विभिन्न रूप-रगों में उपस्थित करते हैं। उनकी भक्तिन वात्सल्यमयी सेवा और छुआ-छूतमयी धार्मिकता के समझौते के रूप में उपस्थित होकर हास्य-मिश्रित करुणा का भाव जाग्रत करती है। बिबिया वरेठिन पति और समाज के पाशविक अत्याचार की बलि है। मन्नू की माँ 'बाँभन के धन केवल भिक्षा' में विश्वास रखनेवाले श्वसुर और जुआरी-पति का पेट मेहनत-मजदूरी से भरनेवाली अन्नपूर्णा गृहलक्ष्मी है। इन रेखाओं में कहीं-कहीं लेखिका का वैयक्तिक विचार भी अभिव्यक्त हो पाया है।

जब वह 'चाँद' की सम्पादिका थीं तब उसमें उनकी नारी-विषयक सम्पादकीय टिप्पणियाँ प्रकाशित होती थीं, जिन्हें पुस्तकाकार एकत्र करके 'शृंखला की कड़ियाँ' नाम दिया गया है। इसमें भारतीय-नारी की दशा का मार्मिक चित्रण है। इसके अभिव्यक्त विचारों में कहीं प्रचीनता के लिए आग्रह नहीं है और

सर्वत्र नवीनतम मान्यताओं के स्वीकरण का भाव है। इस पुस्तक में दृष्टिकोण की व्यापकता, समस्या की ग्रहणशीलता और विचारों में दृढ़ता का प्रमाण मिलता है। 'हिन्दी का विवेचनात्मक गद्य' इनकी साहित्यिक आलोचना की पुस्तक है जिसमें सैद्धान्तिक विवेचन और गम्भीर मनन मिलता है।

महादेवी वर्मा की भाषा-शैली उनके वर्ण्य-विषयों के अनुरूप रहती है। उनके वाक्य अवश्य ही कहीं-कहीं लम्बे एवं उलझे हुए-से होते हैं, पर उनमें भाव-सम्पन्नता ही रहती है, शब्द क्लिष्टता नहीं। दुरूह, दुर्बोध एवं अव्यवहारिक शब्दों का प्रयोग उनकी भाषा में कम ही मिलता है। भाव-सबलता के कारण उनके वाक्य बड़े अर्थ व्यंजक होते हैं। कहीं-कहीं तो उनके संतुलित, सुसयत वाक्यों से मधुर विनोद भी बड़े सुन्दर ढंग से व्यंजित होता है—'वह मुझे घुमा घुमाकर सब ओर से इस प्रकार देखने लगा, मानो मेरा कोई अंग मेले में छूट गया हो।' पुनः 'ठीक ही है, नास्तिक जिनसे डर जावें, ऐसे, खास साँचे में ढले सेवक ही तो धर्मराज जी की सेवा में रह सकते हैं।

महादेवी वर्मा की भाषा-शैली

महादेवी जी के गद्य में अलंकार वैसे ही खिंचे चले आते हैं जैसे किसी धनिक के घर में धन- सम्पत्ति। देखिये—'बड़े लोटे में पानी लाकर वह छोटी कलसी भर देती, नीचे पड़ी हुई सूखी टहनियाँ और सूखा गोबर बीन लाती तथा गीला आटा सान कर जली रोटियाँ सेक लेती।' कहीं-कहीं चुटीले व्यंग भी मिलते हैं। कलाकारों की अकमण्यता के संबंध में वह लिखती हैं—'कलाकार यदि मेरी तरह घरों को लीपते घूमे तो वह अमर होने का उद्योग कम करें।' कहीं-कहीं लेखिका द्वारा 'भकुआ' जैसे ग्रामीण शब्द अवश्य अखरते हैं और कहीं-कहीं ग्रामीण पूर्वी भाषा के प्रयोग भी मिलते हैं। गम्भीर भावों एवं उर्वर कल्पनाओं के भार से इनकी भाषा शैली गंभीर और गुंथी हुई प्रतीत होती है। भावों और काल्पनिक चित्रों को स्पष्ट रूप से समझने के लिए इनकी पंक्तियों को बार-बार पढ़ने की आवश्यकता होती है। कहीं-कहीं वाक्यों के संगठन सुव्यवस्थित होने पर भी जटिल प्रतीत होते हैं, जैसे-

'जब हमारी भावप्रवणता गभीर और प्रशान्त होती है तब अतीत की रेखाएँ कुहरे में से स्पष्ट होती हुई वस्तुओं के समान अनायास ही स्पष्ट से स्पष्टतर होने लगती है; पर जिस समय हम तर्क से उनकी उपयोगिता सिद्ध करके स्मरण करने बैठते हैं, उस समय पत्थर फेकने से हटकर मिल जाने-वाली काई के समान विस्मृति उन्हे फिर ढँक लेती है।'

सक्षेप में उनके रेखाचित्रों की भाषा बड़ी सजीव, चलती हुई और मुहावरे-दार है। कहीं-कहीं सुंदर अलकारों एवं लाक्षणिक शब्दों का भी विधान है, जैसे—'साँवले मुख पर कठोरता का अभेद्य अवगुंठन पड़ा ही रहता था और उसकी काली पुतलियों से क्रोध की छाया उतरती ही न थी'। मुहावरों का भी यत्र-तत्र प्रयोग मिलता है, जैसे—चौकड़ी भरता दिखाई देना, ढिंढोरा पीटना, आँखों को निराश विस्मय से लबा-लब भरदें, पाताल नाप लेना आदि। महादेवी की शैली विचार-प्रधान है और विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए उन्होंने समास की शैली ग्रहण की है परन्तु, संस्मरणों की भाषा में सरलता एव सादगी है। उनकी शैली कवित्व पूर्ण होकर भी खलनेवाली नहीं है क्योंकि वह दुलहिन की तरह अवगुंठित और अलकारों के भार से दबी नहीं है। उनकी खूबी है—नई उपमा, भाषा की नई सजधज, नयी वाक्या-वलियाँ। एक उदाहरण लीजिये जिसमें करुण भावनाओं की अभिव्यजना हुई है—

''गाँव का एक नन्हा, मलिन, सहमा, विद्यार्थी एक छोटी लहर के समान उनके जीवन तट को अपनी सारी आद्रता से छूकर अनन्त जलराशि में विलीन हो गया है।'

यही कारण है कि महादेवी के रेखाचित्र में चित्रकला व्याप्त गई है। शान्तिप्रिय द्विवेदी के वाक्यों में महादेवी के रेखाचित्र सस्मरण में कहानी है, कहानी में सस्मरण। शैली की इसी विचित्रता के कारण महादेवी का नाम साहित्य में अमर रहेगा क्योंकि साहित्य की यह शैली उनकी एक अमर देन है।

[ख] 'बदलू' का सारांश

बदलू एक कुम्हार था जो बेडौल घड़े का निर्माता था और अष्टावक्र जैसी रूपरेखा वाले बच्चों का पिता भी। एक ओर वह कच्चे, पक्के, टूटे, पूरे वर्तनों के ढेर से घिरा रहता था दूसरी ओर मैले-कुचैले, नंगे, दुवले बच्चों की भीड़ से घिरा रहता। जिस प्रकार सुखाने, पकाने और उठाने-रखने से वर्तन टूट जाया करते थे, उसी प्रकार उसके बच्चे भी कुछ जन्म लेते, कुछ घुटनों के बल चलते कुछ थोड़ा बड़ा होते स्वर्गलोक सिधार जाते थे। परन्तु, वह कभी भी उन बच्चों के जन्म-मरण से हर्ष-विषाद का अनुभव नहीं करता था। उसकी मुखाकृति साँवली और सौम्य थी, किन्तु उसके पिचके गालों के पास नाक के दोनों तरफ उभरी हुई हड्डियाँ थी जिसके कारण वह कंकाल के समान दिखाई पड़ता था। उसका शरीर लम्बा और इकहरा था, जो कभी सुडौल भी रहा होगा, परन्तु अनिश्चित जीविका के कारण वह वृद्धावस्था को प्राप्त कर चुका था। उसकी आँखें सलज्ज थीं, परन्तु उससे उत्साहहीनता टपकती थी। उसकी आवाज किसी बाँसुरी में से निकली हुई शब्द की आवाज के समान मालूम होती थी। वह स्वभाव से बहुत कम बोलता था और छोटी-छोटी बातों को कहने में बहुत घबराता था। एक बार लेखिका को देखकर घबड़ा गया जिसे छिपाने के लिए बार-बार खाँसकर गला साफ करता हुआ अपने बच्चों को मचिया लाने के लिए पुकारने लगता। इसके लिए उन बच्चों के बीच एक होड़ आरम्भ हो जाती। परन्तु, लेखिका ठहर नहीं पायी थी, क्योंकि उसकी मचिया तीन पावों पर आधारित थी और उनके बैठने से उसके टूट जाने की सम्भावना थी, इसलिए वह चल दी। लेखिका का आना-जाना हमेशा उसी रास्ते से होता था, परन्तु उन्हें उस स्थान पर रुकने का बहुत कम मौका मिला करता था।

जब कभी रधिया मिट्टी छानती या घर का कोई काम करते मिल जाती थी तो लेखिका का कुछ समय के लिए ठहरना जरूरी हो जाता था। वह उन्हें अपने एकरस जीवन की कहानी सुनाने लगती। उसकी कथा अत्यन्त

ही करुण होती थी जिसे सुनकर हृदय करुणा से भर जाता था। वह गरीबी की एक साकार प्रतिमा थी। उसके बाल उलझे होते थे। उसमें किसी धोती की मैली कोर लगी रहती थी। वह पर्व-त्योहार के मौके पर अपने बालों को काली मिट्टी से धो लिया करती थी, परन्तु उसमें कभी भी तेल की चिकनाहट नहीं रहती थी। उसकी धोती मेली-कुचैली एवं जर्जर रहती थी। और जब कभी वह घूँघट खींचने के लिए धोती खींचती तो धोती की किनारी उसकी नाक तक चली आती थी। तात्पर्य्य यह है कि वह अत्यन्त ही दरिद्रावस्था में दिन व्यतीत करती थी।

रधिया के मुख को देखने से ही उसकी व्यथा का अनुभव होता था। उसका मुख कुछ विशेष चौड़ा था और आँखें गोल थीं। उसके ओठों पर पड़ी हुई सिकुड़न ऐसी जान पड़ती थी मानों किसी कड़वी दवा की प्याली का चिन्ह हो। रधिया जीवन-रस से जितनी निचुड़ी हुई थी, दुःख में उतनी ही भींग कर भारी हो गई थी। उसमें उस शून्यता का अभाव था जिसमें आकर्षण न हो और न उसमें वह हल्कापन ही था जिसमें हृदय के तारों को छूने की शक्ति न हो। तात्पर्य्य यह कि उसके मुख में एक आकर्षण था जो दर्शक को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेता।

रधिया के शरीर पर काँसे के पुराने कड़े और लाह की चूड़ियों के सिवा कोई आभूषण नहीं था। किसी समय उसका शरीर गठा हुआ एवं भरा हुआ रहा होगा, परन्तु गरीबी और अधिक बच्चों की माँ होने के कारण उसका शरीर एक ढाँचामात्र रह गया था। रधिया मृदुभाषिणी थी। उसका अपने पति पर विशेष प्रेम था और उसकी कभी निन्दा नहीं करती थी। उसके पाँच बच्चे जीवित थे और तीन मृत, लेकिन संख्या बताते समय वह मृत बच्चों की भी चर्चा कर दिया करती थी। उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। अपने पैतृक व्यवसाय से अपने परिवार की जीविका की समस्या को सुलझा नहीं पाती थी। इसीलिए वह आस-पास के खेतों में भी काम करने जाया करती, परन्तु इससे भी उसकी गरीबी की समस्या सुलझ नहीं पाती। उसके बच्चों को दोनों शाम भोजन नहीं मिलता और रधिया तो कभी-कभी भूखे

सोकर रात बिता देती। यों तो बदलू भोजन, वस्त्र आदि का प्रबन्ध कर पाता, बच्चों के भविष्य या वर्त्तमान की चिन्ता नहीं करता, परन्तु रधिया को उसके दुर्गुण, दुर्गुण ही नहीं जान पड़ते, असन्तोष का कोई कारण ही नहीं मिलता। उसके यहाँ बच्चों का जन्म. बिल्कुल आडम्बरहीन था। उसके बच्चे- के जन्म-समय किसी प्रकार का आनन्द नहीं छाया रहता, क्योंकि उसके लिए बच्चों का जन्म-मरण रोज का काम है। छोटी लक्खी के जन्म के समय भी यही बात हुई। उसका नार भी उसने स्वयं काट लिया, क्योंकि चमारिन को पैसे देने में असमर्थ थी। लेखिका को रधिया के कमरे मे जाने का मौका मिला था, क्योंकि उस समय नवजात शिशु का जन्म हुआ था। जिस कमरे में वह रहती थी वह धुएँ से व्याप्त था और वहाँ तम्बाकू की गन्ध इस प्रकार आ रही थी कि सास लेना मुश्किल था। उसी कमरे के बीच रधिया की खटिया थी जो झूले के समान थी और जिस पर सोनेवाले का पैर नहीं पहुँच सकता था। दीवार के आले में एक धूल-धूसरित दीया था जिसमें नाममात्र के तेल और बत्ती थे।

रधिया सदा अपने पति को प्रसन्न रखने की चेष्टा करती थी। एक बार की घटना है कि उसकी एक बच्ची मुलिया चेचक के कारण स्वर्ग लोक चली गई। उस बालिका पर बदलू की विशेष ममता थी, इसीसे जब वह उसे यमुना के गंभीर जल में विसर्जित कर लौटा तब उसके शान्त मन में छिपी मर्मव्यथा का अनुमान कर रधिया ने एक सपने की कथा गढ़ डाली। और उसे सान्त्वना देने के उद्देश्य से कहा कि देवी मइया ने स्वप्न में उस बच्ची को अपने लिए माँगा था, इसलिए उसकी दवा न करना अच्छा ही. हुआ। दवा-दारू से लड़की तो बच ही नहीं सकती थी—उस पर देवी मइया का प्रकोप सहना पड़ता। फिर उस लड़की का इससे अच्छा भाग्य क्या हो सकता था कि स्वयं माता उसके लिए हाथ पसारें। एक बार लेखिका ने रधिया को झूट बोलने के सम्बन्ध में सारगर्भित उपदेश दिया, पर उसने यह बतलाया कि उसका पति हृदय से भोला-भाला है और वह छोटी-छोटी बातों से घबरा जाता है।

अपने पति को प्रसन्न रखने के लिए बच्चों के छोटे-मोटे दुःख को छिपा लेती है।

एक बार लेखिका ने बदलू को समझाया कि यदि वह इन बेडौल मटकों के बजाय सुन्दर नक्काशीदार सुराहियाँ आदि बनाकर शहर में बेचे तो उसे अच्छे पैसे मिल सकेंगे। जिसके उत्तर में उसने बतलाया था कि उसके बाप दादे, परदादे बेडौल मटके ही बनाते रहे, शहराती बर्तन बनाना उसके सामर्थ्य के बाहर की बात थी।

एक बार की घटना है कि लेखिका शिव, पार्वती, सरस्वती आदि के कुछ पौराणिक चित्रों को लेकर पढ़नेवाले बच्चों को समझाने के लिए ले गई। बदलू को इसकी खबर मिली। वह अपनी समस्ता गंभीरता को भूलकर दौड़ा हुआ आया जिसे लेखिका ने सभी चित्र दिखला दिए और उसका अर्थ भी यथा संभव सरल करके समझा दिया, फिर भी वह बच्चों के बीच में ही बैठा रहा। सरस्वती की तस्वीर पर उसकी नजर गड़ गई और उसके मन भाव को समझकर लेखिका ने उसे वह चित्र सौंप दिया तब वह बालकों के के समान आनन्दातिरेक से अस्थिर हो उठा। कुछ दिनों के बाद वह चित्र बदलू के अंधेरे घर के जर्जर द्वार पर लेई से चिपका हुआ पाया गया जिसे देखकर लेखिका को उस चित्र के दुर्भाग्य पर खेद हुआ।

एक बार दीवाली के मौके पर बदलू एक सरस्वती की प्रतिमा लेकर लेखिका के निवास-स्थान पर आया जिसे देखकर वह अवाक् हो गयीं। वह सफेद और सुनहले रंगों से चित्रित थी। मूर्ति की प्रशान्त मुद्रा को उसके शुभ्र वस्त्र, सुनहले बाल, सुनहली वीणा और लाल चोंच और पैरवाले सफेद हंस ने और भी सौम्य कर दिया था। यह मूर्ति बदलू की बनायी हुई थी। लेखिका के द्वारा उसे जो सरस्वती का चित्र प्राप्त हुआ था, उसको देखते-देखते उसके मन में कलाकार बनने की इच्छा जाग्रत हुई और अनेक बार प्रयत्न करने के पश्चात् उस चित्रगत सौन्दर्य को मिट्टी में साकार कर दिया। तब से बदलू हमेशा सुन्दर मूर्तियाँ बनाता और प्रत्येक वर्ष की दीवाली में लेखिका को वह सरस्वती की एक मूर्ति उपहार-स्वरूप दे जाता। परन्तु, अब

रधिया इस संसार में न रही। वदलू की दशा ऐसी हो गई थी मानों उसकी चकवी उड़ गई हो और अब वह दिनरात रधिया के वापस आने की प्रतीक्षा में बैठा रहता। उसकी मृत्यु के पश्चात् दूसरा विवाह नहीं किया। यदि कोई दूसरे विवाह की बात उसे कहता तो उसे मटकी की मार खानी पड़ती। अब तेरह वर्ष की दुखिया अपने को गला-गला कर अपने भाई-बहनों का पालन-पोषण करती।

दो वर्ष बीत गए। वदलू की कला पर मुग्ध होकर उसका एक ममेरा भाई उसे बच्चों के साथ फैजाबाद ले गया फिर भी वदलू दीवाली के दिन एक मूर्ति लेकर उपस्थित जरूर होता। परन्तु, इस वर्ष वदलू लेखिका के यहाँ मूर्ति लेकर हाजीर न हुआ, शायद वह भी रधिया की खोज में इस ससार से चल बसा। पर लेखिका के 'घर के हर कोने में प्रतिष्ठित बुद्ध, कृष्ण, सरस्वती, बापू आदि की मूर्तियाँ, पुराने चाक पर बेडौल घड़े गढ़नेवाले ग्रामीण कुम्भकार का स्मरण दिला कर मानों कहती ही रहती है—कला तुम्हारा ही पैतृक अधिकार नहीं, कल्पना तुम्हारी ही क्रीत दासी नहीं।'

[ग] 'वदलू' की आलोचना

'वदलू' शीर्षक रेखाचित्र महादेवी वर्मा लिखित पुस्तक 'अतीत के चलचित्र से उद्धृत किया गया है। प्रस्तुत रेखाचित्र एक स्मृति-चित्र है, जिसे महादेवी वर्मा ने अत्यन्त कलात्मक ढंग से व्यक्त किया है। इसमें उन्होंने अपने सुपरिचित कुम्भकार वदलू और उसकी पत्नी रधिया के रूपरङ्ग, स्वभाव-प्रकृति एवं साथ-ही-साथ उसके दाम्पत्य जीवन की कई घटनाओं का अत्यन्त ही हृदयग्राही एवं मार्मिक चित्र अंकित किया है। जिस प्रकार साधारण चित्रकार अपनी तूलिका और रंगों के सहारे कागज या कपड़े पर अभीष्ट पदार्थ की आकृति अंकित कर देता है तथा उसके कुछ भावों एवं चेष्टाओं को भी चित्रित मूर्ति में अंकित कर देता है, उसी प्रकार शब्द-चित्रकार शब्दों के द्वारा ही अपने आलंबन का ऐसा सजीव अंकन करता है कि न केवल उसकी आकृति ही हमारे सामने मूर्तिमान हो जाती है, अपितु उसका स्वभाव, उसकी प्रकृति, उसकी

चेष्टाएँ, उनकी अन्तःप्रकृति भी साकार हो उठती है। चित्रित पात्र के साथ पाठक की आत्मीयता हो जाती है और वह उसके हृदयासन पर प्रतिष्ठित हो जाता है।

महादेवी वर्मा ने इस रेखाचित्र में बदलू और उसकी पत्नी रधिया के रूपरंग, आकृति, भाषा, और चेष्टा ही अत्यन्त सजीव रूप में नहीं अंकित किया है, प्रत्युत् उन्होंने उन दोनों की अन्तःप्रकृति का भी ऐसा हृदयग्राही वर्णन किया है कि वह पाठकों की सहानुभूति एव आत्मीयता का सहज पात्र बन जाता है। वाह्य रूप एव अन्तःप्रकृति के चित्रण में महादेवीजी की कुशल लेखनी कितनी सफल है, इसके लिए पठित शब्द-चित्र के कुछ ही उदाहरण पर्याप्त होंगे। बदलू की आकृति एव रूपरंग चित्रित करती हुई कहती हैं—

"उसकी मुखाकृति साँवली और सौम्य थी, पर पिचके गालों से विद्रोह करके नाक के दोनों ओर उभरी हुई हड्डियाँ उसे कंकाल सहोदर बनाये बिना नहीं रहतीं। लम्बा इकहरा शरीर भी कभी सुडौल रहा होगा, पर निश्चित आकाशी-वृत्ति के कारण असमय वृद्धावस्था के भार से झुक आया था। उजली छोटी आँखें स्त्री की आखें के समान सलज्ज थी, पर एक रस उत्साह हीनता से भरी होने के कारण चिकनी काली मिट्टी से गढ़ी मूर्त्ति में कौड़ियों से बनी आँखों का स्मरण दिलाती रहती थी। काँपते ओठों में से निकलती हुई गले की खरखराहट सुनने वाले को वैसे ही चौंका देती कि जैसे बाँसुरी में से निकलता हुआ शंख का स्वर।" (पृष्ठ १६५-६)

रधिया की आकृति एवं रूपरंग का चित्र देखिए—

"रधिया के मुख का आकर्षण भी उसकी व्यथा ही जान पड़ती थी—वैसे एक-एक करके देखने से, मुख कुछ विशेष चौड़ा था। नाक आँखों के बीच मे एक तीखी रेखा खींचती हुई ओठ के ऊपर गोल हो गई थी। गहरे काले घेरे से घिरी हुई आँखे ऐसी लगती थीं जैसे किसी ने दबाकर उन्हें काजल में गाड़ दिया हो। ओठों पर पड़ी हुई सिकुड़न ऐसी जान पड़ती थी मानों किसी तिक्त दवा को प्याली के निरन्तर स्पर्श-

चिन्ह हों। इन सब विपमताओं की समष्टि मे जो एक सामंजस्यपूर्ण आकर्षण मिलता था वह अवश्य ही रधिया के दुःख-विगलित हृदय से उत्पन्न हुआ होगा। वह जीवन-रस से जितनी निचुड़ी हुई थी, दुःख मे उतनी ही भींग कर भारी हो उठी, इसी कारण उसमे न वह शून्यता थी जो दृष्टि को रोक नहीं पाती और न वह हलकापन, जो हृदय को स्पर्श करने की शक्ति नहीं रखता।" (पृष्ठ १९७)

रधिया की अन्तःप्रकृति का चित्रण भी महादेवी वर्मा की लेखनी से देखिए—

"चाक के पास निर्विकार-भाव से बैठ हुए बदलू को पुकार कर जब मैंने बनिए के यहाँ से गुड़, सोंठ, घी आदि लाने का आदेश दिया तो, वह मानों आकाश से नीचे गिर पड़ा। उसकी दुखिया की माई तो कहती थी कि गुड़ देखकर उबकाई आती है, घी खाने से उसके पेट मे शूल उठता है—इसी से तो वह बाजरे की रोटी देकर निश्चिन्त हो जाता है। बदलू के सरल मुख को देखकर जब मैंने अपने मिथ्यावादी के भार से सिकुड़ी-सी रधिया पर दृष्टि डाली तब उस दम्पति से कुछ और पूछने की आवश्यकता नहीं रही। बदलू जिस वस्तु का प्रबन्ध नहीं कर सकता वह रधिया के लिए हानिकारक हो उठती है यह समझते देर नहीं लगी। 'पर अपने इस दिव्य ज्ञान को छिपाकर मैंने सहज भाव से कहा—जो सब स्त्रियाँ खाती हैं वह दुखिया की माई को भी खाना पड़ेगा चाहे उबकाई आवे; चाहे शूल उठे।" (पृष्ठ २०१-२)

ऊपर के प्रथम दो उद्धरणों में जहाँ बाह्य रूपरंग का सजीव चित्रण हुआ है वहाँ द्वितीय उद्धरण में अंतकरण-स्थित गरीबी का मूर्तिमान रूप अंकित है।

प्रस्तुत रेखाचित्र में महादेवी की विलक्षण-प्रतिभा एवं मौलिकता का दर्शन होता है। इसके साथ इसमें जीवन के कटु-मधु अनुभवों का अत्यन्त ही हृदय-स्पर्शी वर्णन हुआ है जिसके कारण यह कहानी की तरह रोचक बन गया है। इसमें बदलू और रधिया को प्रस्तुत कर लेखिका ने भारत की ग्रामीण जनता की मूक वाणी को स्वर-दान दिया है।

दरिद्रता का अकन करने के बाद भी लेखिका ने उनके हृदय के सात्विक भावों को प्रकाश में लाया है और बतलाया है कि उनमें मानवीय गुणों का प्राचुर्य है। इसमें एक ओर जहाँ बदलू और रधिया का व्यक्तित्व बोलता है तो दूसरी ओर महादेवी की करुणा, दया एव सहानुभूति मुखरित हुई है। इसलिए इसके पग-पग पर हम निरीह मानवता का करुण-क्रन्दन सुन पाते हैं। यही कारण है कि हम उन दोनों के प्रति सवेदनशील हो जाते हैं।

लेखिका ने इस रेखाचित्र में रधिया के रूप एव स्वभाव-चित्रण के साथ समाज को एक सदेश भी दिया है। इसके द्वारा उनका यही सदेश है कि अपढ़, गँवार एव बाह्य दृष्टि से कुरूप कहे जानेवाले व्यक्तियों में भी स्नेह, ममता, पर-दुःख कातरता, कर्त्तव्यपरायणता, वात्सल्य आदि ऐसे पुनीत भाव होते है जिनके कारण वे समाज में निम्न स्थिति में रहकर भी कुलीन एवं प्रतिष्ठित कहे जानेवाले व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक वरेण्य हैं। इसीको लक्षित करके वे मानों कहती हैं —

"इसी वर्ग की स्त्रियों में जो एक प्रकार की कर्कश प्रगल्यता मिलती है उसका रधिया मे सर्वथा अभाव रहा सम्भत: इसी कारण मेरी उदासीनता का कुतूहल मे और कुतूहल का सम्मान मे रूपान्तरित होना अनिवार्य हो गया। बदलू के प्रति उसका स्नेह गंभीर और इसी से कोलाहलहीन था। न वह कभी घर की, बच्चों की और स्वयं उनकी चिन्ता करता देखा गया और न रधिया के मुख से उनके गोबरगणेश पति की निन्दा सुनने का किसी को सौभाग्य प्राप्त हो सका।" [पृ० १६८]

"विचित्र ही थे दोनों। पति भोजन नही जुटा पाता, वस्त्र का प्रबन्ध नहीं कर सकता और बच्चों के भविष्य या वर्त्तमान की चिन्ता नहीं करता, पर पत्नी को उसके दुर्गुण-दुर्गुण ही नहीं जान पड़ते, असंतोष का कोई कारण ही नहीं मिलता।" [पृ० १६६]

इस रेखाचित्र में इस प्रकार के अनेक उद्धरण हैं जो संदेश प्रदान करते हैं। हम सौन्दर्य की आत्मा—जीवन के सामंजस्य में—अभेद बुद्धि द्वारा—जितना समझ सकते हैं, उतना बाह्य रूपों की विषमता या विविधता में नहीं। हमें

किसी व्यक्ति को पहचानने के लिए उसके वाह्य रूप-रंग, जातिकुल आदि पर न जाना चाहिए, वरन् उसके अंतःस्थित भावों एवं तदनुरूप कार्यों में उसके जीवन के सौंदर्य का मूल्यांकन करना चाहिए। रधिया वाहर से भले ही कुरूप एवं गँवार रही हो, पर उसके हृदय के वात्सल्य, ममता, निरीहता, त्याग, पति-प्रेम आदि को देखकर कौन उसे श्रेष्ठ मानव-जीवन न मानेगा।

महादेवीजी की भाषा-शैली उनके वर्ण्य-विषयों के अनुरूप रहती है। उनके वाक्य अवश्य ही कहीं-कहीं लम्बे एवं उलझे हुए-से होते हैं, पर उनमें भाव शवलता ही रहती है, शब्द-क्लिष्टता नहीं। दुरूह, दुर्बोध एवं अव्यवहारिक शब्दों का प्रयोग उनकी भाषा में कम ही मिलता है। भाव-शवलता के कारण उनके वाक्य वड़े अर्थ-व्यंजक होते हैं। कहीं-कहीं तो उनके संतुलित, सुसंयत वाक्यों से मधुर विनोद भी वड़े सुन्दर ढंग से व्यंजित होता है, जैसे—"जव तक चलनी जैसी झरझरी और साढ़े तीन पायों पर प्रतिष्ठित मचिया का अन्धेरी कोठरी से उद्धार करने के लिए वे वच्चे प्रतियोगिता आरंभ कर देते तव मैं वहाँ से विदा हो जाने ही मे भलाई समझती थी। मेरे वैठने से मचिया की कुशल तो संदिग्ध ही हो जाती थी साथ ही मटके-मटकियों का भविष्य भी खतरे में पड़ सकता था।" [पृ० १६६]

पुनः "सवसे छोटा चार-पाँच वर्ष का नत्थू भी जव अपने वढ़े पेट से दसगुणी वड़ी मटकी को सर पर लाद कर टेढ़े-मेढ़े सूखे पैरों पर अकड़ता हुआ हटिया जाने का उत्साह दिखाता तव न उसके पुरुषार्थ पर हसी आती थी न रोना।" [पृ० १६६]

इस रेखाचित्र द्वारा अंकित कहानी की भाषा वड़ी सजीव, चलती हुई एव मुहावरेदार है। कहीं कहीं सुन्दर अलंकारों एवं लाक्षणिक शब्दों का भी विधान है, जैसे— "उसकी मुखाकृति साँवली और सौम्य थी, पर चिपके गालों से विद्रोह करके नाक के दोनों ओर उभरी हुई हड्डियाँ उसे कंकाल-सहोदर वनाये विना नही रहती। लम्वा इकहरा शरीर भी सुडौल रहा होगा, पर निश्चित आकाशी-वृत्ति के कारण असमय वृद्धावस्था के भार से झुक आया था। उजली छोटी आँखे स्त्री की

आँखों के समान सलज्ज थी, पर एकरस उत्साह हीनता से भरी होने के कारण चिकनी काली मिट्टी से गढी मूर्त्ति में कौड़ियों से बनी आँखों का स्मरण दिलाती रहती थीं। काँपते ओठों में से निकलती हुई गले की खरखराहट सुननेवाले को वैसे ही चौंका देती थी जैसे वाँसुरी में से निकलता हुआ शंख का स्वर।' [पृ० १६५-६]

मुहावरों का भी प्रयोग यत्र-तत्र हुआ है, जैसे— चौंका देती थी, बरसती आँखों, हंडियों के प्रसाद का अधिकारी था, आनन्दातिरेक से अस्थिर हो उठा, अज्ञातलोक की ओर प्रस्थान कर गई, रधिया की खोज में चल दिया हो, आकाश से नीचे गिर पड़ा, परमधाम की राह ली, गढ डाली, छाया मे समेट लेना आदि।

सच तो यह है कि महादेवी वर्मा की शैली विचारप्रधान है और विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए उन्होंने समास-शैली का आश्रय लिया है, परन्तु संस्मरणों में उनकी भाषा सरल एवं सादी रहती है। उनकी शैली कवित्वपूर्ण होकर भी खलनेवाली नहीं है, क्योंकि वह दुलहिन की तरह अवगुंठित और अलंकारों के भार से दबी नहीं है। उनकी खूबी है नयी उपमा, भाषा को नयी सजधज, नयी वाक्यावलियाँ। यही कारण है कि उनके रेखाचित्रों में चित्रकला व्याप्त गई है। इसीलिए श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'साहित्यिकी' में लिखा है कि महादेवी के रेखाचित्र संस्मरण में कहानी हैं; कहानी में संस्मरण। शैली की इसी विशिष्टता के कारण महादेवी का नाम अमर रहेगा।

अस्तु भाषा-शैली, भाव व्यंजकता एवं शब्दों द्वारा मूर्ति-विधान आदि की दृष्टि से 'बदलू' महादेवी वर्मा के रेखाचित्रों मे एक उच्च कोटि की कलाकृति है, बस।

[घ] शब्दार्थ, व्याख्या और आशय

शब्दार्थ (पारा १, पृष्ठ १६५) —बेडौल = बदसूरत, कुरूप। निर्विकार = जिसमें कोई विकार या परिवर्तन न होता हो। निमाता = रचना करनेवाला।

अष्टावक्र = टेढ़े-मेढ़े अंगों का मनुष्य। विधाता = भगवान । निर्जीव = जिसमें प्राण नहीं है। विषमता = भेद। कुरूपता = बदसूरती। समाधि = ईश्वर के ध्यान में मग्न होना ; योग साधन का चरम फल जिससे मनुष्य सब क्लेशों से मुक्त होकर अनेक प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त करता है ; प्राणियों की वह अवस्था जिसमें उनकी संज्ञा या चेतना नष्ट हो जाती है और वे कोई शारीरिक क्रिया नहीं करते। सामर्थ्य = शक्ति।

शब्दार्थ (पारा २, पृ० १६५)—चल बसते = मर जाते। परस्पर = आपस में। लुप्त होने लगती थी = मिट जाती थी।

बदलू का चित्र खींच देना ....लुप्त होने लगती थी।

[पारा २, पृ० १६५]

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियाँ श्रीमती महादेवी वर्मा लिखित 'बदलू' शीर्षक रेखाचित्र से उद्धृत की गई है। उसमें लेखिका ने बदलू के रूप पर दृष्टिपात करते हुए बतलाया है कि उसका चित्र अंकित करना चित्रकार के लिए एक कठिन कार्य है, क्योंकि जिस प्रकार एक चित्र-विशेष में बहुत-से परस्पर विरोधी रेखाओं को अंकित करना एक चित्रकार के लिए कठिन कार्य है उसी प्रकार बदलू की भी तस्वीर खींचना मुश्किल है। किसी चित्र में परस्पर-विरोधी रेखाओं को अंकित करने में चित्रकार को कठिनाई का अनुभव इसलिए होता है कि एक रेखा को स्पष्ट करने में दूसरी मिट जाती है। बदलू का रूप-रंग भी परस्पर-विरोधी रेखाओं से सज्जित चित्र के समान था। इस कथन की पुष्टि लेखिका के द्वारा अगले अनुच्छेद (पारा) में हुई है। बदलू की आकृति परस्पर विरोधी रेखाओं से निर्मित थी। एक ओर उसके मुख की आकृति साँवली और सौम्य थी तो दूसरी ओर उसके पिचके गालों के पास दोनों ओर उभरी हुई हड्डियाँ थीं जिसके फलस्वरूप वह एक कंकाल-सा दिखाई पड़ता था। इस प्रकार लेखिका का कहना यह बिलकुल सच है कि उसका एक चित्र खड़ा करना अत्यन्त कठिन कार्य है।

शब्दार्थ (पारा ३-४, पृ० १६५-६)—मुखाकृति = मुख की बनावट। सौम्य = शान्त, नम्र और सुशील, सुन्दर। उभरी हुई = निकली हुई। कंकाल-

सहोदर = कंकाल का भाई अर्थात् ढाँचामात्र। सुडौल = सुन्दर आकारवाला या बनावटवाला। आकाशी-वृत्ति = जिस वृत्ति में आमदनी की अनिश्चितता हो; भाग्य पर हो। वृद्धावस्था = बुढापा। सलज्ज = लज्जापूर्ण। चौंका देती थी = विस्मित कर देती थी। मितभाषी = कम बोलनेवाला। श्रवण-शक्ति = सुनने की ताकत। अनभिज्ञ = अपरिचित।

शब्दार्थ (पारा ५, पृ० १९६)—निर्माणक्रम = रचना-क्रम। अस्थिर = चंचल। साढ़े तीन पायों पर प्रतिष्ठित मचिया = तीन पाँव ठीक और एक टूटे हुए पाँव की मचिया। प्रतियोगिता = होड़। कुशल = बचना। सन्दिग्ध = संदेहपूर्ण।

जब एक चलती जैसी झरझरी ......खतरे में पड़ सकता था।

[पारा ५, पृ० १९६]

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियाँ महादेवी वर्मा लिखित 'बदलू' शीर्षक रेखाचित्र से ली गई हैं। इसमें लेखिका ने बतलाया है कि जब कभी वह उसके घूमते हुए चाक पर सधी उँगलियों का निर्माण-क्रम देखने के लिए रुक जाती थी तब वह कुछ घबड़ा जाता था जिसे छिपाने के लिए वह अपना गला साफ करता और अपने बच्चों को मचिया लाने की आज्ञा देता। इस आज्ञा को पालन करने के निमित्त उसके बच्चों में एक होड़-सी आरम्भ हो जाती। ऐसी परिस्थिति में लेखिका उस जगह से खिसक जाने में ही अपनी कुशलता समझती थी, क्योंकि उसके बैठने से मचिया के टूट जाने की आशंका थी और साथ-ही-साथ उसके गिरने से मटके-मटकियाँ टूट जा सकती थीं।

शब्दार्थ पारा ६-७, पृ० १९६)—अवकाश = मौका, समय। व्याघात = रुकावट, बाधा। अनिवार्य = जरूरी। बरसाती आँखों = आँसुओं से भरी आँखें। हँसते होठों = मुस्कुराते हुए। आतुर = व्यग्र, बेचैन। प्रकृतिस्थ = संयत। करुण-रागिनी = संगीत के समान करुण स्वर। मथन = चालित।

शब्दार्थ (पारा ८, पृ० १९७)—मूर्तिमता दीनता = गरीबी की साकार प्रतिमा। अपरिचित = अनजान। एकाकार = एक समान। जर्जरता = पुरानी होने के कारण फटी-पुरानी दशा।

रधिया को मूर्त्तिमती दीनता ··· ···खिंची चली आती थी।

[पारा ८, पृ० १६७]

व्याख्या—प्रस्तुत गद्य-संदर्भ में लेखिका ने वल्लू की पत्नी रधिया की गरीबी का चित्र अंकित किया है। उसका कहना है कि रधिया को देखने से ऐसा प्रतीत होता है मानों वह दरिद्रता की साक्षात् प्रतिमा है। वह नारे के जगह पर पुरानी धोती (साड़ी) की मैली कोर को अपने रूखे सूखे उलझे बालों में बाँधे रहती थी। वह पर्व-त्योहार के मौके पर अपने मैले-कुचैले उलझे बालों को काली मिट्टी से धोकर साफ कर लिया करती, परन्तु उसके बालों को कड़ुए तेल की चिकनाहट का कभी सौभाग्य प्राप्त न हो पाया। उसकी साड़ी मैली-कुचैली एव इतनी फटी-पुरानी होती थी कि जब कभी वह साड़ी की किनारी (कोर) पकड़ कर खींचती तो सिर्फ किनारी (कोर) ही फटकर उसके नाक तक चली आती और शेष कपड़े पीछे ही रह जाते। अतएव यह स्पष्ट होता है कि वह गरीबी का जीवन व्यतीत कर रही थी।

दुःख एक प्रकार का शृंगार···········बाँधे विना नहीं रहते।

[पारा ६, पृ० १६७]

व्याख्या—इस स्थल पर लेखिका ने यह वतलाया है कि जो व्यक्ति अत्यन्त दीन-हीन होता है, उसमें भी आकर्षणशक्ति होती है। वह दूसरे के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। शृंगार का अर्थ है वनाव। जो व्यक्ति अपना शृंगार करते हैं, उसकी ओर मनुष्य की दृष्टि आप-से-आप खिंच जाती है। उसी प्रकार रधिया का शृंगार है गरीवता जिसमें एक आकर्षण है जो दर्शक को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

शब्दार्थ (पारा १०, पृष्ठ १६८)—व्यथा = दुःख। तिक्त = कड़वी। निरन्तर = हमेशा। समष्टि = जितने हो उन सब का समूह, जिसमें उसके सभी अंगों या व्यष्टियों का समावेश या अन्तर्भाव होता है। विगलित = वहती हुई, निकली हुई।

इन सब विपमताओं की ··· ····· ····· को शक्ति नहीं रखता।

[पारा १०, पृष्ठ १६७]

व्याख्या—प्रस्तुत सदर्भ में लेखिका ने रधिया की गरीवी पर विचार करते हुए बतलाया है कि उसकी मुखाकृति में अनेक विषमताओं का सामंजस्य था फिर भी उसमें एक आकर्षण था जो उसके दुःख का बोधक था। उसमें जो यह आकर्षण था, उसका जन्म ही उसके दुःख-विगलित हृदय से हुआ था। वह जीवन के रसों से पूर्णतया परिचित थी, परन्तु उसने दुख भी काफी झेले थे जिसके फल-स्वरूप उसमें उस शून्यता की कमी थी जिसमें आकर्षण-शक्ति न हो और न उसमें वह हल्कापन ही था जिसमें हृदय के तारों को छूकर झंकृत करने की शक्ति न हो। कहने का तात्पर्य यह है कि वेदना के बीच में पलकर वह म्लान नहीं हो पायी थी प्रत्युत् उससे उसमें आकर्षण ने जन्म पाया था जिसके कारण दर्शकों की दृष्टि उसके मुखाकृति पर जाकर केन्द्रित हो जाती थी।

शब्दार्थ (पारा ११-१२ पृष्ठ १९७-८)—मैल से रूप-रेखा-हीन लाख की चूड़ियों = मैल जम जाने के कारण लाह की चूड़ियों के रूप और चिन्ह मिट चुके थे। आभूषण = जेवर। परिचय हीनता = अनभिज्ञता। खिन्न = क्षुब्ध अटूट शृंखला = न टूटनेवाली रेखा। घट = न घटनेवाली। विस्मय = आश्चर्य। कर्कश = कठोर। प्रगल्भता = उद्दण्डता। सर्वथा = बिलकुल। अभाव = कमी। कुतूहल = औत्सुक्य, उत्कंठा। स्नेह = प्यार, प्रेम। सम्मान = प्रतिष्ठा। कोलाहलहीन = प्रशान्त, बिलकुल शान्त। गोवरगणेश = निकम्मा। कलावन्त = कलाकार, कलाओं का ज्ञाता।

इसी वर्ग की स्त्रियों में जो एक ... महानता से परिचित नहीं।

[पारा ११, पृष्ठ १९८]

व्याख्या—प्रस्तुत अवतरण में लेखिका ने रधिया की चारित्रिक विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि जिस समाज में रधिया पली थी उस समाज की स्त्रियों में कठोरता एवं उद्दण्डता का होना अत्यावश्यक है। परन्तु रधिया में ऐसी बात नहीं पायी जाती है, वह इससे काफी ऊपर ऊँची उठी हुई है। यही कारण है कि लेखिका के हृदय में सर्वप्रथम उदासीनता, बाद में उत्सुकता और अंत में सम्मान का भाव जाग्रत हुआ। उसके हृदय में अपने पति के प्रति निश्छल प्यार था। उसका पति निकम्मा था जो अपनी पत्नी एवं बच्चों की

परवाह नहीं किया करता फिर भी रधिया उसकी शिकायत कभी नहीं करती थी। उसे तो यह विश्वास था कि उसका पति कुम्हारों में श्रेष्ठ एवं एक ऊँचे दर्जे का कलाकार है; पर लोग उसकी कलाकारिता से बिलकुल अनभिज्ञ हैं।

शब्दार्थ (पारा १२-१३, पृष्ठ १९८-९)—उपसंहार = अंत। उनींदे = ऊँघते हुए। जो स्मृतिशेष रह गए थे = जिनकी सिर्फ यादगारी रह गई थी। बाध्य हो जाता = लाचार हो जाता। वायवी = वायु-संबंधी, बाहरी। संबंध-विच्छेद = संबंध तोड़ना। पुरुषार्थ = मर्दानगी।

शब्दार्थ (पारा १४-१७ पृष्ठ १९९-२००)—जन्मजात व्यवसाय = पैतृक व्यवसाय। बेसुध = बेखबर। परिवर्तन-क्रम = बदलने का सिलसिला। दुर्गुण = खराब गुण। असंतोष = संतोष की कमी। कोलाहल = हल्ला। चिर-परिचित = बहुत दिनों से जानी पहचानी। सतर्कता से = होशियारी से। संतुलन = (Balance), तौल।

शब्दार्थ (पारा १८-९, पृष्ठ २००-१)—गतिशील था = चल रहा था। बातूनी = बात करनेवाली, बतक्कड़। निष्फल = असफल। प्रयत्न = चेष्टा। भावी कुम्भकार = नवजात बच्चे। आमंत्रण = निमन्त्रना, न्योता। बोझिल = भारी। प्राचीर = दीवारें। उपेक्षित = तिरस्कृत। चेचकरू = जगह-जगह छेद होना।

कोठरी में व्याप्त धुएँ और ... 'दो बूँद तेल बचाये हुए था।
[पारा २९, पृष्ठ २००-१]

आशय—इस अवतरण में लेखिका ने रधिया की गरीबी का अत्यन्त ही मर्मस्पर्शी एवं सजीव चित्र अंकित किया है। वह एक ऐसे कमरे में जीवन व्यतीत करती थी जिसमें धुएँ भरे रहते थे और तम्बाकू की बुरी गंध आती रहती थी, वह गंध इस प्रकार की थी कि साँस लेना कठिन था। उस कमरे की दीवारें पिंडोर से पुती हुई थी, परन्तु दीमकों के कारण वह चेचकरू हो गई थी। उस कमरे की दीवारों के ऊपर भारी छप्पर थे जिसे दीवारें संभालने में असमर्थ थीं और वह ऐसा प्रतीत होता था मानों वे अब गिरीं, तब गिरीं। चूल्हे के पास बदसूरत एवं काली मटकियाँ थीं और उससे सटे थे चमकते हुए लोटा और थाली। लेखिका कहती है कि उन्हे देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानों

जेल की चहारदीवारी के भीतर बिना क्लास और ए क्लास के कैदी एकत्र हुए हैं। उस कमरे के बीच में एक झूले के समान रधिया की खटिया थी जिसपर सोनेवाले के पाँव नहीं पहुँच सकते थे। उस कमरे की दीवार में गढ्ढे की तरह आले थे जिस पर एक धूल-धूमरित दीया रक्खा था और उसमें नाम मात्र के लिए तेल और बत्ती थे। इसमें लेखिका ने रधिया के कमरे की एक अच्छी खासी तस्वीर उतार दी है।

शब्दार्थ (पारा २०-२६ पृष्ठ २०१-२)—नवजात = नया पैदा जो हुआ है। नाल = नाभी। सूजन = फूला हुआ। उचित = ठीक। प्रशान्त = गंभीर। सौम्य = भव्य, शान्त। निर्विकार-भाव से = शान्त और विकार रहित भाव से। आदेश = आज्ञा। उबकाई आती है = उल्टी आती है। शूल = दर्द। मिथ्यावाद = झूठेपन। सिकुड़ी-सी = लज्जित। दिव्य = भव्य आडम्बरहीन = ढोंगरहित, कोलाहल रहित।

शब्दार्थ (पारा २७, पृष्ठ २०२)—चेचक के दाने उभर आए = चेचक के गोल-गोल घाव निकल आए। त्रुटि = कमी। परमधाम = मृत्युलोक। विसर्जित कर = बहाकर,। मर्मव्यथा = आन्तरिक दुःख। बुद्धू = मूर्ख, बेवकूफ। अवश्यम्भावी = जिसका होना निश्चित हो। कोप = क्रोध।

बदलू जैसे बुद्धू व्यक्ति का .... उसके लिए हाथ पसारें।

[पारा २७ पृष्ठ २०२]

व्याख्या—प्रस्तुत पक्तियों में लेखिका ने गरीबों के अंधविश्वास पर प्रकाश डाला है। वह कहती है कि रधिया की एक लड़की थी मुलया जो चेचक के कारण मृत्युलोक चली गई थी। उसका संस्कार बदलू ने किया था। जब वह उसका अन्तिम संस्कार कर लौटा था तब वह मौन था। उसके शान्त मन में एक मर्मव्यथा छिपी थी—यह उसका मुख बतला रहा था क्योंकि उस बालिका के प्रति उसके हृदय में विशेष ममता थी, वात्सल्य भरा हुआ था। बदलू की पत्नी रधिया ने अपने पति की मर्मव्यथा को पढ़ लिया, अतएव उसने उसे सान्त्वना देने के उद्देश्य से एक कथा गढ़ ली और कहा कि देवी मैया ने उसे उससे सपने में कहा था कि उस लड़की को उन्होंने उतने ही दिनों

के लिए भेजा था, इसलिए उसे लौटा दो। इसीलिए उसकी दवा-दारू करना वेकार ही था और दूसरे इससे देवी मैया के क्रोध का भाजन वनना पड़ता। सच तो यह है कि उस लड़की का भाग्य अत्यन्त सुन्दर था जिसे देवी मैया ने अपनी गोद में रख लिया। रधिया की ऐसी बातों को सुनकर वदलू का प्रभावित हो जाना अनिवार्य था। क्योंकि वह अन्धविश्वासी था। लेखिका के कहने का तात्पर्य्य यह है कि भारत के निर्धन व्यक्ति अन्धविश्वासी होते हैं और वे प्रत्येक दुर्घटना को देवी प्रकोप समझ कर अपने व्यथित हृदय को सान्त्वना देते हैं।

शब्दार्थ (पारा २८-६, पृ० २०२-३)—सारगर्भित = जिसमें सार या तत्व हो, सारयुक्त, तत्वपूर्ण। उपदेश = सीख। भोला = सरल। प्रश्न बन गया = समस्या बन गई।

रधिया का उत्तर ही मेरे ··· नाम ही क्या दिया जाय।

[पारा २६, पृष्ठ २०३]

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में श्रीमती महादेवी वर्मा ने वदलू की स्त्री रधिया की चारित्रिक विशेषताओं पर दृष्टिपात किया है। रधिया जब-तब झूठ बोला करती थी, वह झूठ बोलने की आदी नहीं थी। इसीलिए एक बार लेखिका ने उसे इस सवंध में एक तत्वपूर्ण सीख दी जिसके उत्तर में रधिया ने वतलाया था कि उसका पति अत्यन्त सीधा-सादा व्यक्ति है जो मामूली-मामूली वातों से घवड़ा जाता है, अपना धैर्य खो वैठता है। उसके घर की आर्थिक दशा इतनी गई-गुजरी है कि उसके सभी वच्चों को दोनों शाम भरपेट भोजन भी नहीं मिल पाता है। वह अपने पति को प्रसन्न रखने के उद्देश्य से ही वच्चों के दुःखों को अपने हृदय में छिपा लेती है, जिसके कारण उसके मुख से अनायास झूठी वातें निकल जाती हैं। वह व्यक्तिगत लाभ के लिए झूठ नहीं बोलती है। रधिया के इस उत्तर ने लेखिका के सामने एक विकट समस्या खड़ी कर दी, जिस पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि रधिया के झूठ को 'झूठ' की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। उसके झूठ में सचाई है, निश्छलता है, निष्कपटता है, अतएव उसे किस 'संज्ञा' से विभूषित किया

जाय—यह लेखिका के सामने एक समस्या बन खड़ी है। वह उसकी आडम्वर-हीन वाणी को सुनकर किंकर्त्तव्यविमूढ-सी हो गई है, क्योंकि यह ऐसी समस्या है जिनका निदान कठिन है।

शब्दार्थ (पारा ३०-३८, पृष्ठ २०३-५)—बेडौल = बदसूरत, कुरूप। नक्काशीदार = नक्शा बना हुआ। गँवई गाँव का = गाँव का मूर्ख। शहराती = शहर के लोगों के लिए। कलात्मक = कलापूर्ण। असफल प्रतिकृतियों = असफल नकल। संभवत· = शायद। बप्पा = बाप। सूचना = खबर। विस्मय= आश्चर्य। यथासभव = जहाँ तक हो सका। आनन्दातिरेक से अस्थिर हो उठा = अत्यधिक आनन्द का अनुभव कर चचल हो गया। जर्जर = जीर्ण-शीर्ण। खेद = दु·ख। शिल्पियों = चित्रकारों। प्रदर्शन = दिखावट। प्रोत्साहन = उत्साह। आपत्ति = विपत्ति। अवाक् = आश्चर्य चकित। असमर्थता = लाचारी। निरंतर = लगातार। प्रतिमा = मूर्ति। सम्पन्न = खुशहाल। अलंकार = आभूषण। कलावत = कलाओं का ज्ञाता। अज्ञात लोक की ओर प्रस्थान कर गई = मर गई।

शब्दार्थ (पारा ३९-४०, पृ० २०५-६)—प्रतीक्षा = इतजार। मिथ्यावादिनी = झूठ बोलनेवाली। रिक्त = खाली। शिव = कल्याणप्रद। जीवन में प्रतिष्ठित होती है = जीवन में आती है।

वदलू तो ऐसा रह गया ··· ·वह करुणतम हो उठती है।

[पारा ३९, पृ० ३०५]

व्याख्या—प्रस्तुत सदर्भ महादेवी वर्मा लिखित रेखाचित्र 'बदलू' से उद्धृत किया गया है। इसमें उन्होंने बदलू के चरित्र पर प्रकाश डाला है। लेखिका कहती है कि अब वही बदलू जो एक दिन कुरूप खिलौने बनाता था, सुन्दर मूर्तियों की रचना करने लग गया। दिन-ब-दिन उसकी निर्माण-कला में निखार आने लगी। उसकी बनाई सुन्दर-सुन्दर मूर्तियाँ सम्पन्न घरों में अलंकार बनने लगीं। इसी बीच उसकी पत्नी रंधिया उसे अकेला छोड़कर स्वर्ग चली गई। इससे बदलू के जीवन क्रम में भी परिवर्तन हो गया। वह दिनरात मानो अपनी पत्नी के लौटने की प्रतीक्षा में बैठा रहता—उसकी इस दशा

को देखकर लेखिका कहती है कि बदलू की अवस्था उस चकवा के सदृश्य था जिसकी चकवी उड़ गई है। यों तो किसी की बाट जोहना स्वयं करुण एवं मार्मिक है, पर यदि कोई एक मृत के आगमन की प्रतीक्षा करता है, जो कभी वापस लौटनेवाला नहीं है, तो वह प्रतीक्षा और भी करुण एवं मर्मस्पर्शी बन जाती है। ठीक यही दशा बदलू की थी। वह अपनी पत्नी की प्रतीक्षा में हमेशा बैठा रहता जिसे देखकर दर्शक की आँखें करुणा से भर आती। इससे यह स्पष्ट होता है कि बदलू के हृदय में रधिया के प्रति एक अटूट ममता थी जो उसकी मृत्यु के बाद भी खतम नहीं हो पायी थी, प्रत्युत् उस ममता का सम्बन्ध और भी दृढ़ हो गया था, इसीलिए बदलू की दशा अत्यन्त ही करुणोत्पादक बन गयी थी।

स्त्री मे माँ का रूप ही ··· ···कठिन अवश्य हो जाता है।

[पारा ४०, पृष्ठ २०६]

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियों में नारियों के वास्तविक गुणों पर दृष्टिपात किया गया है। लेखिका का कथन है कि नारी का गुण उसके रूप-सौन्दर्य में समाहित नहीं है, प्रत्युत् नारी में मा का रूप ही सत्य है, वात्सल्य ही शिव (कल्याणप्रद) और ममता ही सुन्दर है—ये ही नारी की विशेषताएँ हैं। जिन नारियों में ये सब विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं, वे यथार्थ में महान् एवं आदर्श की देवी हैं। सच तो यह है कि यदि इन गुणों से समन्वित नारी किसी पुरुष की पत्नी बनती है तो उसकी मृत्यु के पश्चात् पुरुष के जीवन के रिक्त स्थान की पूर्ति संभव नहीं है। रधिया इसी कोटि की नारी थी। उसमें सभी विशेषताएँ थी। रधिया के मृत्यु से बदलू के जीवन में जो स्थान रिक्त हुआ वह कभी भरा नहीं जा सकता। उसके रिक्त हृदय में कोई दूसरी नारी प्रतिष्ठित नहीं हो सकती थी।

शब्दार्थ (पारा ४१-२, पृष्ठ २०६)—छाया में लपेट लिया = लालन-पालन करने लगी। प्रतिरूप = दूसरा रूप। व्यवस्था = प्रबन्ध। व्यतिक्रम= उल्लघन। कदाचित् = शायद। रधिया की खोज में चला गया हो = तात्पर्य

है उसका देहान्त हो गया हो। प्रतिष्ठित = रखी हुई। ग्रामीण = देहाती। कुम्भकार = घड़ा बनानेवाला, कुम्हार। क्रीतदासी = खरीदी हुई दासी।

[ङ] आलोचनात्मक प्रश्नोत्तर

प्रश्न १—महादेवी वर्मा का संक्षिप्त जीवन-परिचय लिखिए।

उत्तर—महादेवी का जीवन-परिचय पढ़ें।

प्रश्न २—महादेवी वर्मा के गद्य-साहित्य पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।

उत्तर—"महादेवी वर्मा का गद्य-साहित्य" शीर्षक अंश को पढ़ें।

प्रश्न ३—महादेवी वर्मा की भाषा शैली पर एक छोटा-सा निबन्ध लिखिए।

उत्तर—'भाषा-शैली' अंश पढ़ें।

प्रश्न ४—'बदलू' रेखाचित्र का सारांश लिखिए।

उत्तर—'बदलू' का सारांश पढ़ें।

प्रश्न ५—'बदलू' शीर्षक रेखाचित्र पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए।

उत्तर—'बदलू' की आलोचना पढ़ें।

प्रश्न ६—पठित रेखाचित्र के आधार पर आप 'रधिया' का चरित्रांकन कीजिये।

उत्तर—रधिया एक ग्रामीण कुम्हार बदलू की पत्नी थी। वह एक पतिव्रता स्त्री थी। वह दरिद्रता की एक साकार प्रतिमा थी। वह कर्मठ नारी थी। अपने घर के बच्चों के लालन-पालन के लिए वह या तो अपने द्वार पर मिट्टी छानती या आसपास के खेतों में काम करती। उसकी बरसती आँखों में करुणा का भाव अन्तर्निहित था। उसकी मुखाकृति उसके हृदय की वेदना प्रकट करती थी और दर्शकों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती थी। उस आकर्षण का जन्म ही रधिया के दुःख-विगलित हृदय से हुआ था। उसका मुख कुछ विशेष चौड़ा था। नाक आँखों के बीच में एक तीखी रेखा खींचती हुई ओठ के ऊपर गोल हो गई थी। गहरे काले घेरे से घिरी हुई आँखें ऐसी लगती थी जैसे

किसी ने उंगली से दबाकर उन्हे काजल में गाड़ दिया हो। ओठों पर पड़ी हुई सिकुड़न ऐसी जान पड़ती थी मानों किसी तिक्त दवा की प्याली के निरंतर स्पर्श-चिन्ह हों। वह जीवनरस मे जितनी परिचित थी, उतनी ही दुःख सह चुकी थी। अतएव उसमे उस शून्यता का अभाव था जिसमें आकर्षण न हो और न उसमें वह हल्कापन ही था जिसमें हृदय-स्पर्श की शक्ति न हो।

रधिया के पास जो आभूषण थे, वे थोड़े और पुराने थे। उसके कड़े काँसे के थे जो घिसकर गोल-से चपटे हो गए थे। उसके हाथों की चूड़ियाँ लाह की होती थी जो मैल से रूपरेखा-हीन हो गई थी। इसके अतिरिक्त अन्य आभूषणों से उसका परिचय नहीं था। रधिया का शरीर कभी गठा हुआ होगा परन्तु, सन्तान की अटूट शृंखला एवं दरिद्रता की घोर छाया के कारण एक कंकाल-मात्र रह गया था और उसका चलना-फिरना भी आश्चर्य का कारण था। इतना होने के बावजूद भी, उसमें उस कर्कश प्रगल्भता का बिल्कुल अभाव था जो इस वर्ग की स्त्रियों में विशेष रूप से पायी जाती है। उसके हृदय में अपने पति के प्रति प्रेम और श्रद्धा के भाव थे। उसका पति अपने बच्चों, अपने घर एवं वर्त्तमान की चिन्ता नहीं करता, परन्तु, रधिया फिर भी अपने इस गोबर-गणेश पति की कभी निन्दा नहीं करती थी। उसका तो वह विश्वास था कि उसका पति कुम्भकार-शिरोमणि है, कलावन्त है; लोग उसकी कला कुशलता से पूर्णतया परिचित नहीं हैं। रधिया प्रतिदिन सवेरे उठ कर मक्का, जुनरी, बाजरा आदि पीसती और रोटी बनाती जो रात में टिमटिमाते दिए की रोशनी में या फुलझरी के समान क्षण भर जलकर बुझ जानेवाली सिरकियों के उजाले में, कुछ उनींदे और कुछ रोते बच्चों मे बँट जाती।

रधिया के पाँच बच्चे जीवित थे, परन्तु उनकी संख्या बताते समय वह मृत तीन बच्चों की चर्चा जरूर किया करती थी और वह इस प्रकार कहती थी कि सुननेवाले उन्हे जीवित ही समझने लगते। यह उसका स्वभाव-सा हो गया था। उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी जिसके कारण उनके बच्चों को भूखे सो जाना पड़ता था और रधिया को तो नींद से अपने एकादशी व्रत का पारायण करना पड़ता था। उसका पति जिस वस्तु का प्रबन्ध नहीं कर

पाता था उसे वह अपने लिए हानिकारक बताती थी। रधिया की एक बच्ची की मृत्यु हो गई थी जिसका संस्कार करने के बाद उसका पति सर्वदा मौन रहता था, परन्तु ऐसी परिस्थिति में भी वह अपने पति को धैर्य देती थी जिसके लिए वह मनगढन्त कथा रच लिया करती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि रधिया एक ऐसी नारी थी जिसपर किसी भी पुरुष को गर्व हो सकता है।

सच तो यह है कि कि स्त्री में माँ का रूप ही सत्य, वात्सल्य ही शिव और ममता ही सुन्दर है जिसे हम रधिया में विद्यमान पाते हैं। रधिया ने अपनी चारित्रिक विशेषताओं के कारण ही बदलू के हृदय में स्थान ग्रहण कर लिया है।

प्रश्न ७—'बदलू' का चरित्र-चित्रण कीजिए।

उत्तर—बदलू एक ग्रामीण कुम्हार था जिसका पैतृक व्यवसाय था—बर्तन बनाना। वह सिर्फ बेडौल घड़े ही नहीं बनाता था प्रत्युत् अष्टावक्र जैसी रूपरेखा वाले अपने बच्चों की भी देखभाल करता था। यदि उसकी एक ओर सदा कच्चे, पक्के, टूटे-फूटे, पूरे बर्तन का ढेर होता तो दूसरी ओर मैले-कुचैले, नगे, दुबले बच्चों का जमघट रहता। बदलू बच्चों के जन्म या मरण से कभी भी हर्ष-विषाद का अनुभव नहीं करता था।

देखने में बदलू कुरूप था। उसके मुख की आकृति साँवली और सौम्य थी, लेकिन उसके पिचके गालों पर नाकों के दोनों ओर उभरी हुई हड्डियाँ थीं जिससे वह कंकाल-सा मालूम होता था। उसका शरीर लम्बा इकहरा था, जो कभी सुडौल एवं गठा हुआ रहा होगा। धूप और पानी के नीचे बैठकर लगातार काम करने के फलस्वरूप वह बूढा मालूम पड़ता था। उसकी आँखें छोटी और उत्साह-हीन थी और स्त्रियों के समान सलज्ज थी। जब कभी वह बोलता था तो उसके होठ काँपने लगते थे। उसके कठ से जो आवाज निकलती थी, वह किसी बाँसुरी में से निकलती हुई शंख की आवाज सी मालूम पड़ती थी। वह स्वभाव से ही मितभाषी था और मामूली-मामूली. बातों से घबरा उठता था। वह बहुत गरीब था। उसके घर की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। पैतृक व्यवसाय से उसकी जीविका नहीं चल पाती थी।

उसके परिवार के सभी सदस्य जीविकोपार्जन में लग जाया करते थे फिर भी दोनों शाम लोगों का भोजन नहीं चलता था। अपनी गरीबी के कारण वह इतना विवश हो गया था कि कभी भोजन नहीं जुटा पाता, वस्त्र का प्रबन्ध नहीं कर सकता और बच्चों के भविष्य या वर्तमान की चिंता नहीं करता। वह अपनी गरीबी को अपने आप में बाँध कर रखना चाहता था क्योंकि दूसरे व्यक्ति को उसकी दरिद्रता की भनक मिल चुकी थी। इस बात की पुष्टि निम्नलिखित सदर्भ से हो जाती है—"चाक के पास निर्विकार-भाव से बैठे हुए बदलू को पुकार कर जब मैंने बनिये के यहाँ से गुड़, सोंठ घी, आदि लाने का आदेश दिया तो वह मानों आकाश से नीचे गिर पड़ा। उसकी दुखिया को माई तो कहती थी कि गुड़ देखकर उबकाई आती है, घी खाने से उसके पेट मे शूल उठता है—इसीसे तो बाजरे की रोटी देकर निश्चिन्त हो जाता है।'

बदलू का हृदय अत्यन्त सरल तथा कोमल है। वह छोटी-छोटी बातों से घबरा जाता है अधीर हो जाता है। वह अपने बच्चों को अत्यन्त प्यार करता है। दवा-दारू के अभाव में उसकी एक बच्ची इस संसार से बिदा हो जाती है जिसके प्रति उसके हृदय में विशेप ममता थी। वह अन्धविश्वासी था। वह अपनी दीनावस्था को सुधारने का कोई प्रयत्न नहीं करता था क्योंकि उसे विश्वास था कि वह एक ग्रामीण कुम्हार है और वह शहराती बर्तन बनाने का सामर्थ्य नहीं रखता है। परन्तु, उसके हृदय में कलाकार के सभी गुण विद्यमान थे। एक दिन लेखिका ने उसे सरस्वती का एक चित्र दिया जिसे देखकर वह बालकों के समान आनन्दातिरेक से अस्थिर हो उठा। उसमें जिज्ञासा के भाव सर्वदा रहते थे। उस सरस्वती के चित्र को देखने से उसके हृदय में एक कलाकार बनने की आकांक्षा जाग उठी। उसने अपनी समस्त शक्ति लगाकर उस चित्रगत सौन्दर्य को मिट्टी में साकार करने का प्रयत्न किया कई बार असफल रहा, लेकिन निरन्तर अभ्यास से उसने सरस्वती की ऐसी प्रतिमा की रचना की जो अत्यन्त ही सुन्दर उतरी। इसके पश्चात् उसने कितनी ही

सुंदर-सुंदर मूर्तियाँ बनाईं और उनमें से कितनी ही सम्पन्न घरों में अलंकार बन कर रहीं।

रधिया की मृत्यु से बदलू का जीवन वीरान हो गया। वह रात-दिन रधिया के लौट आने की प्रतीक्षा करता रहता था क्योंकि उसके हृदय में अपनी पत्नी के प्रति अविचल अनुराग था। उसकी अवस्था उस चकवा के समान थे जिसकी चकवी उड़ गई हो। बदलू की दशा अत्यन्त ही करुणोत्पादक थी। रधिया की मृत्यु के उपरान्त बदलू के जीवन का जो स्थान रिक्त हुआ उसकी पूर्ति कभी नहीं हो सकी। अंत में एक दिन बदलू भी उसकी खोज में वहीं चल पड़ा जहाँ रधिया गई।

नींव की ईंट

(श्री रामवृक्ष बेनीपुरी)

जन्म संवत् १९५८ (जीवित)

[क] लेखक का परिचय

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी हिन्दी साहित्य जगत् के एक जाने-पहचाने और माने हुए साहित्यकार हैं। इनका जन्म बिहार प्रान्त के मुजफ्फरपुर जिले के बेनीपुर नामक ग्राम में सम्भवतः संवत् १९५८ (जनवरी, १९०२ ई०) में हुआ था।

जीवन-परिचय

ये एक साधारण किसान परिवार की संतान हैं। इनके पिता का नाम है श्रीकुलवन्त सिंह और दादा का श्री यदुनन्दन सिंह। बचपन में ही इनके माँ-बाप का स्वर्गवास हो चुका था, अतएव वे 'टुअर' कहलाने लगे थे। यों तो इनका अक्षरारंभ बेनीपुर में हुआ था परन्तु, कुछ ही समय के बाद वे अपने ननिहाल बंशीपचरा चले आए, जहाँ

उन्होंने पढ़ना शुरू किया। परन्तु, इनकी शिक्षा का क्रम अधिक दिनों तक नहीं चल सका क्योंकि सन् १९२० के असहयोग आन्दोलन में इन्हें शिक्षा का परित्याग करना पड़ा। उस समय ये मैट्रिक के विद्यार्थी थे। शिक्षा-क्रम-भंग हो जाने के बाद इन्होंने घर पर अध्ययन करना शुरू किया। अध्ययन का यह क्रम अब तक इनके साथ लगा हुआ है। बचपन से ही इन्हें हिन्दी साहित्य से अनुराग हो गया जिसके कारण ही इन्होंने पन्द्रह वर्ष की अवस्था में हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की विशारद परीक्षा पास की। बचपन में ये कविता लिखते थे, परन्तु बाद मे इन्होंने कविता लिखना छोड़ दिया। इनकी कविताएँ उन दिनों पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती थी। ये प्राचीन काव्य के रसिक व्यक्ति हैं और तुलसीकृत रामायण इनका प्रिय ग्रन्थ है।

सन् १९२१ से इन्होंने विशुद्ध रूप से पत्रकार का जीवन व्यतीत करना आरम्भ किया जिसके फलस्वरूप अनेक पत्र पत्रिकाओं के सम्पादक रहे। आरंभ में इन्होंने सहकारी सम्पादक के रूप में अपना जीवन आरम्भ किया और बाद में ये प्रधान सम्पादक हुए। तरुण भारत, किसान मित्र, गोलमाल, कर्मवीर, योगी, जनता, तूफान, जनवाणी के सहकारी सम्पादक रहे और बालक, युवक, हिमालय, चुन्नू-मुन्नू और नई धारा के प्रधान सम्पादक रहे। सम्प्रति ये 'नईधारा' के प्रधान सम्पादक हैं।

ये एक राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता हैं और राष्ट्र के प्रति इसके हृदय में असीम अनुराग है। देश को आजादी दिलाने में इनका भी बहुत बड़ा हाथ रहा है। इन्होंने अनेक बार जेल की यात्रा की है। इनकी जेल-यात्रा सन् १९३० से आरम्भ होती है जो सन १९४५ तक गतिशील रही। अंग्रेजी सरकार ने इन्हें हजारीबाग जेल में नजरबन्द कर रखा था और सन् १९४५ की जुलाई में इन्हें मुक्ति मिली। जेल में रहकर भी इनकी साहित्य-साधना एवं पत्रकारिता नहीं छूटी। वहाँ भी इन्होंने 'कैदी' नामक हस्तलिखित पत्रिका का सम्पादन किया और कैदियों के बीच साहित्य-प्रेम का बीज बोया जिसके फलस्वरूप अनेक कैदी लेखक भी बने।

संस्थाओं के सचालन में भी इनका बहुत बड़ा हाथ रहा है। ये सन् १६१६ से सस्थाओं से सबधित हैं। इनके जीवन के साथ दो प्रकार की संस्थाएँ संबंधित हैं—साहित्यिक एव राजनैतिक। सन् १६२० से लेकर सन् १६४६ तक ये काँग्रेस से संबधित रहे, परन्तु सैद्धान्तिक वैषम्य के कारण ये समाजवादी बन गए और अब तक हैं। सन् १६२६ में ये अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्रचार मंत्री भी चुने गये थे। आजकल ये पटने में रहते हैं और अपने साहित्य का प्रकाशन कर रहे हैं।

श्री रामवृक्ष बेनीपुरी एक सजग कलाकार हैं और इनकी प्रतिभा की किरणें साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में फैली हैं। ये एक शब्द में एक सफल पत्रकार, कथाकार, नाटककार, उपन्यासकार, शब्द-चित्रकार एव टीकाकार हैं। वे बालसाहित्य के निर्माताओं में अपना अन्यतम स्थान रखते हैं और साहित्य भी इन्हे कभी नहीं भुला सकता है। अब तक इन्होंने करीब-करीब छ दर्जन पुस्तको का प्रणयन किया है और इनकी कुछ रचनाएँ इस प्रकार हैं—

रचनाएँ

शब्दचित्र, कहानियाँ और उपन्यास—माटी की मूरतें, पतितों के देश में, लाल तारा, चिता के फूल, कैदी की पत्नी, गेहूँ और गुलाब।

नाटक-एकांकी और रूपक—विजेता, अंबपाली, सीता की माँ, अमर-ज्योति, तथागत, सिहल विजय, नेत्रदान, शकुन्तला, रामराज्य, गाँव के देवता और नया समाज।

संस्मरण, निबन्ध और भाषण—जंजीरें और दीवारें, मुझे याद है, मेरी डायरी, नई नारी. सुनिये, मशाल, वेन्दवाणी विनायकी, कुछ मैं कुछ वे।

राजनीति—कार्लमार्क्स, लाल चीन, रूस की क्रान्ति, रोजीलुक्जेम्बुर्ग जयप्रकाश, जयप्रकाश की विचारधारा।

यात्रा-भ्रमण—पैरों में पंख बाँधकर, उड़ते चलो, मेरे तीर्थ, पेरिस नहीं भूलती।

बाल-साहित्य—प्रकृति पर विजय, झोपड़ी से महल, बगुला भगत, बिलाई मौसी, अनोखा ससार, सतरगा धनुष, हीरामन तोता, सियार पाड़े, अमृत की

वर्षा, बेटे हों तो ऐसे, बेटियाँ हों तो ऐसी, इनके चरण चिन्हों पर, जीव जन्तु, बच्चों के बापू आदि।

साहित्य-टीकाएँ—बिहारी सतसई, विद्यापति की पदावली, रवीन्द्र-भारती, इकबाल, ट्रुलिप्स, जोश।

अब तक इन्होंने जो कुछ लिखा है, वह दस खण्डों में प्रकाशित होने जा रहा है और उसके प्रकाशक हैं स्वयं बेनीपुरीजी। इस ग्रंथावली के दो खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं।

बेनीपुरीजी की साहित्य-साधना

बेनीपुरीजी हिन्दी साहित्य-संसार में विशेषतया एक शब्द-चित्रकार एव बाल-साहित्यकार के रूप में प्रसिद्ध हैं, परन्तु इनकी कला साहित्य के प्रत्येक अंग को पुष्ट करने में समर्थ हैं। इनकी बहुमुखी प्रतिभा को देखकर हमें आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है और कह उठते हैं कि बेनीपुरी क्या नहीं हैं? इनकी इसी विलक्षण प्रतिभा को देखकर एक आलोचक प्रवर ने लिखा है कि "प्रत्येक कलाकार कुछ-कुछ कहानीकार हैं, कुछ-कुछ नाटककार हैं, कुछ-कुछ कवि, कुछ-कुछ चित्रकार और कुछ-कुछ संगीतकार भी है। किन्तु, कुल मिलाकर कोई सिर्फ कवि रह जाता है कोई आलोचक, कोई कहानीकार, कोई सिर्फ नाटककार और कोई सिर्फ चित्रकार, ऐसे विरले ही होते हैं जिनमें एक से अधिक प्रतिभाएँ समान ऊँचाई में उठती हो। प्रसादजी में गल्पकार, नाटककार और कवि का संयोग था, निराला में कवि, निबन्धकार और कहानीकार की त्रिवेणी है, दिनकर के कवि-हृदय में आलोचक की आत्मा भी सिमटी हुई है, इसी तरह बेनीपुरी बचपन का कवि था, युवावस्था में निबन्धकार बना और आज आधी शताब्दी का प्रौढ़ बनकर हमारे सामने नाटककार और गल्पकार के रूप में प्रगट हुआ है।" अतएव हम देखते हैं कि यह कथन बेनीपुरी के साथ उपयुक्त बैठती है। इनका दायरा बहुत ही विस्तृत है और राजनीतिक साहित्य-स्रष्टाओं मे एक हैं। इन्होंने अपने जीवन में साहित्य और राजनीति के क्षेत्रों को समन्वित करने की कोशिश की है। ये साम्राज्यवादी सत्ता के प्रबल विरोधी हैं और गरीबों के हमदर्द, यही कारण है कि इनके साहित्य में, इनकी रचनाओं

मे एक तीखा-सा दर्द है। ये जन-जीवन से सम्बंधित रहे हैं, यही कारण है कि इनकी कृतियों में जन-जीवन की भावनाओं और संवेदनाओं की झलक मिलती है। "राजनीति ने इन्हे जीवन की यथार्थता के सम्मुख ला खड़ा किया और इनकी संवेदनशील प्रवृत्ति ने उसमें से अपनी साहित्यिक सामग्री ढूँढ़ ली। 'बेनीपुरी की रचनाओं पर विचार करते समय उनके व्यक्तित्व-निर्माण की ये बातें याद रखनी चाहिए। इनकी सभी रचनाओं की—कम-से-कम उपन्यास और कहानियों की—प्रमुख ध्वनि है—दलित लोगों के प्रति ममता और जनसाधारण का गौरवमय जीवन। अगर एक वाक्य में बेनीपुरी की सामान्य विशेषता पर कुछ कहना हो, तो हम यही कहेंगे कि भावनाओं की सतह को छूना बेनीपुरी को र नाओं का काम है और स्पर्श भर करने के काम के लिए जैसी शैली चाहिए थी, वह भी उनमें मौजूद है।"

(हिन्दी के कहानीकार)

बेनीपुरी ने अब तक इतना लिखा है जितना विरला व्यक्ति ही लिख सकता है। उनकी अब तक की प्रकाशित रचनाओं में सबसे अधिक सफल एवं सरल है—'माटी की मूरतें'। बेनीपुरी के शब्दों में—'ये मूरतें न तो किसी आसमानी देवी की होती है, न अवतारी देवता की। गाँव के ही किसी साधारण व्यक्ति—मिट्टी के पुतले ने ही किसी असाधारण अलौकिक कर्म के कारण एक दिन देवत्व प्राप्त कर लिया, देवता में गिना जाने लगा और गाँव के व्यक्ति-व्यक्ति के सुख-दुःख का स्रष्टा-द्रष्टा बन गया।' इस कथन की सत्यता का आभास हमें तब मिलता है जब हम एक साँस में पूरी पुस्तक पढ जाते हैं। इसमें ग्रामीण जीवन की झाँकी पायी जाती है। ग्रामीणों की बुरी दशा है—यही है इनका नारा। वहाँ 'लूट-खसोट मची रहती' है, तनाव, ईर्ष्या, स्वार्थपरता का बोलबाला है।' इसी दुनियाँ से इन्होंने अपने कुछेक ऐसे पात्रों को चुना है जो अपने कार्यों के कारण पाठकों के प्रिय पात्र हैं। माटी क मूरतें के सभी स्केच अत्यन्त सजीव हैं और यही है इनका कला विधान। स्केच लिखना एक कठिन कला है। और सभी लेखक इसके लिखने में सफल नहीं हो सके हैं। परन्तु, स्केच लिखने में बेनीपुरी बाजी मार कर ले गये हैं।

बेनीपुरी एक निबन्धकार भी हैं। प्रकार की दृष्टि से इनके अधिकतर निबन्ध भावात्मक, वर्णनात्मक और विवरणात्मक हैं, विचारात्मक और आत्मपरक बहुत कम। इनके भावात्मक निबन्धों में धरती की बातों के साथ-साथ युग की नवीनता भी है। 'गेहूँ और गुलाब' नामक कृति निबन्धों का एक संग्रह है। इस संग्रह के कुछ महत्वपूर्ण निबन्ध हैं—चरवाहा, नथुनियाँ, नींव की ईंट, पुरुष और परमेश्वर, डोमखाना और पनिहारिन एव ये सभी निबन्ध इनकी प्रगतिशीलता के द्योतक हैं। इस सग्रह के निबन्धों मे स्केच कला कम है और निबन्धात्मकता अधिक। ये मार्क्सवादी सिद्धान्तों से सम्बन्धित प्रगतिवादी नहीं हैं, लेकिन प्रगतिवाद से प्रभावित हैं और उसके समर्थक भी। इनके निबन्धों में उनका व्यक्तित्व बोलता है। 'गेहूँ और गुलाब' में लेखक ने कलाकारों को यह निर्देश किया है कि 'अब मानव-मानव की उपासना करे, मानव की वंदना करे। भगवान की स्तुतियाँ बहुत हुईं, हमारी कविता और गीत अब मानव की अलिखित यशोगाथा को छन्दोबद्ध करे। मानव की ही खोज में, मानव की साधना दौड़े—उच्छ्वासित, चंचल, क्रियाशील मानव-मस्तिष्क अपने लिए अपने को पुष्पित और फलित करे।' (गेहूँ और गुलाब, पृष्ठ ४३) पुनः ये कहते हैं—'मानव को स्वावलम्बी बनना होगा, तभी उसकी मुक्ति होगी, परमात्मा की ओर हमने बहुत देखा, अब अपने पुरुषार्थ की ओर देखे।' (वही, पृष्ठ ४५)

जब कभी भी बेनीपुरी 'गेहूँ और गुलाब' की चर्चा करते हैं तो इनकी वाणी, इनका स्वर और इनकी उक्ति बदली रहती है। ये गेहूँ (भूख, रोटी, सासारिक अभाव) की अपेक्षा गुलाब (संस्कृति, कला, साहित्य और जीवन से परे) को महत्व देते हैं। अपने इस विचार को 'सतर्क भावात्मकता के साथ' प्रस्तुत करते हैं, यथा—

'रात का कालाधुंध पर्दा दूर हुआ, तब वह उच्छ्वासित हुआ, सिर्फ इसलिए नहीं कि अब पेट-पूजा की समिधा जुटाने मे उसे सहूलियत मिलेगी ; बल्कि वह आनन्द विभोर हुआ उषा की लालिमा से, पृथ्वी पर चम-चम करते लक्ष-लक्ष ओसकणों से। आसमान मे जब बादल

उमड़े, तब उनमें अपनी कृपि का आरोप करके ही वह प्रसन्न नहीं हुआ; उनके सौन्दर्य-बोध ने उसके मनमोर को नाच उठने के लिए लाचार किया; इन्द्रधनुष को भी इन्द्रधनुषी रंगों में रंग दिया।'

'मानव-शरीर में पेट का स्थान नीचे है; हृदय का ऊपर और मस्तिष्क का सबसे ऊपर! पशुओं की तरह उसका पेट और मानस समानान्तर रेखा में नहीं है। जिस दिन वह सीधे तन कर खड़ा हुआ; मानस ने उसके पेट पर विजय की घोषणा की।'

'गेहूँ की आवश्यकता उसे है; किन्तु उसकी चेष्टा रही ह गेहूँ पर विजय प्राप्त करने की। उपवास, व्रत, तपस्या आदि उसी चेष्टा के भिन्न-भिन्न रूप हैं।' (वही पृष्ठ ६)

अतएव (श्री 'नलिन' के शब्दों में) स्पष्ट है, बेनीपुरीजी गेहूँ से पहले गुलाब की आवश्यकता मानव के लिए मानते हैं। 'ऊषा की लालिमा' और 'लक्ष-लक्ष ओसकणों' से मानव 'आनन्दविभोर' होता है, 'इन्द्रधनुष उसके हृदय को भी इन्द्रधनुषी रगों में रंग देता है' इसमें सदेह नहीं, पर गेहूँ के अभाव में तारे गिनते और बेचैनी की करवटें बदलते जिसकी रात कटी है, वह भी क्या सचमुच 'ऊषा की लालिमा' और 'लक्ष-लक्ष ओसकणों' से 'आनन्दविभोर' होगा। इन्द्रधनुष क्या उसके हृदय को भी 'इन्द्रधनुषी' रंगों में रंग देगा? जिसकी पुतलियों में हजारों लबे-लबे दिन बिना गेहूँ के रंगते हुए पुतलियों की लौ को मसलते चले जाते हैं, उसके लिए ऊषा में न लालिमा मिलेगी, न इन्द्रधनुष में रंगीनी। 'मानव शरीर में पेट का स्थान नीचे है हृदय का ऊपर और मस्तिस्क का सबसे ऊपर' इसमें संदेह नहीं, पर 'नींव की ईंट' का महत्व अधिक या दीवारों का? मस्तिष्क और हृदय का स्थान ऊपर होते हुए भी 'पेट के परिश्रम' पर ही उनका जीवन निर्भर है। और गेहूँ के खेतों की जो प्राणवान संस्कृति है,—गुलाब के बाग की नहीं, वह तो प्राणहीन विलासिता है—पलायनवाद। इसके सिवा, मस्तिष्क का स्थान ऊपर है, तो इसलिए कि वह युग की माग को समझे। विश्वास और विचार का भेद होते भी जहाँ तक निबन्ध के स्वरूप और कला का प्रश्न है, बेनीपुरी की रचनाएँ

हिन्दी के उत्कृष्ट भावात्मक निवन्धों में गिनी जायँगी। एक भावुक हृदय का आवेग इनमें है, भावोच्छ्वास के रसीले स्वर इनमें बजते हैं, स्पष्ट स्वस्थ व्यक्तित्व इनमें मूर्तिमान है।' ये हैं वेनीपुरी के निवन्धों की विशेषता।

बेनीपुरी जी की भाषा-शैली में उनका एक अपना स्वर है, जो यह पुकार-पुकार कर बतलाता है कि यह बेनीपुरी की है। इस संबंध में दिनकरजी ने लिखा है कि 'भाव और विचार जब बेनीपुरी की टकसाल होकर गुजरते हैं, तब

बेनीपुरी की भाषा-शैली

वे ऐसे ही सजीव हो उठते हैं। यह साहित्य की संगतराशी है, यह शब्दों के मुँह में जुबान धर देता है। जहाँ सपने सजीव होकर घूमते और विचार तीरों के समान वार करते हैं, जहाँ फूलों की ताजगी और शबनम का खुशनुमापन पहले से भी बढ़ जाता है और जहाँ प्रकृति के बिम्ब सजीवता में असल से भी होड़ लेते हैं, वहीं वेनीपुरी की कलम से विस्तृत भाषा की करामात देखने को मिलती है।" सच तो यह है कि उनके निवन्धों में भाषा का अत्यन्त चलता, व्यवहारिक, सार्थक और सहज रूप मिलता है। भाव, वातावरण, समय और संयोग के अनुरूप इनकी भाषा रूप-संघटन करती है। इनके निवन्धों में परभाषा के वाक्य भी कहीं-कहीं फिट पाये जाते हैं जैसे—'लागत कलेजे में चोट', 'शौके दीदार अगर है तो नजर पैदा कर' आदि। इनकी शैली को प्राणवान एवं सजीव बनाने वाले है साधन हैं—क्रियाओं का अभाव और संक्षिप्त वाक्यावलि। एक अवतरण लीजिए जिसमें शैली की चपलता एव चित्रात्मकता सजग है—"चपला की चमक, बादलों के ऊपर अष्टमी का चन्द्रमा, शरद की पूर्णिमा, अमा निशीथ, सरसों के समुद्र में ···" चित्रात्मकता का एक दृष्टान्त और लीजिए—

"क्या बूढ़े हिमालय का ही आज युगों के बाद कुछ रास-रग का शौक चर्राया है और उसने ही अपने स्वर्ण-मृगों को इन बादलों के वन में कुलाचें लेने को छोड़ दिया है? वह उनकी पूँछें चमकी, उनके पैर चमके, उनके सींग चमके, उनके नथुने चमके। बादलों के वन में इन स्वर्ण-मृगों की कुलाचों के कारण ही तो ये शब्द हो रहे हैं।

कभी अकेली मृगी दौड़ी—मधुर-मधुर शब्द हुआ। कभी पूरा मृग-झुण्ड दौड़ा—अजीब गड़गड़ाहट हुई।' [वही, पृ० ४६]

• भावात्मकता की रसवर्षा करने वाले एक सदर्भ में लीजिये —

"सामने जहाँ तक नजर जाती है, समुद्र ही समुद्र है। उसमें ज्वार आया है। बड़ी-बड़ी तरंगे उठतीं, एक दूसरे से टकराती, फेन उड़ातीं, गर्जन करती, आगे बढ़तीं और बाध पर सर पटककर फिर लौट जातीं। ऊपर जो पूर्ण चद्र आधी रात तय करके सर पर खड़ा मुस्कुरा रहा है, उसकी मुस्कुराहट उन तरंगों पर अठखेलियां कर रही हैं। कभी-कभी मालूम होता है, किसी अदृश छोर को पकड़ कर श-तसहस्त्र ज्योत्स्ना-कुमारियाँ चद्रमंडल से एक-एक कर उतर रही है और आकुल-व्याकुल समुद्र की इन तरंगमालाओं के कंपित अधरों को चूम-चूम कर अट्टहास कर उठती हैं। इन चुम्बनों की मादकता से मतवाली बन तरंगे आप अपने मे नहीं समातीं, समुद्र को नीचे छोड़कर ऊपर उड़ना चाहती है; किन्तु उड़ नहीं पाती, फलतः बार-बार मूर्च्छित होकर हाहा खाकर गिर-गिर पड़तीं और फिर ज्योंही होश मे आतीं, वे ही निष्फल चेष्टाएँ। स्वभावतः ही ज्योतना कुमारियों को इसमें मजा मिल रहा है, वे भी इसी तड़पन का तमाशा देखने को बार-बार चुम्बना की वर्षा भी किये जा रही है।" [वही, पृ० ६५]

इस प्रकार हम देखते हैं कि बेनीपुरी के निबंधों में प्रधानतया दो शैलियाँ मिलती हैं—प्रसाद और आवेग। प्रसादात्मक शैली से पूर्ण निवन्धों की संख्या ज्यादा है और आवेग शैली इनके निवन्धों में सहायकरूप में आती है—कुछ निवन्धों में प्रधान रूप में भी। यह बिल्कुल सच है कि इनकी शैली रोचक होते हुए भी गहरी अनुभूति सामर्थ्य वालों के लिए उपयुक्त नहीं फिर भी वह अपना अमिट प्रभाव कभी भी नहीं छोड़ सकती है। यही कारण है कि डा० मैथिलीशरण गुप्त उक्ति की 'यह लेखनी है या जादू की छड़ी है, आपके हाथ में' अक्षरतः सत्य है।

[ख] 'नींव की ईंट' का सारांश

स्वतन्त्रता-प्राप्त करने के पश्चात् राष्ट्र के समक्ष नव-निर्माण की समस्या आ उपस्थित हुई है परन्तु देश के कार्य-कर्त्ताओं में सेवा-भाव का अभाव है। इस बात को लेखक ने एक रूपक के सहारे पुष्ट किया है।

संसार के किसी भी सुन्दर एवं सुडौल इमारत का मूल है उसकी नींव। लोग उसकी बाह्य सुन्दरता की प्रशंसा करते हैं परन्तु, उसकी नींव में जो ठोस ईंट है उसकी ओर कतई ध्यान नहीं देते हैं। सत्य हमेशा कठोर और भद्दा होता है, इसलिए लोग उससे दूर भागते हैं। नहीं तो, लोग इस इमारत की प्रशंसा नहीं बल्कि उसकी नींव की सराहना करते। वस्तुतः ईंट धन्यवाद के पात्र हैं क्योंकि उन्हीं के द्वारा कंगूरे की सृष्टि होती है और उसके सौंदर्य में वृद्धि होती है। परन्तु, यथार्थता कुछ और है। धन्यवाद तो नींव की ईंट को मिलना चाहिए जो पृथ्वी के नीचे जाकर पड़ी रहती है। उसी नींव की ईंट पर मकान की मजबूती निर्भर करती है। जितनी अधिक मजबूत नींव होगी, उतनी ही अधिक मजबूत इमारत होगी। नींव की ईंट न रहे तो इमारत का नाम-निशान भी मिट जाय। नींव की ईंट के हिलने से इमारत चकनाचूर हो जाता। नींव की ईंट अपने आपको उत्सर्ग कर इमारत को खड़ा कर देती है। सुन्दर इमारत बने, इसके लिए कुछ पक्की ईंटों को चुपचाप जमीन के अंदर खप जाना पड़ता है। जिस प्रकार मजबूत इमारत के लिए कुछ पक्की ईंट अपनी जान देकर जमीन के अंदर गड़ जाते हैं उसी प्रकार, देश की उन्नति एवं समृद्धि के इमारत के लिए देश के नवयुवकों को नींव की ईंट बनना पड़ता है, अर्थात् देश को हर तरह से सुखी और सम्पन्न बनाने के लिए अपना बलिदान करना पड़ता है।

लोगों का कथन है कि ईसा की कुर्बानी से ही ईसाई धर्म अमर बना परन्तु, निबन्धकार का कथन है कि यह धारणा बिल्कुल गलत है। ईसाई धर्म को अमरत्व दिलाने का श्रेय उन धर्म प्रचारकों का है जिन्होंने उसके प्रचार के लिए अपने आपको अर्पित कर दिया, अपने को फाँसी के तख्ते पर झुला दिया। आज उन्हीं के पुण्य-प्रताप से ईसाई धर्म फल फूल रहा है। फिर भी

रहा है। फिर भी उनकी चर्चा कहीं भी नहीं होती हैं, कोई उनका नाम नहीं लेता है। वे ही गिरिजा घर की नींव की ईंट थे जिनकी शहादत से गिरिजाघर का कलश चमक रहा है।

हजारों के बलिदानों के पश्चात् देश स्वतंत्र हुआ है। अब उसके समक्ष राष्ट्र-निर्माण की समस्या आ खड़ी हुई है। अब लोग नव-समाज के निर्माण करने के लिए प्रयत्नशील हैं। इसके लिए ऐसे नौजवानों की आवश्यकता है जो निस्वार्थ भाव से प्रेरित होकर अपने को उत्सर्ग करदें। देश को ऐसे नवयुवकों की जरूरत है जो नींव की ईंट बनने की आकांक्षा रखते हैं, न कि कंगूरे या कलश कहलाने की कामना रखते हों। जो लोग भी आज इस पुनीत कार्य में अपने आपको लगाए हुए हैं वे कलश या कंगूरे कहलाने के लिए आपस में छीना झपटी कर रहे हैं। हमें तो ऐसे नौजवानों की जरूरत है जो नवप्रेरणा से अनुप्राणित हों, एक नई चेतना से अभिभूत हों, जो दलबन्दियों से अलग हों और चुनावों से दूर हों और अपने आप को उत्सर्ग कर सकें। आज समाज ऐसे नौजवानो को ही खोज रहा है। राष्ट्र को ऐसे युवकों की जरूरत है जो स्वय को नींव की ईंट की तरह खपा डालें।

[ग] 'नींव की ईंट' की आलोचना

प्रस्तुत निबन्ध श्री रामवृक्ष बेनीपुरी लिखित 'गेहूँ और गुलाब' नामक पुस्तक से लिया गया है। इसमें उनके सभी कोटि के निबन्धों का संग्रह हुआ है। यह उनके प्रसिद्ध एवं उत्कृष्ट निबन्धों में एक है। इसमें उन्होंने एक सुन्दर एवं उपयुक्त रूपक के सहारे यह बतलाने की चेष्टा की है कि स्वतंत्रता की प्राप्ति के पश्चात् हमारे समक्ष नवराष्ट्र-निर्माण की समस्या आ खडी हुई है परन्तु, देश के कर्णधारों में निस्वार्थ सेवा भाव का नितान्त अभाव है। अतएव उसने बतलाया है कि राष्ट्र निर्माण कार्य के सफल सम्पादन के लिए मनुष्य में आत्मोत्सर्ग की की भावना का होना बहुत जरूरी है। अपने इस कथन की पुष्टि के लिए निबन्धकार ने नींव की ईंट का उदाहरण प्रस्तुत किया है और बतलाया है कि इमारत की मजबूती उसकी नींव पर निर्भर करती है। नींव की जो ईंट होती

है वह काफी पक्की होती है, वह इमारत के कलश में लगी ईंटों की तरह सुन्दर नहीं होती है बल्कि ठोस होती है। ठोस सत्य होता है और सत्य हर समय मंगलकारी होता है, परन्तु यह हर समय सुन्दर भी हो यह कोई जरूरी नहीं। इमारत की नींव की ईंट सब ईंटों से अधिक पक्की और लाल होती है, अतः सबसे अधिक कष्ट सहन करती है। इतना कष्ट सहन करने के बावजूद भी वह जमीन के नीचे अन्धकूप में चली जाती है जिससे उसके साथियों को स्वच्छ हवा मिले, सुनहला प्रकाश मिले और संसार में एक विशाल इमारत थी सृष्टि हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि उसका उत्सर्ग अत्यन्त महान है।

देश स्वतत्र हो गया है। उसके सामने राष्ट्रनिर्माण की समस्या उपस्थित है। समाज, ग्राम, शहर तथा कल कारखानों के निर्माण के लिए ऐसे नवयुवकों की आवश्यकता है जो नींव की ईट के समान निस्वार्थ भाव से लोक-कल्याण कार्य में लग जाएँ परन्तु, हम ऐसी बातें नहीं देखते हैं। आजकल के कार्यकर्त्ताओं में लोक-कल्याण की भावना का नितान्त अभाव है। वे सिर्फ प्रसिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं, नाम लूटना चाहते हैं। स्व० पद्मसिंह शर्मा ने अपने एक प्रसिद्ध निवन्ध 'भगवान श्रीकृष्ण' में ठीक ही कहा है कि—

लीडरों की धूम है, पर फौलोअर कोई नहीं,
सब तो यहाँ जनरल बने आखिर सिपाही कौन है।

इस प्रकार विद्वान लेखक ने यह बतलाया है कि देश को ऐसे नवयुवकों की आवश्यका है जो नई प्रेरणा से अनुप्राणित हों, एक नई चेतना से अभिभूत, चुनावों से दूर एवं दलबन्दियों से अलग हों। यह लेखक का एकमात्र संदेश है।

यह एक विचारात्मक निवन्ध है। इसमें जो भी विचार उपस्थित किये गए हैं वे उत्तेजक हैं। विषय तो गभीर अवश्य है परन्तु, इसका प्रतिपादन इस ढंग से हो पाया है कि निवन्ध रोचक बन गया है।

निबन्ध की भाषा तत्सम् प्रधान है, परन्तु उर्दू के शब्दों का भी काफी प्रयोग हुआ है। भाषा सर्वत्र चलती हुई है और सजीव भी। इस निवन्ध की भाषा भावों के अनुरूप है। इसके कुछ मुहावरे विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं—

"कंगूरे की शोभा चौगुनी कर देती', 'अपना अस्तित्व विलीन कर दिया', 'मौन मूक शहादत का लाल सेहरा पहनाता है', 'शूली पर चढ़ाये गए' आदि। इसमें उर्दू के ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं—इमारत, शहादत, शहीद, मज़बूती, पायदारी, मुनहसर आदि।

शुरू से अन्त तक निबन्ध की भाषा भाव के अनुरूप है, एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"आज हमारा देश आजाद हुआ सिर्फ उनके बलिदानों के कारण नहीं, जिन्होंने इतिहास में स्थान पा लिया है। देश का शायद ही ऐसा कोना हो, जहाँ कुछ ऐसे दधीचि नहीं पाये गए हों, जिनकी हड्डियों के दान ने ही विदेशी वृत्रासुर का नाश किया। हम जिसे देख नहीं सके, वह सत्य नहीं है, यह है मूढ़ धारणा। ढूंढ़ने से ही सत्य मिलता है। हमारा काम है, धर्म है ऐसी नींव की ईंटों की ओर ध्यान देना।"

सक्षेप में हम कहते हैं कि यह एक उत्कृष्ट निबन्ध है।

[घ] शब्दार्थ, व्याख्या और आशय

शब्दार्थ (पृ० २०७)—चमकीली = चमकनेवाली। सुघर = सुडौल। इमारत = भवन। टिकी है = अवलम्बित है। कंगूरों = शिखरों, चोटियों। नींव = जड़। चकमक = चमकीलापन, एक प्रकार का पत्थर जिस पर चोट पड़ने से आग निकलती है। आवरण = परदा। ठोस = खूब मजबूत (Solid)। शिवम् = मंगलकारी, कल्याणप्रद। धन्य हैं = धन्यवाद के पात्र हैं। कट-छँटकर = सजाकर। बरबस = अनायास, एकाएक। लोक-लोचनों = संसार की आँखों। आकृष्ट करती है = खींच लेती है। पुख्तेपन = मजबूती। आस्ति-नास्ति = रहना-न-रहना। बेतहाश = तुरत, शीघ्र।

दुनिया चकमक देखती है.....लोगों का ध्यान जाता है। (पृ० २०७)

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियाँ बेनीपुरी लिखित 'नींव की ईंट' शीर्षक निबन्ध से ली गई है। इसमें एक भव्य इमारत का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए निबन्ध-कार ने एक कठोर सत्य की ओर संकेत किया है कि संसार सिर्फ बाह्य सुंदरता की ओर देखता है और उस पर मुग्ध हो जाता है, परन्तु उस सौन्दर्य के नीचे

जो ठोस सत्य और शिव है, वह संसार की दृष्टि से ओझल है, वह संसार के ध्यान से बाहर है। प्रत्येक भव्य एवं सुडाल इमारत की सुन्दरता, सुडौलता नींव की ईंट पर अवलम्बित है, परन्तु दुनिया उसके नींव की ईंट पर ध्यान न देकर उसकी सुंदरता को देखती है, क्योंकि उसके अनुपम सौन्दर्य से उनकी आँखें चकाचौंध हो उठती हैं। ठीक इस तरह का सत्य हम इस संसार में विद्यमान पाते हैं। इस संसार में लोगों की दृष्टि किसी वस्तु की वाह्य सुंदरता पर जाकर टिक जाती है। वे इस वात पर कभी भी विचार नहीं करते हैं कि उस अनुपम सुन्दरता के जड़ में कौन-सा सत्य अन्तर्निहित है, उसकी नींव में कौन-सी वस्तु पड़ी है। वे लोग इस सत्य (Truth) से विल्कुल अनभिज्ञ हैं कि इस वाह्य सौन्दर्य के मूल में पड़ी हुई वस्तु पर एक कृत्रिम आवरण (Artificial curtain) है जो विल्कुल असत्य है। नींव में जो वस्तु होती है वह स्वाभाविक, सत्य एवं कल्याणकर है। नींव की ईंट को ही लीजिए, वह जग-कल्याण के लिए अपने निजी अस्तित्व को खो देती है। अतएव यह स्पष्ट है कि सत्य हमेशा कठोर एव मगलमय होता है, उसका सुंदर होना कोई जरूरी नहीं है।

ठोस 'सत्य' सदा शिवम् · यह आवश्यक नहीं। (पृ० २०७)

व्याख्या—प्रस्तुत अवतरण में श्री रामवृक्ष वेनीपुरी ने वतलाया है कि सत्य हर समय मगलकारी होता है, परन्तु यह हर समय सुदर भी हो, यह कोई जरूरी नहीं। सच्ची वातों से भलाई तो होती है, परन्तु वह सुनने में अच्छी नहीं लगती। इसी प्रकार ठोस आधार वनी हुई वस्तु मंगलकारी तो होती है, पर सुदर नहीं होती। सत्य के साथ शिवम् होता है, पर सुन्दरम् नहीं। सत्य कठोर और भद्दा होता है।

हम कठोरता से भागते · ·· गीत स प्रारंभ करते। (पृ० २०७)

व्याख्या—इस संदर्भ में निवन्धकार ने वतलाया है कि आज का संसार किस प्रकार असत्य के फेरे में पड़कर चक्कर काटा करता है। ससार सिर्फ किसी वस्तु की वाह्य सुन्दरता पर लट्टू है, परन्तु उस सुन्दरता के नीचे जो ठोस सत्य है और शिवम् भी, वह संसार की दृष्टि से ओझल है। ससार किसी वस्तु

की कठोरता एवं भद्देपन को नहीं देखना चाहता है, क्योंकि वह तो उसकी वाह्य सुंदरता पर ही आकृष्ट है। इस तरह हम देखते हैं कि वह सत्य को छोड असत्य के चक्कर में, वास्तविकता को छोड़ अकृत्रिमता के चक्कर में भटकता फिरता है। यही कारण है कि लोग इमारत के कंगूरों की सुन्दरता की प्रशंसा जी खोलकर करते हैं, परन्तु उस नींव की ईंट का, जिस पर पूरी इमारत खड़ी है, नाम भी नहीं लेते हैं।

शब्दार्थ (पृष्ठ २०८)—सौगुनी कर देती = वृद्धि कर देती, बढ़ा देती। पायदारी = मजबूती। मुनहसर = निर्भर। अर्पित किया = लगा दिया, दे दिया अंधकूप = कुँए के समान अंधकारपूर्ण स्थान। कबूल किया = स्वीकार किया। सुनहली रोशनी = सूर्य की स्वर्णिम किरण। अस्तित्व = हस्ती। विलीन = नष्ट। सृष्टि = रचना। तपे-तपाये = खूब मजबूत, जिसपर दुखों का असर न पडे। मौन-मूक = विना बोले, चुपचाप। शहादत = शहीद होना, देश की भलाई के लिए जान देना। सेहरा = मौर, मुकुट। शहादत का लाल सेहरा पहनना है = मरने के लिए तैयार कराना है। शुहरत = प्रसिद्धि। आधार शिला = नींव का पत्थर। ईसा की सहादत = ईसा मसीह का शहीद होना। अनाम = विना नाम के, विना यश के। उत्सर्ग कर = निछावर कर दिया। शूली पर चढ़ाये गये = फांसी के तख्ते पर चढ़ा दिए गए।

सुन्दर सृष्टि ! सुन्दर सृष्टि .... 'लाल सेहरा पहनना है।

(पृष्ठ २०८)

व्याख्या—प्रस्तुत संदर्भ में बेनीपुरी जी ने बतलाया है कि कोई भी सुंदर चीज बनाने के पहले बलिदान करना पड़ता है। इस बात को उन्होंने एक रूपक के माध्यम से पुष्ट करने का प्रयत्न किया है। उनका कथन है कि इमारत की मजबूती नींव की ईंट पर ही अवलम्बित है। जितनी अधिक मजबूती नींव की होगी, उतनी ही अधिक मजबूत इमारत होगी। नींव की ईंट न रहे तो इमारत का नामों-निशान भी मिट जाय। सुंदर इमारत की नींव की ईंट सभी ईंटों से अधिक पक्की और लाल होती है, इसलिए उसे सबसे अधिक कष्ट उठाना पड़ता है। इसके अतिरिक्त उसे चुपचाप जमीन के अंदर खप जाना

पड़ता है। जिस प्रकार मजबूत इमारत के लिए कुछ पक्की ईंट अपनी जान देकर पृथ्वी के अन्दर गड़ जाते हैं उसी प्रकार देश की समृद्धि और उन्नति की इमारत के लिए देश के नवयुवकों को नींव की ईंट बनना पड़ता है अर्थात् देश को हर तरह से सुखी और सम्पन्न बनाने के लिए अपना बलिदान करना पड़ता है। देश के लिए उनका जितना ही बड़ा बलिदान होगा, देश उतना ही समृद्धि-शाली और उन्नतिशील होगा। तात्पर्य यह है कि राष्ट्रनिर्माण के लिए आत्मोत्सर्ग करने वाले लोगों की आवश्यकता है।

शहादत और मौन मूक ... ...आधारशिला यही होती है।

(पृष्ठ २०८)

व्याख्या—इस अवतरण में निबन्धकार ने यह बतलाया है कि बिना बोले चुपचाप शहीद होनेवाले ही समाज की नींव के पत्थर हैं। जिस प्रकार इमारत की नींव की ईंट का बलिदान मौन होता है, उसे कोई नहीं जानता, उसके बलि-दान का गीत कोई नहीं गाता उसी प्रकार समाज की रचना करने वाले मौन शहीदों का कोई गीत नहीं गाता। इमारत के कंगूरों में जो ईंटे लगी रहती हैं, उनका भी कुछ बलिदान है और कंगूरों के सौंदर्य को देखकर लोग उसके बलि-दान का गीत गाते हैं। परन्तु लेखक दोनों के भेद को स्पष्ट करता हुआ कहता है कि नींव की ईंट का बलिदान मौन-मूक है, परन्तु कंगूरे की ईंट को प्रसिद्ध और ख्याति मिलती है। इसीलिए तो नींव की ईंट पर ही कंगूरा भी अवलम्बित है। इसी प्रकार समाज-निर्माण का कार्य भी मौन-मूक बलिदान पर ही निर्भर करता है।

ईसा की शहादत ने ... ...भूख-प्यास के शिकार हुए। (पृष्ठ २०८)

व्याख्या—प्रस्तुत संदर्भ में श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ने यह बतलाने की चेष्टा की है कि जो लोग सच्चे काम करनेवाले होते हैं, उन्हे प्रसिद्ध नहीं मिलती, उन्हे यश नहीं मिलता। सारी दुनियाँ यह कहती है कि ईसा के शहीद होने से ही ईसाई-धर्म अमर हुआ परन्तु,लेखक का कहना है कि दुनियाँ की यह धारणा ठीक नहीं है, गलत है। सच तो यह है कि ईसाई धर्म को अमरत्व दिलाने में वैसे व्यक्तियों का हाथ रहा है जिनका नामलेवा इस संसार में कोई नहीं। उसे

अमर बनाने वालों में वे धर्म प्रचारक वे जिन्होंने अपने प्राणों की आहुति दी, फाँसी के तख्ते पर हँसते-हँसते अपने जीवन को न्योछावर कर दिया और अनेक प्रकार की यातनाएँ सहीं। उनमें कुछ लोगों को विरोधियों ने जला दिया, कुछ को देश से निकाल दिया जिसके फलस्वरूप उन्हे जंगली जानवरों का आहार बनना पड़ा, परन्तु आज कहीं भी उन लोगों की चर्चा नहीं होती जिन्होंने ईसाई धर्म को अमरत्व प्रदान किया। आज कोई भी उन व्यक्तियों का नाम नहीं जानता जिन्होंने ईसाई धर्म को अमर बनाया। आज उन्हीं लोगों के पुण्य-प्रताप से ईसाई धर्म फला-फूला है।

शब्दार्थ (पृष्ठ २०६)—दधीचि = वैदिक युग के एक ऋषि जिन्होंने बज्र बनाने के लिए देवताओं को, देवासुर सग्राम के समय, अपनी हड्डियाँ स्वेच्छा से दे दी थी। मूढ = मूर्ख। धारणा = विचार। निर्माण = रचना, बनाना। होड़ा-होड़ी = छीना-झपटी। लुप्त हो रही है = गायब हो रही है। अनुप्राणित = उत्साह और उमग से भरा हुआ। अभिभूत = घिरा होना। कामना = इच्छा। आतुर = व्यग्र। चुनौती = ललकार।

इस नये समाज के निर्माण ··· लुप्त हो रही है। (पृष्ठ २०६)

व्याख्या—प्रस्तुत पक्तियों में बेनीपुरी जी ने बतलाया है कि हमारा देश कई सदियों तक गुलामी की रेशमी बंधनों में बंधा रहा जिसके फलस्वरूप इसकी सामाजिक व्यवस्था शिथिल पड़ गई। हम अब हमारा देश आजाद हो गया है और हम एक नये समाज की रचना करने के लिए प्रयत्नशील हैं जिसके लिए कुछ ऐसे नवयुवकों की आवश्यकता है जो नींव की ईंट की तरह स्वार्थभाव से दूर रहकर अपने आप को उत्सर्ग कर दें। लेखक का कहना है कि इस समय देश को ऐसे नौजवानों की जरूरत है जिनमें कंगूरा बनने की कामना न हो, कलश कहलाने की वासना न हो अर्थात् नेता बनने की आकांक्षा न हो। आज जो लोग समाज-निर्माण के कार्य में सलग्न हैं, उनमें नींव की ईंट बनने की आकांक्षा नहीं है प्रत्युत वे कगूरा और कलश कहलाने के लिए परस्पर लड़ा करते हैं। सच तो यह है कि ऐसे व्यक्तियों के द्वारा हमारे समाज-निर्माण-कार्यों का

सम्पादन संभव नहीं, क्योंकि वे यश के भूखे हैं। हमें ऐसे लोगों की आवश्यकता है जो नवप्रेरणा से अनुप्राणित हों, नवचेतना से अभिभूत हों, दलबदियों से दूर हों और सभी प्रकार की कामनाओं से अप्रभावित हों। ऐसे ही लोगों की नींव पर समाज की इमारत का दृढ़ निर्माण संभव है।

उदय के लिए आतुर .... को यह चुनौती है। (पृष्ठ २०६)

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियां श्री रामवृक्ष बेनीपुरी लिखित 'नींव की ईंट' शीर्षक निबन्ध से उद्धृत की गई है। लेखक ने बतलाया है कि कई सदियों के बाद हमारा देश स्वतन्त्र हुआ है और उसके सामने राष्ट्र निर्माण की समस्या आ खड़ी हुई है। नव-समाज के निर्माण की चेष्टा आरम्भ हुई है जिसके लिए नींव की ईंट के समान नवयुवकों की आवश्यकता है। इस नव-समाज के निर्माण के लिए राष्ट्र को कंगूरों या कलशों में लगनेवाली ईंटों की जरूरत नहीं है, प्रत्युत् नींव की ईंट की आवश्यकता है। समाज, ग्राम, नगर आदि के निर्माण के लिए ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है जो इमारत की नींव की तरह निःस्वार्थ भाव से जन-कल्याण करने में तत्पर हों, परन्तु, राष्ट्र को ऐसे व्यक्ति नहीं दीख पड़ रहे हैं। इस देश का समाज वैसे व्यक्तियों की खोज में है और चिल्ला-चिल्ला कर नौजवानों को पुकार रहा है जो नव प्रेरणा से अनुप्राणित हों, नव-चेतना से अभिभूत हों, दलबन्दियों से दूर हों अर्थात् वे सभी प्रकार की कामनाओं से अप्रभावित हों। अतएव हमारे राष्ट्र के नवयुवकों का यह कर्त्तव्य है कि वे समाज के नव-निर्माण-कार्य में नींव की ईंट की तरह अपने-आप को उत्सर्ग कर दें।

[ङ] आलोचनात्मक प्रश्नोत्तर

प्रश्न १—श्री रामवृक्ष बेनीपुरी का जीवन-परिचय लिखिये।

उत्तर—'जीवन परिचय' अंश पढ़ें।

प्रश्न २—श्री रामवृक्ष बेनीपुरी की साहित्य-साधना पर एक छोटा-सा निबन्ध लिखिए।

उत्तर—'साहित्य-साधना' अंश पढ़ें।

प्रश्न ३—वेनीपुरीजी की भाषा-शैली-सम्बन्धी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—'भाषा-शैली' अंश पढ़ें।

प्रश्न ४—'नीव की ईंट' का सारांश लिखिए।

उत्तर—निबन्ध का सारांश पढ़ें।

प्रश्न ५—'नींव की ईंट' की आलोचना लिखिए।

उत्तर—'नींव की ईंट' की आलोचना पढ़ें।

प्रश्न ६—'नींव की ईंट' शीर्षक निबंध की रचना के पीछे वेनीपुरीजी का कौन-सा संदेश छिपा हुआ है, उसे स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—'नींव की ईंट' एक विचारात्मक निबन्ध है और इसमे वेनीपुरी के रचनात्मक विचारों की अभिव्यक्ति हो पायी है। उन्होंने बतलाया है कि देश की स्वतत्रता के बाद हमारे समक्ष अनेक रचनात्मक कार्यों की समस्याएँ आ खड़ी हुई हैं जिनका सम्पादन होना जरूरी है। ऐसे पुनीत कार्यों के सफल सम्पादन के लिए ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है जो नींव की ईंट के समान निस्वार्थ-सेवा-भाव से अपने को खपा सकें। जिस प्रकार इमारत की सुन्दरता नींव की ईंट के ऊपर निर्भर करती है उसी प्रकार देश की इमारत की सुन्दरता त्याग और वलिदान पर निर्भर है। परन्तु, नींव की प्रशंसा कोई नहीं करता है, सभी कंगूरे की वड़ाई करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जिसके बलपर देश की इमारत खड़ी है उसे कोई नहीं जानता है। हमारे राष्ट्र-निर्माण-कार्य के लिए शहादत की आवश्यकता है। आवश्यकता है ऐसे नवयुवकों की जो नई प्रेरणा से अनुप्राणित हों, एक नई चेतना से अभिभूत हों, जो चुनावों से दूर हों, दलवन्दियों से अलग हों अर्थात् सभी प्रकार की कामनाओं से अप्रभावित हों, तभी समाज रूपी इमारत का दृढ़ निर्माण उनके द्वारा सभव है।

[पद्य - भाग]

हिन्दी-कविता का विकास

हिन्दी-साहित्यकी परम्परा कब से चली है, इस सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। इसका विशेष कारण यही है कि इस सम्बंध में इतिहासवेत्ताओं ने जो कुछ भी पता लगाया है, उससे न तो हिन्दी-साहित्य की उत्पत्ति के बारे में कुछ पता लग सकता है और न उसके आदि स्वरूप का निश्चय हो सकता है। अतएव इस सम्बन्ध में जो कुछ विचार किया गया है वह अनुमान पर निर्भर करता है। हिन्दी-साहित्य के उत्पत्ति-काल के निश्चय में यह सिद्धात विशेष रूप से काम में लाया जाता है कि जब मे अपभ्रंश भाषा साहित्यिक रचनाओं के लिए रूढ़ हुई तब से हिन्दी-साहित्य का आरंभ हुआ। यह सिद्धान्त निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लिया गया है कि जब अपभ्रंश का व्यवहार साहित्य में होता था तब पुरानी हिन्दी बोल-चाल की भाषा थी। जब साहित्यिक भाषा रूढ़िग्रस्त तथा जन साधारण की पहुँच से एकदम दूर हो जाती है तब उसका स्थान बोलचाल की भाषा ले लेती है। किन्तु अपभ्रंश कब से रूढ़िबद्ध हुई, इस विषय में बिना किसी पुष्ट प्रमाण के निश्चित रूप से अपनी सम्मति प्रकट करना असंभव है। इसके अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य के आदिकाल के निर्धारण में बड़ी कठिनाई यह होती है कि जो कवि या लेखक अपनी रचनाओं को अधिक लोकप्रिय बनाना चाहते हैं, वे साहित्यिक भाषा को छोड़कर जनसाधारण की भाषा का व्यवहार करते हैं। धीरे-धीरे शिष्ट साहित्य में उनकी रचनाओं की गणना होने लगती है। तब से एक नये साहित्य का आरम्भ माना जाता है। यों तो उसका आरम्भ बहुत पहले हो जाता है। इसीलिए नये साहित्य के आदिकाल के निश्चय में बहुत तरह की

हिन्दी-साहित्य की परम्परा

आतियाँ रहती हैं। यही कठिनाई हिन्दी-साहित्य के आदिकाल के निर्धारण में विशेष रूप से उपस्थित होती है।

हिन्दी-साहित्य का काल-विभाजन

आज से करीब-करीब एक हजार वर्ष पहले हिन्दी की सभी बोलियाँ बन चुकी थीं, लेकिन साहित्य में स्थान पाने का गौरव सभी को नहीं प्राप्त हुआ था। यों तो आपस की बोली में इन बोलियों का व्यवहार अवश्य होता था। साहित्य का निर्माण विशेषतः खड़ी बोली, व्रजभाषा, अवधी, मैथिली और राजस्थानी मे होता था। गद्य का साहित्य तो अधिकतर खड़ी बोली में ही लिखा गया और भारतवर्ष की अन्य बोलियों में पद्य-साहित्य की रचना हुई। खड़ी बोली में साहित्य की रचना प्राय: सौ-डेढ सौ वर्षों से हो रही है। इसके पहले लगभग नौ सौ साल तक केवल कविता ही लिखी गई और वह भी खड़ी बोली के अतिरिक्त अन्य चार बोलियों में—मैथिली, व्रजभाषा, अवधी और राजस्थानी में। हिन्दी-कविता का साहित्य चार कालो में विभाजित किया जा सकता है और वे हैं—(१) वीरगाथाकाल (संवत् १००५—१३५० वि०), (२) भक्तिकाल (सवत् १३५०—१७०० वि०), (३) रीतिकाल (संवत् १७००—१९००. वि०) और (४) आधुनिक काल (सवत् १९०० से अवतक)। इन कालों का नामकरण विशेषतया प्रधान प्रवृत्तियों पर हुआ है। लेकिन इन नामों का यह अर्थ नहीं है कि एक काल में एक ही प्रकार की रचनाएँ होती थीं और दूसरे काल की विशेषताओं से युक्त रचनाएँ बिल्कुल होती ही नहीं थीं। वीरगाथाकाल में मुख्यतः वीरकाव्य की रचना हुई, परन्तु वीरगाथा काल के अन्त के लगभग हम एक शृंगारी कवि विद्यापति और एक हास्यरस के कवि अमीर खुसरो को पाते हैं। उसी तरह भक्तिकाल में रीति-ग्रन्थकार कवि केशवदास भी पाये जाते हैं और रीतिकाल में वीरकाव्य के कवि भूषण भी पाये जाते हैं। आधुनिक काल में भी प्राचीन काल की प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं।

प्राय: हिन्दी के सभी विद्वान हिन्दी का आदिकाल (वीरगाथाकाल)

विक्रम-संवत् १००५ से १३५० तक मानते हैं। यह चारणकाल भी कहा जाता है। यों तो इसके पहले भी लगभग सवत् ७७० विक्रम में होनेवाले किसी पुण्ड्र कवि का उल्लेख मिलता है। इस युग के मुख्य कवियों में दलपत विजय (खुमानरासो), नरपति नाल्ह (वीसलदेवरासो), चन्दवरदायी (पृथ्वीराज-रासो), ज़यानक (पृथ्वीराज-विजय), भट्ट केदार (जयचन्द-प्रकाश), मधुकर कवि (जय-मयक-जसचद्रिका), जगनिक (आल्हाखण्ड), सारंगधर (हम्मीररासो), नल्लसिंह भट्ट (विजयपालरासो) और श्रीधर (रणमल्लछद) हैं। वीरगाथाकाल की कविताओं की रचना राज्याश्रय में हुई थी, इसलिए उसमें राजाश्रित कविता की प्रायः सभी विशेषताएँ मिलती हैं। यद्यपि उस समय के राजाओं की नीति देश के लिए कल्याणप्रद नहीं थी और उसके पारस्परिक विद्वेष तथा सघर्ष से जो अग्नि प्रज्वलित हुई, उसने देश की स्वतंत्रता को भस्म करके ही साँस ली तथापि राजाश्रित कवियों की वाणी अपने स्वामियों के कीर्ति-गान में कभी कुंठित नहीं हुई। कहने का तात्पर्य यह है कि उस समय के कवि प्रायः राजाओं को प्रसन्न रखने और उनके कृत्यो का अन्ध-समर्थन करने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझ बैठे थे। देश की स्थिति और भविष्य की ओर उनका ध्यान ही न था। हिन्दी के आदि युग में अधिकाश ऐसे ही कवि हुए हैं जिन्हें समाज को संगठित और सुव्यवस्थित कर उसे विदेशी आक्रमणों से रक्षा करने में समर्थ बनाने की उतनी चिन्ता नहीं थी, जितनी अपने आश्रयदाताओं की प्रशसा द्वारा स्वार्थ-साधन करने की थी। इस तरह हम देखते हैं कि वीरगाथा-काल के कवियों ने यद्यपि अपने आश्रयदाताओं की वीरता का गान तो उत्साह के साथ किया है तथापि उनमें वाछनीय राष्ट्रीयता का एक प्रकार से अभाव ही रहा।

वीरगाथा काल की विशेषताएँ और परिस्थितियाँ

वीरगाथाकाल के कवियों का युद्ध-वर्णन अत्यन्त सजीव एवं मार्मिक हुआ है। इस प्रकार के वीररसात्मक साहित्य का निर्माण पिछले खेवे के कवियों ने नहीं किया है। सच पूछा जाय तो हम कहेंगे कि इस काल का साहित्य संघर्षमय है। परन्तु, ये सघर्ष किसी जातीय या राष्ट्रीय भावना के फलस्वरूप

नहीं होते थे, वरन अपनी इच्छाओं की पूर्ति के निमित्त राजागण आपस में लड़ा करते थे। अक्सर युद्धों के मूल में कोई सुन्दरी होती थी। इसलिए वीरगाथाकाल की वीरता सच्ची वीरता नहीं थी, वरन् वीरता के दामन में विलासिता छिपी मिलती है।

इन वीरगाथात्मक रचनाओं का कुछ ऐतिहासिक महत्त्व भी है, लेकिन इस ऐतिहासिक महत्त्व की सीमा क्या है, यह कहना मुश्किल है। वीरगाथा-काल की रचनाओं में जहाँ राजाओं का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है, वहाँ कल्पना का प्राचुर्य तो उपलब्ध होता है; लेकिन ऐतिहासिकता का एकदम लोप हो गया है।

हिन्दी में वीरगाथाएँ दो रूपों में मिलती हैं—कुछ तो प्रबन्ध काव्यों के रूप में और कुछ वीरगीतों के रूप में। हिन्दी-वीरगाथाओं में प्रबन्धरूप म सबसे प्राचीन माना जानेवाला ग्रन्थ, जिसका उल्लेख मिलता है, दलपतिविजय या दौलत विजय का खुमानरासो है। वीरगाथा-सम्बन्धी प्रबन्ध-काव्यों में दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक चन्दवरदायी-कृत पृथ्वीराजरासो है। वीरगीत के रूप में लिखी गई पुस्तक है 'वीसलदेवरासो'। 'आल्हा' की रचना भी गेय पदों के रूप में हुई है।

'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों के बीच मतभेद है। वीरगाथाकाल की सभी रचनाएँ 'रासो' की सञ्ज्ञा से अभिभूत हैं। कुछ आचार्यों का कहना है कि 'रासो' शब्द रहस्य से बना होगा, क्योंकि इसमें राजाओं के जीवन के रहस्य वर्णित हैं। कुछ लोगों की दृष्टि में रासो शब्द का संबंध 'राजाशय' से है, क्योंकि इसमें राजाओं का जीवन वर्णित है। दूसरों ने 'रासो' शब्द का मूल 'राजयश' शब्द को बतलाया है; क्योंकि राजाओं के यश का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करना इन ग्रंथों का उद्देश्य है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विचार है कि रासो शब्द 'रसायन' शब्द से बना होगा, क्योंकि बीसलदेवरासो में काव्य के अर्थ में रसायन शब्द बार-बार आया है।

वीरगाथा-काव्य की रचनाओं की भाषा डिंगल कही गयी है जो राजस्थान की साहित्यिक भाषा थी। इसमें दूहा, पाधड़ी, कवित्त आदि की प्रधानता

रहती थी। ये सब छंद साहित्यिक दृष्टि से बहुत सुन्दर तो नहीं होते थे, लेकिन उनमें वीर रस के उपयुक्त प्रवाह अवश्य होता था।

वीरगाथाकाल की सभी रचनाएँ अप्राप्य हैं। उनका सिर्फ उल्लेख मात्र मिलता है। यही कारण है कि इन रचनाओं की विशेषताएँ अधिक नहीं बतलायी जा सकती हैं। फिर भी इन रचनाओं ने जो कुछ भी हमें दिया है, वह अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है।

भक्तिकाल

भक्तिकाल का आविर्भाव जिन ऐतिहासिक एवं सामाजिक कारणों से हुआ, उस संबंध मे पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—'देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू-जनता के हृदय मे गौरव और उत्साह के लिए अवकाश न रह गया। उनके सामने ही देव-मन्दिर गिराये जाते थे, देव-मूर्त्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुसलिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़नेवाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गये। इतने भारी राजनीतिक उलट-फेर के पीछे हिन्दू जन-समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी-सी छायी रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त सान्त्वना का दूसरा मार्ग ही क्या था।' इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऐसे समय में वीरगाथात्मक साहित्य की रचना करना असंभव था और भक्ति की ओर जनता का झुक जाना स्वाभाविक ही था। यों तो ईश्वर-भक्ति की ओर जन-प्रवृत्ति के लिए क्षेत्र पहले से ही तैयार था, क्योंकि धार्मिक, साम्प्रदायिक और दार्शनिक उथल-पुथल के कारण देश में जो वातावरण निर्मित हो गया था, वह ईश्वराराधना के लिए बिल्कुल अनुकूल था।

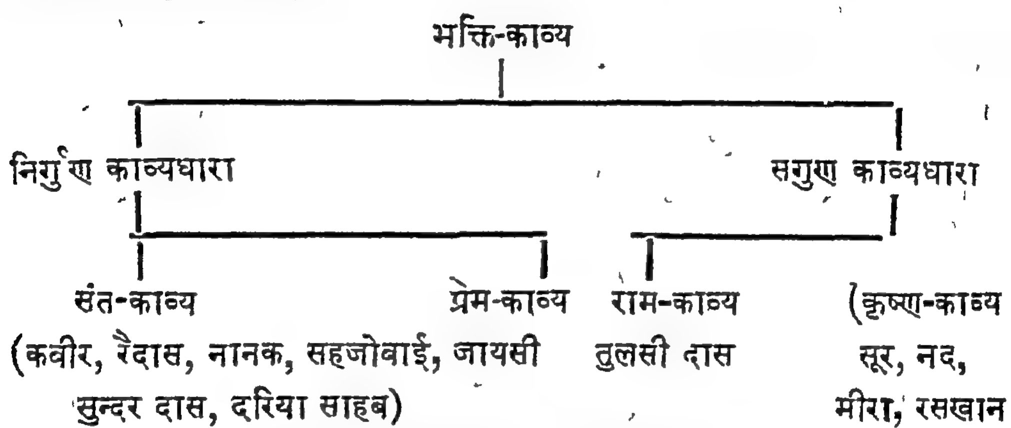
हमारे देश में सबसे पुराना धर्म है ब्राह्मणधर्म। इसमें कर्मकाण्ड एवं पशु-बलि आदि की अधिकता थी। उस जमाने में देश में इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और बौद्धधर्म का जन्म हुआ। बौद्धधर्म में अहिंसा का सिद्धांत

मुख्य था और शून्य ने ईश्वर का स्थान ग्रहण कर लिया। इससे जीवन के उद्देश्य में भी परिवर्तन हुआ। ज्ञान-प्राप्ति और मोक्ष-प्राप्ति ही जीवन के उद्देश्य बन गए। सन्यास-प्रधान इस बौद्धधर्म की दो शाखाएँ हुईं—हीनयान और महायान महायान की भी दो शाखाएँ हुईं, सहजयान और वज्रयान। इन शाखाओं के सिद्धांतों में परस्पर भेद बढ़ता गया और बौद्धधम के मूल सिद्धांतों से ये बिल्कुल पृथक्-से हो गए। वज्रयान बौद्धधर्म का भ्रष्ट पथ था। इसमें जादू, टोना, तन्त्र, मन्त्र, रसायन आदि की प्रधानता थी और बौद्धधर्म का ज्ञानवाद तिरोहित हो गया था। इस प्रकार का विकृत बौद्धधर्म भोली-भाली जनता को ठगने के लिए काम आने लगा। इसलिए इसके विरुद्ध भी प्रतिक्रिया हुई। यह प्रतिक्रिया शंकराचार्य और कुमारिल भट्ट के सिद्धांतों के रूप में हुई। शकराचार्य का सिद्धांत अद्वैतवाद है। इसके अन्तर्गत एक ब्रह्म की ही सत्ता स्वीकार की जाती है। जो द्वैत प्रतिभासित होता है, वह माया के कारण है और यह माया मिथ्या है। सत्य केवल ब्रह्म है। अद्वैतवाद का धरातल बुद्धदेव के सिद्धांतों के समान ही ज्ञान का था। हृदयपक्ष का उसमें स्थान न था, केवल निर्गुण ब्रह्म की ही सत्ता स्वीकार की गई थी, सगुण को माया बतलाया गया था। इसलिए बौद्धों की इस ओर सहज प्रवृत्ति हुई और शंकर-अद्वैत बौद्धधर्म पर विजयी हुआ। इसलिए कहा गया है कि हिंदू-धर्म ने सहज अपनापन के कारण ही बौद्धधर्म का अंत कर दिया। शकराचार्य का अद्वैतवाद बौद्धिक हो गया। उसमें हृदय-पक्ष (उपासना) के लिए गुंजाइश नहीं थी। इसलिए वह केवल पंडितों की ही चीज बन गया। साधारण जनता का झुकाव आगे चलकर उसकी ओर नहीं रहा। अतः उसमें परिवर्तन आवश्यक हुआ। ये परिवर्तन दक्षिण भारत के चार आचार्यों ने किए। ये हैं—रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी और निम्बार्क। रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत का, मध्वाचार्य ने द्वैत का, विष्णुस्वामी ने शुद्धाद्वैत का और निम्बार्क ने द्वैताद्वैत का प्रतिपादन किया। इन सिद्धान्तों में परस्पर अन्तर है, लेकिन कुछ बातों में ये सभी आचार्य एकमत हैं, जैसे (क) भक्ति के लिए जाति का बन्धन नहीं होना चाहिए, (ख) ब्रह्म केवल निर्गुण ही नहीं है, किसी-न-किसी रूप में सगुण भी है,

(ग) गुरु ब्रह्म का प्रतिनिधि है, (घ) जीवन का उद्देश्य भक्ति है और भक्ति का उद्देश्य गोलोक अथवा वैकुण्ठ की प्राप्ति है। इन चार सिद्धान्तों के आधार पर चार सम्प्रदाय बने—(क) श्री सम्प्रदाय—इसके अनुयायी रामानन्दी वैष्णव थे, (ख) ब्रह्म-सम्प्रदाय—इसके अनुयायी माध्व वैष्णव थे, (ग) रुद्र-सम्प्रदाय—इसके अनुयायी विष्णुस्वामी मत के थे और (घ) सनकादि-सम्प्रदाय—इसके अनुयायी निम्बार्क-मत के थे। इन चार आचार्यों के अतिरिक्त रामानन्द, चैतन्य और वल्लभाचार्य के नाम भी उल्लेखनीय हैं। रामानन्द रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा में हुए और श्रीसम्प्रदाय के अन्तर्गत माने जाते हैं। चैतन्य के दार्शनिक विचार निम्बार्क के द्वैताद्वैत से मिलते हैं। वल्लभाचार्य का मार्ग पुष्टि-मार्ग कहलाता है। यह संक्षेप में तत्कालीन धार्मिक और दार्शनिक वातावरण की रूपरेखा हुई।

अब हमें तत्कालीन सामाजिक वातावरण पर एक सरसरी नजर डाल देना जरूरी है। हिन्दू और मुसलमान, दोनों जातियाँ भारतवर्ष में बस चुकी थीं, साथ-साथ रह रही थीं। अतएव मुसलमानों के धार्मिक और दार्शनिक विचार भी तत्कालीन साहित्य को प्रभावित किए बिना नहीं रहे। उसी की एक समस्या थी हिन्दुओं और मुसलमानों का आपस में सम्बन्ध कैसा हो। कुछ लोगों का कहना था कि दोनों जातियों में साम्प्रदायिक एकता होनी चाहिए, लेकिन दूसरे लोग हिंदू-धर्म को मुसलमानी सम्प्रदाय के मिश्रण से कलुषित होने देना नहीं चाहते थे। इन दूसरे प्रकार के लोगों ने सगुण भक्ति को अधिक प्रश्रय दिया, क्योंकि उपासना के क्षेत्र में प्रतिपादित सगुण भक्ति ही अधिक उपयुक्त जान पड़ी। रामानन्द, चैतन्य, वल्लभाचार्य आदि की शिष्य-परम्परा में ये हिंदी के सगुणवादी कवि हुए। लेकिन जो हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच उपासना-पद्धति की एकता चाहते थे, वे सगुण को लेकर नहीं चले; क्योंकि मुसलमानी धर्म में सगुणोपासना के लिए स्थान नहीं है। निर्गुण हिन्दू और मुसलमान धर्मों के बीच एक सामान्य तत्त्व था और इसी सामान्य तत्त्व को लेकर दोनों सम्प्रदायों के बीच मेल कराना संभव था। इसलिए इस दल के महात्माओं और कवियों ने निर्गुण को ही अपनाया। मुसलमानी एकेश्वर

वाद वेदान्त के अद्वैतवाद (निर्गुण) से मेल नहीं खाता था, लेकिन सूफीवाद की भावना निर्गुण ब्रह्म की धारणा के बहुत अधिक निकट थी। इसलिए वेदात के अद्वैत का मेल इस्लाम के सूफीवाद से ही सहज संभव हुआ। इस दल के कवि निर्गुणवादी कवि हुए। अब हम भक्ति-काव्य की प्रवृत्तियों को निम्नाकित सरणि में प्रस्तुत करते हैं :—



संत-काव्य और उसकी विशेषताएँ

संत-मत का आविर्भाव हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। देश की विषम परिस्थितियों ने इस मत को जन्म दिया। संतों ने उस सामान्य भक्तिमार्ग की स्थापना की, जो कि हिन्दू और मुसलमान, दोनों के वीच समान रूप से प्रस्तुत किया जा सकता था। इसमें सिर्फ हिन्दुओं और मुसलमानों के धर्म का ही समन्वय नहीं हुआ, प्रत्युत् गोरखपंथियों के हठयोग, वेदान्तियों के ज्ञानवाद, सूफियों के प्रेमवाद तथा वैष्णवों के अहिंसावाद एवं प्रपत्तिवाद का भी समन्वय हुआ है। इसमें सामाजिक समन्वय का भी विशेष महत्त्व है। संतमत के अनुयायी निर्गुणवादी हैं और वे प्रायः नाम की उपासना करते हैं। वे मिथ्या आडम्बर एव रूढ़िवाद के प्रबल विरोधी हैं। वे गुरु को ईश्वर के सामान महत्त्व देते हैं। इनके मत के अनुसार जाति-पाँति का कोई महत्त्व नहीं है। ये साधारण धर्म तो मानते हैं, लेकिन साम्प्रदायिकता या वर्णाश्रम-संबंधी विशेष धर्म के पक्ष में नहीं हैं। वैयक्तिक साधना पर इन लोगों ने काफी जोर दिया है। उन्होंने वाह्य साधना से ध्यान हटाकर वैयक्तिक और

आन्तरिक साधना का ही प्रतिपादन किया है। आत्मशुद्धि सन्तमत का मूल सिद्धात है, लेकिन यह वैयक्तिक साधना केवल ऐकान्तिक नहीं है, बल्कि समाज को भी दृष्टि में रखकर चली है। समदृष्टि, भेदभाव का नाश और एकता का प्रचार इस साधना के आवश्यक अंग हैं। सन्त-काव्य के कवि साधारण धर्म के मानने वाले हैं लेकिन उन्होंने साम्प्रदायिकता अथवा वर्णाश्रम-सम्बन्धी विशेष धर्म का विरोध किया है। उन्होंने जिस साधारण धर्म को स्वीकार किया है, वह एक प्रकार से शुद्ध मानव-धर्म ही है। सन्त कवियों की भाषा सधुक्कड़ी है, उसमें साहित्यिक सौंदर्य का अभाव है। उन लोगों ने सिर्फ भावों की अभिव्यक्ति पर ही ध्यान दिया है। इनकी भाषा में विभिन्न प्रान्तीय बोलियों का पुट मिलता है और वे हैं—पूर्वी हिन्दो, राजस्थानी तथा पजाबी। सच पूछा जाय तो हम कहेंगे कि इनकी भाषा एक बेमेल खिचड़ी है। इन कवियों की भाषा में पारिभाषिक शब्दावली का बाहुल्य है, जिससे सन्त-विचारावली को ठीक-ठीक समझने में कठिनाई होती है। इस प्रकार सन्त-काव्य के कवियों की कविताओं में कलात्मक का अभाव है। सन्त-काव्य का प्रधान रस है शान्त और इसकी रचनाएँ अधिकतर साखियों तथा शब्दों के रूप में हैं। 'साखी' दोहा छन्दे है और 'शब्द' रागों के आधार पर रचित गेय पद है। सन्त-काव्य में झूलना, कवित्त, सवैया, हंसपद और सार आदि छन्दों का प्रयोग मिलता है।

प्रेमकाव्य के सभी कवि मुसलमान थे और वे हिन्दू-धर्म के सभी सिद्धान्तों से परिचित थे। इनकी रचनाओं में हिन्दुओं के घरों का अत्यन्त ही स्वाभाविक वर्णन मिलता है। प्रेमकाव्य के सभी कवियों ने, सिर्फ शेख नवी को छोड़ कर, लौकिक प्रेम-कहानियों को अपने काव्य का विषय बनाया है। इन कवियों की प्रेम-गाथाएँ विशेषतया हिन्दुओं के घरों की कथाएँ हैं, जिनमें आधा इतिहास और आधी कल्पना का मिश्रण है। प्रेम-मार्गी कवियों ने इतिहास की वहीं तक रक्षा की है जहाँ तक वह उनके साध्य अलौकिक की अभिव्यक्ति करता है। इन कहानियों के द्वारा सूफी सिद्धांतों के आधार पर आध्यात्मिक प्रेम की व्यजना

प्रेम-काव्य और उनकी विशेषताएँ

हुई है। कहानी समाप्त होने पर कथा के समस्त अंगों को सूफीमत पर घटित कर दिया जाता है और समस्त कथा एक रूपक का रूप धारण पर लेती है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इन कवियों ने सूफी सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति का प्रयास हीं नहीं किया है, प्रत्युत हिन्दू-हृदयों और मर्मों के साथ अत्यन्त सहानुभूति पूर्वक अपने हृदय का तादात्म्य दिखलाकर हिन्दुओं और मुसलमानों की साम्प्रदायिक एकता का स्तुत्य प्रयत्न किया है। प्रेमकाव्य में भावात्मक रहस्यवाद का ईरानी रूप हमें मिलता है जो सन्त-काव्य की रहस्य-भावना के प्रतिकूल है। प्रेम-काव्य में ईश्वर पति है और जीवात्मा स्त्री। प्रेम-काव्य भारतीय चरित्र-काव्यों की सर्गबद्ध शैली मे न होकर फारसी के मसनवी ढंग में है। इन प्रेम-गाथाओं में फारसी की मसनवी पद्धति के अनुसार कथारंभ के पूर्व ईश्वर-वदना, मुहम्दम साहब की स्तुति, तत्कालीन राजा की प्रशसा आदि मिलते हैं। प्रेम-मार्गी कवियों ने शृंगार रस के दोनों पक्षों का वर्णन किया है, लेकिन अधिकता है वियोग-शृंगार की जिससे वीभत्स रस की बू आती है। प्रेमकाव्य-ग्रन्थों की भाषा अवधी है। इसकी रचना-प्रणाली प्रवन्ध-काव्य की है, जिसमें दोहा चौपाई वालो शैली अपनायी गई है। वर्णनात्मक प्रसंगों के लिए इन छन्दों की उपयुक्तता देखकर ही शायद तुलसीदास ने भी इन्हें अपनाया। प्रेमकाव्य में भी इन छन्दों का सफल प्रयोग हुआ है तुलसीदास ने चार चौपाइयो के वाद एक दोहा रखा, परन्तु प्रेम-काव्य में जायसी ने साढ़े तीन चौपाइयों या सात अर्द्धालियों के वाद एक दोहे का प्रयोग किया है। प्रेमकाव्य के रचयिताओं में जायसी प्रमुख हैं।

राम-काव्य और उसकी विशेषताएँ

राम-काव्य के प्रणेताओं में गोस्वामी तुलसीदास ही सर्वश्रेष्ठ हैं। उनका 'रामचरितमानस' अमर है। 'राम-काव्य का दार्शनिक धरातल, इस प्रकार, रामानुज की परम्परा में रामानन्द के सिद्धातों द्वारा निर्मित हुआ। वैष्णवधर्म के आदर्शों के अनुसार दास्य-भाव या सेवक-सेव्य-भाव पर जोर दिया गया। ज्ञान और कर्म से भक्ति श्रेष्ठ समझी गई। भक्ति मुक्ति से भी श्रेष्ठ समझी गई। दास्यभाव की भक्ति के कारण राम-काव्य में मर्यादावाद और लोक-आदर्शवाद

का पुट है। राम-काव्य का शृंगार-वर्णन भी उच्छृंखल अथवा अतिरंजित नहीं है। राम-काव्य में सर्वत्र लोकरंजन या लोक-कल्याण की भावना पायी जाती है। लोक-आदर्शवाद का मेल कविता की समाजनिष्ठ पद्धति और प्रबन्ध-शैली से अच्छा हुआ है। राम-काव्य में प्रबन्ध-भक्ति की प्रधानता है। यो तो जैसे जीवन के सभी विभागों पर, मन के सभी भावों और रसों पर, राम-काव्य में प्रकाश डाला गया है, इसी प्रकार सभी रचना-शैलियों का भी उपयोग हुआ है। दोहा-चौपाई वाली प्रबन्ध-शैली के साथ-साथ मुक्तक शैली और स्फुट पद आदि रचना-पद्धति का भी उपयोग राम-काव्य में हुआ है। कुण्डलिया, छप्पय, सोरठा, सवया, घनाक्षरी, तोमर, त्रिभंगी आदि अनेक छंदों का प्रयोग हुआ है। रामचरितमानस में वर्णिक वृत्तों का भी कहीं-कहीं उपयोग हुआ है। राम-काव्य में प्रधान रूप से अवधी भाषा का प्रयोग किया गया है। इसकी अवधी प्रेम-काव्य की अवधी के समान ठेठ और सरल नहीं, प्रत्युत परिष्कृत और पाडित्यपूर्ण है। अवधी के अतिरिक्त ब्रजभाषा में भी राम-काव्य लिखा गया है। उदाहरणस्वरूप तुलसीकृत विनयपत्रिका। राम-काव्य में सभी रस हैं। लौकिक दृष्टि से शृंगार रस मुख्य है, परन्तु दास्यवृत्ति की प्रधानता होने के कारण शान्त रस का भी कम महत्त्व नहीं है। सभी प्रसंगों में शान्त रस की अन्तर्धारा विद्यमान है।

कृष्ण-काव्य और उसकी विशेषताएँ

कृष्ण-काव्य का विषय है भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन। यह श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध पर आधारित है। रास तथा अन्य लीलाएँ, प्रेम और विरह, सौंदर्य और ऋतु-वर्णन आदि कृष्ण-काव्य के विषय-क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। कृष्ण-काव्य में शृंगार रस की परिणति है, परन्तु उसमें अद्भुत, वात्सल्य और शान्त रस का भी अच्छा वर्णन हुआ है। इसमें शृंगार रस के दोनों पक्षों का वर्णन हुआ है। श्रीकृष्ण-जीवन-सम्बन्धी सभी घटनाएँ प्रगीत मुक्तक के रूप में हैं, जिनका देश में व्यापक प्रचार हुआ। विद्यापति, सूर, मीरा आदि ने गेय पद लिखे, पर नंददास ने रोला, दोहा आदि का प्रयोग किया। गेय

पदों में राग-रागिनियों का सर्वत्र ध्यान रखा गया। कृष्ण-काव्य की भाषा ब्रजभाषा रही, पर सूर की ब्रजभाषा कुछ संस्कृतमय है। मीरा बाई की ब्रजभाषा में मारवाड़ीपन है और नन्ददास ने ब्रजभाषा की कोमलता की रक्षा के लिए तद्भव शब्दों का ही अधिक प्रयोग किया है। इस तरह ब्रजभाषा की अनेक शैलियाँ प्रचलित हुई।

रीतिकाल और उसकी विशेषताएँ

भक्तिकाल का ह्रास क्यों हुआ और रीतिकाल के उद्भूत होने का कारण क्या है? इन पर विचार कर लेना अति आवश्यक है। विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के आसपास की राजनीतिक एव सामाजिक परिस्थितयों में काफी तबदीली हो चुकी थी। यह वह युग था जब अकबर की उदार नीति के फलस्वरूप समस्त भारत में शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित हो गई थी। अकबर की मृत्यु के बाद जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनकाल में विलासिता और आमोद-प्रमोद पराकाष्ठा को पहुँच गया था, क्योंकि राजनीतिक वातावरण शान्त था, कहीं उथल-पुथल का चिन्ह दृष्टिगत नहीं होता था। तत्कालीन प्रजा सुख और समृद्धि के कारण सतुष्ट थी। इसीलिए लोग स्वभावतः भगवान को भूलने लगे और उनकी भक्ति पर वासना का रग चढ़ने लगा। इसके साथ-साथ दूसरी बात यह भी थी कि तत्कालीन राजाओं के दरबार में भी भक्ति का वातावरण नहीं रह गया था, प्रत्युत शृगार के अनुकूल ही वातावरण तैयार हो गया था। राज-दरबारों में नर्तकियों की पायल की झंकार गूँजती थी और सुरा-पान होता था। वहाँ शृंगारिक रचना करनेवाले कवियों को ही वाह-वाही मिलने लगी। दरबारों में साधु-महात्माओं को सम्मान नहीं मिल रहा था। इस प्रकार राज-दरबार का वातावरण दूषित हो गया था जिसके फलस्वरूप कविता की पहलेवाली पवित्रता न रह सकी। राजा विलासी हो ही गये थे और राग-रंग में संलग्न थे, तो भला प्रजा उसके प्रभाव से कैसे बच पाती। उनकी विलासप्रियता का प्रभाव जनता पर भी पड़ा। यही कारण है कि इस विलासिता के वायुमडल का प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर भी पड़ा। अतएव इस काल के कवियों में भी विलासिता की भावना का

पाया जाना स्वाभाविक है। तत्कालीन राजा कला और साहित्य को आश्रय दिया करते थे एवं कवियों का सम्मान भी करते थे। कवि भी राजाश्रय खोजते थे। इस तरह उन कवियों को अपने आश्रयदाताओं की रुचि के अनुकूल कविता की रचना करना स्वाभाविक ही था। ऐसी दशा में भक्ति के परिष्कृत मार्ग को छोड़कर कवियों को शृंगार के कृत्रिम क्षेत्र में आना पड़ा। तीसरी बात यह है कि राज्य के वैभव ने कला को उत्तेजना दी जिसके फलस्वरूप कवियों पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि लोगों ने काव्य-विषय की अपेक्षा शैली को विशेष महत्त्व दिया। उन लोगों ने रस की अपेक्षा उक्ति-वैचित्र्य को विशेष रूप से अपनाया। इस प्रकार भक्ति का उन्मेष लुप्त हो गया। चौथा कारण यह है कि कृष्ण-भक्ति का स्वरूप ही कुछ ऐसा था कि उसमे रीतिकालीन शृंगारिकता के विकास को प्रोत्साहन मिला। कृष्ण-काव्य जो प्रारंभ में भक्ति और आध्यात्मिक विचारों से पूर्ण थे, अब धीरे-धीरे उनका पारलौकिक प्रेम सांसारिक और पार्थिव होता गया। राधाकृष्ण की आड़ में कवियों ने अपनी कुत्सित भावनाओं का नग्न चित्रण करना आरंभ कर दिया। इसीलिए डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने लिखा है कि 'अत्यधिक आध्यात्मिकता की प्रतिक्रिया के रूप में शृंगार-साहित्य इन्द्रियों की पुकार है। रीतिकाल को भक्तिकाल की प्रतिक्रिया कहा जाना चाहिए और वह है भी।' डा० रामकुमार वर्मा ने इसी बात को इस ढङ्ग से कहा है कि उसमें (रीतिकाल में) हिन्दी-भक्ति-काव्य की गहरी प्रतिक्रिया-सी हो रही है। यह प्रतिक्रिया कला के क्षेत्र में भी हुई है। भक्तिकाल उपयोगितावादी है तो रीतिकाल कलावादी। एक में प्रबन्ध-काव्य का प्राधान्य है तो दूसरे में मुक्तक का प्रचुर प्रसार। एक बात और। व्रजभाषा इतनी परिमार्जित हो चुकी थी कि इसने भाषा की चातुरी दिखलाने के लिए कवियों को स्वभावतया आकृष्ट किया।

इन कारणों के अतिरिक्त एक कारण और है। वह यह कि मैथिल कोकिल विद्यापति ने अपनी पदावली में नायिका-भेद, नख-शिख-वर्णन, ऋतु-वर्णन आदि के कारण रीतिकालीन परम्परा का बीज बो दिया था जो अनुकूल वातावरण पाकर रीतिकाल में पूर्णरूपेण पल्लवित एवं पुष्पित हुआ।

रीतिकाल के विकास में जिन-जिन कारणों ने मदद पहुँचायी है, उनका विवेचन हो चुका, अब रीतिकाल की विशेषताओं पर दृष्टिपात करते हैं।

'रीतिकाल' का शाब्दिक अर्थ है साहित्य का वह काल जब रीति-ग्रंथों या लक्षण-ग्रंथो का सृजन होता है। लक्षण-ग्रंथो में काव्य के गुण-दोषों तथा अन्य विशेपताओं और तत्त्वों की सैद्धान्तिक विवेचना रहती है। ये काव्यशास्त्र के अन्तर्गत आते हैं। इस युग में रीति-ग्रंथ काफी लिखे गए, जिनका आधार संस्कृत का काव्यशास्त्र है। इस समय रीति-ग्रंथों को इतना महत्त्व दिया गया कि कवि कहलाने के लिए उसी परिपाटी पर ग्रंथ लिखना आवश्यक था। इस प्रकार रीतिकाल में काव्य के विविध अंगों—रस, अलकार, छंद आदि की शास्त्रीय विवेचना हुई। वे काव्य-ग्रंथ सिर्फ अलंकार-प्रदर्शन-प्रधान हो गए और उनमें मौलिकता नाममात्र के लिए भी नहीं रही। काव्य की आत्मा से हटकर कवि की दृष्टि कला की ओर आ गई। तत्कालीन कवि इसीलिए ऐसी रचनाएँ करते थे जिससे कि राज-दरबार में उनकी प्रशंसा हो और पुरस्कार मिले। इस समय सबसे बड़ी विचित्र बात यह हुई कि कवियों ने, काव्यकला की साधना छोड़कर आचार्यत्व का बाना धारण किया और काव्य-शास्त्र के निर्माण में जुट गए, पर वे असफल ही रहे। इस युग के सभी कवियों ने व्रजभाषा को ही काव्य-भाषा बनाया, परन्तु उसमें फारसी-अरबी के शब्दों का काफी प्रयोग हुआ। इस युग के कवियों ने सवैया, दोहा, कवित्त आदि छंदों को प्रधानता दी। संक्षेप में रीतिकाल की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—(क) रीतिग्रंथों या लक्षण-ग्रंथों का निर्माण जिसमें रस, अलकार आदि काव्यों का विवेचन हुआ। (ख) इस युग की कविताओं में लौकिक शृंगार की प्रधानता रही। (ग) कला-पक्ष पर लोगों ने विशेष ध्यान दिया। (घ) मुक्तक काव्य की रचना खूब हुई। (ङ) उन लोगों की कविताओं में मौलिकता का अभाव है। (च) भूषण, लाल आदि कवियों की कविताओं में वीर रस की प्रधानता है, पर ऐसे कवियों की संख्या कम है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सन १८५०-८६) से वर्तमान हिन्दी काव्य का आरंभ होता है, परन्तु एक प्रकार से उनका काव्य संक्रान्ति-काल का काव्य है।

उन्हीं से रीतिकाल की परम्पराओं का अन्त और नवीन प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव होता है। रीतिकाल में जो शृंगार की धारा बिहारी, देव, पद्माकर आदि कवियों के द्वारा बहायी गई थी, वह क्रमश क्षीण होने लगी, क्योंकि उसमें हृदय की सच्ची अनुभूति न रही। रीतिकालीन कवियों ने हिन्दी कविता को मनोरंजन का साधन बना लिया था। अब लोगों का मन ऐसी कविताओं से उचट चुका था। साहित्य की इसी विषम परिस्थिति में अंग्रेजी राज्य की स्थापना हुई। प्रकृति के नियमानुसार अपने अतीत के गौरव का स्मरण कर बदला लेने की भावना से विजित राष्ट्र में एक नयी चेतना आती है, और साहित्यिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों में परिवर्तन और क्रान्ति होती है। मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हलचल का समागम होता है। ऐसा ही भारतवर्ष में भी हुआ। यहाँ की जनता को भी जब यह परिज्ञान हो गया कि अंग्रेज केवल राजनीतिक प्रभुत्व को ही पाकर सन्तुष्ट नहीं हैं, प्रत्युत् वे सांस्कृतिक विजय के लिए भी उद्योगशील हैं, तो वह नागिन की तरह फुफकार उठी जिसके फलस्वरूप सभी क्षेत्रों में आन्दोलन हुए और उनका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। पहले हमारा साहित्य कामिनी और कंचन के रेशमी बंधनों में बँधा था, पर शासन की बागडोर के परिवर्तन ने साहित्य को जीवन से सम्बद्ध कर दिया।

भारतेन्दु-युग

भारतेन्दु के पहले कविता के विषय हैं—राष्ट्रीयता, वैराग्य, भक्ति और शृंगार, परन्तु वर्तमान हिन्दी काव्य में इस परम्परागत भावनाओं का रूप ही बदल गया। इस युग की सबसे बड़ी विशेषता एक सार्वदेशिक राष्ट्रीयता का विकास है। भारतेन्दु-युग में काव्य-विषय का परिवर्तन हुआ तो जरूर; परन्तु कला-पक्ष परम्परागत ही रहा।

इसके बाद दूसरे समर्थ साहित्यिक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी हुए। उन्होंने अपने युग के साहित्य को प्रभावित किया और उन्हीं के नाम पर इस युग का नाम द्विवेदी-युग (सन् १९००-१९१५) पड़ा।

द्विवेदी-युग

भारतेन्दु-युग में राजभक्ति और देशभक्ति का समन्वय पाया जाता है तो द्विवेदी-युग में देशभक्ति की भावना प्रबल रही और

राजभक्ति दूर भाग गई। यह ठीक है कि भारतेन्दु ने हिन्दी-काव्य को नए-नए विषयों की ओर उन्मुख किया, परन्तु उनकी काव्य-भाषा ब्रजभाषा ही रही। द्विवेदी-युग में काव्य-भाषा बनी खड़ी बोली। यों तो खड़ी बोली का आन्दोलन मुजफ्फरपुर के बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री द्वारा खड़ा किया जा चुका था, पर महावीरप्रसाद द्विवेदी के सहयोग के कारण खड़ी बोली को अप्रतिम बल मिला। सुतरां द्विवेदीजी ने काव्य के क्षेत्र में एक नई भाषा दी—खड़ी बोली, जो अन्तःसलिला के रूप में कविता में बह रही थी। और, इस युग के कविगण सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, नाथूराम शंकर शर्मा, गोपालशरण सिंह, हरिऔध, रामनरेश त्रिपाठी, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' आदि खड़ी बोली में काव्य का प्रणयन करने लगे। हिन्दी में परम्परा से व्यवहृत छंदों के स्थान पर संस्कृत के वृत्तों का चलन हुआ जिसके कारण संस्कृत-पदावली का समावेश बढ़ने लगा। भक्तिकाल और रीतिकाल की परिपाटी के स्थान पर पिछले संस्कृत-साहित्य की पद्धति की ओर लोगों का ध्यान बँटा। द्विवेदीजी 'सरस्वती' द्वारा बराबर कविता में बोलचाल की सीधी-सादी भाषा का आग्रह करते रहे जिससे इतिवृत्तात्मक (Matter of fact) पद्यों का खड़ी बोली में ढेर लगने लगा। इस प्रकार इस युग की कविताओं में हृदय का स्पन्दन नहीं है, भाव-भाषा-छंद की वह अन्विति नहीं है, जो काव्य में अतीन्द्रिय झंकार भर देती है।

प्रथम महायुद्ध (सन् १९१४-१८) से वर्त्तमान हिन्दी कविता की धारा एक नई दिशा की ओर बहती है जो सन् १९३५ तक एक ही धारा में प्रवाहित रही। इस युग का नामकरण किसी व्यक्तिविशेष पर नहीं हुआ, क्योंकि अब भारतेन्दु या द्विवेदीजी के ऐसा कोई समर्थ व्यक्ति नहीं रहा, वरन् प्रमुख प्रवृत्ति

छायावाद युग

को दृष्टिपथ में रखते हुए साहित्यिक महारथियों ने इस काल को छायावाद-काल के नाम से विभूषित किया। वास्तव में यह काल खड़ी बोली की कविता का स्वर्ण-काल है। राजनीति के क्षेत्र में महात्मा गांधी का अवतरण इस युग की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। इसी युग में असहयोग-आन्दोलन और सविनय अवज्ञा-आन्दोलन चले जिन्होंने

आगे बल पाकर ब्रिटिश साम्राज्य की नींव हिला दी। महात्मा गाधी का व्यक्तित्व इतना महान् था कि उनके राजनीतिक मंच पर आने के वाद का युग गाधी-युग कहलाता है। इस युग को कविता में श्री मैथिलीशरण गुप्त ने और गद्य में स्वर्गीय प्रेमचन्द ने प्रतिबिंबित किया। बीसवीं शताब्दी के साहित्य में गाधी-युग के ये दो गगनचुम्बी आलोक-स्तभ हैं। गाधीजी को केवल राजनीतिक मानना उसी प्रकार का भ्रम होगा जिस प्रकार मार्क्स को केवल अर्थशास्त्री मानता। मार्क्स के समान ही गाधीजी ने जीवन को देखने के लिए एक विराट दृष्टि दी, एक जीवन-दर्शन दिया। उनका प्रभाव राजनीति, धर्म, समाज सभी पर पड़ा। इतना होते हुए भी गाधीवादी कवि इस युग में बहुत थोड़े हुए—उदाहरण के लिए माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, सुभद्रा कुमारी चौहान, सोहनलाल द्विवेदी आदि। मैथिलीशरणजी को छोड़कर इस युग ने जिन महान् कवियों को उत्पन्न किया वे और ही थे। उनका व्यक्तित्व एक भिन्न ही दिशा में विकसित हो रहा था। उन्हीं के कारण यह युग 'छायावादी युग' कहलाया। गाधीवाद के प्रति उनकी सहानुभूति थी, किन्हीं अशों में वे उसके समर्थक और पोषक भी रहे, परन्तु उन्हे गाधीवादी नहीं कहा जा सकता। गाधीवाद अपनी सीमा में उन्हें बाँधकर नहीं रख सका। वे थे जयशकर 'प्रसाद', सुमित्रानन्दन पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और महादेवी वर्मा। इनमें से कोई एक भी उन चार कवियों से, जिनके नाम ऊपर गिनाए गये हैं, मिलाकर तौल में भारी बैठेंगे।

सन् १९३५ से प्रगतिवाद-युग आरंभ होता है। भारतवर्ष में इसका सर्वप्रथम सम्मेलन स्वर्गीय प्रेमचन्द के सभापतित्व में सन् १९३६ में हुआ।

प्रगतिवाद

प्रगतिवाद मार्क्सवाद का सहोदर भाई है। इसका जन्म छायावाद की अत्यधिक कल्पनाशीलता, भावुकता और आदर्शवादिता की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ। 'प्रगतिवादी काव्य के मूल में जीवन और साहित्य के अनन्य सम्बन्ध की भावना है', यद्यपि इस विषय में वह भी छायावाद की तरह प्रगतिवाद से ग्रस्त है। छायावाद जीवन से भागकर प्रकृति, दर्शन, धर्म और सौंदर्य में आश्रय ग्रहण करता है, प्रगतिवाद

केवल जीवन की—अन्न-वस्त्र और यौन की—समस्याओं में ही उलझकर रह जाता है। उसके लिए न पूर्ववर्ती साहित्य का अस्तित्व है, न प्रकृति के मनोरम चित्र हैं। दर्शन उसके लिए वितंडावाद है और धर्म पाखण्ड। इस प्रकार इस नए विद्रोह में भी एक प्रकार की अस्वस्थता आ गई। चाहे जो भी हो प्रगतिवाद ने वर्त्तमान हिन्दी-कविता को धरती पर ला छोड़ा है और उसने भू-जीवन को नई श्रद्धा से अलकृत किया है।

प्रगतिवाद अपनी शैशवावस्था में ही था कि हिन्दी-कविता कानन में प्रयोगवाद आ धमका। हिन्दी-कविता में प्रयोगवाद ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार कविता में कवितावाद। हिन्दी-साहित्य के अध्ययनशील पाठक तो यह जानते ही हैं कि साहित्य में प्रयोग तो आरम्भ से ही होता है और जब भी साहित्य में कोई नवीन वस्तु प्रवेश करती है तब वह अपनी प्रयोगावस्था में ही रहती है। प्रयोगों की यह परम्परा नई नहीं है, वह आज के मस्तिष्क की उपज भी नहीं है; हाँ, उसे 'वाद' बनाने के दुराग्रह को नया कहा जा सकता है। सबसे बड़ी दिक्कत प्रयोगवादी रचनाओं की सीमा-रेखा निर्धारित करने में होती है। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद, दोनों में इतना सूक्ष्म भेद है कि कभी-कभी पार्थक्य कठिन सा हो जाता है और अनेक प्रगतिवादी रचनाएँ प्रयोगवाद के अन्तर्गत परिगणित की जा सकती हैं। प्रयोगवादियों ने अबतक साहित्य-क्षेत्र में कुछ अछूत विषयों पर दृक्पात किया है सही; किन्तु, उनका अपना कोई स्वतंत्र दर्शन नहीं है। अभी उनकी कविता का कोई रूप भी स्पष्ट नहीं हो पाया है। अधिकांश प्रयोगवादी रचनाओं में जो मिलता है वह है गहरी अस्पष्टता, धुँधलापन, वैचित्र्य और प्रत्येक वस्तु को एक नवीन दृष्टिकोण से देखने का गहरा मोह। जब से साहित्य में यथार्थ के चरित्रांकन की प्रवृत्ति बढ़ी है, सारा साहित्य वैयक्तिक वास्तविकता की दुरूह एवं कल्पनात्मक अभिव्यक्तियों से भरता जा रहा है। यह जिन्दगी के किसी भी पहलू, किसी भी पक्ष का दिग्दर्शन और कहीं से भी मसाला बटोरने की ताक में रहता है। मनोगत द्वन्द्व-संघर्षों—अन्दरूनी आवेग-प्रवेगों को समझने का उसके पास न अवकाश है और न

प्रयोगवाद

उत्साह। निष्ठुर व्यक्तिवादिता पनप रही है। सहज तत्त्व गौण पड़ गये हैं। अन्तर्जगत् की प्रहेलिकाओं मे उलझा कवि नहीं समझ पा रहा है कि वह क्या चाहता है और क्या लिख रहा है। उसके तर्क बाहर से सत्य प्रतीत होते हुए भी भीतर से थोथे और बेजान हैं। उसकी लेखनी राह और बेराह रेंगती है और निराधार अलक्ष्य तारों को झनझना देती है। हमें कोई आपत्ति न होगी यदि प्रयोगवादी कवि जीवन में विराट् सपनों को अपने कृतित्व में अधिकाधिक साकार करे, अपनी निश्छल और विखरी सहानुभूति को आकर्षक और नूतन ढग से दूसरों के सामने रखे। उनकी अभिव्यक्ति में जनवादी स्वर हो, उनकी पुकार में मर्म को कचोटने वाली संवेदना हो और सबसे बड़ी बात उनमें व्यापक सत्य को सर्वांगपूर्णता और राग-तत्त्वों को उद्वेलित करने की शक्ति हो।

इस प्रयोगवादी कविता से जब हमारे कवि ऊब गये तब वे इसके प्रतिक्रिया-स्वरूप पहुँचावाद कविताओं का सृजन करने लगे। उन्होंने इस प्रकार की कविताओं का नाम रखा पहुँचावाद जो दीर्घसूत्री कविता हैं। 'प्रयोगवाद' और पहुँचावाद का भविष्य क्या है! अंधकार ही जानता है, प्रकाश नहीं।

'वादों' के चक्कर ने हिन्दी-कविता को वाग्जाल से आच्छादित कर दिया है। पत्रों में कोई कविता प्रकाशित हुई कि नहीं, लोगों ने उसे 'वादों' के कटघरे में वन्द करना शुरू कर दिया। इसके फलस्वरूप कविता

उपसंहार

कविता नहीं रह जाती है, प्रत्युत कुछ और हो जाती है। अगर साहित्य में इस प्रकार की प्रवृत्ति बनी रही तो कविता मर जायगी और हिन्दी-कविता का आरभ फिर आदिकाल से होगा, बस!

कबीरदास

कबीर के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। कबीरदास जाति के जुलाहा थे, जैसा कि उन्होंने स्वयं इसका

उल्लेख कई बार अपने पदों में किया है, परन्तु उन्होंने अपने को पूर्व जन्म का ब्राह्मण माना है। उनका जन्म सं० १४५६ वि० ज्येष्ठ पूर्णिमा चन्द्रवार को हुआ था। कबीरदास एक जुलाहे दम्पति द्वारा लहर नामक तालाब पर पाये गये थे, उसी दम्पति ने इनका पालन-पोषण किया। पिता का नाम नीरू और माता का नाम नीमा था। इनका विवाह भी हुआ। इनकी स्त्री का नाम लोई था। कहा जाता है कि इनके दो संताने थीं जिनमें एक पुत्र था, दूसरी पुत्री। पुत्र का नाम था कमाल और पुत्री का नाम कमाली। कबीर को जब गार्हस्थ्य सुख-सन्तोष न दे सका तब वे घर छोड़कर सन्त हो गए। बाद में इन्होंने इसकी निन्दा की और इसे अपना अज्ञान समझा।

जीवन-वृत्त

रामानन्द कबीर के गुरु थे। वे राम के उपासक थे। कबीर ने उनसे राम-मंत्र लिया। उस नाम को छोड़कर कबीर ने उनसे राम का रूप नहीं लिया। राम का रूप कबीर ने स्वयं तैयार किया और इस रूप में प्रस्तुत किया कि कबीर के राम रामानन्द के राम से विशिष्ट और भिन्न हो गए। कबीर की भक्ति रामानन्द की भक्ति से आगे बढ़ गई। कहा जाता है, कबीर ने अपना समस्त जीवन काशी में व्यतीत किया। सुना जाता है कि मरने के समय कबीर काशी मे नहीं रह सके। शायद किसी वजह से उन्हें काशी छोड़ना पड़ा। मृत्यु के समय कबीर के मुँह से राम-नाम निकला था। राम-राम कहते-कहते कबीर का नश्वर शरीर छूट गया। उनकी निधन-तिथि सं० १५७५ वि० प्रसिद्ध है। इस तरह उन्होंने १२० वर्ष की उम्र पायी थी।

रचनाएँ

कबीरदास ने किसी ग्रंथ की रचना नहीं की थी, लेकिन उनके द्वारा गाये पदों को उनके शिष्यों ने संग्रह किया, जो 'बीजक' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके तीन भाग हैं—रमैनी, सबद और साखी। इनकी रचनाओं के सम्बन्ध में खोज से पता चला है कि कबीर-कृत ६१ पुस्तकें हैं जिनमें अधिकांशतः संदिग्ध हैं। अभी तक कबीर की रचनाओं का कोई प्रामाणिक ग्रंथ उपलब्ध नहीं है।

हिन्दीसाहित्य में कबीरदास ही सर्वप्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने ने परमात्मा के प्रेम और भक्ति का उन्नत मार्ग सब लोगों को दिखलाया। उन्हीं के बाद संतों की बाढ़ आयी थी। सर्वप्रथम उन्होंने ही 'माधुर्य भाव' को लेकर भक्ति की। वे ही प्रेम के पहले दीवाने भक्त हैं जिन्होंने ईश्वर की भक्ति पति-रूप में की थी। उन्होंने स्वय कहा—

कबीर की काव्य-साधना

हरि मेरा पीव भाई, हरि मेरा पीव, हरि विना रहि न सकै मेरा जीव।
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया, राम बड़े मैं छुटक लहुरिया॥
किया शृंगार मिलन कै नाई, काहे न मिलौ राजा राम गुसाईं।
अबकी बेर मिलन जो पाऊँ, कहै कबीर भौ-जल नहीं आऊँ॥

अस्तु, कबीर ने सर्वत्र 'माधुर्यभाव' को व्यक्त किया है। सिर्फ आत्म-निवेदन और आत्मसमर्पण के प्रसग को अगर हम छोड़ दें तो कबीर की भावना में हम हर स्थल पर माधुर्य की ही झाँकी पाते हैं।

कवीर निर्गुण राम (ब्रह्म) के उपासक थे, न कि दाशरथी राम के। वे देवताओं को सीमाबद्ध नहीं रखना चाहते थे। प्रायः सभी देवताओं को सीमाबद्ध देखकर उनका हृदय क्षुब्ध हो उठा, पर वे निराश नहीं हुए। ऐसी विषम परिस्थिति में उन्होंने धैर्य से काम लिया। वे धोखे के फेर में आनेवाले जीव नहीं थे और वे दूसरे को धोखा देना चाहते भी नहीं थे। हाँ, एक बात वे अवश्य किया करते थे, वह यह कि सबको ठग जानकर जरा चुटकी ले लेते थे—

माया महा ठगिनि हम जानी।
निरगुन फाँस लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी॥

कहत कबीर सुनो हो संतों! यह सब अकथ कहानी॥

—इसके कहने का तात्पर्य यह था कि उनका ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, वह अवतार नहीं लेता है। वह अलख, अगोचर, अज्ञेय है। यही कारण है कि कबीर ने उसे किसी विशेष नाम या विशेष आकार में नहीं बाँधा। राम,

गोविन्द, अल्लाह, रहीम आदि अनेक नाम से अपने ब्रह्म का सम्बोधन उन्होंने किया है। इसका तात्पर्य यह है कि ये सभी नाम उसी ब्रह्म के आंशिक रूप हैं। अतः इन नामों के द्वारा वह याद किया जा सकता है।

कबीर ईश्वर और जीव की एकता मानते थे। यही हमारे यहाँ का अद्वैतवाद है। उन्होंने भारतवर्ष का ज्ञानवाद लिया और सूफियों का रहस्यवाद। अद्वैतवाद से माया और चिंतना तथा सूफीमत से प्रेम लेकर उन्होंने अपने रहस्यवाद की सृष्टि की। आत्मा-परमात्मा के मिलन में माया बाधक है। अतएव कबीर ने माया पर अत्यधिक प्रकाश डाला है। उनका सिद्धान्त था कि माया का आवरण जब हट जाता है तब जीव और ब्रह्म की एकता हो सकती है। जैसे :—

(क) पानी ही ते हिम भया, हिम ह्वी गया बिलाय।
कबिरा जो था सोइ भया, अब कछु कहा न जाय॥
(ख) हेरत हेरत हे सखी, हेरत गया हेराय।
बुन्द समानी समुँद में, सो कित हेरी जाय॥

कबीरदास पूर्ण समताभाव को माननेवाले थे। उनकी दृष्टि में ब्राह्मण और शूद्र, राम और रहीम में अन्तर नहीं है। वे कहते थे कि बड़ा वही है जिसके कर्म अच्छे हैं। देखिये—

हिन्दू तुर्क की एक राह है, सतगुरु इहै बताई।
कहै कबीर सुनो हे संतो, राम न कहेउ खोदाई॥
ऊँचे कुल का जनमिया, करनी उँच न होय।
सुवरन कलस सुरा भरा, साधो निन्दा सोय॥

कबीर ने वैष्णव सम्प्रदाय से अहिंसा-तत्त्व को ग्रहण किया। यह सूफी साधकों के लिए भी मान्य है। इसीलिए मुसलमानों के बीच हिंसा की जो प्रवृत्ति पायी जाती है उसकी कबीर ने तीव्र आलोचना की है। देखिये—

(१) दिन भर रोजा रहत है, राति हनत हैं गाय।
यह तो खून वह बंदगी कैसे खुशी खुदाय॥

(२) घास पात जे चरत हैं तिनकी काढ़ी खाल।
जे मुर्गी को खात है, तिनकी कौन हवाल॥

कबीर ने मूर्ति पूजा, ऊँच-नीच के भाव, छुआछूत, रोजा-नमाज, तिलक-छाप आदि की घोर भर्त्सना की है, यथा—

(क) कांकर पाथर जोरि कै मसजिद लई चुनाय।
तापर मुल्ला बांग दे, क्या बहरा हुआ खुदाय॥

(ख) अपने हाथन करी थापना अजया का सिर काटी।
सो पूजा घर लैगा, मूरत कुत्तम चाटी॥

कबीर ने झूठे ज्ञान की निन्दा और सच्चे ज्ञान की महिमा गाई है। इसके अतिरिक्त बुद्धि की निन्दा और सच्चे ज्ञान की महिमा गाई है।

कबीर हठयोग के साधनों को मानते थे; क्योंकि—

अवधू गगन मंडल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजत, वर्क नालि रस पीजै।
मूल बाँधि सर गगन समाना, सुखमन यों तन लागी॥
मनवाँ जाइ दरीबो बैठा, मगन भया रसि लागा।
कहैं कबीर जिय सत्संग नाहीं सबद अनाहद लागा।

जब व्यक्तिगत अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए साधारण भाषा से काम नहीं चला तब कबीर ने किसी रूपक का सहारा लेकर भावाभिव्यक्ति की है। यथार्थ तो यह है कि जो कबीर के सिद्धांतों से पूर्णतया परिचित हैं, वे ही उनका अर्थ लगा सकते हैं। कबीर ने इन रूपकों को विशेष कर दो रूपों में बाँधा है। एक तो उलटवाँसी का रूप जिसमें स्वाभाविक व्यापारों के विपरीत कार्य की कल्पना की जाती है। और, दूसरा रूप है आश्चर्यजनक घटनाओं की सृष्टि। इन दोनों का सम्बन्ध रहस्यवाद से है। शरीर में अनन्त परमात्मा की अनुभूति वैसी ही है जैसे नाव में नदी का डूब जाना, और परमात्मा से मिलन का आनन्द वैसा ही है जैसे सिंह का पान कतरना। इन रूपकों से यद्यपि भावना स्पष्ट नहीं हो पाती, पर अनुभूति की अभिव्यक्ति अवश्य हो जाती है। कबीर

कहीं-कहीं इन्हीं रूपकों के कारण अस्पष्ट हो गए हैं, पर हमें उन रूपकों में कबीर की अनुभूति को ही खोजने की चेष्टा करनी चाहिए। कुछ उदाहरण देखिये—

(अ) जलि जाई थलि ऊपजी आई नगर में आप।
एक अचम्भा देखिया बिटिया जायो बाप॥

(आ) एक मरंते दह मुए दोइ मरंतह चारि।
चारि मरंतह छह मुए चारि पुरुष दुइ नारि॥

भाषा-शैली

कबीर की भाषा सधुक्कड़ी है जिसमें खड़ी बोली, ब्रजभाषा, पंजाबी, पूर्वी हिन्दी, अवधी आदि कई बोलियों का सम्मिश्रण है। अपने धार्मिक सिद्धांतों के प्रचार के लिए कबीर ने जन-समुदाय की भाषा का खिचड़ी-रूप ही ग्रहण किया। डा० रामकुमार वर्मा ने कबीर की भाषा को असाहित्यिक एव सौन्दर्यहीन माना है, परन्तु डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है, उसी रूप में भाषा से कहलवा दिया है—बन गया है तो सीधे-सादे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नजर आती है। उसमें मानों ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की फरमाइश को नाहीं कर सके।' कबीर की कविताओं में क्रिया-पदों के रूप विशेषतया ब्रजभाषा और खड़ी बोली के हैं। इनकी कविताओं में अवधी, ब्रजभाषा और राजस्थानी के कारक-चिन्ह पाये जाते हैं। इनकी रचनाओं में शब्दों का विकृत रूप देखने को मिलता है, शायद ऐसा लोक-गीतों के रूपों में प्रचलित होने के कारण है। इनके पदों में छन्द-दोष, मात्राओं की न्यूनता और पुनरुक्ति आदि त्रुटियाँ पायी जाती हैं। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं ऊटपटाँग देहाती छन्दों का भी प्रयोग हुआ है। सच तो यह है कि कबीर उपदेशक थे जिसके कारण इनकी अधिकतर उक्तियाँ ठेठ देहाती भाषा में हैं, यथा—

न तो कौनों क्रिया करम में, नहीं जोग वैराग में।
खोजो होय तूतो तों मिलिहौ पलभर की तालास में॥

मैं तो रहौ सहर के बाहर मेरी पुरी मवास में।
कहै कबीर सुनो भाई साधो सब साँसों की साँस में॥

कबीर अपनी शैली के निर्माता स्वय थे। उसमें उनका व्यक्तित्व बोलता है। 'उनकी शैली इतना अपनापन लिए हुए है कि कोई भी उनकी नकल नहीं कर सकता है। अपना विचित्र शब्द-जाल, अपना स्वतंत्र भावोन्माद, अपना निर्भय आलाप, अपने भावपूर्ण पर बेढगे चित्र, ये सभी उनके व्यक्तित्व से ओत-प्रोत थे। कला के क्षेत्र का सब-कुछ उन्हीं का था।' जहाँ पर कबीर बाह्याडम्बर आदि बातों की चर्चा करते थे, वहाँ पर उनकी शैली व्यग्यात्मक होती थी। कबीर के विरह-वर्णन में शैली की मार्मिकता देखते हैं। कबीर की तर्क-शली भी अनोखी है, उसकी एक अलग अदा है। उनके तर्क शास्त्रीय मापदंड पर खरे नहीं उतरते, पर अनुभव के तराजू पर वे खरे आते हैं। यह उनकी ग्रामीण शैली थो, लेकिन थी अपने अभीष्ट स्थान पर पहुँचनेवाली और प्रभावशाली। हमें उनकी रचनाओं में अनेक स्थलों पर शैलीगत दुरूहता लक्षित होती है। इसके तीन मुख्य कारण हैं—(क) उनके प्रतीकों की अनभिज्ञता, (ख) उनकी भाषा की प्राचीनता और (ग) सहानुभूति का अभाव। अलकारों के क्षेत्र में भी हमें कबीर की मौलिकता दीख पड़ती है। अधिकतर ऐसे ही अलकारों का प्रयोग हुआ है जो साम्य पर आधारित हैं और करीव-करीव सभी अप्रस्तुत परम्परागत न होकर घरेलू, पडित-समाज से संबंधित न होकर मौलिक, किसी विशेष शास्त्रगत न होकर सामान्य जीवनगत, और नागरिक न होकर ग्रामीण हैं।

कबीर हिन्दी के आदि रहस्यवादी कवि हैं और उनका ऋण कवीन्द्र रवीन्द्र पर भी है। कबीर कवि नहीं वरन् भक्त थे। हिन्दी के ज्ञानाश्रयी कवियों में कबीर का स्थान सर्वोच्च है।

साखी (टीका)

शब्दार्थ, व्याख्या और आशय

(१) चार भुजा के भजन मे ··· ··भुजा अनन्त॥

शब्दार्थ—चार भुजा = भगवान विष्णु। भूलि परै = लगे परे = लगे रहे। सुमिर = याद करता हूँ। तसुको = उसको। जाके = जिसके।

भावार्थ—यों तो उस परम पुरुष से ही ब्रह्मा विष्णु, महेश की उत्पत्ति हुई है परन्तु हमें उसी निर्गुण ब्रह्म का स्मरण करना चाहिए। कबीरदास कहते हैं कि चार भुजाओं वाले भगवान विष्णु के ही भजन में सब संत लगे हुए हैं और वे परम तत्व को भूल बैठे हैं, लेकिन मैं तो उसी का स्मरण करता हू, उसीका भजन करता हूँ जिसकी अनन्त भुजाएँ हैं।

विशेष—सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात् (वेद)।

जबहिं नाम हिरदै धरा ··· परी पुरानी घास।

शब्दार्थ—नाम = भगावन का नाम। हिरदे = हृदय। भया = हो गया।

भावार्थ—यह एक नीति संबंधी दोहा है। इसमें नाम की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। कबीरदास कहते हैं कि शुद्ध हृदय से भगवान का नाम लेते ही सब पापों का वैसे ही नाश हो जाता है जैसे पुरानी सूखी घास पर आग की चिनगारी पड़ने से वह पूर्ण रूप से जल कर राख हो जाती है।

(३) कहना था सो कह दिया ··· ·· दरिया लहर समाय॥

शब्दार्थ—दूजा = दूसरा। दरिया = नदी। समाय = मिल जाना।

भावार्थ—ब्रह्म और जीव का संबध स्थापित करते हुए कबीरदास कहते हैं कि उसे जो कुछ कहना था, सो उसने कह दिया। अब इस अवस्था के संबध में कहा ही क्या जा सकता है अर्थात् जीव और ब्रह्म की यह तादात्म्यता अभिन्न है। जीव और ब्रह्म के बीच वही संबंध है जो एक नदी और उसके लहर के बीच में है। लहरों की उत्पत्ति नदी के जल से होती है और वह उसी में जाकर खो जाती है। ठीक उसी प्रकार जीव की उत्पत्ति ब्रह्म से होती है और वह फिर उसीमें जाकर समा जाता है।

विशेष—इसकी तुलना स्वामीराम की पंक्तियो से कीजिए—'दरिया की डुबाव से है यह सदा तुम और नहीं हम और नहीं।'

(४) लिखा लिखो की है · फीकी पड़ी बरात॥

शब्दार्थ—लिखा-लिखी=सैद्धान्तिक। देखा-देखी = व्यवहारिक (Practical)। दुलहा = परमात्मा। दुलहिन = आत्मा। बरात = संसार।

भावार्थ-ब्रह्मज्ञान की अनिर्वचनीयता के संबंध में कबीरदार कहते हैं कि यह ससार एक बारात के समान है। जीव ब्रह्म की एकता का विषय न लिखनेवाला ही है और न लिखा ही है। यह तो देखा देखी स्वयं अनुभव करने की बात है और दुलहा (ब्रह्म) और दुलहिन (जीव) का मिलन हो गया तब सब बारात (याने सासारिक बाह्य आम्बर) नीरस (फीके) हो जाते हैं।

(५) प्रेम न बाड़ी ऊपजै——सीस देइ लै जाय॥

शब्दार्थ—बाड़ी=वाटिका। हाट=बाजार। सीस देई=आत्मबलिदान।

भावार्थ--कबीरदास कहते हैं कि आत्मसमर्पण ही प्रेम-प्राप्ति का साधन है। प्रेम न बाजार में बिकता है और न बाग में उपजता ही है। यह कोई ऐसी चीज नहीं जिस पर गरीब का कोई अधिकार नहीं। प्रेम वह वस्तु है जिसे हम रुपये से नहीं खरीद सकते और न फुलवारी में उपजाकर उसके रस का आस्वादन ही कर सकते हैं। राजा-प्रजा, अमीर गरीब, सभी इसके अधिकारी हैं। आत्मसमर्पण के लिए प्रस्तुत रहनेवाले मनुष्य जब चाहे तब इसको प्राप्त कर सकते हैं।

(६) जब मै था तो गुरु ··· ···दो न समाहिं॥

शब्दार्थ—गुरु=परमात्मा। साँकरी=संकीर्ण, तग। ता मैं=उसमें।

भावार्थ—फक्कड़ कबीरदास कहते हैं कि जबतक मुझमें अहं-भावना थी तब तक मैं प्रभु को नहीं जान पाया था। अब मैंने प्रभु को पहचान लिया है तो मेरा अहभाव दूर हो गया। कहने का तात्पर्य यह है कि पहले आत्मा का ही अस्तित्व था लेकिन जब परमात्मा का प्राप्ति हो गई तो परमात्मा ही रह गया, आत्मा का अस्तित्व लोप हो गया। यह प्रेम का मार्ग अत्यन्त संकीर्ण है जिसके मार्ग में ब्रह्म और जीव की अलग-अलग सत्ता नहीं हो सकती। कहने का तात्पर्य यह है कि इस अलौकिक प्रेम के द्वारा ब्रह्म और जीव का एकाकार हो जाना अत्यन्त आवश्यक है।

(७) उठा बवूला प्रेम का ···तिनका तिनके पास॥

शब्दार्थ—बवूला=झोका। तिनका=कण, जीव, ब्रह्म।

भावार्थ—अलौकिक प्रेम की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कबीरदास कहते हैं कि जिस प्रकार हवा के झोंके से एक छोटा सा तिनका आकाश में जाकर उड़ने लगता है और एक दूसरे मे मिल जाते हैं, उसी प्रकार जब प्रेम की अधिकता होती है तव तिनका (आत्मा) ऊँचा उठ जाता हैं और तिनका (ब्रह्म) से जा मिलता है। उस ब्रह्म का एक अश आत्मा है। वह अंश अपने सम्पूर्ण में जाकर मिल जाता है।

अलंकार—इसमें यमक अलकार है।

(८। नैनों की करि कोठरी······पिय को लिया रिझाय।

शब्दार्थ—नैनों=आँखों। पिय=प्रियतम। रिझाय=प्रसन्न करना।

भावार्थ—कबीरदास ने परमात्मा को पति का रूप प्रदान किया और उसकी उपासना पति रूप में की है। वे कहते है कि जिस प्रकार नायिका अपना शृंगार कर अपने प्रेमी को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है उसी प्रकार भक्त नेत्रों की कोठरी (कमरा) बनाकर उसमे पुतली रूपी पलंग बिछा कर और पलक रूपी परदा डालकर अपने प्रियतम (परमात्मा) को वश में कर लेता है। इस दोहे का मूल भाव यह है कि प्रियतम का चित्र नेत्रों में खींच लेने पर ही वह वश में हो सकता है।

अलंकार—इसमें सागरूपक अलंकार है।

(९) हरि से तू जनि हेत ······हरिजन हरि हीं देत ॥

शब्दार्थ—हरि = परमात्मा। जनि = नहीं। हेत = भक्ति, प्रेम। हरिजन = भगवान का भक्त। मुलुक = ससार।

भावार्थ—कबीरदास भक्तों की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि तू भगवान से प्रेम करने के बदले ईश्वरभक्तों से प्रेम किया कर। तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान तुम्हे सांसारिक वैभव (माल जमीन आदि) प्रदान करेंगे लेकिन, यदि ईश्वर-भक्त तुम पर प्रसन्न हो जायँगे तो तुम्हे साक्षात् भगवान ही प्राप्त हो जायेंगे।

(१०) ज्ञान रतन की कोठरी······कुंजी बचन रसाल।

शब्दार्थ—पारखि=परखनेवाला। रसाल=रसपूर्ण।

भावार्थ—कबीरदास कहते हैं कि ज्ञान अमूल्य रत्नों से पूर्ण कोठरी (जहाँ सामान रखा जाता है, कोठरी का अर्थ गठरी भी ले सकते हैं) के समान है जिसे मौन रूप धारण कर बन्द किए रहना चाहिए। यदि कोई अच्छा पारखी मिले तब उस ज्ञानरूपी रत्न की कोठरी को, जो मौनरूपी ताले से बन्द है, मधुर वचन की कुंजी से खोलना चाहिए। कहने का मूल भाव यह है कि मनुष्य अपने ज्ञानपूर्ण बातों को अयोग्य व्यक्तियों के समक्ष न कहा करे और यदि योग्य व्यक्ति मिल जाय तब उनके समक्ष अपने ज्ञान की बात कहा करें।

(११) कथनी मीठी खाँड ... विष से अमृत होय।

शब्दार्थ—कथनी = बोली। करनी = कर्म। लोय = गोली।

भावार्थ—कबीदास कहते हैं कि किसी बात को कहना तो आसान है (अर्थात् शक्कर के समान मीठा है) लेकिन, उसे करना टेढ़ी खीर (विष की गोली) है। यदि लोग कह कर कर्म करें तो विष भी अमृत हो जाय।

(१२) सिर राखे सिर जात ... कटि उजियारा होय॥

शब्दार्थ — कटि = कटकर। उजियारा होय = प्रकाश होता है।

भावार्थ—प्रस्तुत साखी में कबीरदास ने आत्मबलिदान की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि जिनमें आत्मोत्सर्ग की भावना विद्यमान हैं, वे ही ईश्वर को प्राप्त कर सकते हैं और जिनमें इसका नितान्त अभाव है वे परमात्मा को नहीं प्राप्त कर सकते हैं। जिस प्रकार दिये की बत्ती कटने पर ही प्रकाश देती है उसी प्रकार अपना प्राण देने पर ही भक्त परमपद का भागी होता है।

(१३) गुरु धोबी सिष कापड़ा ... निकसै जोति अपार॥

शब्दार्थ—सिष = शिष्य। कापड़ा = वस्त्र। सिरजनहार = सृष्टिकर्त्ता, ईश्वर। सुरति = ध्यान। सिला = पत्थर। ज्योति = रोशनी।

भावार्थ—इसमें कबीरदास ने एक रूपक के माध्यम से गुरु की महत्ता पर प्रकाश डाला है। वे कहते हैं कि गुरु धोबी के समान और शिष्य वस्त्र है, साबुन ईश्वर है और ईश्वर का ध्यान ही शिला (पत्थर) है। जिस प्रकार धोबी पत्थर पर कपड़े को साबुन से धोता है उसी प्रकार गुरु ध्यान या समाधि

द्वारा शिष्य को ब्रह्मज्ञान से शुद्ध करता है और तब उसमें एक अपरम्पार ज्योति निकलती है अर्थात् ब्रह्म का प्रकाश आता है।

अलंकार—इसमें समस्त वस्तु विषयक सागरूपक अलंकार है।

(१४) वृच्छ-वृच्छ कवहुँ ... ... साधुन धरा सरीर ॥

शब्दार्थ—मखैं = खाता है। सचै = जमा करता है।

भावार्थ—इसमें संतों के लक्षण बतलाये गए हैं। कबीरदास कहते हैं कि जिस प्रकार वृक्ष अपने फलों को दूसरों के लिए सुरक्षित रखते हैं, नदी अपने जल को दूसरों की ही प्यास बुझाने के लिए रखती हैं, उसी तरह साधु भी परहित साधन के लिए ही अपने शरीर को प्रस्तुत रखते हैं। वे अपने शरीर से अपनी स्वार्थ-सिद्धि के हेतु कोई कार्य नहीं करते, परोपकार, सदाचार और धर्म की रक्षा के लिए ही वे शरीर धारण करते हैं।

(१५) कविरा संगत साधु की ... 'आठो पहर उपाधि ॥

शब्दार्थ—व्याधि = मानसिक कष्ट। उपाधि = कलह।

भावार्थ—कवीरदास कहते हैं कि साधु की सगंति बहुत अच्छी होती हैं। उनका कथन है कि साधुओंके सत्संग से शारीरिक रोग दूर हो जाते हैं परन्तु जो दुर्जन हैं, उनकी संगति का फल बुरा होता है क्योंकि ये हर घड़ी उपद्रव मचाते रहते हैं। दुर्जनों की कुसंगति से मानसिक शान्ति भग हो जाती है, फलतः मनुष्य विविध रोगों का शिकार बन जाता है।

(१६) निंदक नियरे राखिए ... निर्मल करै सुभाय।

शब्दार्थ—निंदक = निन्दा करनेवाला। नियरे = पास।

भावार्थ—कवीरदास कहते हैं कि निन्दा करनेवाले को अपने आँगन में कुटी छवा कर पास ही रखना चाहिए क्योंकि वह विना जल या साबुन के हमारा स्वभाव निर्मल कर देगा। इसका मूल भाव यह है कि निन्दा करनेवाला हमारे दोषों को खोलकर रख देगा।

(१७) गुरु गोविन्द दोनों खड़े ... गोविन्द दियो वताय ॥

शब्दार्थ—गोबिन्द = ईश्वर। काके = किसको।

भावार्थ—गुरु की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कबीरदास कहते हैं कि मेरे सामने गुरु और गोबिन्द ईश्वर) दोनों खड़े हैं। इस विषम परिस्थिति मेंमैं किसको पहले प्रणाम करूँ। ईश्वर ने संकेत से यह बतला दिया कि धन्य है गुरु क्योंकि उन्होंने ईश्वर के सम्बन्ध में हमें ज्ञान दिया। वस्तुतः गुरु ईश्वर से श्रेष्ठ हैं।

(१८) तेरा साँई तुझमें ·· ··फिर सूँघै घास ॥

शब्दार्थ—साई = स्वामी, ब्रह्म। तुज्झ = तुम। पुहुपन = फूल। बास = गध।

भावार्थ—ईश्वर का निरुपण कर कबीरदास कहते हैं कि जिस प्रकार फूलों में गंध रहता है उसी प्रकार तुम्हारा ईश्वर तुझमें निवास करता है, लेकिन जिस प्रकार हिरण की नाभि में कस्तूरी है पर वह उसकी गंध का निवास स्थान जानने के हेतु, उसको पता लगाने के लिए घाँसों को सूंघता फिरता है उसी प्रकार अपने अदर परमात्मा के रहते हुए भी अनुभव न करने के कारण अज्ञ लोग इधर उधर ढूँढ़ते फिरते हैं।

विशेष—दिलवर पास बसदा ढूँढ़न किये जवाना (स्वामीराम)। कारण यह है कि चित्तरुपी चकमक उससे नहीं लगता इसलिए वह अग्नि बुझ-बुझ जाती है। तात्पर्य्य यह है कि यदि चित्त की वृत्ति होगी तो तभी उसे ईश्वर का अनुभव होगा।

(१६) कमोदनी जल मे वसै · ·· सो ताही कै पास ॥

भावार्थ— आदर्श प्रेम के लक्षण को बतलाते हुए कबीरदास कहते हैं कि कुमुदिनी नामक फूल जल मे निवास करता है और चन्द्रमा आकाश में सुशोभित होता है फिर भी चन्द्रमा को देखकर ही कुमुदिनी फूलती है। कहने का भाव यह है कि जो वस्तु जिसे प्रिय मालूम पड़ती है, दूरी उसके लिए बन्धन नहीं है, वह उसी के पास रहती है।

(२०) जिभ्या में अमृत वसै · ·· जिभ्या का इकबोल ॥

शब्दार्थ—जिभ्या = जीभ। वासुकी = सर्प।

भावार्थ—कवीरदास उपदेश देते हुए कहते हैं कि हमलोगों को मीठी बोली वोलनी चाहिए। यह जीभ स्वाद को चखती है, परन्तु इसमें ही अमृत का निवास है, शर्त्त यह है कि वह वोलने का ढंग जाने। इसी जीभ की वाणी से सर्प का विष भी उतर जाता है। यह एक नीति-सम्वन्धी साखी है।

(२१) रोड़ा भया तो क्या ·······जिमीं की खेह ॥

भावार्थ—कवीरदास कहते हैं कि दुर्जन व्यक्ति मार्ग के पत्थर के समान होते हैं जो राहगीरों को कष्ट पहुँचाते हैं। साधु को तो ऐसा होना चाहिए जैसे रास्ते की धूल होते हैं।

(२२) खेद भइ तो क्या भया ·· ···पानी जैसा रंग ॥

भावार्थ—कवीरदास कहते हैं कि ईश्वर भक्तों को धूलि के समान नहीं होना चाहिए क्योंकि वह तो उड़-उड़कर सारे अंग में लगती है। साधु को स्वच्छ जल के समान होना चाहिए।

(२३) सिंहन के लहँड़े नहीं ·· · साधु न चलैं जमात ॥

शव्दार्थ—लहडे = झुण्ड, समूह। पाँत = पक्ति। वोरियाँ = बोरे के बोरे। जमात = समुदाय। लालन = एक मूल्यवान पत्थर।

भावार्थ—कवीरदास कहते हैं कि सिंहों के झुण्ड नहीं होते। हंसों की पक्तियों नहीं होती। लाल (कीमती पत्थर) वोरे के वोरे भरे हुए नहीं पाये जाते और सच्चे साधु जमात वाँध कर नहीं चलते। वहुमूल्य चीजों की अधिकता नहीं रहती है। अच्छे मनुष्य भी कम संख्या में पाये जाते हैं।

(२४) लघुता तें प्रभुता मिलै ··· हाथी के सिर धूरि ॥

शव्दार्थ—लघुता = विनम्रता। प्रभुता = अधिकार। धूरि = धूल।

भावार्थ—मानव का एक बहुत बड़ा गुण है नम्रता। इसकी महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कबीरदास कहते हैं कि नम्रता से ही अधिकार मिलता है, परन्तु अधिकार-प्राप्ति के पश्चात नम्रता दूर भाग खड़ी होती है और ईश्वर भी उससे दूर चला जाता है। इसकी पुष्टि के लिए चींटी और हाथी के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। अपनी लघुता के कारण ही चींटी-सा छोटा-सा जीव

शक्कर लेकर चलता है और प्रभुता के कारण ही हाथी-सा बड़ा जीव अपने मस्तक पर धूल ही डालता है।

(२५) मूँड़ मुँडाये हरि मिलैं, ... भेड़ न बैकुण्ठ जाइ ॥

शब्दार्थ—मूँड़ = सर। हरि = ईश्वर। बैकुण्ठ = स्वर्ग।

भावार्थ—वाह्याडम्बर की मखौल उड़ाते हुए कबीरदास कहते हैं कि यदि सिर्फ सर मुँड़ाने से ही ईश्वर की प्राप्ति हो जाय तो सब लोग अपना सर मुड़वा लिया करते। यदि यह बात सच होती तो भेड़े, जो हमेशा अपना बाल मुड़वाते हैं (ऊन के लिए भेड़ के बाल बार-बार मूड़े जाते हैं) तो वे अवश्य ही स्वर्ग पहुँच जाता। कहने का तात्पर्य्य यह है कि प्रेम के द्वारा ही ईश्वर की प्राप्ति होती है, न कि सिर के बाल मुड़वाने से।

(२७) देह धरे का दण्ड है ... ... मूरख भुगतै रोइ ॥

भावार्थ—कबीरदास कहते हैं कि शरीर ग्रहण करने के कारण ही सबों को कष्ट सहन करना पड़ता है जो ज्ञानी पुरुष हैं, वे अपने ज्ञान में दुःख को भूल जाते हैं और सुख भोगते हैं लेकिन, जो अज्ञानी व्यक्ति हैं वे आजीवन रोते रहते हैं। भाव यह है कि हमें सासारिक दुःखों को भी हंसते-हंसते झेलना चाहिए।

(२७) खूँदन तौं धरती सहै ......औरन सहा न जाइ ॥

शब्दार्थ—खूँदन = खोदना। वन राइ = बन के वृक्ष।

भावार्थ—कबीरदास कहते हैं कि जिस प्रकार पृथ्वी चोट (खोद खाद) को सह लेती है, उसी प्रकार सज्जन व्यक्ति दुष्टों के कठोर वचनों को सह लेते हैं। जिस प्रकार काटने से वन के वृक्ष गिर जाते हैं उसी प्रकार दूसरे व्यक्ति दुष्टों की कठोर वाणी को नहीं सहते हैं और मर्माहत हो जाते हैं।

(२८) करगस सम दुरजन ... ... कहा सकैगी जारि ॥

शब्दार्थ—करगस = वज्र। संत जन = सज्जन व्यक्ति। जारि = जलाना।

भावार्थ—साधुओं की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए कबीरदास कहते हैं कि वज्र के समान दुष्टों के कटु वचन को सुनकर संत जन टाल देते हैं अर्थात् उस पर ध्यान नहीं देते। जिस प्रकार बिजली समुद्र में गिरकर उसे नहीं जला

पाती है (वहीं गिरकर ठंढी हो जाती ह) उसी प्रकार दुष्टों की वाणी सज्जन व्यक्ति का कुछ भी विगाड़ नहीं कर सकती।

विशेष—तुलसीदास की निम्नलिखित पंक्तियों से तुलना कीजिए—'बूंद अघात सहैं गिरी कैसे, खल के वचन सत सहैं जैसे।'

(२६) जो जल वाढ़ै नाव में—सज्जन कौ काम॥

शब्दार्थ—दाम = सम्पत्ति। उलीचिए = दीजिए।

भावार्थ—कवीरदास कहते हैं कि यदि नाव में अधिक जल छिद्र से प्रवेश कर जाय तो डूबने से वचने के लिए दोनों हाथ से उसे वाहर निकालना चाहिए। उसी प्रकार अधिक धन होने से खुले हाथ दान करना चाहिए। यही सज्जन पुरुष के काम हैं।

(३०) साईं इतना दीजिए ......साधु न भूखा जाइ॥

शब्दार्थ—साईं = प्रभु, स्वामी। जामें = जिसमें। कुटुम = परिवार।

भावार्थ—कवीरदास कहते हैं हे ईश्वर! मैं तुमसे यही प्रार्थना करता हूँ कि मुझे इतना ही धन दो—इतनी ही सम्पत्ति दो—जिससे मेरे समस्त परिवार का पालन-पोषण हो जाय। यदि संयोग से कोई भूखा अतिथि भी मेरे द्वार पर आ जाय तो उसे भूखा ही न लौटना पड़े। मुझे अधिक धन-दौलत की जरूरत नहीं, सिर्फ इतना ही चाहता हूँ कि जीवन के नितान्त आवश्यक कार्य भर इससे पूरे हो जायँ।

(३१) साधु गाँठि न बाँधिये जव माँगे तव देइ॥

भावार्थ—कवीरदास कहते हैं कि जो सच्चे साधु होते हैं, वे सिर्फ पेट भर खाते हैं, गाठ नहीं वाँधते हैं अर्थात् सग्रह नहीं करते हैं। जव उन्हे आवश्यकता होती है तव वे भगवान से माँगते हैं और वे देते हैं क्योंकि वे (ईश्वर) तो आगे पीछे खड़े ही रहते हैं अर्थात् सर्वव्यापी हैं।

विशेष—निम्नलिखित शेर से इसकी तुलना कीजिये—

जो कुछ माँगना हो खुदा से माँग ऐ अकवर।
यही एक दर है कि जिल्लत नहीं सवाल के बाद॥

(३२) धीरे धीरे रे मना रितु आए फल जोइ॥

भावार्थ—कबीरदास कहते हैं कि ससार के सभी कार्य समयानुकूल होते हैं। इसीलिए चचल मन को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे मन! त धैर्य रख, धीरे-धीरे सब कुछ होगा। जिस प्रकार माली पौधों को सैकड़ों घड़े पानी से सींचता है पर समय और ऋतु के आने पर ही उसमें फल लगते हैं उसी प्रकार ससार के सभी कार्य समयानुसार होते हैं। इसलिए मनुष्य को धैर्य रखना चाहिए।

(३३) करूँ बहियाँ बल आपनी मस करे पियासा ॥

शब्दार्थ—बहियाँ = भुजाएँ। बिरानी = पराई। आस = आशा।

भावार्थ—कबीरदास कहते हैं कि संसार में आत्मनिर्भरता से बढ़कर कोई वस्तु नहीं है। जिस प्रकार घर के नजदीक नदी के होने से कोई प्यासा नहीं मर सकता है, उसी प्रकार जिसकी भुजाओं में बल है, वह सब कुछ कर सकता है। मनुष्यों को अपनी भुजाओं की शक्ति पर भरोसा होना चाहिए और दूसरों की आशा पर निर्भर नहीं करना चाहिए।

(३४) साधु कहावन कठिन है · गिरै तो चकना चूर ॥

भावार्थ—कबीरदास कहते हैं कि लौकिक सुखों को त्यागकर निर्लिप्त कर्मवीर होना बहुत ही कठिन काम है। खजूर के लम्बे वृक्ष पर चढ़ जाना आसान नहीं है। जो उस पर चढ़ जाते हैं, वे मीठे-मीठे फल खाते हैं और गिर जाने से हड्डियाँ चूर-चूर हो जाती हैं। इसी तरह साधु बनना भी खजूर पर चढ़ जाने की तरह कठिन है, क्योंकि विषय-वासनाओं का आकर्षण मनुष्य को निस्वार्थ सेवा से वञ्चित कर देता है और स्वार्थी मनुष्य साधु नहीं कहा जा सकता। खजूर से गिर जाने की तरह जो साधुत्व को नहीं प्राप्त होता वह पतित होकर संसार में निंदनीय हो जाता है।

(३५) खुलो खेलो संसार में ···सिर बोझ न होइ ॥

भावार्थ—कबीरदास कहते हैं कि यह आत्मा संसार में स्वच्छंद भाव से घूमती है, उसको कोई बधन में तो बाँध सकता नहीं। यदि मनुष्य की आत्मा पर बोझ न हो तो क्यों वह घाट-घाट जगाती फिरे। यदि आत्मा शुद्ध और निष्कलक रहे तो उसको फिर आवागमन का चक्कर क्यों काटना पड़े!

आत्मा के कलुषित होने के कारण ही उसको बार-बार शरीर धारण करना पड़ता है।

आलोचनात्मक प्रश्नोत्तर

प्रश्न १—कबीर और उनके काव्य के संबंध मे अपना विचार प्रकट करे।

उत्तर—कबीर का जन्म १४५५ सम्वत् की ज्येष्ठ अमावस्या को हुआ था। जन्मतिथि के सम्बन्ध मे अनेक मतभेद हैं। आजकल उक्त सम्वत् की प्रमाणिकता ही अधिक है। इनकी मृत्यु के सम्बन्ध में निम्नलिखित दोहा अधिक प्रचलित है।

सम्वत् पन्द्रह सौ पछत्तरा, कियो मगहर को गौन।
माघ सुदी एकादशी, रह्यौ पवन में पौन॥

इस पद के अनुसार उनकी मृत्यु १५७५ सम्वत् (१५१८ ई०) में हुई ऐसा मानना उचित है। कबीर साहब के माता-पिता के सम्बन्ध में भी अनेक भ्रान्त धारणाएँ हैं। लोगों का विश्वास है कि ये प्रेम की सन्तान थे। विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से अनुचित रीति से उत्पन्न होने के कारण इन्हें तालाब के किनारे डाल दिया गया था और जुलाहे के घर काशी में इनका पालन-पोषण हुआ। यह प्रसिद्ध मत है। मेरा अनुमान है इसमें अधिक सचाई नहीं मालूम पड़ती है। कबीर प्रतिभावान व्यक्ति थे, इसमें सन्देह नहीं है। प्रतिभावान व्यक्ति अपनी उदारता के कारण सत्य नियमों के निकट पहुँचता है और मनुष्यकृत वन्धनों की असारता को ढोल पीटकर सुनाता है। यही अपराध कबीर का था जिसके कारण तत्कालीन सम्प्रदायवादी व्यक्तियों ने इनके जन्म के सम्बन्ध में भ्रमात्मक प्रचार किए। सभवतः ये जुलाहे के घर ही जन्मे थे। प्रारम्भ में ये शेख तकी के समीप रहते थे। उसके बाद रामानन्द के सिद्धान्तों से प्रभावित हो इन्होंने उन्हें अपना गुरु मान लिया। इनकी स्त्री का नाम धनिया (रामजनियाँ) था और इनकी लोई नाम की एक प्रिय शिष्या भी थी।

कबीर साहब का जन्म ऐसे समय में हुआ था जब कि भारत मे धार्मिक-आन्दोलन जोरों पर था। योगअद्वैत और विशिष्टाद्वैत के प्रचारक समस्त भारत में छा गए थे। मुस्लिम सूफियों के सिद्धान्त भी प्रचलित थे। कबीर ने सबों को समझने की चेष्टा की और युग-पुरुष की तरह सबों का प्रतिनिधित्व करते हुए अपनी एक अलग निर्गुण-पन्थी धारा प्रवाहित की। इस धारा में निर्गुण राम की उपासना को महत्त्व दिया और प्रेम और परमात्मा में एकरूपता स्थापित करने की चेष्टा की। इस प्रकार अद्वैतवादी हिन्दू और एकेश्वरवादी मुसलमानों में सामञ्जस्य लाने का यथासमव प्रयास किया।

कबीर साहब किसी भाषा विशेष के विद्वान् नहीं थे पर समझने और सोचने की शक्ति उनमें अत्यधिक थी। कविता शक्ति स्वभाव से ही मिली हुई थी।

हिन्दू और मुसलमानों में जो बाह्याडम्बर थे, कबीर ने बड़ी दृढ़ता से उनका विरोध किया है। उनके विरोध की सबलता उनके चरित्रबल, आत्म-विश्वास और निर्भीकता का प्रमाण देती है। योग साधना को वे मानते थे अतएव इन्द्रिय-निग्रह द्वारा निश्चय ही उन्होंने अपना मनोबल बढ़ाया होगा। पण्डित, मुल्ला, मन्दिर, मस्जिद, व्रत आदि का खण्डन करके उन्होंने निर्गुण राम की उपासना का आदेश दिया। धार्मिक कट्टरता के विरोध के कारण ही संस्कृत-भाषा के प्रति भी इन्होंने विरोधात्मक भावना व्यक्त की थी। चलती भाषा में जनसाधारण के बीच प्रचार करना इनका एकमात्र ध्येय मालूम पड़ता है। जीवन में इनका अत्यधिक विरोध हुआ होगा यह इनकी कविता से अनुमित होता है। इनकी कविता में भाषा सम्बन्धी अनेक दोषों के रहते भी कविता बहुत ऊँची कोटि की है। भावों में गम्भीरता और अनुभूति में दृढ़ता मालूम होती है। अपने सिद्धान्त पर ये बहुत ही अटल रहते थे। इनके अनेक पद बड़े ही गूढ़ हैं। उनको समझने के लिये योगियों द्वारा बताए गए चक्रादि के स्थान और नाम से परिचित होना आवश्यक है। कबीर की रचना के सबध में कहा जा सकता है कि लगभग ६१ पुस्तकें इनके नामपर हैं। कबीर साहब का अपना वक्तव्य है कि 'मसि कागज छूयो नहीं।' सभवतः ये ग्रंथ उनके शिष्यों द्वारा लिखे गए हों और पद अधिक कबीर के ही हों। कबीर के पदों

और साखियों के संग्रह को बीजक के नाम से पुकारा जाता है। इसके कई संस्करण निकल चुके हैं।

सूरदास

जीवन-वृत्त

सूरदास के जन्म, जाति, स्थान आदि के सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न-भिन्न विचार हैं। अतएव सुनिश्चित रूप से कुछ कह सकना संभव नहीं है। अन्तः-साक्ष्य और बहिःसाक्ष्य के आधार पर हाल तक सूरदास का जन्म-संवत् १५४० माना जाता था, लेकिन इधर के शोधों के आधार पर कुछ विद्वानों ने उनका जन्मकाल संवत् १५३५ मान लिया है; क्योंकि साम्प्रदायिक अनुश्रुतियों के अनुसार वे (सूरदास) वल्लभाचार्य से दस दिन छोटे थे और वल्लभाचार्य का जन्म-दिन सवत् १५३५, वैशाख कृष्ण ११, रविवार है। अतएव सूरदास की जन्मतिथि १५३५, वैशाख शुक्ला ५ को ठहरती है। अनुमान के आधार पर यह कहा जाता है कि सूरदास ने लगभग संवत् १६४० में अपनी जीवन-लीला समाप्त की।

'चौरासी वैष्णव वार्त्ता' के अनुसार इनका जन्म-स्थान रुनकता या रेणुका क्षेत्र है। लेकिन पीछे चलकर ये मथुरा और वृन्दावन के बीच गऊघाट पर रहते थे, भजन गाया करते थे और सेवक या शिष्य बनाया करते थे। इसी समय अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते-करते वल्लभाचार्य उस ओर आ निकले। सूरदास के शिष्यों ने उन्हे खबर दी कि यहाँ वल्लभाचार्य पधारे हैं, जिन्होंने सब पंडितो को जीतकर भक्तिमार्ग की स्थापना की है। यह सुनकर सूर ने उनके दर्शन किये। मिलने पर महाप्रभु वल्लभाचार्य ने सूर को कुछ गाने के लिये कहा। सूर ने विनय के दो पद सुनाये—'प्रभु हौं सब पतितन को टीकौ' और 'हौं हरि पतितन को नायक'। सुन कर वल्लभाचार्य ने कहा कि 'सूर ह्वै कै ऐसी घिघियात काहे को है। कछु भागवतलीला वर्णन करि।' किन्तु सूरदास को भागवत

लीला का कुछ ज्ञान नहीं था। तब वल्लभाचार्य ने उन्हे सम्प्रदाय के अनुसार दीक्षा दी तथा भागवत के दशम-स्कन्ध की सक्षेप में कथा सुनाई। वल्लभाचार्य अपने साथ सूर को गोकुल ले गए। वहाँ नवनीतप्रिया के दर्शन कराये। वहाँ भी सूरदास ने कुछ पद गाये—'शोभित कर नवनीत लिये।' यहाँ वल्लभाचार्य ने भागवत की सम्पूर्ण लीला सूर के हृदय में स्थापित कर दी। कुछ दिन यहाँ रहने के बाद वल्लभाचार्य व्रज गए और सूर को गोवर्धन पर स्थापित श्री नाथ जी के दर्शन कराये। तब सूर ने पद सुनाया—'अब हौं नाच्यो बहुत गोपाल।' फिर विनय का पद सुनकर आचार्य ने कहा—अब तो तुम्हारे हृदय में अविद्या रही नही, अब कुछ भगवान के यश का वर्णन करो। तब सूरदास ने 'कौन सुकृत इन व्रज-वासिन को' यह पद गाया। वल्लभाचार्य ने प्रसन्न होकर सूरको मन्दिर का कीर्तन-भार सौंप दिया।

सूरदास सारस्वत ब्राह्मण थे और उनके पिता का नाम रामदास था। सूरदास के सबंध में यह कहा जाता है कि वे जन्माध थे। इस सम्बन्ध मे भी विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। श्रीहरिराय के 'भावप्रकाश', 'श्रीनाथभट्ट-कृत 'संस्कृत-वार्त्तामणिमाला', 'राम-रसिकावली' और 'भक्त-विनोद' की पंक्तियाँ सूर के जन्मान्ध होने की साक्षी हैं। प्रभुदयाल मित्तल की पुस्तक 'सूर-निर्णय' में सूर के कुछ ऐसे पद खोजकर उद्धृत किये गए हैं जो उनके जन्मान्ध होने का स्पष्ट उल्लेख करते हैं।

सूर के पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी स्पष्ट मालूम नहीं है। कहा जाता है कि सूर की भेंट तुलसीदास और सम्राट् अकबर से भी हुई थी। सूरदास अष्टछाप के प्रधान कवि हैं। अभी तक हमे उनके जीवन की कोई शृंखलाबद्ध सामग्री उपलब्ध नहीं हुई है।

रचनाएँ

यों तो सूर के अनेक ग्रन्थ बताए जाते हैं, लेकिन उनकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे सन्देह बना हुआ है। सूर का प्रमाणिक ग्रन्थ है—'सूरसागर'। इसके अलावा 'सूरसारावली' और 'साहित्यलहरी' भी सूर के ग्रन्थ माने गए हैं। 'सूरसागर' ही सूर की स्थायी कीर्ति का स्तम्भ है।

सूरदास का लिखा हुआ एक मात्रप्रमाणिक ग्रन्थ है सूरसागर। अन्य ग्रन्थ या तो सूर के द्वारा न लिखे जाकर अन्य कवियों के द्वारा लिखे गए हैं अथवा सूरसागर के पदों को लेकर ही अलग-अलग संग्रह प्रस्तुत कर दिए गए हैं। सूरसागर के कुछ पद ऐसे हैं जिनकी रचना वल्लभाचार्य के मिलन से पूर्व हुई।

सूर का काव्य-विषय

सूरसागर की कथा स्कन्धों में विभक्त है। उस में कुल बारह स्कन्ध हैं। दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में विभाजित है। अधिकांश लोगों ने सूरसागर को भागवत का अनुवाद समझ रखा है। ऊपर से देखने में ऐसा ही प्रतीत होता है; क्योंकि सूरसागर और भागवत, दोनों में ही बारह स्कन्ध हैं। भिन्न-भिन्न स्कन्धों की कथाओं में भी अत्यधिक समानता है। सूर के भी पहले स्कन्धों के एक पद में लिखा है—

श्रीमुख चारि श्लोक दिए, ब्रह्मा को समुझाइ।
ब्रह्मा नारद सौं कहे, नारद व्यास सुनाइ॥
व्यास कहे शुकदेव सो, द्वादश स्कन्ध बनाइ।
सूरदास सोई कहैं, पद भाषा करि गाइ॥

भागवत के श्लोकों और सूरसागर के पदों का तुलनात्मक अध्ययन करने से भी ऐसा ही प्रतीत होता में। इस तुलना से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सूरसागर में सबसे महत्त्वपूर्ण दशम स्कन्ध है। इसमें कृष्ण के जन्म से लेकर मथुरा जाने और वहाँ से उद्धव को व्रज में भेजने तथा उद्धव द्वारा गोपियों का समाचार जानने तक की कथा है। बहुत-कुछ साम्य होने पर भी इस स्कन्ध में सूर की मौलिकता के दर्शन होते हैं। भागवत में जो कृष्ण का चित्रण हुआ है, उसमें वे असुरों के सहार करनेवाले शक्तिशाली रूप में चित्रित किए गए हैं। कृष्ण की अधिकाश अलौकिक लीलाएँ ही उस में चित्रित की गई हैं, किन्तु सूर ने दशम स्कन्ध मुख्यत. बाल-लीला, राधा-कृष्ण और गोपी-कृष्ण-लीला तथा भ्रमरगीत के प्रसगों मे अपनी मौलिकता का, अच्छा परिचय दिया है। भागवन और सूरसागर की तुलना करने से यह सिद्ध होता है कि सूरसागर भागवत का अविकल अनुवाद नहीं है। द्वादश स्कन्ध के तेरह अध्यायो मे से

केवल एक ही अध्याय की कथा सूरसागर में दी गई है और वह भी सिर्फ एक ही पद मे है। भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के इकतीस अध्यायों में से केवल दो अध्यायों की सामग्री सूरसागर में ली गई है। यही दशा अन्य स्कन्धों की भी है। कुछ स्कन्धों में सूरदास ने माया, भक्ति, गुरु-महिमा आदि प्रसंगों को अपनी ओर से जोड़ दिया है। सूर ने भागवत के अनुसार सूरसागर में मंगलाचरण और प्रस्तावना को नहीं रखा। सूरसागर में कथा की पुनरुक्ति भी बहुत मिलती है। समस्त सूरसागर में प्रथम स्कन्ध के नियम-संबंधी पद तथा दशम स्कन्ध के अथवा अन्य स्कन्धों में आए हुए भक्ति और गुरु-महिमा आदि विषयों से संबधित पद मौलिक कहे जा सकते हैं। विषय को ध्यान में रखते हुए इन स्कन्धों को हम इस तरह विभक्त कर सकते हैं—(क) विनय और भक्ति के पद, (ख) रामचरित-संबंधी पद, (ग) अवतार की कथाएँ, (घ) कृष्ण की बाल-लीलाएँ और (ङ) दार्शनिक तत्व से संबधित पद।

विनय और भक्ति-संबंधी पदों में सूरदास जी ने जहाँ प्रार्थना-संबंधी पद लिखे हैं, वहाँ शान्तरस की प्रधानता है। और पद कृष्ण के मधुर रूप से सम्बद्ध हैं। इसके साथ-साथ इसमें सन्त-महिमा, गुरु-महिमा, सत्संग-महिमा आदि का वर्णन है। राम-सम्बन्धी पदों में श्री रामचन्द्र के चरित्र का वर्णन किया है और बतलाया है कि राम और कृष्ण में कोई विभेद नहीं है। अवतार-कथाओं से सम्बन्धित पदो में लगभग सभी अवतारों का वर्णन है। कृष्ण की बाल-लीला से सम्बन्धित पदों में बाल-लीला, हरि-दाँवरि-बंधन, यमलार्जुन-उद्धार, कालियदमन, चीरहरण, गोवर्धनलीला, रासलीला, मुरली-माधुरी, मानलीला, दानलीला, श्रीराधाकृष्ण-मिलन, पनघट का प्रस्ताव, खडिता-समय, वसन्त और फाग तथा हिंडोल-लीला आदि का वर्णन कवि ने वर्णनात्मक शैली में किया है। दार्शनिक तत्व-सम्बन्धी पदों में सूर के दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण है। इस प्रकार उपर्युक्त विषयों का आधार ग्रहण कर कवि ने एक विशाल ग्रंथ 'सूरसागर' की रचना की।

काव्य-कला की दृष्टि से सूरसागर का दशम स्कन्ध अधिक महत्व रखता है और उसी एक स्तम्भ पर सूर की कीर्ति-ध्वजा हिन्दी-साहित्य में लहरा रही है।

यों तो सूर की काव्य-कला को परखने के लिए हिन्दी के आलोचकों ने उनकी कविताओं का विभाजन मुख्यतः इस प्रकार किया है—विनय और भक्ति, रामचरित्र, वाललीला, रूप-वर्णन, मुरली-माधुरी और भ्रमरगीत। सर्वप्रथम हम उनके दार्शनिक सिद्धान्तों का विश्लेपण करेंगे और बाद में इस उपर्युक्त विभाजन के आधार पर सूरदास की कविताओं का विवेचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

सूरदास के दार्शनिक सिद्धान्तों से परिचय प्राप्त कर लेने से हम पाठकों को विशेष लाभ यह होता है कि उनकी कविताओं का सौन्दर्य एवं मर्म अच्छी तरह हृदयंगम कर लेते हैं। दार्शनिक और भक्त में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जब दार्शनिक वोध वृत्ति का सहारा लेता है तब भक्त रागात्मिका वृत्ति का। सूर भक्त-हृदय के साथ-साथ भावुक थे, दार्शनिक नहीं। सूर संस्कृत के ज्ञानाभाव के कारण दर्शनशास्त्रों का अध्ययन नहीं कर सके थे, परन्तु उनकी सगति एवं वातावरण कुछ इस ढङ्ग की रही कि उसमें रहकर दार्शनिक विचारों से वे अच्छी तरह परिचय प्राप्त कर सके और जिन दार्शनिक सिद्धान्तों से उनका परिचय हुआ, उसे उन्होंने अपनी कविताओं में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में यथास्थान सुचारु रूप से समन्वित किया।

सूर के दार्शनिक सिद्धान्त

सूरदास जब गऊघाट पर रहते थे और जबतक उन्हे महाप्रभु वल्लभाचार्य से साक्षात्कार नहीं हुआ था तबतक वे दास्यभाव से ओत प्रोत पदों का ही गान किया करते थे। उनके विषय-सम्बन्धी पदों में भगवान के प्रति अगाध विश्वास दिखाई देता है। अपने कर्मों के प्रति उन्हे ग्लानि है। भगवान ही उन पाप कर्मों से उनकी रक्षा कर सकते हैं। भव-पीड़ा से पीड़ित भक्त कह उठता है—

अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल।
काम क्रोध को पहिरि चोलनो कंठ विषय की माल।
... ...
सूरदास को सबै अविद्या दूरि करहु नंदलाल।

भक्त ने भगवान के प्रति सर्वतोभाव से आत्मसमर्पण कर दिया है। समर्पण ही तो सच्ची भक्ति है—'हमें नंद-नंदन मोल लिये।' भक्त में दीनता होती है। दीनता का भाव ही भक्ति को चरम-सीमा पर पहुँचा देता है। सच्चे भक्त को अपने इष्टदेव से महान और अपने से हीन कोई भी दिखलाई नहीं देता। इसीसे अपने इष्टदेव के सामने कुछ भी कहने में उसे ग्लानि नहीं होती। वह सब-कुछ स्पष्ट कह देता है। सूर स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हैं—

प्रभु हौं सब पतितन को टीकौ।
और पतित सब द्यौस चारि को हौं तो जनमत ही कौ॥

भक्त में भगवान् को उपालंभ देने की प्रवृत्ति होती है। सूर भगवान को उपालभ ही नहीं देते, प्रत्युत् भक्ति के आवेश में और भी आगे बढ़ जाते हैं। इस प्रवृत्ति को देखकर वल्लभाचार्य ने उन्हे भगवान की लीलाओं का गान करने को कहा। सूर के आग्रह पर वल्लभाचार्य ने उन्हे अपने सम्प्रदाय में दीक्षित किया। सुतरा, यह स्पष्ट होता है कि सूरदास महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य थे। उनके मुख से ही सूरदास ने दार्शनिक तत्त्वों को सुना था। स्वयं एक स्थल पर उन्होंने कहा है—

माया काल कछू नहिं व्यापे, यह रस रीति जु जानी।
सूरदास यह सकल समग्री, गुरु प्रताप पहिचानी॥

वल्लभाचार्य के मतानुसार कृष्ण परब्रह्म हैं और सच्चिदानन्द हैं। कृष्ण के सत् और चित् गुणों का प्रादुर्भाव प्रत्येक जीव में हुआ है और प्रकृति में केवल सत् का। तीनों तत्त्वों की यही भिन्नता प्रकृति, जीव और परमात्मा के भेद का कारण है। जनसाधारण के लिए महाप्रभु ने श्रीकृष्ण के गोलोक की विस्तारपूर्वक कल्पना की। भक्तों को लीला का आनन्द देने के लिए गोलोक पूर्णरूप से व्रज में अवतीर्ण हो जाता है।

वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुसार जीव और ब्रह्म एक ही हैं। दोनों में भेद सिर्फ इतना ही है कि जीव की शक्तियाँ परिमित हैं। जीव के समान ही प्रकृति भी ब्रह्म की आंशिक अभिव्यक्ति है। जीव ब्रह्म के अनुग्रह से ही मुक्ति

प्राप्त कर सकता है। इस अनुग्रह को वल्लभाचार्य ने 'पुष्टि' नाम दिया है। पुष्टि चार प्रकार की होती है—(क) प्रवाह-पुष्टि, (ख) मर्यादा-पुष्टि, (ग) पुष्टि-पुष्टि और (घ) शुद्धि पुष्टि। सबसे उत्तम पुष्टि है—शुद्ध पुष्टि और निम्न कोटि की पुष्टि है—प्रवाह-पुष्टि। शुद्ध पुष्टि को ही वल्लभाचाय मानते थे जिसके अनुसार भक्त अपने-आपको पूर्णतया भगवान् पर छोड़ देता है। इसके अनुसार आत्मा, परमात्मा और प्रकृति के बीच माया का कोई सम्बन्ध नहीं है। उन्होंने माया को ब्रह्म की शक्ति अवश्य कहा है।

वल्लभाचार्य के इन सिद्धान्तों का प्रभाव सूर पर स्पष्ट रूप से पड़ा है। यों तो सूरसागर में पुष्टि शब्द का प्रयोग एक बार भी नहीं हुआ है, फिर भी वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों के भाव अनेक पदों मे भरे हुए हैं। सूर ने दार्शनिक विचारो में वल्लभाचार्य का यथावत् अनुकरण नहीं किया है, वलिक इस सम्बन्ध में भी सूर ने अपनी मौलिकता दिखलाई है। उनकी सबसे बड़ी मौलिकता राधा के सम्बन्ध में है, जिसे (राधा को) सूरदास ने कृष्ण की शक्ति का प्रतीक माना है, जबकि वल्लभाचार्य ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों में राधा को कोई स्थान नहीं दिया है।

आम तौर से विष्णु त्रिदेवों में एक देव समझे जाते हैं, लेकिन सूरदास के विष्णु परब्रह्म हैं जो यथार्थ में कृष्ण हैं। सच तो यह है कि सूरदास ने कृष्ण को अनेक नामों से विभूषित किया और सम्बोधित किया है। इस प्रकार सूर ने अन्य देवताओं और अवतारों में सामंजस्य करने की प्रवृत्ति दिखलाई है।

सूरदास द्वारा अंकित कृष्ण-रूप वास्तव में निर्गुण है; परन्तु आम जनता के लिए निर्गुण को समझना अत्यन्त कठिन है। यही कारण है कि सूरदास ने कृष्ण के सगुण रूप का वर्णन किया है—

अविगत गति कछु कहत न आवै।
परम स्वाद सब ही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन-बानी को अगम अगोचर सो जानै जो पावै
सब विधि अगम विचारहि तातें 'सूर' सगुन-लीला-पद गावै॥

वास्तव में कृष्ण निर्गुण हैं; भक्तों के लिए वे लीलारूप धारण कर लेते हैं।

सूरदास ने दार्शनिक, सासारिक और परमात्मा की अनुग्रहकारिणी एवं कल्याणकारिणी शक्ति का अंकन किया। ज्ञानार्जन या भक्ति की अनुभूति में सासारिक माया बाधक होती है। यही कारण है कि भक्तों ने सासारिक माया की पूर्ण भर्त्सना की है। यह माया नारी-रूप में विशेष रूप से विकसित होती है। भगवान से प्रार्थना करते हुए सूर ने कहा है—

माधवजू नेकु हटको गाय।
निसिवासर यह इत-उत भरमति अगह नहीं गहि जाय॥

माया की तरह राधा भी कृष्ण की शक्ति है। राधा का वही स्थान है जो स्थान विष्णु के साथ लक्ष्मी का और शिव के साथ पार्वती का।

सूर की दृष्टि में मुक्ति-प्राप्ति का एकमात्र साधन है—भक्ति। उन्होंने वैराग्य की अपेक्षा भक्ति को ऊँचा स्थान दिया है। शुद्धाद्वैत के अनुसार सूर ने मुक्ति की कल्पना की है। वे सायुज्य मुक्ति के पक्ष में नहीं हैं, वरन् सान्निध्य मुक्ति की इच्छा करते हैं; क्योंकि इस मुक्ति में गोलोक में जाकर भक्त भगवान के साथ रहता है और उनकी लीला में हाथ बँटाता है। सूर ने काल को अत्यधिक महत्ता दी है; क्योंकि वह मानव-जीवन को ग्रस लेता है, और उससे छुटकारा पाने का एकमात्र साधन है भगवत्कृपा। सूरदास ने तुलसी के समान व्याल के साथ काल का रूपक दिया है।

'सूरदास भगवन्त भजन बिनु काल व्याल लै आप डसायो।'

सूरदास के मतानुसार माया ही सृष्टि की जननी है। माया के तीन गुण है—सत्, तम और रज। इन तीनों गुणों से पहले महत् तत्त्व की उत्पत्ति होती है और उससे अहंकार का जन्म होता है। यह सृष्टि बार-बार जन्म लेती है और विनष्ट होती है।

शंकराचार्य के सिद्धांत के अनुसार जीवात्मा-परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है और यह अन्तर माया के कारण ही दीख पड़ता है; लेकिन महाप्रभु वल्लभाचार्य के मतानुसार जीवात्मा की परमात्मा से भिन्नता सत्य है। इस भिन्नता का

कारण परमात्मा ही है। शंकराचार्य ने प्रकृति की सत्ता को भी सत्य स्वीकार नहीं किया, लेकिन महाप्रभु वल्लभाचार्य ने प्रकृति की सत्ता को भी सत्य माना है। मध्वाचार्य के मतानुसार जीव और प्रकृति परमात्मा से भिन्न हैं और उसके अधीन हैं; परन्तु वल्लभाचार्य जीव और प्रकृति को परमात्मा की आंशिक अभिव्यक्ति मानते हैं। परमात्मा से वे इसलिए भिन्न हैं कि उनमें परमात्मा के सब गुण प्रकट नहीं होते। वल्लभाचार्य ने माया को ब्रह्म की शक्ति कहा है। यह शक्ति परमात्मा को उसी प्रकार आवरण से ढँके रहती हैं जिस प्रकार कृष्ण अपने शरीर को पीताम्बर से ढँके रहते हैं।

अतएव जब हम सूरदास के गुरु वल्लभाचार्य के विचारों की तुलना अन्य आचार्यों के विचारों से करते हैं तब ज्ञात होता है कि वल्लभाचार्य ने भागवत की एक कथा को लेकर उसके द्वारा साधना की एक पद्धति भक्तों के सामने पेश की। गोपी, रास, मुरली आदि सभी का प्रयोग प्रतीक के रूप में किया गया। भागवत की जिस दार्शनिक विचारधारा को वल्लभाचार्य ने विकसित किया, उसे रागात्मक रूप देने का कार्य सूरदास ने किया। वल्लभाचार्य के जो दार्शनिक सिद्धान्त आम जनता की बुद्धि के लिए ग्राह्य नहीं थे, उन्हे सूर ने अत्यन्त सुगम और ग्राह्य बना दिया जिससे आम जनता उन दार्शनिक विचारों को आसानी से समझ सकें। यह बात हमेशा ध्यान में रखनी चाहिये कि सूरदास ने वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों को उसी रूप में अपनी कविताओं में नहीं रखा वरन् बहुत अंशों में अपनी मौलिकता का भी परिचय दिया। सूर की उपासना-पद्धति में स्त्री और पुरुष, दोनो को समान स्थान मिला है। दशवें स्कन्ध में वे लिखते हैं—

'भज जेहि भाव जो हरि मिलै
ताहि त्यों भेद भेदा वही पुरुष्य नारि।'

सूर की उपासना-पद्धति इतनी स्वाभाविक है कि उसमें कामी, क्रोधी, लोभी आदि सभी को स्थान मिल जाता है। यथा—

काम क्रोध में नेह सुहृदयता काहू विधि करै कोई।
धरे ध्यान हरि को जे दृढ़ करि सूर सो हरि सो होई॥

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सूर दार्शनिक विचारों में वल्लभाचार्य एवं पुष्टिमार्ग से प्रभावित दीख पड़ते हैं। राधा को अनुग्राहिणी माया के रूप में मानने में ही उनकी मौलिकता के दर्शन होते हैं।

सूरदास का सबसे पहले जो प्रमुख स्वरूप हमारे सामने आता है, वह है भक्त का। भक्त अपने आराध्य के सामने अपने हृदय को खोलकर रख देना चाहता है—वह अपने उपास्य से किसी प्रकार का दुराव-छिपाव नहीं रखता। वह तो अपनी समस्त दुर्बलताओं को दिखलाकर अपने उपास्य की भक्ति मात्र चाहता है। इसीलिए आत्मनिवेदन, आत्मभर्त्सना आदि के रूप में वह परमात्मा की विनय करता है जिससे उसका हृदय परिष्कृत हो जाता है। विनय न केवल भारतीय संस्कृति का प्राण है, यह भारतीय भक्ति-पद्धति की आधार-शिला भी है। इसीलिए 'सूरसागर' के प्रारंभिक स्कन्धों में विनय के पदों का प्राचुर्य है। विनय के इन पदों को सूरदास ने साहित्यिकता के गुरु-भार से बचाने की सतत चेष्टा की है और इन्हे वृथा आडम्बर से मुक्त रखा है। विनय के पद निष्कपट हृदय के उद्गार है, जिनमें परमात्मा की प्रेमपूर्ण भक्ति का झरना, कलकल ध्वनि के साथ, बहता रहता है। विनय का शाब्दिक अर्थ है—'विशेप प्रकार से झुकना।'

विनय-पद

यह हमें अच्छी तरह मालूम है कि सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य थे। वल्लभाचार्य पुष्टिमार्गी थे। वे कृष्ण के बालरूप के उपासक थे। पुष्टिमार्ग में कीर्त्तन का—जिसमें लीलागान रहता है—विशेप महत्त्व है। तब यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि सूर ने विनय-सम्बन्धी पदो की रचना क्यों की? इस सम्वन्ध में यह कहा जाता है कि सूरदास पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के पहले (जब वे गऊघाट पर रहते थे) विनय-संबधी पदों की रचना किया करते थे। एक बार जब वल्लभाचार्यजी ने इनसे कोई पद सुनाने को कहा तब इन्होंने—

प्रभु हौं सब पतितन को टीकौ।
और पतित सब द्यौस चारि के हौ तौ जनमत ही कौ।

—पद गाकर सुनाया। इससे स्पष्ट होता है कि जब सूरदास गऊघाट पर रहते थे और वहीं बैठकर अपने जीवन पर पश्चाताप करते थे तभी विनय-

संबंधी पद गाया करते थे। भक्त को भगवान का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित छः नियमों का पालन करना जरूरी हो जाता है। वे हैं—

(क) अनुकूलरूपसंकल्प :—अपने इष्टदेव के अनुकूल गुणों को ग्रहण करने का संकल्प—

रे मन, कृष्ण नाम कहि लीजै।
गुरु के बचन अटल करि मानो साधु समागम कीजै॥

(ख) प्रतिकूलरूपवर्जनम्—अपने इष्टदेव के प्रतिकूल गुणों का त्याग—

रे बौरे छाँड़ि विषय को रचिवो।
कत तू सुआ होत सेंवर को अंत कपासन पचिवो॥
कनक कामिनी अनंग तरंगन हाथ रहैगो सचिवो।

(ग) रक्षिष्यतीति विश्वासः—भगवान की रक्षा में विश्वास—

अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल।
काम क्रोध को पहिरि चोलनो कंठ विषय की माल।
महा मोह के नूपुर बाजत निंदा शब्द रसाल॥
+ + +
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करहु नंदलाल॥

(घ) गोप्तृत्ववर्णनम्—भगवान को मुक्ति-दाता और भक्त-वत्सल जानना—

चरण कमल बन्दौं हरि राई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अंधे को सब कछु दरसाई।
बहिरौ सुनै मूक पुनि बोलै रंक चले सिर छत्र धराई॥

(ङ) आत्मनिक्षेपः—तन, मन और कर्म सब-कुछ 'ॐ तत्सत्पर-ब्रह्मार्पणमस्तु' करना—

हमें नंद-नंदन मोल लिए।
यम की फाँसि काटि अभय अगात किए॥

(च) कार्पण्यम्—दीनता प्रकट करते हुए परमात्मा के सामने अपने पापों को स्वीकार करते हुए उनके मार्जन के लिए विनय करना—

विनती करत मरत हौं लाज ।
नख-सिख लौं मेरी यह देही है पाप को जहाज ।

इन्हीं भावनाओं से सूर के पद परिचालित हैं । यह ठीक है कि सूरदास ने तुलसी की विनय की शास्त्रीय पद्धति (वैष्णव सम्प्रदाय के अनुसार सात बातों का सन्निवेश) को अपने सम्मुख नहीं रखा है, फिर भी उनके पदों में विनय की समस्त भूमिकाएँ दृष्टिगत होती हैं । यथा—दीनता, मानमर्दन, भयदर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारण; जिनके अभाव में विनय पूर्ण नहीं समझी जाती । ये भूमिकाएँ इस प्रकार हैं—

(१) दीनता—अर्थात् अपने को अति तुच्छ समझना और असफलता का सारा दोष अपने ही सिर मढ़ना—

प्रभु हौं बडी बेर को ठाढ़ो ।
और पतित तुम जैसे तारे तिनही में लिखि काढ़ो ॥

या

हौं हरि सब पतितन को राव ।
को करि सकै बराबरि मेरी सो तो मोहि बताव ॥

(२) मानमर्दन—अभिमान-रहित होकर अपने आराध्य-देव की शरण में जाना—

प्रभु मेरे औगुन चित न धरो ।
समदरसी है नाम तिहारो सोई प्रतिपाल करो ॥

(३) भयदर्शन—जीव को भय दिखाकर इष्टदेव के सम्मुख करना—

अबके राखि लेहु भगवान ।
हम अनाथ बैठे द्रुम-डरिया पारधि साधे बान ॥

या

गोविन्द पद भज मन वच क्रम करि ।
अजहूँ मूढ़ चेत चहुँ दिशि ते उपजी काल अगिनि झक झरहरि ॥
जब जब जाल पसार परैगो हरि बिनु कौन करैगो धरहरि ॥

(४) भर्त्सना—मन को शासित करना और डाँटना :—

छाँड़ि मन हरि विमुखन को संग।
जाके संग कुबुधि उपजत है परत भजन में भंग॥

या

बिरथा जन्म लियो संसार।
करी न कबहूँ भक्ति हरी की भारी जननी भार॥

(५) आश्वासन—आराध्य देव के गुणों पर विश्वास करना और उसी की कृपा के भरोसे मन को धीरज देना—

गोविन्द प्रीति सबन की मानत।
जो जेहिं भाव करै जनु सेवा अंतर गति को जानत॥

या

जब जब दीनन कठिन परी।
जानत हौ करुनामय जन को तब तब सुगम करी॥

(६) मनोराज्य—अपने मन में बड़ी-बड़ी अभिलाषाएँ करना और इष्टदेव से उनकी पूर्ति की आशा करना—

ऐसो कब करिहौ गोपाल।
मनसा नाथ मनोरथदाता हौ प्रभु दीनदयाल॥

(७) विचारणा—मायाजाल की जटिलता दिखाकर मन को संसार से विरक्त करना और भक्ति-मार्ग के प्रति उसमें आसक्ति उत्पन्न करना—

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं।
ता दिन तेरे तन तरुवर के सबै पात झरि जैहैं।
कहँ वह नीर, कहाँ वह शोभा, कहँ रंग-रूप-दिखैहैं॥

वैष्णव भक्ति के लिए उपर्युक्त भावनाएँ भूमिका-रूप हैं। इनके अभाव में विनय एवं भक्ति अधूरी है। अतः सिद्धान्तों की दृष्टि से सूर के विनय के पद सफल हैं। साराश यह है कि सूर के विनय के पद अत्यन्त स्वाभाविक हैं। सूर ऐसे सच्चे वैरागी के हृदय से ही ऐसे उद्‌गार निकल सकते हैं। विनय के पद बनाते बहुत लोग देखे जाते हैं, पर इतनी स्वाभाविकता कितनों में

होती है ? सिवाय शब्दाडम्बर के, बाहरी आवरण के, उनमें कुछ और होता नहीं। पर सच्चे महात्मा और भगवतभक्त अपनी विद्वत्ता और साहित्यिक छटा दिखलाने की परवाह नहीं करते। उनका प्रत्येक शब्द भगवद्भक्ति-जलसिक्त हृदय से निकलता है। वही सच्ची विनय है। तुलसीदासजी के बाद सूरदास जी ही विनय-सम्बन्धी पद रचने में सफल हुए हैं।

सूरदास सगुणोपासक हैं और गो० वल्लभाचार्य के शिष्य हैं। वल्लभाचार्य कृष्ण के बालरूप के उपासक थे। यही कारण है कि उनका भक्तिमार्ग पुष्टिमार्ग के नाम से पुकारा जाता है। पुष्टिमार्ग का तात्पर्य है—भगवान श्री कृष्ण की आराधना कर उनकी कृपा एवं अनुग्रह की प्राप्ति करना। वास्तव में भगवान की कृपा-दृष्टि जिसपर नहीं जाती, वह इस संसार-सागर में डूबता-उतराता रहता है। यही कारण है कि सूर अपने पदों में परमात्मा की कृपा की याचना करते हैं। यह सच है कि वल्लभाचार्य ने ब्रह्म को सगुण और निर्गुण, दोनों ही माना है, परन्तु सगुण ब्रह्म की आराधना को सर्वश्रेष्ठ ठहराया है। सूर भी इस बात को स्वीकार करते हैं। उदाहरण के लिए 'अविगत गति कछु कहत न आवै' वाला पद काफी है। सूर का कथन है कि निर्गुण ब्रह्म के प्रति जो भक्ति की भावना है वह भ्रामक, अस्पष्ट एव रहस्यमूलक हो सकती है, परन्तु सगुण ब्रह्म की आराधना में ऐसी बात नहीं।

सूर की भक्ति पद्धति

सूर की भक्ति के आलंबन कृष्ण हैं, स्वय सूर भक्ति के आश्रय हैं, कृष्ण के रूप-गुण-लीलाएँ उद्दीपन-विभाव हैं। भक्त सिर्फ भगवान का अनुग्रह चाहता है, उनकी अनुकम्पा पर विश्वास रखता है। इसके अभाव में भक्ति हो ही नहीं सकती। भक्ति भाव अनेक प्रकार से प्रकट किया जा सकता है। कभी तो भक्त परब्रह्म को अपना गुरु समझकर अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है, कभी स्वामी मानकर। कभी वह उसे सखा समझता है, कभी अपना मित्र। वास्तव में परब्रह्म है भी आत्मा का गुरु, स्वामी, माता, पिता, मित्र और सब-कुछ। वह क्या नहीं है ? जिस भक्त के हृदय मे जिस प्रकार से हिलोर उठे और जैसा उसका दृष्टिकोण हो, उसी प्रकार वह परमात्मा को देखता है।

भक्ति किसी भी प्रकार से की जाय, परमात्मा से कोई भी सम्बन्ध स्थापित किया जाय, किन्तु सब प्रकार के सम्बन्धों के लिए अनन्यता ही अत्यन्त आवश्यक है। अब हम भक्ति के रूपों को प्रस्तुत कर सूरदास के पदों को देखेंगे कि वह किस सीमा तक उस भक्ति से ओतप्रोत है।

[क] शान्त भक्ति—इस प्रकार की भक्ति में वैराग्यमूलक भावना की प्रधानता रहती है। यह वैराग्य-भावना आराध्यदेव के प्रति नहीं, वरन् भौतिक संसार के प्रति रहती है। इस कोटि की भक्ति का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। इस प्रकार की भक्ति-सम्बन्धी रचनाएँ वल्लभाचार्य के शिष्य होने से पूर्व लिखी गई थीं। विनय-सम्बन्धी कुछ पदों में शान्त भक्ति की कोटि के भी काव्य-संदर्भ मिलते हैं—

हरि बिनु मीत नहीं कोउ तेरे।
सुनो मन, कहौं पुकारि तोसौं भजि गोपालहिं मेरे॥

[ख] दास्य भक्ति—तुलसी के समान सूरदास ने भी दास्य भक्ति का आश्रय लिया है। इस कोटि की भक्ति में भक्त परमात्मा को स्वामी मानता है। सूरदास की आरम्भिक रचनाओं में विनय संबन्धी पदों का प्राचुर्य है, जिनमें दास्यभाव की भक्ति की पूर्ण विवेचना हुई है। सूरदास के आरम्भिक जीवन में इसी कोटि की भक्ति की प्रबलता थी, परन्तु पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के पश्चात् उन्होंने अन्य कोटि की भक्ति का आश्रय ग्रहण किया। दास्य भक्ति के पूर्ण विवेचन के लिए 'विनय' के पद पर्याप्त हैं।

(ग) सख्य भक्ति—इसके अनुसार एक भक्त भगवान की उपासना सखा के रूप में करता है। इस प्रकार की भक्ति करनेवालों में अर्जुन, सुग्रीव, निषाद आदि थे। इस कोटि की सख्य भक्ति सारे सूरसागर में दो रूपों में प्रस्फुटित हुई—एक गोप-ग्वाल और कृष्ण-प्रसंग में तथा दूसरा राधाकृष्ण के प्रेम-प्रसंग में। सूर ने इसी भक्ति को अपनाया है और इसीलिए वे निःसकोच भाव से भगवान श्रीकृष्ण की अति गोपनीय लीलाओं को कह जाते हैं। इसी सरल भावना के कारण सूर भगवान को डाँटते-डपटते और व्यग्य भी करते हैं।

आजु हौ एक-एक करि टरि सौ।
कै हमहीं कै तुमहीं माधव अपुन भरोसे लरिहौ।
हौं तो पतित सात पीढ़िन को पतितै ह्वै निस्तरिहौ॥

सूरदास इतना ही नहीं कहते हैं—

'सूरदास सरवसु जो दीजै, करो कृसहि न मानै।'

—सूरदास अपने आराध्यदेव से व्यंग्य भी करते हैं। उनका कथन है कि यदि भक्त के हृदय में भावना प्रबल है तो भगवान उस भावना का प्रतिदान किये बिना नहीं रह सकता। सख्यभाव की भक्ति तो सूरसागर में बिखरी पड़ी है।

(घ) दाम्पत्य भाव या माधुर्य भाव—इस भक्ति के अनुसार एक भक्त अपने भगवान की उपासना प्रियतम या प्रियतमा मानकर करता है। सूर ने राधा-कृष्ण के लोक-विश्रुत प्रेम-चरित पर आश्रित करके सगुण-भक्ति की उपासना-पद्धति में क्रान्ति कर दी, जिसके कारण उनके पश्चात् अनेक मधुर भक्ति-मार्गी सम्प्रदायो की सृष्टि हुई। सूर की यह मधुर भक्ति दो खण्डों में प्रस्फुटित हुई—

(१) राधाकृष्ण का प्रेम-प्रसंग।

(२) गोपियों और कृष्ण का प्रेम-प्रसंग।

—इन्हीं दो प्रसंगों को लेकर सूर ने कई अभिनव रूपकों की सृष्टि की है। वास्तव में सूरसागर गोपियों और कृष्ण के संयोग-वियोग के रूप में मधुर भक्ति की वह वृहत् साधना है जिसका जोड़ संसार के भक्ति-काव्य में मिलना असंभव है। इस भक्ति के लिए निम्नलिखित पद उद्धृत किया जा सकता है—

मधुकर हम न होहिं वे बेलि।
जिनको तुम तजि भजत प्रीति बिनु करत कुसुम रस-केलि।
बारे ते बलवीर बढ़ाई पोसी प्यायो पानी॥ ... ..

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सूर की भक्ति शास्त्रीय पद्धति पर आश्रित नहीं है, वरन् उनकी भक्ति की धारा स्वाभाविक रूप से प्रवाहित हुई है। हाँ, एक प्रकार से हम देखते हैं कि सूरसागर में भक्ति के

अनेक प्रकार के उदाहरण हैं ; लेकिन इतना होते हुए भी सूर की भक्ति सख्य-भाव की है।

सूरदास वात्सल्य-रस के अधिकारी कवि हैं। वात्सल्य का सजीव, सरस और आकर्षक वर्णन करनेवाले हिन्दी में ही नहीं ; अपितु विश्व में सबसे अधिक प्रख्यात कोई कवि हुए हैं तो वे सूरदास ही हैं। सूर के वात्सल्य रस से आप्लावित पदों को पढ़ते ही पाठक के मानस-नेत्रों के सामने कभी तो किसी सजीव, सुन्दर, चपल, मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए बालक की मूर्ति उपस्थित हो जाती है और कभी वात्सल्य की स्नेहमयी मूर्ति माता यशोदा का चित्र सामने आ जाता है। सूर के वात्सल्य में कहीं कृत्रिमता दिखाई नहीं देती।

सूरदास के कृष्ण पारिवारिक और सामाजिक जीवन के कृष्ण हैं। सूर के बाललीला-वर्णन का सम्बन्ध पारिवारिक जीवन से है। इसका सूर-साहित्य में अपना स्थान है। वस्तुतः भगवान के वात्सल्य का वर्णन वल्लभ-सम्प्रदाय के भक्त-कवियों का बहुत प्रिय विषय रहा है। सूर-साहित्य में यह अंश इतना महत्त्वपूर्ण है कि यदि इसे वहाँ से निकाल दिया जाय तो सूरदास का व्यक्तित्व ही लुप्त हो जाता है और इसी पर इनकी ख्याति अवलम्बित है। इस प्रकार के पदों में बालक की प्रकृति का जितना सूक्ष्म पर्यवेक्षण, उनकी लीलाओं की जितनी अभिव्यक्ति और उनके सौन्दर्य का जितना आकर्षक चित्र उपस्थित किया गया है, वह हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय है।

शिशु-लीला-वर्णन

बाललीला के प्रसंग में कभी-कभी अद्भुत रस का भी संयोग हो गया है, परन्तु इसका स्थायी रस है वात्सल्य, जिसकी रचना में सूरदास को बाल-मनोविज्ञान के ज्ञान से काफी सहयोग मिला है। दूसरी बात यह भी है कि साहित्य में वात्सल्य को रसों में स्थान दिलानेवाले सूरदास ही हैं। उनके पहले वात्सल्य एक भावमात्र था, रस नहीं। इस तरह वात्सल्य के वे जनक हैं। इसीसे वे वात्सल्य-चित्रण में अपना जोड़ नहीं रखते। बच्चों के बचपन से लेकर किशोरावस्था तक उनकी जितनी हरकतें हो सकती हैं, उनका जैसा सूक्ष्म निरीक्षण सूर ने किया है, वैसा शिशु-मनोविज्ञान-वेत्ता भी नहीं करते। वस्तुत सूर ने वात्सल्य रस की जैसी मन्दाकिनी प्रवाहित की है, वैसी 'न भूतो न भविष्यति'। कृष्ण की

लीला-गान करना ही उनकी भक्ति का साधन है और उस लीला से तादात्म्य स्थापित करना ही उनकी साधना है। कृष्ण के बाल-लीला-प्रसंग में नन्द और यशोदा का सम्बन्ध विशेष रूप से है। वात्सल्य-वर्णन में संयोग और वियोग, दोनों ही दशाओं का प्रकाशन किया गया है। वियोग-पक्ष की अपेक्षा संयोग-पक्ष का चित्रण अधिक आकर्षक है। उन्होंने मातृ-हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। उन्होंने अपने व्यक्तित्व को यशोदा के व्यक्तित्व से मिलाकर कृष्ण की बाल-लीला में पूर्ण भाग लिया है। संयोग-वात्सल्य में आलम्बन कृष्ण हैं, उनकी लीलाएँ उद्दीपन हैं तथा माता का प्रसन्न होना, मुस्कुराना और अन्य चेष्टाएँ अनुभाव हैं।

सूरदास ने कृष्ण के बालरूप का वर्णन बचपन से ही किया है। कृष्ण का जन्म हुआ है, सभी इस संवाद को एक दूसरे से कह रहे हैं। उसी आनन्दातिरेक का वर्णन—"आज बन कोऊ जिन पाई" वाले पद में हुआ है। नन्द के द्वार पर भीड़ लग गई है, वे वस्त्राभूषण बाँट रहे हैं—

'आजु नन्द के द्वारे भीर।
एक आवत एक जात विदा होइ एक ठाढ़े मन्दिर के तीर।'

कृष्ण बड़े हो रहे हैं और वहाँ की स्त्रियाँ प्रतिदिन उन्हें देखने को आती हैं। यशोदा कृष्ण को पालने में झुला रही हैं। आज किलकारी देकर, पालने में पड़ा हुआ बालक कृष्ण माता यशोदा को आनन्द दे रहा है—

गोपाल माई पलने झुलाए।
सुर मुनि कोटि देव तैंतीसो देखन कौतुक अम्बर छाये।

अब श्रीकृष्ण हाथों की अंगुलियों को मुँह में डालने लगे हैं। इस तरह करते-करते एक दिन गिर पड़े—उसका भी वर्णन सूर ने किया है। श्याम की हँसी से माता यशोदा का दुःख दूर होता है—

हरि किलकत यशुदा की कनियां।
निरखि-निरखि मुख हँसत स्याम मों सो निधनी के धनियाँ॥

अब श्रीकृष्ण तुतली बोली में बोलने लगे हैं, चलने लगे हैं। इस प्रकार की बाल चेष्टाओं का चित्र देखिए—

सिखवत चलन यसोदा मैया।
अरबराय कर पानि गहावति डगमगाइ धरनी धरै पैया॥

इस तरह उन्हे चलने की शिक्षा दी जा रही है। कृष्ण चलने का प्रयास करने लग गए हैं—

ठुमुकि ठुमुकि पग धरती रेंगत जननी देखि दिखाने।
देहरि लौ चलिजात, गिरि गिरि परत, बनत नहीं नाँघत॥

या

ठुमुकि ठुमुकि धरती पै रेंगत जननी देखि दिखावै।
देहरि लौ चलि जात बहुरि फिरि फिरि इतही को आवै।
गिरि-गिरि परत बनत नहि नाँघत सुनि मुनि सोच करावै॥

—इसमें बच्चों के चलने की प्रकृति तथा असमर्थता का स्वाभाविक वर्णन मिलता है। जैसे-जैसे बच्चे बड़े होने लगते हैं, वैसे-वैसे उनमें जिद्द, स्पर्द्धा, चोरी, बाल-सुलभ तर्क और गो-चारण की भावना का आगमन हो जाता है। इसके भी दृष्टान्त सूर के पदों में पर्याप्त हैं। बच्चों के जिद्दीपन का नमूना देखिए—

चन्द खिलौना लैहौं मैया मेरी चन्द खिलौना लैहौं।
जैहौं लोटि धरनि पर अबही तेरी गोद न ऐहौं॥
सुरभी को पय पान न करिहौं बेनी सिर न गुहैहौं।....

बच्चों में स्पर्द्धा का भाव विद्यमान रहता है, इसके लिए निम्नांकित पद द्रष्टव्य है—

मैया कबहिं बढ़ेगी चोटी।
किती बार मोहिं दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी॥

इस पर माँ निरुत्तर हो गई और कृष्ण की प्रिय वस्तु माखन-रोटी देनी ही पड़ी। कितना स्वाभाविक और बाल-सुलभ वर्णन है। बालक के हठ के साथ ही माता का स्नेह-स्निग्ध हृदय भी खेल रहा है।

'माखन-चोरी'-प्रसंग में कृष्ण के बुद्धिचातुर्य का विशेष रूप से पता चलता है। व्रज के घरों में घुस कर सखाओं के संग माखन-चोरी करना और फिर

पकड़े जाने पर चातुर्य से छूटकर भाग जाना आदि लीलाएँ अत्यन्त विनोद-पूर्ण हैं। कृष्ण एक दिन सखाओं के संग अंधेरे में मक्खन चुरा रहे थे। गोपी ने पकड़ लिया। अब क्या उत्तर दें ? परन्तु श्री कृष्ण घबराए नहीं और बड़ी चपलता से कहते हैं कि—

मैं जान्यो यह घर अपनो है या धोखे ही आयो।
देखत ही गोरस में चींटी काढ़न को कर नायो॥

कौन ऐसे वचन सुनकर मुग्ध न होगा। गोपी मुग्ध हो गई और मुस्करा-कर हृदय से चिपटा लिया।

'माखन-चोरी' के सिलसिले में श्रीकृष्ण खेल में हार जाते हैं तो मन-ही-मन खीँझ उठते हैं इतने में बलराम बोल उठे—

बीचहिं बोल उठे हलधर तब इनके माय न बाप।
हार जीति कछु नेक न जानत लरिकन लावत पाप॥

बस, कृष्ण और भी खीँझ उठे और रोते-रोते माँ के पास शिकायत करने को चल पड़े—

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायो।
मो सों कहत मोल को लीनों तोहि जसुमति कब जायो॥

बालकों की नटखट प्रकृति का कितना स्वाभाविक तथा मर्मस्पर्शी वर्णन है। चिढ़ते को चिढ़ाने में, विशेष रूप से बालकों को, बहुत ही आनन्द आता है। 'गोरे नंद जशोदा गोरी तुम कत स्याम शरीर' में कितना सुन्दर व्यङ्ग्य है। 'तू मोही को मारन सीखी दाउहि कबहुँ न खीझै' में कितना भोलापन है तथा माता और पुत्र की स्नेहमयी प्रवृत्ति का आभास मिलता है। माता पुत्र की चंचलता तथा खीझने से और भी अधिक प्रसन्न होती है। गुस्से से लाल मुख तथा क्रोधभरी बातों को सुनकर यशोदा प्रसन्न होती है और अन्त में पुत्र को प्रसन्न करने के लिए 'हौं माता तू पूत' कह देती है। कितनी स्वाभाविकता है मातृ हृदय की। माता और पुत्र का परस्पर विनोद अत्यन्त आकर्षक है। 'खेलन में को काको गुसैयाँ'—में ग्रामीण बच्चों के मनोरागों का कवि ने सुन्दर परिचय दिया है। इसी प्रकार गोचारण में बाल-सुलभ तर्क का दृश्य

जिस स्वाभाविक ढंग से सूर ने हमारे सामने रखा है, वह अद्वितीय है। इस प्रकार सूर ने बाल-हृदय का अत्यन्त स्वाभाविक चित्र अंकित किया है। सूर के वात्सल्य की विशेषता केवल इसी में नहीं है कि उन्होंने बचपन की विविध दशाओं का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है, वरन् उन्होंने मातृ-हृदय की बेचनी और अकुलाहट का भी बड़ा सजीव चित्र अकित किया है। सूर ने वात्सल्य रस का कोना-कोना झाँका है। इस क्षेत्र में जितनी दूर तक सूरदास ने दौड़ लगाई है, शायद उतनी दूर तक तुलसी ने भी नहीं। सुतराँ, सूर के बाल-लीला-वर्णन में अत्यन्त स्वाभाविकता है जो उनकी अनुभूति की सच्चाई एवं गंभीरता का प्रबल प्रमाण है।

उद्धव-गोपी-संवाद सूरदास जी ने भ्रमर-गीत के नाम से लिखा है। भ्रमर-गीत का मूल भी श्रीमद्भागवत ही है। भ्रमर-गीत 'सूर-साहित्य' की मुकुट-मणि है। सूरदास ने तीन भ्रमर-गीतों की रचना की है जिनमे पहला भागवत के भ्रमर-गीत का अविकल अनुवाद है। इसमें ज्ञान-वैराग्य की विशेष चर्चा है। दूसरा भ्रमर-गीत भी महत्त्वपूर्ण नहीं है। जिस भ्रमर-गीत की इतनी प्रशंसा हुई है और जिसके पद इस संग्रह में संगृहीत हैं—वह तीसरा भ्रमर-गीत है। इस में कई सौ पद हैं। भ्रमर-गीत के बहाने गोपियों द्वारा कृष्ण और उद्धव के प्रति उपालंभ देने का अत्यधिक विस्तार से वर्णन किया गया है।

भ्रमर-गीत

सूरदास के भ्रमर गीत में सगुणोपासना ही दिखाई देती है। सूर के भ्रमर-गीत का स्पष्ट उद्देश्य है निर्गुण ब्रह्म की तुलना में सगुण ब्रह्म की महत्ता स्थापित करना। इसका यह मतलब नहीं कि सूर ज्ञान की महत्ता से अनभिज्ञ थे। सूर ने निराकार ब्रह्म की महत्ता 'अविगत गति कछु कहत न आवै'-जैसे पदों में स्वीकार की है। किन्तु उन्हे भक्ति का मार्ग ज्ञान के मार्ग से अधिक प्रिय था। ज्ञान और भक्ति का यह संघर्ष भारतीय दर्शन में महत्त्व-पूर्ण स्थान रखता है। भ्रमर-गीत में ज्ञान को सारहीन, तत्त्वहीन बताकर उसकी हँसी उड़ाने की जो चेष्टा की है, उसके लिए सूर ने गोपियों को आधार बनाया है।

काव्य की दृष्टि से भ्रमर-गीत का प्रसंग महत्त्वपूर्ण है। रस की दृष्टि से इसमें वियोग शृंगार है। विप्रलंभ भी ऐसा ही विस्तृत और व्यापक है। वियोग की जितनी अन्तर्दशाएँ हो सकती हैं, जितने ढङ्गों से उन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ है और सामान्यतः हो सकता है, वे सब इनके भीतर मौजूद हैं। सूर के भ्रमर-गीत मे विरह की ग्यारहों अवस्थाओं का मार्मिक चित्रण है—

स्मरण—

मेरे मन इतनी सूल रही।
वे बतियाँ लिखि राखीं जे नँदलाल कहीं।

गुण-कथन—

संदेसो देवकी सो कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो।

सूर वियोग में उठनेवाले मनोभावों से पूर्णतया परिचित थे। डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि सूर ने मनोवैज्ञानिकता के साथ रस का पूर्ण सामंजस्य स्थापित किया है। प्रेमी-प्रेमिका के जितने भी प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं अथवा दाम्पत्य-जीवन में जितने भाव सम्भव हैं, वे सब भ्रमर-गीत में मिलते हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कहना है कि भ्रमर-गीत में जिस वियोग का चित्रण है, वह सोलह आना वियोग है अर्थात् गोपियों में संयोग की भावना का पूर्णतः लोप ही हो गया है। उनका विरह इतना गहरा है कि वह देश, काल और पात्र से मुक्त हो गया है।

सूर ने विरह को अत्यन्त व्यापक रूप में चित्रित किया है। कृष्ण के वियोग में केवल राधा या गोपियाँ ही व्याकुल नही हैं, अतुपि, ग्वाल-बाल नन्द-यशोदा आदि भी विरह से पीड़ित हैं। कृष्ण के वियोग में गौएँ भी कृशगात हो गई हैं और कालिन्दी भी विरह-ज्वार से जलकर अत्यन्त काली हो गई है। भ्रमर-गीत में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें जो भावधारा प्रवाहित हुई है उसमें अत्यन्त स्वाभाविकता है। कहीं भी किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं आने पाई है। गोपियों के मुख से सूर ने जो बातें कहलाई हैं उनमें नारी-सुलभ सरलता दिखलाई देती है। जिस समय उद्धव गोपियों को योग का उपदेश

देते हैं उस समय गोपियाँ बड़े भोलेपन के साथ यही कहती हैं कि हे उद्धव ! हमारी ओर तो देखो, क्या हमलोग योग करने योग्य हैं? हमारे लिए तो रासलीला ही ठीक है। जब उद्धव बार-बार गोपियों को ब्रह्म का ध्यान करने के लिए उपदेश देते हैं तो बड़े वाग्वैदग्ध्य के साथ वह कहती हैं कि तुम किसको योग सिखाते हो, हमारे पास जो मन था, उसे तो कृष्ण हरकर ले गये। हमारे पास दस-बीस मन थोड़े ही हैं—

ऊधो मन नाहीं दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम सँग को अराधै ईस।

यदि हमारे पास मन होता तो क्या हम योग को, जिसे तुम अत्यन्त प्रेम-पूर्वक देने के लिए लाये हो, स्वीकार नहीं कर लेतीं? दुःख तो यह है कि कृष्ण हमारे मन को तो अपने साथ ले गए और फिर यहाँ योग भेज दिया—

ऊधो मन नहिं हाथ हमारे।
रथ चढाय हरि संग गया लै मथुरा जबै सिधारे॥
नातरु कहा जोग हम छाँडहिं अति रुचि कै तुम ल्याए।
हम तो झँखति स्याम की करनी मन लै जोग पठाए॥

गोपियाँ विनोद करने में भी बड़ी चतुर हैं। एक ओर तो वे अत्यन्त भोली दीख पड़ती हैं तो दूसरी ओर वे उसी प्रकार उद्धव को बनाती हैं। वे उद्धव से कहती हैं कि स्यात्, कृष्ण ने तुम्हारे साथ मजाक किया है। तुम्हें कसम है, हमें तुम सच-सच बताओ कि कृष्ण ने जब तुम्हें यहाँ भेजा था, तब वे कुछ मुसकराये थे या नहीं—

साँच कहो तुमको अपनी सौं बूझति बात निदाने।
सूर स्याम जब तुम्हें पठाये तब नेकहु मुसुकाने॥

पहले गोपियों के हृदय की स्थिति ऐसी होती है जिसमें उनका भोलापन ही दिखाई देता है। बाद में उद्धव के साथ बातें करते हुए समय हो जाने पर वे उसके साथ कृष्ण-सखा होने के नाते कुछ घनिष्ठता अनुभव करने लगती हैं। यहाँ तक कि वे उससे विनोद करने में भी नहीं चूकतीं। बाद में एक ऐसी स्थिति आती है, जबकि वे झुँझला उठती हैं। उनकी झुँझलाहट को

व्यक्त करनेवाले पद बहुत अधिक संख्या में मिलते हैं। उनकी झुँझलाहट सिर्फ उद्धव के प्रति ही नहीं, अपितु कृष्ण और कुब्जा के प्रति भी है। उद्धव से वे कहती हैं—

अपने स्वारथ को सब कोऊ।
चुप करि रहौ, मधुप रस-लंपट ! तुम देखो अरु बोऊ।
औरो कछु संदेस कहन को कहि पठयो किन सोऊ।
लीन्हें फिरत जोग जुवतिन को बड़े सयाने दोऊ।
तब तक मोहन रास खिलाई जो पै ज्ञान हुतोऊ।

उनकी झुँझलाहट का सबसे बड़ा कारण यह है कि कृष्ण उन-जैसी सुन्दरियों को छोड़कर कुबड़ी पर जाकर रीझे हैं—

लौंड़ी के डौंड़ी बाजी स्याम रँगे अनुराग !

'लौंड़ी' शब्द में कुब्जा के प्रति और 'स्याम' शब्द में कृष्ण के प्रति झुँझलाहट की व्यंजना है। इस प्रकार भ्रमर-गीत दार्शनिक दृष्टि से या कवित्व की दृष्टि से सूरसागर का ही नहीं, हिन्दी-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ अंग है।

भाषा-शैली

सूरदास ने अपने काव्य के लिए व्रजभाषा का ही उपयोग किया है। वे इसके प्रथम आचार्य हैं। परन्तु लाला भगवानदीन के अनुसार 'सूर की व्रजभाषा घनानन्द या रसखान की तरह सर्वथा निर्दोष नहीं। उसमें विभिन्न प्रान्तों के बोलचाल के कुछ प्रचलित शब्दों और प्रत्ययों के साथ प्राचीन काव्यभाषा अपभ्रंश के शब्द भी मिले हुए हैं। यहाँ तक कि अरबी-फारसी के शब्द भी उदारतापूर्वक व्यवहृत हुए हैं। फिर भी कवि की अनोखी प्रतिभा के प्रभाव से उनके अनन्य प्रेम को अभिव्यक्ति की साधिका बनाकर सूर की भाषा ने एक निराली छटा छिटकाई है।' महाकवि हरिऔध के शब्दों में—'जैसी उसमें प्रांजलता है वैसी ही मिठास भी है। जितनी वह सरस है उतनी ही कोमल। जैसा उसमें प्रवाह है वैसा ही ओज। भाव मूर्तिमन्त होकर जैसा उसमें दृष्टिगत होता है, वैसी ही व्यंजना उसमें अठखेलियाँ करती अवगत होती है, पर यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि अन्य विषयों की तरह सूर का भाषा पर भी वैसा व्यापक अधिकार नहीं था

जैसा तुलसीदास का। ब्रजभाषा के अन्य कवियों की तरह सूर ने भी शब्दों को कुछ अंशों में विकृत कर उनका प्रयोग किया है, पर 'देव'-प्रभृति की तरह उन्होंने इस दिशा में सीमोल्लघन नहीं कर दिया है। हाँ, पदपूरणार्थ सु, जु आदि का प्रयोग कहीं-कहीं कुछ खटकता है। किन्तु ऐसे स्थल बहुत कम हैं, और, इस दोष से तो तुलसी भी नहीं बच पाये हैं। सूर के पदों का माधुर्य केवल भाषा पर ही निर्भर नहीं, इसमें छन्द विन्यास से भी बहुत सहायता मिलती है। यति के मनोवैज्ञानिक प्रयोगों से और चरणों के आरोह-अवरोह के सन्निवेश से उनके पदों की गीतात्मकता पूर्णता को प्राप्त हुई है।

सूर की काव्य-रचना-शैली की मुख्यतम विशेषता उनके पदों की सगीतात्मकता है, जिसके सम्बन्ध में हमें कहना पड़ता है कि सूर के पदों की अनुपम माधुर्यपूर्ण संगीतात्मकता में भी एक ऐसी खूबी है जो सहज ही उन्हें महाकवि जयदेव और मैथिल-कोकिल विद्यापति का समकक्ष बना देती है। जिस गीतिकाव्य पद्धति का अवलबन उपर्युक्त दो महाकवियों ने किया था, उसका सर्वाङ्गपूर्ण एवं सुन्दर व्यक्तीकरण हमें सूर के काव्य में मिलता है। इसमें उनकी सूक्ष्मावेक्षिणी प्रज्ञा ने विषयानुकूल शब्द-चयन कर प्रर्याप्त सहायता पहुँचाई है। उदाहरणार्थ—

मधुकर काके मीत भये।
दिवस चारि करि प्रीत सगाई, रस लै अनत गए।

पर इस माधुर्य का कारण वाह्य शब्द-चयन ही नहीं है। सूर के पदों का आन्तरिक माधुर्य भी कम नहीं है। जिन भावों का सन्निवेश उनमें हुआ है, वे स्वतः मधुर हैं, और, शब्दों का माधुर्य उनके स्वाभाविक माधुर्य को सिर्फ प्रवृद्ध करता है। देखिए—

'ऊधो हमहिं कहा समुझावहु।'

स्वय सुन्दर भावों की सफल व्यजना से सूर का काव्य सुन्दर हो गया है उत्कृष्ट शैली के तीन प्रमुख गुण हैं—ओज, माधुर्य और प्रसाद। सूर-काव्य का विषय ही ऐसा है कि उस में ओज को स्थान देने का अवकाश ही नहीं मिला है। पर जहाँ तक माधुर्य और प्रसाद-गुण का सवाल है, वहाँपर सूर ने कमाल

हासिल किया है। माधुर्य में तो वे हिन्दी के जयदेव ही हैं। प्रसाद गुण का भी सन्निवेश सूरदास ने अपने काव्य में अत्यन्त प्रगल्भतापूर्वक किया है। इसका कारण यह है कि एक ओर उन्होंने ठेठ शब्दों से मुँह नहीं मोड़ा है तो दूसरी ओर केशव-प्रभृति की तरह पांडित्य-प्रदर्शन से भी अपने को बचाया है। दृष्टिकूट के पद अपवादस्वरूप हैं। सूर की रचनाशैली में रस और व्यंग्यार्थ को प्रस्फुटित करने की विलक्षण शक्ति है। चित्रमयता उनकी शैली की एक महत्त्वमयी विशेषता है।

हिन्दी-कविता गगन के इस तेजोमय तरणि की स्निग्ध एवं सुभग काव्य-रश्मियों से यह स्पष्ट होया है कि हिन्दी-साहित्य में सूरदास वास्तव में सागर और सागर के समान उत्ताल तरंग-माला-संकुलित थे। उनमें गंभीरता भी वैसी ही पायी जाती है। जैसा प्रवाह, माधुर्य और सौन्दर्य उनकी कृतियों में पाया जाता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। डा० जी० ए० ग्रियर्सन ने लिखा है कि 'साहित्य में सूरदास के स्थान के सम्बन्ध में मैं यही कह सकता हूँ कि वह बहुत ऊँचा है। सब तरह की शैलियों में वे अद्वितीय हैं। आवश्यकता पड़ने पर वे जटिल से जटिल शैली में लिख सकते थे और फिर दूसरे ही पद में ऐसी शैली का अवलम्बन कर सकते थे जिसमें प्रकाश की किरणों की-सी स्पष्टता हो। किसी गुण विशेष में अन्य समस्त कवियों के सर्वोत्कृष्ट गुणों का एकत्रीभाव है। वस्तुतः सूर भक्ति काव्य और गीति-काव्य के महाकवि हैं। उनकी कविताओं में भगवान की भक्ति का सरल मार्ग बतलाया गया है; प्रेम की सच्ची अभिव्यक्ति प्रदान की गई है, बाल-विनोद का मधुर आनन्द दिखलाया गया है, दाम्पत्य-प्रेम के अपूर्व सुख का वर्णन किया गया है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सूरदास ने किसी महा-काव्य की रचना नहीं की, फिर भी वे महाकवि हैं। सूर के पदों की मनोहारिता के सम्बन्ध में अनेक कवियों की अनेक उक्तियाँ हैं, जिनमें कुछ यों हैं—

उपसंहार

किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर को पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो, रहि रहि धुनत सरीर॥
तत्व तत्व सूरा-कही, तुलसी कही अनूठी।
बची खुची कबिरा कही, और कही सो जूठी॥

उत्तम पद कवि गंग के, उपमा को बलबीर।
केशव अर्थ-गँभीरता, सुर तीन गुन धीर ॥

विनय के पद

चरन-कमल बन्दौ हरि-राइ।.... .. ...

सूरदास स्वामी करुनामय, बार-बार बन्दौ तिहि पाई ॥१॥

शब्दार्थ—चरन-कमल=कमल के समान कोमल चरण (भगवान विष्णु का चरण कमल के सदृश कोमल कहा जाता है)। बन्दौ=प्रार्थना करता हूँ। हरि राई=हरि जो राजा है, भगवान श्रीकृष्ण। जाकी=जिसकी। पंगु=लगड़ा। गिरि=पर्वत। गूंग=गूंगा। रंक=दरिद्र। छत्र=छाता, राजचिन्ह। पाई=चरण।

अवतरण—प्रस्तुत पद 'सूरसागर' का प्रथम छन्द है। प्राचीन काव्यकार अपनी ग्रन्थ रचना के पहले इष्टदेव की वंदना करते हैं। सूरदास भगवान श्रीकृष्ण के उपासक थे और उन्हे अपना इष्टदेव मानते थे। इसीलिए महाकवि सूरदास ने दूसरे दूसरे भक्तो को ही परब्रह्म मान लिया है और पुष्टिमार्ग में कीर्त्तन को विशेष स्थान प्राप्त है। अतएव वंदना करना अत्यावश्यक है। इसलिए यह पद सूरसागर का मगलाचरण है जिसमें कवि ने अपने आराध्य देव की महान् शक्ति का दिग्दर्शन कराया है।

व्याख्या—महाकवि सूरदास साधारण शक्ति से सम्पन्न ईश्वर का न तो उपासक है और न साधारण शक्ति-सम्पन्न ईश्वर की वंदना ही कर रहा है, बल्कि वह ईश्वर-भावना से विशिष्ट श्रीकृष्ण भगवान के चरण कमलों की वंदना करता है जिसकी कृपा वर्णनातीत है।

सूरदास कहते हैं कि मैं श्रीकृष्ण भगवान के कमल रुपी चरणों की वंदना करता हूँ। जिनकी (श्रीकृष्ण भगवान की) कृपा से लंगड़ा मनुष्य पर्वत को लाघ जाता है, अन्धे मनुष्य को सब कुछ दिखलाई पड़ने लगता है, बहरा सुनने लगता है, और गूंगा बोलने लगता है और दरिद्र मनुष्य (इतना धनवान् हो जाता है कि) सिर पर राजछत्र धारण करके चलने लगता है। सूरदास

कहते हैं कि कृष्ण भगवान बड़े ही दयामय स्वामी हैं, अतएव मैं बार-बार उनके चरणों की बंदना करता हूँ।

अलंकार—'चरन कमल' में रूपक अलकार और 'वार-बार' में वीप्सा अलंकार है।

विशेष—महाकवि तुलसीदास ने भी इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया है—

मूक होहिं वाचाल पंगु चढै गिरिवर गहन।
जासु कृपा सुदयाल द्रवौ सकल कलिमल दहन॥

इस पद के सबध में लाला भगवान 'दीन' ने लिखा है कि—"मूक करोति वाचालं पंगु लंघयते गिरिम्। यत्कृपा तमहं बन्दे परमानन्द माधवम्" का भाव है। कृष्ण की कृपा से असंभव भी सभव हो सकता है। कोई-कोई 'जाकी कृपा · छत्र धराई' इन दो पंक्तियों को 'चरण' का विशेषण मानते हैं, पर हम 'हरि राई' का ही विशेषण मानना ठीक समझते हैं। इस पद में यह शिक्षा दी गई है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है, असभव को भी सभव कर सकता है। उसीका भजन करना उचित है (ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता)।

अब कैसे पैयत सुख माँगे ? · · · ···
सूरदास तुम राम न भाजकै, फिरत काल सग लागै॥२॥

शब्दार्थ—पैयत = पाओगे। जैसोइ = जैसा। बोइयै = बोये हो। तैसोइ = वैसा ही। लुनिये = काटो। कर्मन-भोग = कर्मों का फल। तीरथ-व्रत = तीर्थयात्रा और व्रत। कछुवै = कुछ भी। पछिले = पूर्व। सम्हारत = सभालता है। बोवत = बोना। दाख = मेवाफल अर्थात् अगूर। जीवत है = देखता है।

व्याख्या—भक्ति-विमुख व्यक्तियों को सम्बोधित करते हुए महाकवि सूरदास कहते है कि हे अभागे मनुष्य ! यह तो तुम्हारे कर्मों का भोग (फल) है। तुमने जैसा बोया है, वैसा ही काटने को मिलेगा अर्थात् तुमने पूर्वजन्म में जैसे कर्म किए हैं, वैसा ही फल अब भोगना है। अब इच्छा मात्र (मागने) से ही सुख की प्राप्ति कैसे होगी ? तुमने तीर्थ यात्रा और व्रत आदि पुण्यकर्म कुछ भी नही किया, सचेत होकर दान भी नहीं दिया, तुम पूर्वजन्म में किए गए बुरे कर्मों को याद नहीं करते और आगे उत्तम फल की प्राप्ति हो इसलिए भी

कोई अच्छा काम नहीं करते। ऐसी परिस्थिति में तुम्हारे लिए सुख-प्राप्ति की आशा करना ऐसा प्रतीत होता है मानों बबूल का पेड़ लगा कर उससे दाख (अंगूर) फल की आशा करना है। कहने का भाव है कि तुम बुरे कर्म करने के बाद भी तत्काल सुख पाने के लिए लालायित हो। सूरदासजी कहते हैं कि रे मूढ़! तुम भगवान श्रीराम का भजन न करके मृत्यु के संग लगे घूम रहे हो अर्थात् भजन न करने से तो मृत्यु का ही साथ रहेगा।

विशेष—महाकवि सूरदास के आराध्यदेव थे भगवान श्रीकृष्ण परन्तु उन्होंने श्रीराम का भी गुणानुवाद किया है जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण है यह पद।

आज हौं एक-एक करि टरिहौं। . .. ..
सूर पतित तबही उठिहै, प्रभु, जब हँसि देहौ बीरा ॥३॥

शब्दार्थ—हौं=मैं। एक-एककरि=एक-एक कर। टरिहौं=हटूँगा। कै=क्या। माधौ=कृष्ण। पीढ़िनि कौं=कई पीढ़ियों से। निस्तरिहौ=उद्धार पाऊँगा। उघरि=खुलकर। विरद=यश, कीर्ति। कत=क्यों। परतीति=विश्वास। नसावत=खोना। बीरा=वरदान।

व्याख्या—प्रस्तुत पद में सूरदासजी प्रेमाधिक्य के कारण अपने आराध्यदेव से उसी प्रकार अपने निस्तार के लिए मचल रहे हैं, जिस प्रकार कोई हठी बालक किसी वस्तु को लेने के लिए माता-पिता के सामने हठ करता है। सूरदासजी कहते हैं—हे प्रभु! आज मैं एक न एक काम पूरा करके ही हटूँगा। हे माधव (कृष्ण)! हम और आप आज अपने भरोसे (अपने बल पर) लड़ेंगे। मैं तो सात पीढ़ियों (वंश-परम्परा) से पापी हूँ और पतित होकर ही (पुण्यात्मा बन कर नहीं) मुक्त होऊँगा। अब मैं संकोच त्यागकर पाप करना चाहता हूँ और पापियों को उद्धार करने का आपका सुयश बिगाड़ दूँगा। आप अपना विश्वास क्यों खो रहे हैं? मुझे तो आपके रूप में ही एक अमूल्य हीरा मिल गया है। यह पतित सूरदास तो आपके द्वार से तभी हटेगा जब आप हँसकर उसे तारने की प्रतिज्ञा करेंगे।

हमारे प्रभु, औगुन चित न धरौ। .. .
कै इनकौं निरधार कीजिये, कै प्रन जात टरौ ॥४॥

शब्दार्थ—औगुन = दोष । चित्त = हृदय । समदरसी = सबके ऊपर समान रूप से दया भाव रखनेवाले । सोई = उसी को । बधिक = कसाई, हत्यारा । दुविधा = संशय । पारस = एक पत्थर जिसके स्पर्शमात्र से लोहा सोना हो जाता है । कंचन = सोना । खरो = सच्चा । नार = नाला ! नीर = जल । बरन = रंग-रूप । निरधार = विना आधार के ।

व्याख्या—प्रस्तुत पद में भगवान की समदर्शिता के आधार पर अपने अवगुणों के लिए दैन्यपूर्ण क्षमा-याचना का वर्णन है । महाकवि सूरदास कहते हैं कि हे प्रभु ! आप मेरे अवगुणों को अपने ध्यान में न लाइए । आपका नाम समदर्शी है ; इसीलिए आप सभी को एक दृष्टि से देखते हैं । अतः आप अपने प्रण के अनुसार मेरा उद्धार कीजिए । एक लोहा (खड्ग) पूजास्थान में रक्खा जाता है, और दूसरा कसाई के यहाँ (मांस काटने के लिए), परन्तु पारस पत्थर उन दोनों में कोई भेद (दूसरापन) नहीं मानता और स्पर्श कराने पर दोनों को ही खरा सोना बना देता है । नदी में भी जल रहता है और नाले में भी जल रहता है चाहे वह मैला ही क्यों न हो ; लेकिन जब वे दोनों गंगाजी में जाकर मिलते हैं, दोनों एक ही प्रकार से निर्मल रंग के हो जाते हैं और गंगाजल कहे जाते हैं । चैतन्य के भी दो रूप हैं ; एक तो (व्यापक चैतन्य) ब्रह्म कहलाता है और दूसरा (व्यक्तिगत चैतन्य) जीव कहा जाता है । सूरदासजी कहते हैं कि इनमें परस्पर अभेद होते हुए भी भेद माना जाता है । (यह न होना चाहिए) अतएव इस बार हमें इस भवसागर से पार कर दें नहीं तो आपकी प्रतिज्ञा टली जा रही है ।

बाल-लीला

कहाँ लौं बरनौ सुंदरताई । ... ...

घुटुरुनि चलत रेनुतन-मंडित, सूरदास बलि जाई ॥१॥

शब्दार्थ—कहाँ लौं = कहाँ तक । बरनौं = वर्णन करें । कुँवर = बालक कृष्ण । कनक-आँगन = स्वर्ण जटित आगन । निरखि = देखना । कुलहि = कुल्लेदार टोपी । लसति = शोभते हैं । श्याम सुंदर = कृष्ण ।

बहुविधि सुरंग बनायी = अनेक प्रकार के मनोहर रंगों से सुंदर बनायी गई है। राजत = शोभता है। मघवा धनुष = इन्द्र धनुष। अति सुदेश = बहुत सुंदर स्थान। सुदेश = मुँह। चिकुर = बाल। बगराई = बिखरे हैं। कज=कमल। मंजुल = सुंदर। अलि-अवली = भौंरों का समूह। सेत = उजला, श्वेत। पीत = पीला। लटकन = टोपी से लटकता हुआ मोतियों का गुच्छ। भाल = ललाट। लुनाई = सौन्दर्य, लावण्य। सनि = शनीचर ग्रह का रग नीला है। असुर-गुरु = राक्षसों के गुरु शुक्राचार्य, इनका रंग उजला है। देवगुरु = बृहस्पति, जिनका रग पीला है। भौम = मंगल ग्रह का रग लाल है इसलिए इसे अंगारक भी कहते हैं। समदाई = समूह। दूध-दंत = दूध के दाँत। दुति = ज्योति, चमक। दुरति = छिपते हैं। घन = बादल। बिज्जु = बिजली। खडित वचन = तुतली बोली। पूरन = पूर्ण। अलप-अलप = थोड़ा-थोड़ा। जलपाई = निरथक बोल, अर्थहीन वचन। घुटुरुनि = ठेहुने के बल। रेनु = धूल। तनु=शरीर। मडित = ढँका हुआ।

व्याख्या— प्रस्तुत पद में कृष्ण के बालरूप का वर्णन किया गया है। सूरदासजी कहते हैं कि मैं श्रीकृष्ण की सुन्दरता का वर्णन कहाँ तक करूँ। बालक कृष्ण स्वर्ण-आंगन में खेल रहे हैं, उनके उस रूप की सुन्दरता आँखों में छा गई है। उनके सिर पर कुल्लेदार टोपी जो कि अनेक प्रकार के रंगों से बनी हुई है, बहुत ही सुन्दर लग रही है मानों नवीन बादलों पर इन्द्रधनुष सुशोभित हो रहा है। कृष्ण के अत्यन्त सुकुमार मुख-मंडल पर बिखरे हुए बाल इस प्रकार शोभा पा रहे हैं मानों खिले हुए कमल पर भौंरों की कतारें एकत्रित हो गई हों। उनके सर पर जो लटकन है उसमें नीलम और हीरे पर लाल मणि सुशोभित हो रहे हैं मानों (श्याम रंग के) शनि, शुक्राचार्य (सफेद रग के) देवगुरु बृहस्पति (पीले रंग) और लाल रंग के मगल नक्षत्रों के समूह आकर इकट्ठे हो गए हैं। कृष्ण के दूध के दाँतों की अद्भुत कान्ति को देखकर एक ही उपमा कही जा सकती है वह यह कि उनके हँसने और किलकारी मारने में उनके दाँत जो कभी छिपते और प्रकट होते हैं तो यह मालूम पड़ता है मानों बादलों में बिजली कभी प्रकट होती है और कभी छिप

जाती है। कृष्ण के थोड़ा-थोड़ा बोलने में जो टूटे-फूटे शब्द निकलते हैं वे पूर्ण सुख देते हैं। धूल से भरे हुए कृष्ण जब घुटनों पर चलते हैं तो सूरदास उनके इस रूप पर बलिहारी जाते हैं।

खेलत मैं को काको गुसैयाँ। ....

सूरदास प्रभु खेल्यौइ चाहत, दाउँ दियौ करि नंद-दुहैया ॥

शब्दार्थ—को काको=कौन किसका। गुसैयाँ=मालिक। हरि=श्रीकृष्ण। रिसैया=क्रोध। छैयाँ=छाँह, साया, रक्षा। रूहठि करै=रूठे। ग्वैयाँ=साथी। दोहैयाँ=दुहाई।

व्याख्या—इसमें कृष्ण की बाल-क्रीडाओं में उनका अपने सखाओं के साथ बालकोचित स्पर्धा का वर्णन है। कृष्ण खेल में हार गए हैं जिसके फलस्वरूप वे रूठ कर बैठे हैं। इसी पर ग्वाल-बाल कहते हैं कि खेलने में कौन किससे बड़ा या मालिक होता है? अर्थात् खेल खेलनेवाले सभी बालक बराबर होते हैं। कृष्ण खेल में हार गए और श्रीदामा जीत गए, इससे कृष्ण क्रोध कर रहे हैं। तब श्रीदामा श्रीकृष्ण से कहते हैं कि मैं तुम्हारी उच्च जात-पाँत को कुछ नहीं समझता और न मैं तुम्हारे साया मे आश्रय में) ही रहता हूँ। क्या तुम इसीलिए रुआब दिखा रहे हो क्योंकि तुम्हारे पास कुछ गायें अधिक हैं? जो खेल में रूठता है उसका साथ भला कौन करेगा? यह कहकर सभी ग्वालबाल खेल छोड़कर जहाँ तहाँ बैठ गए। सूरदास के प्रभु कृष्ण खेलना ही चाहते थे, इसीसे नद की दुहाई देकर बेचारे अपना दाँव देने लगते हैं।

विशेष—इस पद के संबंध में एक आलोचक ने लिखा है कि 'अब कृष्ण घर की देहली नाँघ कर बाहर ग्वाल-बालों के साथ खेलने जाने लगे हैं। पिता नद और माता यशोदा के बड़े प्रियपात्र होने के कारण वे खेल में भी अपना विशेष अधिकार चाहते हैं और चाहते हैं कि हमारे साथ यहाँ भी रियायतें की जाएँ, पर वह यहाँ कहाँ! भरत के भाई रामचन्द्र तो थे नहीं जो हारे खेल में भी उन्हें जिता देते। यहाँ तो बच्चों का निर्विकल्प न्याय ठहरा—

जो जीते वह जीते, जो हारे वह हारे। यहाँ बालकों की निर्द्वन्द्व, अलमस्त प्रकृति का बड़ा ही सुंदर चित्रण है।'

सखा सहित गए माखन-चोरी। ... . .

सूरदास ठगि रही ग्वालिनी, मनहरि लियौ अँजोरि ॥

शब्दार्थ—गवाच्छ-पंथ=झरोखे के रास्ते। भोरी=भोली। माट=मटकी। उतरात=सतह पर आया, प्रकट हुआ। कमोरी=हाँड़ी। ह्याँ=यहाँ। घात=मौका। छपान्यो=छिप गया। खोरि=रास्ते में। अँजोरि=चुरा लिया।

व्याख्या—प्रस्तुत पद में कृष्ण की माखन-चोरी का वर्णन है। महाकवि सूरदास कहते हैं कि श्रीकृष्ण अपने मित्रों के साथ मक्खन चोरी करने गये। कृष्ण ने झरोखे के रास्ते से देखा कि एक भोली ग्वाल बालिका दही मथ रही है। मथानी की ओर जब उस गापी ने देखा तो समझा कि मक्खन मटके के बाहर निकल कर तैर रहा था, इस पर वह हाँड़ी (कमोरी) माँगने (घर के बाहर) गई। इसी समय कृष्ण को मौका मिल गया, वे अपने सभी मित्रों के साथ सुनसान घर में घुस गए तथा दही और मक्खन खा गए। दही की खाली मटकी छोड़कर हँसते हुए वे घर से बाहर आ गए। इतने में ही, जब ग्वाल-बाल घर से निकल रहे थे कि ग्वालिन आ गई। उनके (कृष्ण के) हाथ में मक्खन था और मुँह में दही लिपटा हुआ था। ग्वालिन ने उनको इसी रूप में देख लिया। उस ग्वालिन ने कृष्ण से पूछा कि 'व्रज के लड़कों को लेकर मुँह में मक्खन लगाए यहाँ कहाँ आए थे।' तब कृष्ण ने उत्तर दिया—'हमारे साथी लोग खेलते हुए यहाँ भाग आये और डर कर घर में छिप गए।' ग्वालिन अकेले कृष्ण का ही हाथ पकड़ पायी, सब लड़के व्रज की गलियों में निकल गए। सूरदास कहते हैं कि कृष्ण ने उसके मन को भी चुरा लिया और इस तरह ग्वालिन पूरी तौर से ठगा गई। कहने का तात्पर्य यह है कि वह ग्वालिन इस तरह मुग्ध होकर खड़ी हो गई मानों उसने कृष्ण को अपनी अंगुली में प्राप्त कर लिया अर्थात् वश में कर लिया।

आलोचनात्मक प्रश्नोत्तर

प्रश्न १—'विनय' से क्या तात्पर्य है? पठित पदों के आधार पर विनय की विवेचना कीजिए।

उत्तर—'विनय' का शाब्दिक अर्थ है—'विशेष प्रकार से झुकना।' अपने आराध्यदेव या इष्टदेव के समक्ष अपनी नम्रता को प्रकट कर उनके अनुग्रह की आकांक्षा करना ही विनय है। मानव जीवन-धारा के बीच अनेक कठिनाइयाँ आ खड़ी होती हैं, वह उनका सामना करता है पर उसका हृदय क्षुब्ध और व्यथित हो जाता है, तब उसे परमात्मा की सुधि आती है। ऐसे अवसर पर अपने अन्तःकरण को विशाल बनाने के लिए मनुष्य स्वभावतः ईश्वर की कृपा की आकांक्षा करता है। 'विनय' के सहारे मानव-हृदय ईश्वर की ओर आकृष्ट होता है। इससे भगवान मनुष्य से निकट-सा होने लगता है। ईश्वर के सान्निध्य का ज्ञान हमारे अन्तःकरण को शुद्ध करने तथा पापों से बचने का सर्वोत्तम साधन है। विनय हमारी आध्यात्मिक-जीवन-यात्रा में दीपक का कार्य करता है। सूर ने भी भगवान श्रीकृष्ण की उपासना की है, उनका मन उन्हीं में रम गया है। वे किसी अन्य देवता की उपासना नहीं करते—

मेरे मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उडि जहाज को पच्छी फिर जहाज पर आवै॥

अगर भक्त भगवान का आश्रय ग्रहण किए हुए है तो संसार का कोई शत्रु भी उसका बाल बाँका नहीं कर सकता है। वस्तुतः जिस पर भगवान का अनुग्रह हो जाता है, वही इस संसार में रूपवान, ऐश्वर्यशाली, कुलीन एव यशस्वी गिना जाता है—

जोपर दीनानाथ ढरैं।
सोइ कुलीन बडो सुन्दर सोइ जिन पर कृपा करैं॥

—इस ससार में जिस व्यक्ति ने भगवान से अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं किया; वह पशु के समान है। जो भगवान को त्याग कर किसी दूसरी वस्तु में अपना तन-मन वार देता है, उसकी बुद्धि कच्ची है—

ठकुरायत गिरिधर जू की साँची।

हरि चरणारविन्द तजि लागत अनत कहू तिनकी मति काँची।

—भगवान रक्षक भी हैं। वे भक्त के कष्ट को जानने वाले हैं। सूरदास हरि भजन नहीं करने के कारण अपने मन की भर्त्सना भी करते हैं—

कितक दिन हरि सुमिरन बिन खोये।

परनिन्दा-रस में रसना सो जपिने परत डुबोये॥

+ + +

सूर अधम के कहो कौन गति उदर भरे पर सोये॥

सूरदास हठो भी हैं, उनका कहना है कि :—

महा माचल मारिवे की सकुच नाहिन मोहि।
परत्री लै पन किये द्वार लाजपन की तोहि॥
नाहिनै काँचो कृपानिधि करो कहा रिसाई।
'सूर' तबहुँ न द्वार छाँड़ै डारिहौ कढ़ि राई॥

—इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरदास के विनय-सम्बन्धी पदों में उनके हृदय के सच्चे भाव हैं। ये पद वड़े ही स्वाभाविक हैं। इनमें शब्द चमत्कार नहीं वल्कि भावों के उत्कर्ष का सुन्दर निदर्शन है।

गोस्वामी तुलसीदास

भारतवर्ष के अत्यन्त लोकप्रिय कवि हैं तुलसीदास और हिन्दू-सभ्यता एवं संस्कृति का प्रतिनिधि ग्रंथ है रामचरितमानस। अन्य महाकवियों की

जीवन-वृत्त

तरह तुलसीदास के जीवन के संबंध में हमारी जानकारी बहुत कम है और जो भी परोक्ष या अपरोक्ष रूप से जानकारी हासिल हुई है, वह भ्रान्तिपूर्ण है। ऐसी हालत में उनका वास्तविक जीवन-वृत्त लिपिबद्ध करना कठिन है। तुलसीदास ने अपने संबंध में बहुत

कम लिखा है और उनके भक्तों ने जो लिखा है, उसमें धार्मिक श्रद्धा-भाव की तृप्ति के लिए गढ़ी हुई किंवदतियाँ इतनी अधिक हैं कि सत्य का रूप विकृत हो गया है। कवितावली और विनयपत्रिका में आत्मग्लानि के रूप में तुलसीदास ने अपना थोड़ा-सा उल्लेख किया है जिससे उनके जीवन-वृत्त पर थोड़ा प्रकाश पड़ता है। साधारणतया उनका जन्म राजापुर ग्राम, जिला बाँदा में संवत् १५६६ में माना जाता है। इनके पिता का नाम आत्माराम और माता का नाम हुलसी था। इस सम्बन्ध में रहीम का वह दोहा प्रसिद्ध है जिसका अंतिम चरण यों है—'गर्भ लिए हुलसी फिरै तुलसी सों सुत होय'। जन्म का नाम शायद रामगुलाम था (रामबोला नाँव हौं, गुलाम रामसाहि को—'कवितावली')। कहा जाता है कि इनकी माता ने इनके जन्म के दो-चार दिन के बाद ही शरीर त्याग दिया था और अभुक्त मूल में जन्म लेने के कारण वे घर से निकाल दिये गए थे। [मातु-पिता जग जाय तज्यो—'कवितावली]'। जो हो, यह स्पष्ट है कि वे माता-पिता के स्नेह से वंचित रहे। बचपन बड़े कष्ट में बीता। पेट की ज्वाला शान्त करने के लिए द्वार-द्वार भीख माँगते फिरते थे। कदाचित् इसी समय वैष्णव साधु नरहरिदास से इनकी भेंट हुई और वे इन्हें अपने साथ सूकरखेत लिवा ले गए जहाँ उन्होने इन्हे 'राम-नाम' की दीक्षा दी। उस समय रामकथा इनकी समझ में नहीं आती थी। खैर, उन्हीं के संरक्षण में तुलसीदास की शिक्षा-दीक्षा हुई और उन्होंने ही इनका नाम तुलसीदास रखा। काशी में रहकर इन्होंने वेद, पुराण, दर्शन आदि का अध्ययन किया। लगभग पंद्रह वर्षों तक काशी में रहकर वेद-पुराण आदि का ज्ञान अर्जन किया, तदनन्तर वे अपने गाँव लौटे। कहा जाता है कि वहीं इनके शील, स्वभाव और विद्वत्ता से मुग्ध होकर एक दूसरे गांव के ब्राह्मण (दीनबन्धु पाठक) ने अपनी कन्या का विवाह इनसे कर दिया। इनकी पत्नी का नाम रत्नावली था। इनका विवाह संवत् १५८३ में हुआ था। तुलसी-चरित्र के अनुसार इनके तीन विवाह हुए थे। खैर, जो भी हो, रत्नावली रूपवती और गुणवती दोनों थी। तुलसीदास उसके रूप और गुण पर मुग्ध होकर अपना सब-कुछ खो बैठे थे। एक बार इनकी अनुपस्थिति में वह

अपने मायके (नैहर) चली गईं। ये उसका वियोग न सह सके और उसके पीछे-पीछे वहाँ जा पहुँचे; लोक-लाज पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। इस पर स्त्री ने क्रुद्ध होकर उन्हे धिक्कारते हुए कहा—

लाज न लागे आपको, दौरे आये साथ।
धिक्-धिक् ऐसे प्रेम को, कहा कहौं मैं नाथ॥
अस्थि चरममय देह मम, तामें एती प्रीति।
होती जो श्रीराम महँ, होति न तो भवभीति॥

स्त्री की इन बातों का बड़ा जबरदस्त प्रभाव उनपर पड़ा और वे तुरन्त लौट पड़े। उसी समय उनके हृदय में वैराग्य भावना की लहर उठी और वे विरक्त होकर राम की भक्ति में लीन हो गए।

विरक्त होने के अनन्तर उन्होंने देश के विभिन्न तीर्थों का भ्रमण किया। इसी तीर्थाटन के सिलसिले में उन्हे सूर, मीरा, केशवदास और रहीम से भेंट हुई। अंत में वे काशी में आकर रहने लगे और वहीं अपनी साहित्यिक रचनाओं का प्रणयन किया। उन्होंने अपने प्रसिद्ध काव्य-ग्रंथ 'रामचरितमानस' की रचना का आरंभ वहीं सं० १६३१ में किया था। इस ग्रंथ का कुछ अंश काशी में लिखा गया और कुछ अन्यत्र भी। इसी ग्रन्थ ने उन्हे प्रसिद्धि दिलाई। उस काल के प्रसिद्ध विद्वान् और संस्कृतज्ञ मधुर सरस्वती ने इनकी बड़ी प्रशंसा की थी। इस विषय में स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृत के विद्वान् उस समय भाषा-कविता को हेय समझते थे। ऐसी अवस्था में उनकी प्रशंसा का महत्त्व और भी बढ जाता है। गोस्वामी तुलसीदास को उनके जीवन-काल में जो प्रसिद्धि मिली, वह निरंतर बढ़ती ही गई और अब तो वह सर्वव्यापी हो गई है। जनश्रुति के अनुसार श्रावण-शुक्ला सप्तमी (कोई-कोई श्रावण-श्यामा तीज भी मानते हैं) के दिन संवत् १६८० में असी घाट के गंगातट पर उन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त की।

रचनाएँ

महाकवि तुलसीदास के ग्रन्थों की संख्या अनिश्चित है। इस सम्बन्ध में विद्वानों के बीच मतभेद है। नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट में तुलसी-कृत सैंतीस ग्रन्थों का नामोल्लेख है। वे हैं—(क) रामकथा-सम्बन्धी—कवित्त रामायण, गीतावली रामायण

छन्दावली रामायण, छप्पय रामायण, दोहावली, पदावली रामायण, बरवै रामायण, रघुवरशलाका, रामचरितमानस। (ख) रामकथा-प्रसंगों पर आधारित—श्रीरामनहछू, जानकीमङ्गल। (ग) श्रीकृष्णकथा-सम्वन्धी—श्रीकृष्णगीतावली, कृष्ण-चरित्र। (घ) हनुमान-सम्वन्धी—हनुमानवाहुक, बाहुसर्वाङ्ग। (ङ) ज्योतिष-संवंधी—वृहस्पतिकाण्ड, ध्रुवप्रश्नावली। (च) शकुन-संबंधी—रामशलाका, रामाज्ञा, सगुनावली। (छ) शिव-पार्वती सवंधी—मंगलरामायण, पार्वतीमंगल। (ज) माहात्म्य सम्वन्धी—रामसुक्तावली। (झ) ज्ञान-विज्ञान-वैराग्य संबंधी—अंकावली, उपदेश-दोहा, ज्ञान-दीपिका, तुलसी-सतसई, वैराग्य-सदीपनी, तुलसीदास की वाणी, ज्ञान को प्रकरण। (ड) रस-सम्बन्धी—रस भूषण, रसकल्लोल (ट) आरती एवं प्रार्थना-सम्बन्धी—आरती, विनय पत्रिका। (ठ) पुराण और अनुवाद—सूरज-पुराण, गीता-भाष्य, भगवद्गीता। (ड) अन्य-ग्रन्थ—संकट-मोचन, कुण्डलिया-रामायण, करखा छन्द, रोला छन्द, झूलना छन्द, हनुमानचालीसा, कलिधर्माधर्मनिरूपण, नामकला-कोपमणि।

यह तो है उनकी कृतियों की तालिका, लेकिन ये उनकी कृतियाँ हैं या नहीं, यह निश्चित ढंग से नहीं कहा जा सकता। उनके ग्रन्थों में 'रामचरित-मानस' ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसपर उनकी प्रसद्धि टिकी हुई है।

तुलसीदास का वर्ण्य विषय है—राम की भक्ति। भक्ति के उन्मेष में ही उन्होंने सम्पूर्ण राम-जीवन का वर्णन किया है। रामचरित-गाथा के बहाने 'रामचरितमानस' में मानव-जीवन के विविध स्वरूपों, पहलुओं, मनोभावों, परिस्थितियों, समस्याओं आदि का मार्मिक और उत्कृष्ट चित्रण हुआ है। कवितावली में सवैयों तथा कवित्तों के माध्यम से शृंगार और भक्ति के सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। दोहावली में कुछ महत्त्वपूर्ण दोहे हैं जिनमें उपदेश, सिद्धान्त-निरूपण, रामगुण-कीर्त्तन आदि हैं। गीतावली में सरल गीतों के सहारे भावानुभूति की सुन्दर व्यंजना हुई है। 'विनय-पत्रिका' में कवि का भगवान के प्रति आकुल आत्म-निवेदन है। इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदासजी का विषय-क्षेत्र बहुत ही व्यापक है।

काव्य-साधना

तुलसी की भक्ति रामभक्ति है। उनके आराध्यदेव हैं मर्यादापुरुषोत्तम राम। उनका 'रामचरितमानस' भक्तिकाव्य है। उनकी भक्ति के आलंबन हैं राम जिनके रूप और गुण की कथा कहना ही तुलसी का एकमात्र उद्देश्य है। भक्ति ही भगवान के नजदीक पहुँचने का एकमात्र सोपान है। यही कारण है कि तुलसी ने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को महत्त्व दिया। उनकी भक्ति दास्य-भाव की है। वे तो सेव्यसेवकभाव के बिना भक्ति मानते ही नहीं।

भक्ति-भावना

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।
सेवक पद सुखकर सदा सुखद सेव्य पद त्रान॥
जथा विभीषन रावनहिं, तुलसी समुझि प्रमान॥

तुलसीदासजी का कथन है कि राम-भक्ति के लिए किसी प्रकार के कर्म-काण्ड की योजना अपेक्षित नहीं। भगवान केवल प्रीति चाहते हैं—

बलि पूजा चाहत नहीं, चाहै इक प्रीति।
सुमरत ही मानौ भलौ, पावन सब रीति॥

भगवान की भक्ति के लिए प्रेम की भी आवश्यकता होती है। तुलसीदास चातक के प्रेम को ही आदर्श मानते हैं। चकोर और चाँद का प्रेम भी वरेण्य है। अनन्यता के लिए वे किसी भी नाते राम का होना पसंद करते हैं। उन्हे तो भगवान की शरण चाहिए। इसके साथ ही उन्होंने अपनी भक्ति में शरणागति को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

मोहि तोहि नातें अनेक मानिये जो भावै।
ज्यों ज्यों तुलसी कृपालु चरण सरन पावै॥

इसके अतिरिक्त, तुलसी ने भक्ति के साधन भी बतलाये हैं, वे हैं— (१) भजन (नामस्मरण), (२) शरणागत भाव, (३) चरित्र-श्रवण, मनन, कीर्तन (यशोगान), (४) सत्संग, (५) संत-स्वभाव-प्राप्ति का प्रयत्न, (६) राम के स्वरूप का ध्यान, (७) राम से संबंधित गंगा, चित्रकूट आदि तीर्थों का सेवन, (८) ब्राह्मण-सेवा, (९) शिवभक्ति और (१०) हनुमानभक्ति।

तुलसी की भक्ति-भावना में भक्ति और ज्ञान का—दीनता, भयदर्शन, भर्त्सन, आश्वासन, मनोराज्य, विचारणा आदि के द्वारा समन्वय पाया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि तुलसी की भक्ति-पद्धति सांसारिक विषय-वासना से मुक्त कराती है और ईश्वर के निकट पहुँचाती है। वास्तव में तुलसी की भक्ति सर्व-सुलभ एव सर्वाङ्गपूर्ण है।

तुलसीदास का काव्य-विषय राजनीति नहीं है और 'रामचरितमानस' में राजनीति का स्थान धर्म ने ले लिया है। तुलसीदास द्वारा जो राजनीति के

तुलसीदास और राजनीति

सिद्धान्त काव्य में फूट पड़े हैं, वे गौण हैं। तुलसी के नायक हैं—राम, जो राजा भी हैं। इसलिए उनके आदर्श राज्य के वर्णन के सिलसिले मे राजनीति के सामान्य सिद्धान्त उसके काव्य में आ गये हैं। तुलसी की कविताओं में आध्यात्मिकता अधिक है, लौकिकता कम। यही कारण है कि राजनीति का वर्णन प्रासंगिक रूप में पाया जाता है और वह भी अल्प मात्रा में। उनके राजनीतिक सिद्धान्त मुख्यतया कवितावली, दोहावली, विनय-पत्रिका और मानस में विद्यमान हैं। 'मानस' में रामराज्य का विशद वर्णन हुआ है। इस स्थल पर यह नहीं भूलना चाहिये कि रामराज्य एक आदर्श राज्य है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति रामभक्त है। उसमें हिन्दू-धर्म को उभाड़ने की चेष्टा नहीं की गई है। वह भक्त की कल्पना है, राजनीतिज्ञ की नहीं।

तुलसीदास की दृष्टि विशेषतया समाज पर केन्द्रित थी, राजसत्ता पर नहीं। उस समय का समाज विशृंखल हो चुका था। इसीलिए उन्होंने समाज की

तुलसीदास और समाज

मर्यादा पर विशेष रूप से लिखा है। उन्होंने समाज के दोनों क्षेत्रों (व्यक्तिगत और सार्वजनिक) में अपनी असाधारण काव्य शक्ति द्वारा महान सदेश दिया है। पारिवारिक जीवन के अनेक चित्र 'मानस' में प्रस्तुत किये गए हैं और उन पात्रों की चरित्र-रेखा के साथ अन्य अनेक पात्रों में तुलसीदास ने जिस आदर्शवाद का स्तर (Standard) निर्धारित किया है, वह समाज को संयमशील बनाने में बहुत सहायक हुआ है। यही कारण है कि हिन्दू-जीवन में मानस के पात्र

आज भी उत्साह और शक्ति की स्फूर्ति पहुँचा रहे हैं। इसके अलावा, उन्होंने अपनी काव्य-पुस्तक में आदर्श समाज की रूपरेखा प्रस्तुत की है। वे वर्ण-व्यवस्था के पक्षपती थे और सामाजिक साम्यवाद के विरोधी।

तुलसीदास और दर्शन

तुलसीदास एक भक्त थे और उनकी रचनाओं के अध्ययन से यह पता चलता है कि वे किसी दर्शन के वाद में बँधे हुए नहीं थे; वे दार्शनिक वादों के वाग्जाल से सर्वथा दूर रहना चाहते थे। संसार सत्य है या असत्य—ऐसे प्रश्नों को उन्होंने भ्रम कहा है। आत्म-साक्षात्कार में इसको बाधक माना है, फिर भी दर्शनशास्त्र की मुख्य समस्याओं (जगत्, जीव, ईश्वर के वास्तविक स्वरूप और उनके पारस्परिक संबंध तथा परस्पर की संगति और साधन) पर प्रसंगानुकूल अपने विचार प्रकट किये हैं। यद्यपि उनके समय में कई दार्शनिक वाद (अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैतवाद आदि) चल रहे थे, फिर भी वे शांकर सम्प्रदाय से, जिसका पंडित-समाज में व्यापक प्रभाव था और रामानुज-सम्प्रदाय में, जिसके अन्तर्गत उनकी दीक्षा हुई थी (रामानन्दी सम्प्रदाय विशिष्टाद्वैत का ही एक रूप है), कोई भिन्नत्व नहीं माना है। रामानुजाचार्य ने नारायण की उपासना बतलायी थी; रामानन्दजी ने राम को नारयण माना और दीक्षा देने में जाति-पाँति के सबंध में कुछ अधिक उदारता दिखाई (कबीर रैदास, पीपा, सेन आदि उन्हीं के शिष्य थे)। तुलसीदास रामानन्दजी से अधिक प्रभावित थे। गोस्वामीजी-जैसे समन्वयवादी को जो संसार को सियाराममय जानते थे, किसी वाद-विशेष के घेरे में बाँधना अनुचित होगा।

तुलसीदास का साहित्यिक आदर्श

यों तो गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस स्वांतः-सुखाय लिखा था, फिर भी वे कोरे कलावादी नहीं थे। वे काव्य को सर्वभूतहित ही मानते थे। उनके विचार से कीर्ति, यश, वाणी और धन-वैभव वही श्रेष्ठ है जो कि गंगाजी के समान सबके लिए कल्याणप्रद हो। स्वांतःसुखाय से उनका केवल यही अभिप्राय था कि वे किसी प्रलोभनवश नहीं लिखते थे। प्राकृतिक अर्थात् सांसारिक मनुष्यों के लिए लिखना वे सरस्वती देवी को व्यर्थ परिश्रम देना समझते थे।

वे काव्य की कला की अपेक्षा उसके विषय (रामचरित्रवर्णन) को अधिक महत्त्व देते थे। गोस्वामीजी आलोचकों को नहीं भूले हैं। वे स्वांत:सुखाय लिखते हुए भी अपनी वाणी का साधुसमाज तथा बंधुजनों में आदर चाहते हैं। साधु-समाज में आदर पाने से ही कवि की वाणी सार्थक होती है। तुलसीदास ने कवि और भावक (आलोचक) का कार्य अलग माना है। उनके मन से कविता की शोभा आलोचकों के यहाँ निखरती है।

तुलसीदास ने अवधी और ब्रजभाषा, दोनों में रचनाएँ की हैं 'रामचरितमानस' में उनकी अवधी जायसी की अवधी के समान ठेठ नहीं, वरन् संस्कृत-मिश्रित और परिमार्जित है। उसपर उनके पाडित्य की पूरी छाप है; फिर भी भाषा शुष्क और बेजान नहीं है। कवितावली, गीतावली, कृष्ण-गीतावली और विनय-पत्रिका में तुलसी की भाषा ब्रजभाषा है। पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा है कि 'तुलसीदास की भाषा में 'भोजपुरी', बुन्देलखंडी, राजस्थानी, हिन्दी, गुजराती, बंगला और मराठी के शब्द तथा व्याकरण के प्रयोग मिलते हैं।'

भाषा-शैली

तुलसी की भाषा की प्रमुख विशेषता यह है कि उन्होंने सर्वथा भावानुकूल भाषा ही लिखी है। तुलसीदास इस प्रकार की कोमल-कांत पदावली का व्यवहार करते हैं—

वर दंत की पंगति कुंदकली, अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकै घन बीच, जगै छवि मोतिन माल अमोलन की॥
घुँघरारि लटैं लटकै मुख ऊपर, कुंडल लोल कपोलन की।
निवछावरि प्रान करैं तुलसी, वलि जाउँ लला इन बोलन की॥

तुलसीदास की काव्यभाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अनेक नई क्रियाओं का निर्माण किया है, जिनसे भाषा की अभिव्यजना-शक्ति बढ़ गई है, जैसे—उपदेसेउ, आँचे, रागे, अदरिये, पीड़हि, क्रमशः उपदेश किया, गरम हुए, राग गाए, आदर करिये, पीड़ा पहुँचाते हैं, के लिए है। वर्त्तमान खड़ी बोली हिन्दी में संस्कृत की क्रियाओं के रूप को विकृत करना अच्छा नहीं समझा जाता, उसमें कृदन्त जोड़कर हिन्दी क्रिया का कालरूप

बनाना पड़ता है। यह बात भाषा की प्रौढ़ता में बाधक होती है। यह तुलसी की दूरदर्शिता और व्यवहारचतुरता थी कि उन्होंने प्रचलित क्रियाओं का प्रयोग किया और संस्कृत-क्रियाओं को सरलता से हिन्दी-क्रिया बना लिया। इसके अतिरिक्ति उन्होंने जहाँ चाहा, भाषा और व्याकरण से स्वतंत्रता ली। उन्होंने हिन्दी-क्रियाओं से कर्तृवाचक शब्द बनाये, ठेठ देहाती शब्दों और मुहावरों का प्रयोग किया, आवश्यकतानुसार शब्दों का तोड़-मरोड़ किया, यहाँ तक कि वे व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग करने में भी नहीं चूके। कहीं-कहीं तुलसीदास की कविताओं में खड़ी बोली की क्रियाओं का रूप भी देखने को मिलता है, जैसे—

नष्ट मति दुष्ट अति कष्टगति खेदगत।
दास तुलसी संभु सरन आया॥

इससे साफ जाहिर होता है कि उस समय खड़ी बोली भी ब्रजभाषा आदि भाषाओं के समान जनता की जिह्वा पर विराजने लगी थी।

तुलसीदास ने अनेक योगरूढ़ि प्रयोग किये हैं, जैसे—धूमध्वज (अग्नि), अंजन-केसर (दीपक), किरनकेतु (सूर्य) आदि।

हिन्दी की प्रान्तीय बोलियों के अतिरिक्त तुलसीदास ने मुगलकालीन अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग भी बड़े कौशल से अपनी रचनाओं में किया है। जहाँ-कहीं शब्द काव्य में बैठ नहीं सके, वहाँ उनका परिष्कार भी कर दिया है। इस प्रकार वे शब्द सम्पूर्ण रूप से अपने बना लिये गए हैं। ऐसे शब्दों को तुलसीदास ने अपनी प्रतिभा के बल पर स्वदेशी बना लिया है। कुछ उदाहरण देखिए—

(क) जे जड़ चेतन जीव जहाना—जहान।
(ख) गई बहोरि गरीब निवाजू—गरीब-निवाज।
(ग) रिपुदल बधिर भये सुनि सोरा—शोर।
(घ) सत्य कहहुँ लिखि कागद कोरे—कागज़।

इस सम्बन्ध में पं० रामनरेश त्रिपाठी ने कहा है कि 'तुलसीदास ने अपनी

रचनाओं में इतने अधिक अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग किया है, जितना शायद हिन्दी म किसी पुराने और नये कवियों ने नहीं किया।'

सुतरां, तुलसी का भाषा-सम्बन्धी दृष्टिकोण निम्नांकित दोहे से स्पष्ट है—

का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिए साँच।
काम जो आवे कामरी, का लै करै कवाँच॥

उन्होंने अपनी भाषा को बिना किसी विभेद के भाषा कहा है।

भाषा बद्ध करब मैं सोई।

'उस समय संस्कृत के पंडित भाषा को हेय दृष्टि से देखते थे, परन्तु देश-काल की आवश्यकता ने तुलसी को भाषा की ओर खींचा। यह सब होते हुए भी तुलसी ने किसी भाषा-विशेष के लिए आग्रह नहीं दिखाया।'

तुलसीदास के समय में वीरगाथा-काल की छप्पय-पद्धति; विद्यापति-सूर की गीत-पद्धति; गग आदि भाटों की कवित्त-सवैया-पद्धति; कबीरदास की नीति-सम्बन्धी दोहा-पद्धति; और जायसी की दोहे-चौपाईवाली पद्धति प्रचलित थी। उन्होंने सभी काव्य-शैलियो पर रचनाएँ कीं। प्रबन्ध और मुक्तक, दोनों ही क्षेत्रों में उन्होंने पूर्ण सफलता प्राप्त की थी। वीरगाथा-काल की छप्पय तथा गग आदि भाटों की कवित्त-सवैया-पद्धति पर कवितावली, गीत-पद्धति पर गीतावली, कृष्ण-गीतावली और विनय-पत्रिका, दोहा-पद्धति पर दोहावली, बरवै-पद्धति पर बरवै-रामायण और जायसी की दोहे-चौपाईवली प्रबन्ध-पद्धति पर रामचरित-मानस की रचना कर तुलसीदास ने अपनी चतुर्मुखी प्रतिभा तथा विलक्षण काव्य-शक्ति का परिचय दिया है।

उपसंहार

हिन्दी-साहित्य में तुलसीदास का वही स्थान है जो आकाश में सूर्य का, जो निपतित जाति में उद्धार-रज्जु का, आदर्श पुरुष का। हिन्दी-साहित्याकाश को आलोकित और अनुप्राणित करनेवाले इस महाकवि की तुलना शायद ही किसी से हो सकती है। सूरदास ही ऐसे महाकवि हैं जो तुलसी से कभी-कभी प्रतिस्पर्द्धा करते जान पड़ते हैं। वस्तुत तुलसी की महत्ता अखण्डनीय है। जहाँ तुलसी की प्रतिभा सर्वतोमुखी है वहाँ सूर की एकांगी और एकदेशीय। ब्रजभाषा और अवधी, दोनों काव्य-भाषाओं

पर तुलसी का समान अधिकार है, लेकिन सूर का सिर्फ व्रजभाषा पर। सूरसागर की पद्धति पर तुलसी ने गीतावली की रचना की, पर रामचरितमानस और कवितावली की शैली की सूर की कोई रचना नहीं। इसके अतिरिक्त मानव-जीवन की जितनी अधिक दशाओं, जितनी अधिक वृत्तियों का वर्णन तुलसी ने किया है, उतना सूरदास ने नहीं। तुलसी ने अपने चरित्र-चित्रण द्वारा जैसे विविध प्रकार के ऊँचे आदर्श खड़े किये हैं, वैसे सूर ने नहीं। तुलसी की प्रतिभा सर्वतोमुखो है और सूर की एकमुखी होकर अपनी दिशा में जितनी दूर तक दौड़ लगाई है, उतनी दूर तक तुलसी ने भी नहीं; और किसी कवि की तो बात ही क्या! जिस क्षेत्र को सूर ने चुना है, उसपर उनकी अपरिमित अधिकार है, उसके वे सम्राट् हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'तुलसी की काव्य-सरिता पुनीत जाह्नवी की ही भाँति केवल अपने कलकल-छलछल के अनुपम सौन्दर्य से ही तरंगित नहीं, वरन् पावनता और लोकोपकारिता के गुणों से भी समन्वित है। उसके तीर पर सामाजिक जीवन केवल सौरभ और सुषमा से ही विभोर नहीं होता, वरन् अपनी युगों की प्यास भी मिटाता है और अपनी चंचल चित्त-वृत्तियों को प्रशान्त बनाने का भी अवसर पाता है। तुलसी-साहित्य का सृजन ही कुछ ऐसी परिस्थिति का प्रतिफलन है। उसमें लोकपावन आदर्श की प्रतिष्ठा एवं व्यापक समन्वयवाद की भावना अनिवार्य रूप से सन्निविष्ट है।' अतएव हम सभी दृष्टियों से देखते हैं कि तुलसीदासजी का काव्य श्रेष्ठ है। वस्तुतः शताब्दियों के पश्चात् भी वे आज हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं, इसमें सन्देह नहीं। धर्म, दर्शन, नीति, उपदेश तथा काव्यगत चमत्कार, सौन्दर्य, भाव, रस आदि का ऐसा सुन्दर समन्वय अन्यत्र दुर्लभ है।

रावण-अंगद-संवाद

शब्दार्थ, व्याख्या और आशय

प्रसंग—'रावण-अंगद-संवाद' शीर्षक काव्य-खण्ड गोस्वामी तुलसीदास कृत 'रामचरित मानस' के लंका-कांड से उद्धृत किया गया है। रामचन्द्रजी अपने भाई लक्ष्मण के संग सागर में सेतु बाँध कर लंकापुरी पहुँचे और लंका

पर आक्रमण करने की तैयारी की। जामवंत के आग्रह पर श्रीरामचन्द्रजी ने वालि-पुत्र अंगद को अपना दूत बनाया और उससे कहा कि हे बुद्धि, बल और गुणों के धाम बालिपुत्र! तुम अत्यन्त चतुर हो, अतएव हमारे काम के निमित्त लंका जाओ। वहाँ तुम्हे ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि हमारा काम भी पूरा हो जाय और उनका भी अहित न हो। रावण से इसी प्रकार की बातचीत करना। राम की आज्ञानुसार अगद रावण की राज्य-सभा में उपस्थित हुआ और वहाँ रावण-अगद के बीच जो बातें हुई उसी का वर्णन प्रस्तुत काव्य-संदर्भ में किया गया है।

चौपाई—कह दसकंठ कवन तैं ····· चलहु सकल भय त्यागे ॥

शब्दार्थ—दसकंठ=दस कठ रखनेवाला, रावण। कवन=कौन। दसकधर=दस कंधोंवाला, रावण। मम=मेरे। जनकहि=पिता से। मिताई=मित्रता। हित कारण=भलाई के कारण। पुलस्ति=पुलस्त्य ऋषि। नाती=पौत्र। विरंचि=ब्रह्मा। नृप अभिमाना=राजमद। मोहवस= मायावश। दसन गहहु तृण=दातों में तृण दबाओ। कुठारी=कुल्हाड़ी। परिजन सहित=कुटुम्बियों सहित। सकल=सब।

अर्थ—रावण के राज्य दरबार में अंगद दूत बनकर गया। रावण ने उसे देखते ही पूछा—अरे बन्दर। तू कौन है? अंगद ने कहा—हे दशग्रीव! मैं रामचन्द्रजी का दूत हूँ। फिर उसने बताया कि मेरे पिता से और तुमसे मित्रता थी, इसलिए हे भाई। मैं तुम्हारी भलाई के लिए ही आया हूँ।

तुम पुलस्त्य ऋषि के पौत्र हो और तुम्हारी वंश परम्परा अच्छी है। तुमने शिव और ब्रह्मा की बहुत प्रकार से पूजा की है। उनसे तुमने वरदान पाये हैं और सब काम सिद्ध किए है। तुमने सभी लोकपालों और राजाओं पर विजय प्राप्त कर ली है। परन्तु राजमद से या मोहवश तुम सीता को हर लाये हो। अब तुम मेरी हित-भरी सलाह सुनो जिसके अनुसार चलने से भगवान रामचन्द्रजी तुम्हारी सब अपराध क्षमा कर देंगे। दाँतों में तिनका दबा, गले में कुल्हाड़ी डाल और कुटुम्बियों सहित अपनी पत्नी को साथ लेकर, आदरपूर्वक जानकीजी को आगे करके, इस प्रकार सब भय छोड़कर चलो।

दोहा—प्रनतपाल रघुवंसमनि ··· ··अभय करैगो तोहि ॥१॥

शब्दार्थ—प्रनतपाल = दीनों के रक्षक। आरत गिरा = दीन वचन। अभय = क्षमा।

अर्थ—फिर अंगद रावण से कहता है कि यदि तुम श्रीराम से इस प्रकार आर्त प्रर्थना करो 'हे शरणागत के पालन करनेवाले रघुवंश शिरोमणि श्रीरामजी मेरी रक्षा कीजिए', तो आर्त पुकार सुनते ही प्रभु तुमको क्षमा कर सभी सांसारिक कष्टों से मुक्त कर देंगे।

चौपाई—रे कपिपोत बोलु ·········रहुबीर हृदय नहिं जाके ॥

शब्दार्थ—कपिपोत = नीच बन्दर। संभारी = सचल कर। मूढ़ = मूर्ख। सुहारी = देवताओं के शत्रु। मिताई = मित्रता। भेटा = मुलाकात। वंस = वश। अनल = आग। जाएहु=पैदा हुआ। तापस = तपस्वी। अहई = है। दस = कुछ।

अर्थ—अंगद की बात सुनकर रावण ने कहा—रे नीच बन्दर के वच्चे! तुम सभल कर बोल। रे मूर्ख! मुझ देवता के शत्रु को तुम नहीं जानते। अपना और अपने वाप का नाम तो वता। किस नाते से मित्रता मानता है।

अगद ने कहा—'मेरा नाम अंगद है, मैं वालि का पुत्र हूँ। उनसे कभी तुम्हारी भेंट हुई थी? अंगद की वात सुनते ही रावण कुछ सकुचा गया। (और बोला—) हाँ, मैं जान गया (मुझे स्मरण हो आया), बालि नाम का एक वन्दर था। हे अंगद। तू उसीं वालि का पुत्र है। अरे कुलनाशक! तू तो अपने कुल रूपी बांस के लिए अग्नि रूप ही पैदा हुआ। गर्भ में ही क्यों न नष्ट हो गया? तू व्यर्थ ही पैदा हुआ जो अपने ही मुँह से तपस्वियों का दूत कहलाया। अव बालि का कुशल-समाचार तो कहो, वह इन दिनों कहाँ है? तब अगद ने हँस कर कहा—कुछ दिन बीतने पर स्वंय ही वालि के पास जाकर, अपने मित्र को हृदय से लगाकर, उसी से कुशल पूछ लेना। श्रीराम से विरोध करने पर जैसी कुशल होती है, वह सब तुमको वे सुनावेंगे। हे मूर्ख! सुन,

भेद उसी के मन में पड़ सकता है, (भेदनीति उसी पर अपना प्रभाव डाल सकती है) जिसके हृदय में रघुवीर न हों ॥

दोहा—हम कुल घालक सत्य·······नयन कान तव बीस ॥२॥

शब्दार्थ—कुलघाकक = कुल का नाश करनेवाला। वधिर = वहरा।

अर्थ—अंगद कहता है कि सच है, मैं तो कुल का नाश करनेवाला हूँ और हे रावण! तुम कुल के रक्षक हो। अंधे बहरे भी ऐसी वात नहीं करते, तुम्हारे तो बीस नेत्र और बीस कान हैं ॥२॥

चौपाई—शिव विरंचि सुर मुनि ··· ··दरसु हमहुँ बड़ भागी ॥

शब्दार्थ—विरंचि = ब्रह्मा। सुर = देवता। जासु = जिनके। तासु = उनका। बोरा = डुबा दिया। मति = बुद्धि। उर = हृदय। विहर = फट जाता है। कपि = बन्दर (अंगद)। नयन तरेरी = आँखें तरेर कर। खल = दुष्ट। सहऊँ = सह रहा हूँ। तोरी = तुम्हारी। पर त्रिय चोरी = पराई स्त्री की चोरी। बूड़ि = डूबना। मरहु = मरना। धर्म व्रतधारी = धर्म के व्रत को पालन करने वाला। भगिनि = वहन। निहारी = देखकर। छमा = क्षमा। जग = संसार। पावा दरसु = दर्शन पाया।

अर्थ—अंगद कहता है—शिव ब्रह्मा (आदि), देवता और मुनियों के समुदाय जिसके चरणों की सेवा करना चाहते हैं, उनका दूत बन कर मैंने अपने वंश को डुबा दिया? अरे, ऐसी बुद्धि होनें पर भी तुम्हारा हृदय फट नहीं जाता?

अंगद (बन्दर) की कठोर वाणी सुनकर रावण आँखें तरेर कर बोला—अरे दुष्ट! मैं तेरी सभी कठोर वाणी इसलिए सह रहा हूँ कि मैं नीति और धर्म को जानता हूँ। उन्हीं की रक्षा कर रहा हूँ। अंगद ने कहा—तुम्हारी धर्मशीलता के विषय में मैंने भी सुनी है। वह यह कि तुमने परायी स्त्री की चोरी की है। और दूत की रक्षा की वात तो अपनी आँखों से देख ली। ऐसे धर्म के व्रत को पालन करनेवाले तुम डूबकर मर नहीं जाते। नाक-कान से रहित बहन को देखकर तुमने धर्म विचार कर ही तो क्षमा कर दिया था। तुम्हारी धर्मशीलता संसार में प्रसिद्ध है। मैं भी बड़ा भाग्यवान हूँ, जो मैंने तुम्हारा दर्शन पाया!

दोहा—जनि जल्पसि जड़ ·······संभु सहित कैलास ॥३॥

शब्दार्थ—जल्पसि = बकवाद करना। विलोकु = देखो। ससि = चन्द्रमा। नभसर = आकाशरूपी सरोवर।

अर्थ—अंगद की बात सुनकर रावण ने क्रोधावश में कहा—अरे मूर्ख बन्दर ! व्यर्थ बकवाद मत कर, मेरी भुजाएँ तो देख। ये सब लोकपालों के विशाल बलरूपी चन्द्रमा को ग्रसने के लिए राहु हैं।

चौपाई—तुम्हारे कटक माँझ सुनु ·······लेन हम सोई ॥

शब्दार्थ—माहिं = बीच। मो सम = मेरे समान। तव = तुम्हारे। नारि-विरह = स्त्री के वियोग से। अनुज = छोटा भाई। तासु = उसके। मलीना = उदासीन। कूलद्रुम = नदी के किनारे के वृक्ष। बलसीला = बलवान। निसिचर नाहा = निश्चरों के राजा। अल्पकपि = छोटे-से बन्दर। केर = का। लघुधावन = छोटा-सा दूत। सोई = उसे।

अर्थ—रावण ने फिर कहा—अरे अंगद ! सुन; तेरी सेना में बता ऐसा कौन योद्धा है जो मुझसे भिड़ सकेगा। तेरा स्वामी तो स्त्री के वियोग में शक्तिहीन हो रहा है और उसका छोटा भाई उसी के दुःख से दुखी और उदास है। तुम और सुग्रीव, दोनों तट के वृक्ष हो। मेरा छोटा भाई विभीषण भी बड़ा भारी डरपोक है। मंत्री जाम्बवान् बहुत बूढ़ा है। अब वह लड़ाई में क्या चढ़ सकता है ? नल-नील तो शिल्प कर्म जानते हैं, वे लड़ना क्या जानें। हाँ, एक बन्दर जरूर महान् बलवान है, जो पहले आया था, और जिसने लंका जलाई थी। यह वचन सुनते ही बालिपुत्र अंगद ने कहा—हे राक्षसराज ! सच्ची बात कहो ? क्या उस बन्दर ने सचमुच तुम्हारा नगर जला दिया ? रावण जैसे जगद्विजयी योद्धा का नगर एक छोटे से बन्दर ने जला दिया। ऐसे वचन सुनकर उन्हें सत्य कौन कहेगा ? हे रावण ! जिसको तुमने बहुत बड़ा योद्धा कह कर सराहा है, वह तो सुग्रीव का एक छोटा-सा दौड़कर चलनेवाला हरकारा है। वह बहुत चलता है, वीर नहीं है। उसको तो हमने केवल खबर लेने के लिए भेजा था।

दोहा—अब जानेउँ पुर देहउ ·····करइ उपाय अनेक ॥४॥

शब्दार्थ—कपि = बंदर। आयसु = आज्ञा। लुकाय = छिपा हुआ। कोह = गुस्सा। तुमसन = तुम्हारे साथ। सोह = शोभा पाने। समान सन = बराबरवाले के साथ। मृगपति = सिंह। लघुता = हीनता। रोष = क्रोध। वक्र उक्ति = टेढ़ी उक्ति। दसमौलि = रावण। प्रतिपालै = पालते हैं।

अर्थ—अंगद ने कहा—हे रावण! क्या सचमुच उस बन्दर ने प्रभु की आज्ञा पाये बिना ही तुम्हारा नगर जला डाला? मालूम होता है, इसी डर से वह लौटकर सुग्रीव के पास नहीं गया और कहीं छिप रहा। हे रावण! तुम सब सच ही कहते हो, मुझे सुनकर कुछ भी क्रोध नहीं है। वस्तुतः हमारी सेना में कोई भी ऐसा नहीं है जो तुम से लड़ने में शोभा पाये। प्रीति और वैर बराबरी वालों से ही करना चाहिए, नीति ऐसी ही है। सिंह यदि मेढ़कों को मारे; तो क्या उसे कोई भला कहेगा? यों तो तुम्हें मारने में श्रीराम को हीनता है और बड़ा दोष भी है फिर भी हे रावण, सुनो! क्षत्रिय जाति का क्रोध बड़ा कठिन होता है। वक्रोक्ति रूपी धनुष से वचन रूपी बाण मारकर अंगद ने शत्रु का हृदय जला दिया। वीर रावण उन बाणों को मानों प्रत्युत्तररूपी सँड़सियों से निकाल रहा है। तब रावण हँसकर बोला—बंदर में यह एक बड़ा गुण है कि जो उसे पालता है, उसका वह अनेकों उपायों से भला करने की चेष्टा करता है॥ ४॥

चौपाई—धन्य कीस जो निज···· मुनि जाइ छोड़ावा॥

शब्दार्थ—कीस = बन्दर। निज = अपना। परिहरि = छोड़कर। लाजा = लाज। पति हित = प्रभु की भलाई के लिए। तव = तुम्हारी। सुजाना = अच्छी तरह जाननेवाला। कटु = कठोर। रटनि = वचन। पवनसुत = हनुमान। तइकृत = तुमने किया। रोष = क्रोध। माषा = अहंकार सिसुन = बालकगण। हयसाला = घुड़साला, अस्तबल। सहसभुज = सहस्रार्जुन।

अर्थ—रावण ने आगे कहा—बंदर को धन्य है, जो अपने मालिक के लिए लाज छोड़कर जहाँ-तहाँ नाचता है। नाच कूदकर लोगों को रिझाकर, अपने स्वामी की भलाई करता है। यह उसके धर्म की निपुणता है। हे

अंगद ! तुम्हारी जाति स्वामी-भक्त होती है, फिर भला तू अपने स्वामी के गुणों का वर्णन कैसे न करेगा ? मैं गुणों का आदर करनेवाला और बहुत समझदार हूँ, इसीलिए तेरी जली-कटी बकबक पर ध्यान नहीं देता। अंगद ने कहा—तुम्हारी सच्ची गुणग्राहकता तो मुझे हनुमान ने सुनायी थी। उसने अशोक वन को विध्वंस (तहस-नहस) करके, तुम्हारे पुत्र को मारकर नगर को जला दिया था। तो भी तुमने अपनी गुण-ग्राहकता के कारण यही समझा कि उसने तुम्हारा कुछ भी अपकार नहीं किया। तुम्हारा वही सुन्दर स्वभाव विचार कर, हे दशग्रीव ! मैंने कुछ धृष्ठता की है। हनुमान ने जो कुछ कहा, था, उसे आकर मैंने प्रत्यक्ष देख लिया कि तुम्हें न लज्जा है, न क्रोध है और न चिढ़ है। रावण बोला—अरे बन्दर ! जब तेरी ऐसी बुद्धि है तभी तो तू बाप को खा गया। ऐसा वचन कह कर रावण हँसा। अंगद ने कहा—पिता को खाकर फिर तुमको भी खा डालता, परन्तु अभी तुरन्त कुछ, और ही बात मेरी समझ में आ गई। अरे नीच अभिमानी ! बालि के निर्मल यश का पात्र जानकर तुम्हें मैं नहीं मारता। हे रावण ! यह तो बता कि जगत् में कितने रावण हैं ? मैंने जितने रावणों के नामों को अपने कानों से सुन रक्खे हैं उन्हें सुन---एक रावण तो बलि को जीतने पाताल में गया था, तब बच्चों ने उसे अस्तबल में बाँध दिया। बालक खेलते थे और जा-जाकर उसे मारते थे। बलि को दया लगी, तब उन्होंने उसे छुड़ा दिया। फिर एक रावण को सहस्रबाहु ने देखा, और उसने दौड़कर उसको एक विशेष प्रकार के जन्तु की तरह समझ कर पकड़ लिया। तमाशे के लिए वह उसे घर ले आया। तब पुलस्त्य मुनि ने जाकर उसे छुड़ाया।

दोहा—एक कहत मोहि ··· ··· ···बदहि तजि माख ॥५॥

शब्दार्थ—सकुच = संकोच। माँख = घमण्ड।

अर्थ—अंगद कहता है—एक रावण की बात कहने में तो मुझे बड़ा संकोच हो रहा है, वह बहुत दिनों तक बालि की काँख में रहा था। इनमें से तुम कौन-से रावण हो ? खीझना छोड़कर सच-सच बताओ।

चौपाई—सुनु सठ सोइ रावनु ··· ··· स्रवण अलीक प्रलापो ॥

शब्दार्थ—सठ = मूर्ख। सोइ = वह। हरगिरि = कैलाश पर्वत। लीला = करामात। सुराई = शूरता। सुमन = फूल। उमापति = शंकर। सरोज = कमल। करिन्ह = हाथों से। दिग्गज = दिशाओं के हाथी। मूलक = मूल के समान। तरनी = नाव। अलीक प्रलापी = झूठ बोलनेवाला।

अर्थ—रावण ने कहा—अरे मूर्ख! सुन, मैं वही शक्तिशाली रावण हूँ जिसकी भुजाओं की लीला (करामात) कैलाश पर्वत जानता है। जिसकी शूरता उमापति (महादेवजी) जानते हैं, जिन्हे अपने सिररूपी पुष्प चढ़ा-चढ़ा कर मैंने पूजा था। सिररूपी कमलों को अपने हाथों से उतार-उतार कर अगणित बार मैंने त्रिपुरारी (शिवजी) की पूजा की है। अरे मूर्ख! मेरी भुजाओं का पराक्रम दिक्पाल जानते हैं, जिनके हृदय में वह आज भी चुभ रहा है। दिग्गज (दिशाओं के हाथी) मेरी कठोरता को जानते हैं जिनके भयानक दाँत, जब-जब जाकर मैं उनसे जबरदस्ती भिड़ा, मेरी छाती में कभी नहीं फूटे (अपना चिन्ह भी नहीं बना सका), बल्कि मेरी छाती से लगते ही वे मूली की तरह टूट गए। जिसके चलते समय पृथ्वी इस प्रकार हिलती है जैसे मतवाले हाथी के चढ़ते समय छोटी नाव! मैं वही जगत्-प्रसिद्ध प्रतापी रावण हूँ। अरे झूठी बकवाद करनेवाले! क्या तुमने मुझको कानों से कभी नहीं सुना?

दोहा—तेहि रावण कहँ ······ जाना तव ग्यान ॥६॥

शब्दार्थ—तेहि = उस। लघु = छोटा। नर = मनुष्य। करसि बखान = बड़ाई करता है। बर्बर = असभ्य। खर्ब = तुच्छ। खल = दुष्ट।

अर्थ—उस महान प्रतापी और जगत् प्रसिद्ध रावण को तू छोटा कहता है और मनुष्य की बड़ाई करता है? अरे दुष्ट, असभ्य, तुच्छ बंदर! अब मैंने तेरा ज्ञान जान लिया ॥६॥

चौपाई—सुनि अंगद सकोप ······ रघुपति भगति अकुंठा ॥

शब्दार्थ—सकोप = क्रोध सहित। बानी = बोली, वचन। अधम = नीच। अपारा = अपार। अनल = आग। सम = समान। कुठारा = फरसा। परसु = फरसा। सागर = समुद्र। खर = तेज। बहुबारा = अनेकों बार। तासु =

उन। गर्व = घमण्ड। मनुज = मनुष्य। बगा = उदण्ड। धन्वी = धनुर्धारी। कामु = कामदेव। सुरधेनु = कामधेनु। पीयूखा = अमृत। बैनतेय = गरुड़। सहसानन = शेषनाग। उपल = पत्थर। अकुंठा = अखण्ड।

अर्थ—रावण के दुष्ट वचन सुनकर अंगद क्रुद्ध वचन बोले—अरे नीच अभिमानी! तू सोच-समझकर बोल। जिनका फरसा सहस्रबाहु की भुजाओं रूपी अपार उनको जलाने के लिए अग्नि के समान था, जिनके फरसा रूपी समुद्र की तीव्र धारा में अनगिनत राजा अनेकों बार डूब गए, उन परशुरामजी का गर्व जिन्हे देखते ही भाग गया, अरे अभागे दशशीश! वे मनुष्य क्योंकर हैं? क्यों रे मूर्ख उद्दण्ड! क्या श्रीराम मनुष्य हैं? कामदेव क्या धनुर्धारी हैं? गगाजी क्या नदी हैं? कामधेनु क्या पशु है? और कल्पवृक्ष क्या पेड़ है? अन्न क्या दान है और अमृत क्या रस है! गरुड़जी क्या पक्षी हैं? शेषजी क्या सर्प हैं? अरे रावण। चिन्तामनि भी क्या पत्थर है? अरे ओ मूर्ख! सुन, स्वर्ग (वैकुंठ) भी क्या लोक है? और श्रीरामचन्द्र को अखण्ड भक्ति क्या और लाभों जैसा लाभ है?

दोहा—सेन सहित तव ······ तव सुत मारि ॥७॥

शब्दार्थ—सेन-सहित = सेना सहित। पुर जारी = नगर को जलाया।

सेना सहित तेरा मान मथकर, अशोक वन को उजाड़कर, नगर को जलाकर और तेरे पुत्र को मारकर जो लौट गए (तू उनका कुछ भी न विगाड़ सका) क्यों रे दुष्ट! वे हनुमानजी क्या वानर हैं?

चौपाई—सुनु रावन परिहरि ······ जनु घृत परा॥

शब्दार्थ—परिहरि = त्यागकर। रुद्र = शिव। जनि मारसि गाला = डींग मत हाँको। घृत = घी।

अर्थ—अगद कहता है—हे रावण! कपट त्याग कर सुन! कृपानिधि श्रीराम का तू भजन क्यों नहीं करता? अरे दुष्ट! यदि तू श्रीराम का शत्रु हुआ तो तुम्हे ब्रह्मा और शिवजी भी नहीं बचा सकेंगे। रे मूर्ख! व्यर्थ डींग न हाँक। श्रीराम से वेर करने पर तेरा ऐसा हाल होगा कि तेरे सिर-समूह

श्रीराम के वाण लगते ही वन्दरों के आगे पृथ्वी पर गिर पड़ेगे और रीछ वन्दर तेरे उन गेंद के समान अनेक सिरों से चौगान खेलेंगे। जब श्रीराम युद्ध में क्रोध करेंगे और उनके अत्यन्त तीक्ष्ण बहुत-से वाण छूटेंगे, तब क्या तेरा ऐसा गाल चलेगा? ऐसा विचार कर कृपालु श्रीराम को भज। अंगद के ये वचन सुनकर रावण बहुत अधिक जल उठा। मानों जलती हुई प्रचण्ड अग्नि में घी पड़ गया है।

दोहा—कुम्भकरन अस वन्धु·········चराचर झारि ॥८॥

शब्दार्थ—वन्धु = भाई। मम सुत = मेरा पुत्र। सक्रारि = इन्द्र को जीतनेवाला, उसका शत्रु।

अर्थ—रावण बोला—अरे मूर्ख! कुम्भकर्ण ऐसा मेरा भाई है, इन्द्र का शत्रु सुप्रसिद्ध मेघनाद मेरा पुत्र है और मेरा पराक्रम तो तुमने सुना ही नहीं कि मैंने सम्पूर्ण जड़ चेतन जगत को जीत लिया है ॥८॥

आलोचनात्मक प्रश्नोत्तर

प्रश्न—महाकाव्य में संवाद का क्या स्थान है? उसकी महत्ता पर प्रकाश डालते हुए 'रावण-अंगद संवाद' को संक्षेप में लिखें।

उत्तर—गोस्वामी तुलसीदास कृत रामचरित् मानस एक महाकाव्य है और उसमें पात्रों के हृदय की भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए संवाद का आश्रय ग्रहण किया गया है। संवाद दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच होता है। काव्य के मुख्य दो भेद हैं—श्रव्य और दृश्य। श्रव्य काव्य में पाठक पढ़कर या सुनकर आनन्द लाभ करता है पर दृश्य काव्य में आँखों को संतोष मिलता है। महाकाव्य एक श्रव्य काव्य है और उसमें दो पात्रों के बीच के कथनोपकथन को इसलिए स्थान दिया जाता है कि उससे काव्य की रोचकता बढ़ जाती है और उससे पात्रों की चारित्रिक विशेषताएँ भी मुखरित हो उठती हैं। काव्य में प्रत्यक्षता लाने के लिए, उसमें सप्राणता और सजीवता लाने के लिए महाकाव्यकार पारस्परिक संवाद का आयोजन करता है। रामचरित् मानस में जो वास्तविकता एवं यथार्थता है, उसका एकमात्र श्रेय है कथनोपकथन को। इसके

आयोजन से काव्य में अपेक्षित नाटकीय सौंदर्य की उपलब्धि सुगम हो जाती है। 'रामचरित मानस' के अनेक मार्मिक स्थल वहीं पर हो पाये हैं, जहाँ पर दो पात्रों के बीच संवाद मिलते हैं। इस काव्य के अत्यन्त प्रसिद्ध संवाद हैं— परशुराम और लक्ष्मण संवाद, विश्वामित्र और दशरथ संवाद, मथरा-कैकेयी-संवाद, दशरथ कैकेयी-संवाद, सीता-राम-संवाद, अनुसूया-सीता संवाद, सूर्पणखा राम-संवाद, रावण अंगद-संवाद आदि। इन संवादों के बीच रावण-अंगद-संवाद भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सुमुरु पर्वत पर प्रातःकाल भगवान राम ने सभी मंत्रियों से यह जानने की इच्छा प्रकट की कि आगे क्या होना चाहिए। यह सुनकर जाम्बवंत ने सर झुकाकर कहा कि युद्ध प्रारंभ करने के पूर्व बालि-पुत्र अंगद को रावण के यहाँ भेजा जाय। राम ने अंगद को समझा बुझा कर रावण की सभा में भेजा। अंगद रावण की राज्य-सभा में पहुँचा, उसे देखकर रावण ने पूछा—यह बन्दर कौन है? उसके प्रश्न को सुनते ही अंगद ने कहा—हे राक्षसराज, मैं भगवान राम का दूत एवं बालि-पुत्र अंगद हूँ। आप मेरे पिता को अवश्य जानते हैं क्योंकि मेरे पिता और आपमें अनन्य मित्रता थी। अतएव मैं आपकी भलाई के उद्देश्य से अपना व्यक्तिगत विचार प्रकट करने आया हूँ। आपने एक उत्तम कुल में जन्म पाया है और पुलस्त्य मुनि के नाती हैं। शिव और ब्रह्मा की उपासना कर आपने अनेक कार्य किये हैं, आपने लोकपाल और सभी राजाओं पर विजय प्राप्त की है, परन्तु आपके कोई कार्य प्रशंसनीय नहीं हैं। इसलिए मेरा अनुरोध है कि आप सीता को लौटाकर भगवान राम से क्षमा माँग लें और वे आपकी आर्त्तवाणी सुनकर आपको अभय दान देंगे।

अंगद की बात सुनकर रावण क्रोधित हो उठा और कहने लगा कि हे बन्दर! मैं जानता हूँ कि बालि नाम का एक बन्दर था जिसके तुम पुत्र हो। तुम कुलनाशक हो। तुम माँ के गर्भ में ही क्यों नहीं मर गए। अपने ही मुँह से तुम अपने को तपस्वी का दूत कहते हो। अच्छा अब तो बताओ कि तुम्हारे पिता कहाँ हैं?

रावण के अभिमानपूर्ण वचन सुनकर अंगद ने कहा—हे दशमुख ! तुम दस दिनों के बाद ही बालि के पास जाकर उसका कुशल जान लेना, राम से शत्रुता कर लेने का फल होता है, वह तुम्हें कह सुनायेगा। राम सिर्फ एक मनुष्य ही नहीं है, प्रत्युत् परब्रह्म परमात्मा के अवतार हैं। उनसे विरोध करने में तुम्हारा सर्वनाश निश्चित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इसमें जो भी संवाद आए हैं उससे यह सिद्ध होता है कि रावण अभिमानी था और अगद राम एक अनन्य भक्त था। दोनों के कथनोपकथन से उनकी चारित्रिक विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं।

अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का जन्म सं० १९२२, तदनुसार ई० सन् १८७५ में निजामाबाद, जिला आजमगढ़ में हुआ था। वे त्रिप्रवर अगस्त्य गोत्र, शुक्लयजुर्वेदीय सनाढ्य ब्राह्मण थे। उनके पूज्य पिता का नाम पं० भोला सिंह उपाध्याय था और छोटे भाई का गुरुसेवक सिंह उपाध्याय। उनकी माता थीं रुक्मिणी देवी। उनके पिता पढ़े-लिखे तो नहीं थे, परन्तु उनके चाचा ब्रह्म सिंह उपाध्याय एक अच्छे विद्वान् ज्योतिषी थे। वे निःसंतान होने के कारण अपने भतीजे को अधिक मानते थे। उनके चाचा का समस्त वात्सल्य-प्रेम और अनुराग ज्येष्ठ होने के कारण हरिऔधजी पर जाकर केन्द्रित हो गया तथा उनके जीवन का प्रभाव इनके ऊपर कफी पड़ा। जब बालक हरिऔध की अवस्था पाँच वर्ष की हुई तब उन्हीं की देख-रेख में शास्त्र-मर्यादानुसार इनका विद्यारभ करा दिया गया। दो वर्षों तक उनकी शिक्षा घर पर ही हुई। इसके पश्चात् सात

जीवन-वृत्त

वर्ष की अवस्था में उनका प्रवेश तहसीली स्कूल में हुआ। स० १९३६ में मिडिल पास करने के बाद वे काशी के क्वीन्स कालेज में अंग्रेजी पढ़ने के लिए प्रविष्ट हुए। परन्तु स्वास्थ्य के बिगड़ जाने के कारण क्वींस कालेज की पढ़ाई स्थगित कर देनी पड़ी। लाचार होकर वे घर आए। संवत् १९३९ में हरिऔधजी का विवाह सिकन्दरपुर (जिला बलिया) के पं० विष्णुदत्त मिश्र की कन्या श्रीमती अनन्तकुमारी से हुआ। ठीक इसके दो वर्ष के बाद द्विरागमन भी हो गया। संवत् १९४१ में निजामाबाद के तहसीली स्कूल में वे अतिरिक्त-अध्यापक के पद पर नियुक्त हुए। इसी अध्यापन-काल में उन्होंने संवत् १९४४ में नार्मल स्कूल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। इस प्रकार कुछ समय तक अध्यापन करने के उपरान्त उन्होंने कानूनगोई पास की और सन् १८८९ के लगभग वे कानूनगो के पद पर नियुक्त किये गए। फिर वे रजिस्ट्रार कानूनगो से सदर नायब कानूनगो हो गए। पेंशन (विश्रामिका) लेने के छः वर्ष पहले वे सदर कानूनगो हो गए थे। अंत में वे रिटायर हो गए। इसी बीच काशी-विश्वविद्यालय में हिन्दी-साहित्य की उच्च शिक्षा के लिए एक सुयोग्य अध्यापक की आवश्यकता हुई। विश्वविद्यालय ने उनसे सेवाएँ माँगी। उन्होंने पहली नवम्बर, सन् १९२३ से अवैतनिक अध्यापक-रूप में अध्यापन-कार्य करना स्वीकार कर अपनी उदारता का परिचय दिया। वे सन् १९४१ तक बड़ी सफलतापूर्वक यह कार्य सम्पन्न करते रहे। काशी-विश्वविद्यालय से अवकाश ग्रहण करने के अनन्तर उन्होंने आजमगढ़ को अपना निवास-स्थान बनाया। सन् १९४७ के छः मार्च को हिन्दी का यह अनुपम नक्षत्र टूट पड़ा जिसकी पूर्ति निकट-भविष्य में शायद ही हो सके।

हरिऔधजी हिन्दी-साहित्य के प्रकांड पण्डित और बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। उनके साहित्य पर हिन्दी को गर्व है और वह उसकी स्थायी सम्पत्ति है।

रचनाएँ

हरिऔधजी की रचनाएँ मौलिक और अनूदित, दोनों हैं। अनूदित रचनाओं के अन्तर्गत दोनों प्रकार का साहित्य है—कुछ गद्य और कुछ पद्य। (क) गद्य-सम्बन्धी अनूदित रचनाओं में 'वेनिस का बाँका' (उपन्यास)' रिपवान विंकिल, (उर्दू, रिपवान

विंकिल का अनुवाद और कहानी), और नीति-निबन्ध (निबंध-सग्रह) है। [ख] पद्य-सम्बन्धी अनूदित रचनाओं में 'उपदेश-कुसुम' तीन भाग (गुलिस्ताँ के आठवें अध्याय का अनुवाद) और विनोद-वाटिका (गुलजार दबिस्ताँ का अनुवाद) है। हरिऔधजी की मौलिक कृतियाँ चार प्रकार की हैं—

(क) उपन्यास—(१) ठेठ हिन्दी का ठाट और (२) अधखिला फूल।

(ख) महाकाव्य—(१) प्रियप्रवास और (२) वैदेही-वनवास।

(ग) आलोचनात्मक—(१) हिंदी भाषा और साहित्य का विकास, (२) कबीर-वचनावली की आलोचना, (३) साहित्य-संदर्भ आदि।

(घ) स्फुट काव्य-संग्रह—(१) चोखे चौपदे, (२) चुभते चौपदे, (३) बोलचाल, (४) रस-कलस, (५) पद्य-प्रसून, (६) कल्पलता, (७) पारिजात, (८) ऋतु-मुकुर, (९) काव्योपवन, (१०) प्रेम-प्रपच, (११) प्रेम-पुष्पोपहार, (१२) प्रेमाम्बु-प्रस्रवण, (१३) प्रेमाम्बु-प्रवाह, (१४) प्रेमाम्बु वारिधि और (१५) हरिऔध-सतसई।

हरिऔध की इन कृतियों को देखकर उनकी साहित्यिक प्रतिभा, उनकी लगन और उनके अध्यवसाय पर आश्चर्य होता है। उन्होंने अपनी लेखनी द्वारा साहित्य के प्रत्येक अंग को छूने का सफल प्रयास किया था। उनकी कृतियाँ युगांतरकारिणी कृतियाँ हैं।

भारतेन्दु-काल के उत्तरार्द्ध में हरिऔध का आगमन काव्य-जगत् में हुआ। बाबा सुमेरु सिंह उनके धार्मिक गुरु ही नहीं थे, वरन् साहित्यिक गुरु भी थे।

काव्य-साधना

बचपन में ही हरिऔधजी समस्या-पूर्ति करने लगे थे। आरम्भ में वे व्रजभाषा में ही कविताएँ लिखते थे। काव्य-क्षेत्र में हरिऔध सर्वप्रथम 'श्रीकृष्ण शतक'-नामक पुस्तक लेकर आये। इसमें कवि ने कृष्ण को परब्रह्म माना और उसी रूप में उनका यश-गान भी किया है। अतएव उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ दोहे में विद्यमान हैं, यथा—

नमत निर्गुण निरलेप अज, निराकार निर्द्वन्द।
मायारहित विकार बिन, कृष्ण सच्चिदानन्द ॥१॥

नहिं प्रमाद यामें कछू ताकों है उन्माद।
कृष्ण ब्रह्मता में करत, जो बावरो विवाद ॥२॥

उपर्युक्त दोहों की रचना कवि ने सत्रह वर्ष की अवस्था में की थी। इन दोहों में न कोई नवीनता है और न मौलिकता ही, क्योंकि इनमें हृदय की झंकार ही नहीं है।

इनके तीन वर्ष बाद हरिऔध ने 'रुक्मिणी-परिणय' और 'प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग' की रचना की।

सन् १८९९ में (या उसके आसपास) हरिऔध की तीन रचनाएँ प्रकाशित हुईं—प्रेमाम्बु-वारिधि, प्रेमाम्बु-प्रस्रवण और प्रेमाम्बु-प्रवाह। इन तीन काव्यों में कवि ने कहीं श्रीकृष्ण को मानव पद पर प्रतिष्ठित कराया है तो कहीं परब्रह्म के आसन पर। यह प्रणाली हिन्दी-साहित्य में शताब्दियों से चली आ रही है। अतएव इनमें कोई विशेषता परिलक्षित नहीं होती है।

इसके अनन्तर द्विवेदी-युग का आगमन होता है। इस युग ने हरिऔध की काव्य-दिशा में एक मोड़ लाकर रख छोड़ा है। हरिऔध ने कविता के लिए खड़ी बोली को अपनाया, पर उन्होंने इसके लिए उर्दू के छन्दों और ठेठ बोली को ही उपयुक्त समझा। उर्दू के छन्दों में खड़ी बोली को हरिऔध ने इस रूप में पेश किया—

चार डग हमने भरे तो क्या किया। है पड़ा मैदान कोसों का अभी ॥
मौलवी ऐसा न होगा एक भी। खूब उर्दू जो न होवे जानता ॥

संवत् १९५७ तक वे इसी तरह की कविता लिखते रहे। जब प० महावीर प्रसाद द्विवेदी के आन्दोलन के कारण संस्कृत-छन्दों और संस्कृत-पदावलियों को हिन्दी-कविता में स्थान मिल गया तो हरिऔध ने उस शैली में द्विवेदी-युग की सर्वोत्तम रचना (प्रियप्रवास, १९१४) लिखी। इसमें संस्कृत-वृत्तों का प्रयोग बड़ी सुन्दरता से हुआ है। इसका प्रकृति-वर्णन अधिकांश में परम्परा-पालन के लिए है। उसमें श्रीधर पाठक के प्रकृति-वर्णन के समान नवीनता और मार्मिकता नहीं। हाँ, एक बात अवश्य है कि हरिऔध ने संस्कृत की कोमल-कान्त पदावली का सफलता से प्रयोग कर अन्य कवियों का ध्यान

उसकी ओर खींचा। द्विवेदीजी के आग्रह और अनुकरण से जो कविता हो रही थी, उसमें कर्कश और कर्णकटु पदावली की प्रधानता थी। परन्तु शीघ्र ही हरिऔध फिर बोलचाल और मुहावरों की ओर झुके। उनकी इस प्रकार की शैली के उदाहरण हैं चोखे चौपदे (१९२४) और पद्य-प्रसून (१९२५)। प्रियप्रवास के वाद उनका एक महाकाव्य है—वैदेही-वनवास। वैदेही-वनवास की कथावस्तु में गतिशीलता अधिक है, लेकिन काव्य-कला की दृष्टि से इसका उनका समादर नहीं है जितना 'प्रिय-प्रवास' का। बोलचाल और मुहावरों की चासनी देखनी हो तो बोलचाल, चोखे चौपदे और चुभते चौपदे'-जैसी कृतियाँ भी हैं। 'बोलचाल' में सभी अंगों और चेष्टाओं का अंकन अत्यन्त ही 'आमफहम' भाषा में हुआ है। इस सम्बन्ध में यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि जहाँ हम प्रियप्रवास के वृत्तों के प्रवाह में वह जाते हैं वहाँ 'चुभते चौपदे' और 'चोखे चौपदे' के चौपदों से चौंककर हम ठहर जाते हैं और फिर आनन्द में लीन हो जाते हैं। अरवी के वजन और हिन्दी छन्दों, मात्राओं की शुद्धता का ध्यान रखने के कारण आपको उन्हें सतर्क होकर पढना होगा। ठहर-ठहरकर, हृदय को भावमय वनाकर, आप उनका पूर्ण-रूप से मजा ले सकते हैं। हरिऔधजी के चौपदों में श्लेप और मुहावरे पद-पद पर भरे पड़े हैं। चौपदों में श्लेप और मुहावरों के साथ-साथ प्रवाह भी समानरूप से दो वड़ी धाराओं की तरह चलते दृष्टिगोचर होते हैं। यदि किसी ने ग्रन्थकार को कवि-सम्मेलन या विश्वविद्यालय में या घर पर ही चौपदों को पढ़ते हुए सुना होगा तो उसे इन बातों पर तर्क करने की गुंजाइश न रहेगी। पढने के समय उनकी पुरानी हड्डी में जोश का ऐसा उफान आ जाता था कि वे सिंह की तरह भाव-भूमि पर छलाँगें भरते देखे जाते थे। कपूत और सपूत का अन्तर कितनी मार्मिकता के साथ निम्नांकित पंक्तियों में प्रस्तुत किया गया है—

सैकड़ों ही कपूत छाया से, है भली एक सपूत छाया।
हो पड़ी चूर खोपड़ी ही तो, अनगिनत बाल पाल क्या पाया॥

उस संदर्भ में 'बाल' शब्द ने ही अपना कमाल दिखलाया है बेमेल विवाह पर कवि की उक्ति सुनें—

बंश में घुन लगा दिया उसने, औ नई पौध की कमर तोड़ी।
जाति को है तबाह कर देती, एक अलहड़ अधेड़ की जोड़ी।

इन चौपदों में सिर्फ भाषा की मिठास ही नहीं है, वरन् सामाजिक बुराइयों पर व्यंग भी है। ये व्यंग्य समाज की कुरीतियों को दूर करने के लिए ही कसे गये हैं, न कि मन-बहलाव के लिए। कवित्व की दृष्टि से बोलचाल-सम्बन्धी रचनाओं में 'चोखे चौपदे' का महत्त्व अधिक है। साहित्य के इतिहास में इस प्रकार की रचनाओं की भी विशिष्ट महत्ता है। यह हमारे साहित्य की एक अमर निधि है।

हरिऔध ने व्रजभाषा में 'रस-कलस'-नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। व्रजभाषा के प्रति हरिऔध का ममत्व काव्य-जीवन के पहले प्रभात से ही बना हुआ था; लेकिन उस समय से वह परिष्कृत होता हुआ द्विवेदी-युग में अपनी चरम सीमा पर आकर प्रतिष्ठित हो गया। द्विवेदी-युग क्रान्ति-युग था, फिर भी व्रजभाषा के हरिऔध जीवित ही रहे। इस प्रकार हम हरिऔध के काव्य-जीवन के तीन रूप पाते हैं—

(१) व्रजभाषा के हरिऔध : रस-कलस।
(२) बोल-चाल के हरिऔध : चोखे चौपदे, चुभते चौपदे आदि।
(३) उच्च हिन्दी के हरिऔध : प्रियप्रवास।

यह तो हरिऔध-ऐसे सधे कलाकार की बहुमुखी प्रतिभा का ही द्योतक है कि काव्य के तीनों रूपों पर उनका समान अधिकार रहा। इन तीनों रूपों में कवि के व्यक्तित्व में अन्तर है, कहीं भी मेल नहीं। रस-कलस में हरिऔध आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित हैं, तो चौपदे में उपदेशक बने हैं और प्रियप्रवास में भावुक। अपनी प्रतिभा के बल पर ही उन्होंने काव्य-जीवन में तीनों रूपों को सफल बनाया। हरिऔध के 'रस-कलस' की भूमिका में प्रसंगवश पं० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने हमें बताया है कि 'भाषा के समस्त प्रधान और

साहित्यिक रूपों पर, चाहे वह खड़ी बोली हो, चाहे ठेठ हिन्दी या कथित (so-called) हिन्दुस्तानी (चलती हुई बामुहावरा साधारण हिन्दी), चाहे ब्रजभाषा हो और चाहे अवधी, सभी पर आपको असाधारण और पूरा अधिकार प्राप्त है।'

यों तो हरिऔधजी ने ब्रजभाषा में 'रस कलस' जैसे काव्य-ग्रंथ की रचना की है; परन्तु वे प्रधानतया खड़ी बोली के ही कवि माने गये हैं। ब्रजभाषा की काव्य-रचना में उन्हें अप्रतिम सफलता मिली। उनकी ब्रजभाषा में सूरदास की-सी कोमलता, नन्ददास की-सी परिष्कृति, बिहारी की-सी वाग्विभूति, मतिराम की-सी मधुरता और पद्माकर का प्रवाह है। हरिऔध भाषा के आचार्य हैं। यही कारण है कि उनकी भाषा के चार रूप हमें देखने को मिलते हैं—(क) तत्सम-प्रधान हिन्दी, प्रियप्रवास में। (ख) सरल साहित्यिक हिन्दी, वैदेही-वनवास में। (ग) ब्रजभाषा, प्रेमाम्बु-प्रस्रवण, प्रेमाम्बु-प्रवाह, प्रेमाम्बु-वारिधि, प्रेम-पुष्पोपहार में और (घ) उर्दू-शैली से प्रभावित हिन्दी बोलचाल, चोखे चौपदे, चुभते चौपदे आदि में।

भाषा-शैली

हरिऔधजी प्राचीन आर्य-संस्कृति के उपासक थे। इसीलिए संस्कृत-गर्भित भाषा के प्रति उन्हें मोह था, जिसे वे त्याग नहीं सके। उनकी भाषा में भावों को वहन करने की शक्ति है। सभी दृष्टियों से उन्होंने भाषा को सौन्दर्यपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया। हरिऔध की भाषा में माधुर्य गुण है। उनकी भाषा सर्वत्र ही भावानुगामिनी रही है। उनकी भाषा में मुहावरों की अधिकता है, एक-दो उदाहरण देखिये—

पानी क्या रखते सदैव तुम तो पानी गँवाते मिले।

या

क्या चार चाँद, कितनों में हैं आठ चाँद लग पाए।

हरिऔधजी की शैली में विविधता है। कोई भी उसे देखकर यह कह सकता है कि वे स्वयं अपनी शैली के जनक हैं। शैली भी उनकी रचनाओं में चार तरह की है—(क) संस्कृत-काव्य-शैली—प्रियप्रवास, (ख) रीतिकालीन

शैली—रसकलस, (ग) उर्दू की मुहावरेदार शैली—चोखे चौपदे, चुभते चौपदे, बोलचाल आदि और (घ) वर्त्तमान शैली—पारिजात और वैदेही-वनवास।

शैली की विविधता के बावजूद भी उनमें मौलिकता एवं प्रभावोत्पादन है, कृत्रिमता नहीं। इसके लिए उन्होंने काव्य-शास्त्र के सभी साधनों का सहारा लिया है। उनकी शैली में संगीतात्मकता अवश्य है, लेकिन उसमें अभिव्यंजना की प्रणाली नहीं है।

हरिऔधजी हिन्दी के एक पहुँचे हुए कवि हैं। उनपर हिन्दी-संसार को गर्व है।

पावस-वर्णन

प्रसंग—'पावस-वर्णन' शीर्षक कविता महाकवि पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' कृत 'प्रियप्रवास' महाकाव्य के द्वादश सर्ग से उद्धृत किया गया है। कंस ने धनुष-यज्ञ देखने के लिए राजा नंद को श्रीकृष्ण सहित आदरपूर्वक निमंत्रित किया है। कृष्ण मथुरा को प्रस्थान करेंगे—यह सुनकर गोकुलवासी व्याकुल हो उठे और कंस की क्रूरता का स्मरण कर वे सब के सब भयभीत हो उठे। श्रीकृष्ण मथुरा चले गए और वे नहीं लौटे। वहाँ जाकर वे राजनीतिक उलझनों में फँस गए। परन्तु कभी-कभी वे व्रजभूमि की याद कर व्यग्र हो उठते थे। इसी बीच उनके ज्ञानी मित्र ऊधो आ गए। उन्होंने समझा-बुझा कर ऊधो को गोकुल भेजा और वे वहाँ पहुँचे। लोग तरह-तरह के प्रश्न पूछने लगे। लोगों को सान्त्वना देते हुए ऊधो राजा नंद के घर पहुँचे। एक दिन कुछ गोप यमुना तट पर स्थित वृक्षों की छाया के नीचे बैठे थे। ऊधो भी वहाँ पहुँचे। उनका पहुँचना क्या था कि लोगों ने श्रीकृष्ण का संदेश पूछना आरंभ कर दिया। ऊधो ने श्रीकृष्ण का संदेश सुनाया और सभी को सान्त्वना दी। इस पर लोगों ने श्रीकृष्ण के गुणों का वर्णन करना आरंभ कर दिया। किसी ने कालीनाग से रक्षा करने की बात कही और किसी ने भीषण गर्मी से बचाने की बात कही। ऊधो गोपों के बीच बैठे थे। गोपगण अपनी व्यथा उनके सामने कह रहे थे कि इसी समय ग्वालों का एक नया दल

आ पहुँचा। उस दल ने भी दुःखी होकर नाना प्रकार की बातें कहीं। इस दल के एक ग्वाले ने कृष्ण के गुणों का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए कहा कि एक समय मूसलाधार वृष्टि हुई थी। चारो ओर जल-प्लावन का दृश्य उपस्थित हो गया था, प्रलय का वास्तविक दृश्य उपस्थित हो गया था। उस समय अपने साहस एवं त्याग के हेतु ही श्रीकृष्ण ने ब्रजवासियों की रक्षा की थी। दुःख के दिन बीत गए। वायु-मेघादि का उपद्रव समाप्त हो गया। ब्रजभूमि फिर से बस गई और चारो ओर कृष्ण का बड़ा नाम हुआ। श्रीकृष्ण का सुयश गाते हुए सभी लोग घर गए और रास्ते में उन्होंने ऊधो का मन मोह लिया। जल प्लावन की विकट परिस्थिति के वर्णन करने के सिलसिले में हरिऔध जी ने पावस का वर्णन किया है।

[१] सरस सुन्दर सावन मास…… …उड़ती वकमालिका ॥

शब्दार्थ—सरस = रस से परिपूर्ण। घन = बादल। नभ = आकाश। घिर घूमते = फैल कर घूमते थे। विलसती = शोभती। छविवती-उड़ती बक मालिका = पुष्पहार के समान सुन्दर बगुलों की पंक्तियाँ।

भावार्थ—वर्षाकाल का वर्णन करते हुए 'हरिऔध' जी कहते हैं कि रस से परिपूर्ण सावन का महीना था। आकाश में घटायें घिर-घिर कर घूम रही थीं। घटाओं से आच्छादित आकाश में बगुले उड़ रहे थे जिनकी पंक्तियाँ पुष्पहार सी सुन्दर लग रही थीं।

[२] घहरता गिरि सानु समीप ……रचता बहु-चित्र था ॥

शब्दार्थ—घहरता = गरजता। गिरि-सानु = पहाड़ों की चोटी। छिति छू = पृथ्वी को छूते हुए। नव-वारि = नया जल। रवि अंतिम अंशु = सूर्य की अन्तिम किरणें।

भावार्थ—सन्ध्या का समय था। बादल पहाड़ों की चोटियों के नजदीक ही गरज रहा था अर्थात् वह पृथ्वी के बिलकुल पास तक घिर आया था और पृथ्वी को स्पर्श करते हुए नया जल बरसा रहा था। कभी-कभी सूर्य की किरणों से आकाश में विचित्र चित्रों का निर्माण कर रहा था।

विशेष—प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने घनघोर घटाओं से आच्छादित आकाश का अत्यन्त ही सफल एवं वैज्ञानिक चित्र अंकित किया है। सूर्यास्त के समय सूर्य की रश्मियों से आकाश में उड़ते हुए बादलों की लाली छा जाती है जिससे विविध आकृतियों का निर्माण दीख पड़ता है।

[३] नवप्रभा परमोज्वल-लीक··· केलि-कला-खनि दामिनी ।।

शब्दार्थ—नव प्रभा = बिजली। परमोज्वल = अत्यन्त उजली। लीक-सी = लकीर के समान। गति मति = गति शिल्प। कुटिला-फणिनी-समा = टेढ़ी नागिन-सी।

भावार्थ—अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं की खान बिजली बादलों के बीच कभी चमकती और कभी छिप जाती थी, कभी नवीन प्रभा से युक्त अत्यन्त उजली लकीर-सी दृष्टिगोचर होती और कभी टेढ़ी नागिन-सी गतिशील दिखाई पड़ती थी।

विशेष—'नवप्रभा' शब्द का प्रयोग बिजली के अर्थ में हुआ है क्योंकि उसकी प्रभा की सत्ता पहले से नहीं होती। तत्काल पैदा होती है और छिप जाती है, अतः उसकी संज्ञा क्षण-प्रभा भी है। इसमें उपमा और रूपक अलकार भी है।

[४] विविध रूप धरे नभ ···जिससे सरसा-रसा।

शब्दार्थ—विविध रूप धरे = अनेक रूप धारण किए हुए। विहरता = भ्रमण करता। वर-वारिद-व्यूह था = सुन्दर बादलों का समूह। रस-सेक था = जल बरसाता था। सरसा = रस से भरा हुआ। रसा = पृथ्वी।

भावार्थ—कवि कहता है कि कभी सुन्दर मेघों का समूह आकाश में अनेक प्रकार का रूप ग्रहण कर भ्रमण करता था और कभी धीरे-धीरे जल बरसाता जाता था जिससे पृथ्वी सरस बन जाय अर्थात् प्रेम से पूर्ण हो जाय।

अलंकार—इसमें यमक और अनुप्रास अलकार है।

[५] सलिल-पूरित थी सरसी··········सप्रमोद प्रवाहिता ।।

शब्दार्थ—सलिल-पूरित = जल से भरा हुआ। सरसी = सरोवर। सर-वृन्द = तालाबों का समूह। कर-सुप्लावित = जल में अच्छी तरह डुबा कर। कूल-प्रदेश = तट पर बसे हुए नगर। सरित=नदियाँ। सप्रमोद = प्रसन्नतापूर्वक।

भावार्थ—छोटे-छोटे तालाब जल से भर गए। तालाबों का पानी उमड़ रहा था और नदियाँ अपने किनारों पर स्थित प्रदेशों को जल में अच्छी तरह डुबाकर आनन्दपूर्वक बह रही थी। कहने का तात्पर्य यह है कि नदियाँ अच्छी तरह भर चुकी थीं।

[६] वसुमति पर थी ...... अनुपमा तरु-राजि-हरीतिमा॥

शब्दार्थ—वसुमति = पृथ्वी। अति शोभिता = बहुत शोभ रही थी। तृणावलि = घासों की पंक्ति। नयन-रंजनता = आँखों को सुन्दर लगनेवाली। मृदु-मूर्ति = सुन्दर मूर्ति। अनुपमा तरुराजि हरीतिमा = वृक्षों की अतुलनीय हरियाली।

भावार्थ—पृथ्वी पर नये, कोमल और श्यामवर्णयुक्त घासों का समूह अत्यन्त मनोहारी दीख रहा था और वृक्षों की अतुलनीय हरियाली आँखों को सुन्दर दीखनेवाली सुन्दर मूर्ति जैसी थी, अर्थात् हरे-हरे वृक्षो का समूह आँखों को भला मालूम पड़ रहा था।

अलंकार—इसमें रूपक अलंकार है।

[७] हिल, लगे मृदु-मन्द-समीर ...... दल पादप-पुंज के।

शब्दार्थ—मृदु-मन्द-समीर = कोमल और धीरे-धीरे बहने वाली हवा। सलिल-विन्दु = पानी का कण। सुठि अंक = सुन्दर शरीर। दलपादप-पुंज = वृक्षों के पल्लव।

भावार्थ—पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' कहते हैं कि कोमल और मन्द गति से प्रवाहित होनेवाली हवा के लगने से वर्षा के जल से धुले वृक्षों के पत्ते अपने सुन्दर अंक (शरीर) से जल के कण गिराकर सभी का मन मोह रहे थे।

विशेष—वर्षा के जल से वृक्ष के पत्ते धुल गए थे। हवा की मीठी चपत लगते ही उनसे जल की बूंदें गिर रही थीं। प्रायः देखा जाता है कि वर्षा के थम जाने के बाद पत्तों से रह-रह कर बूंदें टपका करती हैं। यहाँ कवि द्वारा स्वाभाविक वर्णन अत्यन्त ही सजीव हो उठा है।

[८] विपुल मोर लिए वहु ‥ ‥कर कानन कुंज को।

शब्दार्थ—विपुल = अधिक। विहरते = घूमते। मणिमयी = रत्न-जड़ित।

भावार्थ—हरिऔधजी कहते हैं कि पन्ने की तरह कान्तिपूर्ण अपने पंख से वन के निकुंज को रत्नजटित बनाते हुए अनेक मोरनियों को लेकर यूमरों का समूह घूम रहा था। अर्थात् मयूरों की क्रीड़ाओं से मालूम पड़ता था कि निकुंज में जवाहरात (पन्ना) जड़े हैं।

अलंकार—इसमें उपमा, रूपक और अनुप्रास अलंकार है।

[९] वन प्रमत्त समान पपीहरा ‥‥रहा पिक-कुंज था॥

शब्दार्थ—प्रमत्त-समान = पागल की तरह। पुलक से = पुलकित होकर। विमोहक = मोहित करनेवाला। मंजुता = सुन्दरता। पिक=कोयल।

भावार्थ—कवि कहता है कि बरसात में प्रमत्त पपीहा आनन्द से पुलकित होकर 'पी कहाँ' पुकार रहा था। वसंत को भी मोहित कर लेनेवाली सुन्दरता से प्रसन्न होकर कोयल भी कूक रही थी।

विशेष—वर्षा की सुन्दरता निहार कर पपीहा इतना पुलकित हो गया कि वह पागलों की तरह 'पी कहाँ' के सिवा अन्य बातों की सुधि ही भूल गया। और कोयल को वसंत से भी अधिक सुन्दरता मिली थी, अतएव वह भी कूक रही थी।

[१०] स-रव पावस भूप-प्रताप ‥‥नित करते गान थे॥

शब्दार्थ—स-रव = स-स्वर। पावस-भूप-प्रताप = पावस राजा के गुण। सलिल = सरोवर, जल। मेक = मेढ़क।

भावार्थ—कवि कहता है कि जल में मेंढ़कों का समूह अपने पास से-राजा के गुणों का जोर से पाठ कर रहा था और असंख्य झींगुर भी अपनी धुन में मस्त होकर प्रतिदिन मेंढ़कों की तरह राजा का गुणगान कर रहे थे क्योंकि पावस अपनी सारी सेना का संभार लेकर एक सम्राट के सामने पृथ्वी पर आ धमका।

अलंकार—इसमें रूपक अलंकार है।

[११] सुखद पावस के प्रति ......बहु-वीर-बहूटियाँ॥

शब्दार्थ—पावस=वर्षा। वसुमति=पृथ्वी। अनुराग=प्रेम। विलसित=क्रीड़ा करती। बहु=अनेक। वीर-वहूटियाँ=एक कीड़ा, जो वर्षा ऋतु की रात्रि में इधर-उधर घूमते हुए दीख पड़ते हैं और उनका रंग लाल होता है।

भावार्थ—कवि कहता है कि पृथ्वी के प्रेम-स्वरूप इन्द्रगोप कीड़े पृथ्वी पर इधर उधर रेंगते हुए सुखदायी बरसात के लिए सभी का प्रेम प्रकट कर रहे थे।

विशेष—पावस के प्रति सभी प्रेम निवेदन कर रहे थे, अतः पृथ्वी ने भी अपने प्रेम के रूप में इन्द्रगोप (वीर-बहूटी) कीड़े की उत्पत्ति कर अपना प्रेम दिखलाया था। आचार्यों ने प्रेम का रंग लाल कहा है, यही कारण है कि कवि ने पृथ्वी के प्रेम को वीर-बहूटी कीड़े के रूप में व्यक्त किया है।

अलंकार—इसमें रूपक एवं उत्प्रेक्षा अलंकार है।

[१२] परम म्लान हुई-बहु-वेलि ......शासन की उपकारिता॥

शब्दार्थ—परम=बहुत। बहु-वेलि=बहुत-सी लताओं को। निरख=देखना। सकल=सब। उर=हृदय। रम सी गई=समा गई।

भावार्थ—कवि कहता है कि बिलकुल सूखी हुई शाखाओं को फलफूलों से लदी देखकर सबके हृदय में सुखद शासन की उपयोगिता घर कर गई। अर्थात् हितकारी शासन से कितना सुन्दर उपकार होता है, यह बात सबों के हृदय में पैठ गई।

[१३] विविध आकृति औ, फल ....प्रतिपत्ति पयोद की॥

शब्दार्थ—विविध=अनेक। आकृति=रूपरंग। अवलोक=देख। सु-बूटियाँ=जड़ी-बूटी। प्रतिपत्ति=उपकार वृत्ति। पयोद=बादल।

भावार्थ—हरिऔध कहते हैं कि फल और फूलों की अनेक आकृतियों को देखकर सुन्दर-सुन्दर वनौषधियाँ भी उगी आ रही थीं जिससे पृथ्वी पर मेघ की परोपकार वृत्ति संसार में प्रकट हो रही थी।

अलंकार—इसमें भी रूपक अलंकार है।

[१४] रस-मयी भव-वस्तु विलोक··· ····रस नाम यथार्थ है॥

शब्दार्थ—रसमयी = रस से भरा हुआ। भव-वस्तु = सासारिक पदार्थ। लख = देखकर। भूतल = पृथ्वी। उदक = जल।

भावार्थ—कवि कहता है कि संसार की वस्तुओं को रसपूर्ण देखकर और पृथ्वी पर फैली हुई सरसता देखकर यह पूर्ण निश्चय हो जाता है कि उदक (जल) का रस (प्रेम) नाम क्यों पड़ा।

विशेष—उदक (जल) का कार्य है सराबोर बनाकर प्रसन्न कर देना और प्रेम भी अपने रस से मनुष्य को पूर्णरूप से भिगोकर, सराबोर कर उसे आनन्दित करता है। दोनों का एक ही धर्म है।

[१६] मृतकप्राय हुई तृणराजि·······जीवन क्यों उसको कहें॥

शब्दार्थ—मृतक = मरे हुए। तृणराजि = घासों की पंक्तियाँ। सलिल = जल। जीवित हो गई = लहलहा उठी।

भावार्थ—अंतिम काव्य-संदर्भ में कवि हरिऔध कहते हैं कि प्रायः मरी हुई घाँसों की पंक्तियाँ पानी पड़ते ही लहलहा उठीं। जिन्दगी को जीने का आधार (जीवन अर्थात् पानी) मिल गया तो बुद्धिमान लोग पानी को जीवन कहकर क्यों न पुकारें ?

विशेष—जीवन जीने के आधार का नाम है और जल का भी नाम जीवन है। पानी पड़ने से मरी जिन्दगी को जीवन मिल जाता है। अतः जीवन का पानी होना नितान्त अकाट्य है।

अलंकार—इसमें लाटानुप्रास एव यमक अलकार है।

आलोचनात्मक प्रश्नोत्तर

प्रश्न १—महाकवि हरिऔध की कविताओं के बारे में जो जानते हैं, उसे लिखें।

उत्तर—हरिऔध की काव्यसाधना पढ़ें।

प्रश्न २—हरिऔध जी के प्रकृति-वर्णन पर एक छोटा-सा निबंध लिखें।

उत्तर—हिन्दी कविता के रंगमंच पर हरिऔधजी के आगमन के पूर्व प्रकृति चित्रण की यही प्रवृत्ति मिलती है। प्रकृति-अंकन के क्षेत्र में क्रान्ति और परिवर्तन लानेवाले कवियों में हरिऔध का नाम आदरपूर्वक लिया जाता है। प्रकृति का जितना विशद वर्णन हरिऔध ने किया है उतना हिन्दी के इने-गिने कवियों ने ही किया है। प्राकृतिक दृश्यों के सजीव वर्णन में उस कवि को अधिक सफलता मिल सकती है जिसने प्रकृति की आत्मा को पहचाना है। इस दृष्टि से हरिऔध पूर्णतया सफल कवि हैं। 'प्रियप्रवास' में प्राकृतिक दृश्यों की भरमार है। इस महाकाव्य के अधिकाश सर्गों में प्रकृति के विभिन्न रूपों का अकन हुआ है क्योंकि इसका नायक श्रीकृष्ण प्रकृति के दामन में जन्म ग्रहण कर खेलता है, वहीं बडा होता है। इस हेतु भगवान श्रीकृष्ण का प्रकृति के प्रति अनुराग होना आवश्यक है। इस अनुराग का उल्लेख निम्नाकित पंक्तियों में किया गया है—

मुकुन्द आते जब थे अरण्य में।
प्रफुल्ल हो तो करते विहार थे॥
विलोकते थे सु-विलास वारि का।
कलिन्दजा के कल कूल पै खड़े॥

यह तो पुस्तक संबंधी बात हुई। प्रियप्रवासकार स्वयं प्रकृति से अधिक प्रभावित है इसीलिए उसके द्वारा प्राकृतिक सुषमा का वास्तविक वर्णन होना बिल्कुल स्वाभाविक है। इसकी पुष्टि 'हरिऔधजी' की लिखी 'आत्म-जीवनी' की पंक्तियों से हो जाती है। उन्होंने लिखा है कि 'घनपटल का वर्ण-वैचित्र्य, शस्य श्यामला धरित्री, पावस की प्रमोदमयी सुषमा, विविध विहगावली, कोकिला का कलरव, पक्षिकुल का कल-निनाद, शरद् ऋतु की शोभा, दिशाओं की समुज्ज्वलता, ऋतु-परिवर्तन जनित प्रवाह, पूर्णिमा का अखिल कलापूर्ण कलाधर, मनोमुग्धकर दृश्यावली, सुसज्जित रम्य उद्यान, ललित लतिका, मनोरम

पुष्पचय मेरे आनन्द की अत्यन्त प्रिय सामग्री हैं। किन्तु पावस की सरस छवि, वसंत की विचित्र शोभा, कोकिल का कुहूक और कलकंठ का मधुर गान, वह भी भावमयी कविता-वलित, मुझको उन्मत्त प्राय: कर देते हैं।' हरिऔधजी के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके हृदय में नैसर्गिक प्रकृति के प्रति एक अविचल अनुराग था, वे वाह्य जगत् के कृत्रिम सौन्दर्य के प्रति उदासीन थे। 'हिन्दी भाषा और उनके साहित्य के विकास' नामक पुस्तक में हरिऔध ने केशवदास की आलोचना करते हुए लिखा है कि हिन्दी कवियों में एक वहुत वड़ा दोष यह है कि 'सौन्दर्य के लिए उन्होंने प्रकृति का निरीक्षण नहीं किया। इस लाछन को उन्होंने स्वयं 'प्रियप्रवास' लिखकर हमेशा के लिए दूर कर डाला। इस पुस्तक में प्रकृति का चित्रण इतना अधिक हुआ है कि इसे काव्य से अलग कर दिया तो हम प्रियप्रवास का आकार-प्रकार लघु रूप में देखेंगे। इस संक्षिप्तिकरण से इसकी काया की लघुता के साथ-साथ इसकी आधी कथा भी खतम हो जायगी और मनोहारिता भी चुपके पांव भाग खड़ी होगी। अतः हम डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री के शब्दों में कह सकते हैं कि 'नवयुग खड़ी हिन्दी काव्य के क्षेत्र में मानवेतर प्रकृति के चित्रण और निरूपण की दृष्टि से हरिऔध अग्रदूत (Pioneer) समझे जाएंगे, और प्रिय-प्रवास की गणना नगयुवक हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण मील-स्तंभ (Mile-post) के रूप में होगी।'

मैथिलीशरण गुप्त

श्री मथिलीशरण गुप्त वर्त्तमान युग के प्रतिनिधि कवि हैं। इनका जन्म श्रावण-शुक्ल द्वितीया चन्द्रवार, सं० १९४३ को चिरगाँव (झाँसी) के एक प्रसिद्ध परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम सेठ रामचरण था, जो स्वयं कवि थे और भगवद्-विषयों पर ही कविता लिखा करते थे। उनका उपनाम 'कनकलता' था। वे राम के

जीवन-वृत्त

विष्णुत्व के उपासक थे, इसीलिए वे प्राय: उन्हीं के गीत गाया करते थे। गुप्तजी पर उनके पिता का अधिक स्नेह था, इसीलिए उनकी 'काव्य-प्रतिभा' और 'रामभक्ति' दोनों का पूरा-पूरा प्रभाव इन पर पड़ा। गुप्तजी का विवाह तीन बार हुआ। इनका पहला विवाह नौ वर्ष की अवस्था में हुआ था। उनकी प्रथम पत्नी का देहावसान सं० १९६० में हो गया। इसके पश्चात् इनका दूसरा विवाह सं० १९६१ में हुआ, परन्तु सात-आठ वर्षों के अनन्तर इस पत्नी का भी देहान्त हो गया। अन्त में इन्होंने घरवालों के दबाव से सं० १९७१ में तीसरा विवाह किया। इस पत्नी से उन्हे कई बच्चे हुए, परन्तु कोई बच्चा उनकी गोद की शोभा नहीं बढ़ा सका। इस प्रकार उनका जीवन इस दृष्टि से दुःखमय रहा।

गुप्तजी की प्रारंभिक शिक्षा चिरगाँव में ही हुई, पर वहाँ इनका मन नहीं लगा। अत: इनकी शिक्षा का प्रबंध घर पर हुआ। ये पढ़ने-लिखने में बड़े तेज थे और पाठ को शीघ्र ही स्मरण कर लेते थे। घर पर रहने से इनकी प्रवृत्ति काव्य-रचना की ओर मुड़ गई। हाँ, हमने उपर बतला दिया है कि इनके पिता भी कविता करते थे। उनकी कवित्त लिखने की एक कापी थी। एक बार गुप्तजी ने अपना एक छप्पय उनकी कापी में लिख डाला। जब उनके पिता ने कविता लिखने के लिए अपनी कापी खोली जब उसमें गुप्तजी का लिखा हुआ छप्पय पढ़ा। पढ़कर प्रसन्न हुए और सफल कवि होने का आशीर्वाद दिया—'तू आगे चलकर हमसे हजार गुनी अच्छी कविता करेगा।' वस्तुतः वह आशीर्वाद अक्षरशः सत्य हुआ। गुप्तजी ने पद्य-रचना का आरम्भ पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवस्था में किया था और उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ कलकत्ता से निकलनेवाले जातीय पत्र 'वैश्योपकारक' में छपती थीं। कुछ समय के बाद इनका परिचय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से हुआ। 'सरस्वती' का सम्पादन द्विवेदीजी के हाथ में जिस समय आया, ठीक उसके तीन वर्ष बाद, गुप्तजी ने एक 'हेमन्त' शीर्षक कविता प्रकाशनार्थ भेजी। उनकी कविता उस महीने के अंक में नहीं प्रकाशित हुई। अन्त में निराश होकर उन्होंने उस कविता को कन्नौज की 'मोहिनी' नामक पत्रिका में भेजकर

प्रकाशित करा दिया। इधर कुछ महीनों के बाद वही कविता संशोधित होकर 'सरस्वती' के पृष्ठ पर उतर पड़ी। उसे इस रूप में देखकर गुप्तजी आश्चर्यचकित हो गए। ठीक इसी समय एक पत्र द्विवेदीजी के यहाँ से आया जिसमें लिखा था कि—'हमने जो संशोधन किये हैं, उनपर विचार करो। आगे से जिस कविता को हम न छापें, उसे किसी दूसरे पत्र में न छपाओ।' अस्तु, द्विवेदीजी का यह सन्देश काम कर गया। यही कारण है कि पं० नन्ददुलारे वायपेयी उन्हें आधुनिक हिन्दी का प्रथम कृती कवि कहते हैं। इसके अनन्तर उनकी सभी रचनाएँ 'सरस्वती' के पृष्ठों पर दमकती रहीं। इस प्रकार द्विवेदीजी को गुप्तजी अपना साहित्यिक गुरु मानते हैं, क्योंकि उन्हीं के आचार्यत्व में उन्होंने कविता करना सीखा। उन्हीं से इन्हे साहित्य-सेवा का प्रोत्साहन मिला।

हिन्दी-साहित्य में गुप्तजी का पदार्पण 'रंग में भग' से हुआ। इसकी रचना सं० १९६६ में हुई। ठीक इसके वाद सं० १९६७ में 'जयद्रथ-वध' की रचना हुई। गुप्तजी की ओर पहले-पहल हिन्दी प्रेमियों का ध्यान खींचनेवाली उनकी 'भारत-भारती' है। स्वदेश की ममता से पूर्ण यह पुस्तक नवयुवकों को बहुत प्रिय हुई। इसी के ढंग पर बहुत दिनों पीछे उन्होंने 'हिन्दू' लिखा। इस प्रकार उनकी लेखनी अबाध रूप से चलती रही। उनकी कुछ पुस्तकों के नाम ये हैं—

रचनाएँ

रंग में भग; जयद्रथ बध; पद्य-प्रबन्ध (अप्राप्य); भारत-भारती; विरहिणी-ब्रजांगना; तिलोत्तमा; चन्द्रहास; किसान; पत्रावली; वैतालिक; शकुन्तला; पलासी का युद्ध; पञ्चवटी; मेघानाद-वध; शक्ति; वन-वैभव; बक-संहार; सैरंध्री; हिन्दू; विकट भट; गुरुकुल; झंकार; स्वप्नवासवदत्ता; रुबाइयात उमर खैयाम; साकेत; यशोधरा; द्वापर; सिद्धराज और नहुष। इनके अतिरिक्त और भी अनेक पुस्तकें हैं जिनकी सूची हमें विदित नहीं है। इन काव्यों में दो पुस्तकों का बहुत बड़ा महत्त्व है—एक है साकेत और दूसरी है यशोधरा। साकेत पर तो उन्हें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से 'मंगलाप्रसाद-पारितोपिक' भी मिल चुका है। यह तो है उनकी पुस्तकों की सूची। जब हम उनकी समस्त

रचनाओं को देखते हैं तो हमें दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं—(१) मौलिक और (२) अनूदित। उनकी मौलिक रचनाओं में—रंग में भंग; जयद्रथ-वध; पद्य-प्रवन्ध; भारत-भारती; शकुन्तला; पत्रावली; वैतालिक; किसान; अनघ; पंचवटी; स्वदेश-संगीत; गुरु तेग बहादुर; हिन्दू, शक्ति; सैरंध्री; विकट-भट; मौर्य-विजय; मंगलघट; विपथगा; गुरुकुल; अजित; वन-वैभव; बक-संहार; झंकार; साकेत, यशोधरा; द्वापर; सिद्धराज; नहुष; जयिनी; अर्जन और विसर्जन; दिवोदास; कुणालगीत; काबा औ कर्बला आदि हैं। अब रहीं अनूदित रचनाएँ। वे रचनाएँ भी दो प्रकार की हैं—एक है उनका काव्य और दूसरा नाटक। नाटक में उन्होंने सिर्फ संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार भास-कृत 'स्वप्नासवदत्ता' का अनुवाद प्रस्तुत किया है। काव्य-रचना के अनुवाद में उन्होंने सर्वप्रथम माइकेल मधुसूदन की 'विरहिणी व्रजागना' का हिन्दी-अनुवाद 'वीरागना' के नाम से किया। अनुवाद में उन्होंने अपना उपनाम 'मधुप' रक्खा। इसके बाद उन्होंने मेघनाद-बध और पलासी-युद्ध का बगला से अनुवाद किया है। इसके अतिरिक्त उमर खैयाम की रुबाइयों का अनुवाद भी उन्होंने किया; जिसमें कुछ हद तक सफलता हाथ लगी। अतः, इस प्रकार उन्होंने हिन्दी-साहित्य के भण्डार को पूर्ण करने का स्तुत्य प्रयास किया और अबतक वे करते जा रहे हैं।

काव्य-साधना

गुप्तजी ने अपने काव्य की कथावस्तु भारतीय इतिहास के ऐसे अंशों से ली है जो भारत के अतीत का स्वर्णचित्र उपस्थित करता है। प्रो० सत्येन्द्र ने कवि की कृतियों के विषय की ओर संकेत करते हुए उनकी छः मुख्य दिशाओं की ओर संकेत किया है, वे हैं—(i) राष्ट्रीय (भारत-भारती, स्वदेश-संगीत और फुटकर कविताएँ), (ii) महाभारत-सबधी (जयद्रथ-बध, बक-सहार, सैरन्ध्री आदि), (iii) रामकाव्य-सम्बन्धी (पंचवटी और साकेत), (iv) बौद्धकालीन (अनघ और यशोधरा), (v) सिक्ख तथा अन्य ऐतिहासिक-घटना-सम्बन्धी (गुरुकुल, तेगबहादुर आदि) और (vi) पौराणिक (शकुन्तला, चन्द्रहास, तिलोत्तमा)। इससे निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

(१) गुप्तजी के काव्यों का प्रतिपाद्य विषय बहुत अधिक व्यापक है।

(२) उन्हे अपने अतीत गौरव की उद्भावना की जितनी लालसा है उतनी वर्तमान राष्ट्र या समाज के जीवित चित्र अंकित करने की नहीं।

(३) संस्कृति की विस्तृत परिधि में उन्होंने बौद्ध, हिन्दू और सिक्ख—तीनों को सम्मिलित किया है। वे सकुचित सम्प्रदायवादिता से ऊपर उठे हुए हैं।

सुतरा, प्रो० सत्येन्द्र द्वारा इंगित दिशाओं का विश्लेषण हम इस प्रकार कर सकते हैं—

(i) **राष्ट्रीय विचारधारा** :—गुप्तजी की राष्ट्रीय भावनाएँ उनकी सभी रचनाओं में मुखरित हैं। उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ पूर्णतया राष्ट्रीय हैं, परन्तु उनमें प्राचीनता के प्रति श्रद्धा है, विश्वास एवं तन्मयता है। अतः गुप्तजी राष्ट्रीय भावनाओं के होते हुए भी प्राचीनता के मोह को नहीं छोड़ सके हैं। जहाँ-कहीं भी उनकी राष्ट्रीय भावनाएँ मुखरित हुई हैं, वहाँ उनकी प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति अनुराग की भावना भी दब न सकी। राष्ट्रीयता कवि का विशेष उद्देश्य रहा है, किन्तु कवि संस्कृति शून्य राष्ट्रीयता का पोषक नहीं है।

कवि की राष्ट्रीय रचनाओं में भारत-भारती, किसान आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'भारत-भारती' उनकी राष्ट्रीय रचनाओं में अपना अभूतपूर्व स्थान रखती है। इसी के द्वारा कवि ने क्रान्ति की चिनगारियाँ भारत के कोने-कोने में पहुँचायीं और राष्ट्रीयता की गूँज सम्पूर्ण भारत में व्याप्त हो गई। इस रचना ने भारतीयों के लिए संजीवनी बूटी का काम किया। इस पुस्तक में उनका कवित्व नहीं बोलता है, बल्कि इसमें एक राष्ट्रप्रेमी के क्रांतिकारी हृदय से निकला हुआ उद्गार है, जिसकी अभिव्यंजना इतिहास की पृष्ठभूमि पर हुई है। कवि ने भारत की विपन्नावस्था को देखकर कहा है—

हम कौन थे, क्या हो गये और क्या होंगे अभी।

इसलिए लोगों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। 'भारत-भारती' का ही राष्ट्रीय भाव 'जयद्रथ-बध' में कुछ विकसित एवं परिष्कृत रूप में अभिव्यक्त हुआ है। गुप्तजी द्वारा रचित 'किसान' इसी कोटि की रचना है। हाँ,

यह संकेत कर देना अनिवार्य है कि राष्ट्रीयता के दो पक्ष हैं—(क) सामाजिक और (ख) राजनीतिक। सामाजिक पक्ष की दृष्टि से उनकी विचारधारा एक कट्टर हिन्दू के सदृश्य है, परन्तु राजनीतिक दृष्टि से गुप्तजी हिन्दू और मुसलमान, दोनों को एक समझते हैं। इस से स्पष्ट है कि उनपर गाँधीजी का भी प्रभाव है। यह ठीक है कि उन्होंने हिन्दू-भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए 'हिन्दू' काव्य-ग्रंथ की रचना की, जिसमें हिन्दू-धर्म का एक चित्र उपस्थित किया गया है; परन्तु मुसलमानों के प्रति भी उनकी भावना उदार है, जिसकी पुष्टि के लिए कुछ दृष्टांत ध्यातव्य हैं—

कोई काफिर कोई म्लेच्छ, हो तो होता रहे यथेच्छ,
हिन्दू-मुसलमान की प्रीति मेटे मातृभूमि की भीति।

अथवा

हिन्दू हो या मुसलमान हो नीच रहेगा फिर भी नीच,
मनुष्यत्व सबसे ऊपर है मान्य मही-मण्डल के बीच।

+ + +

मातृभूमि का नाता मान, हैं दोनों के स्वार्थ समान।

+ + +

हिन्दू-मुसलमान दोनों अब छोड़ें वह विग्रह की नीति,
प्रकट की गई है यह केवल अपने वीरों के प्रति प्रीति।

अतएव यह स्पष्ट है कि उनकी राष्ट्रीय भावना उदात्त है।

(ii) महाभारत-सम्बन्धी—इस कोटि की रचनाओं में जयद्रथ-बध, बक-संहार, वन-वैभव, द्वापर और सैरंध्री हैं। जयद्रथ-बध में अभिमन्यु की वीरगति, उत्तरा का विलाप और जयद्रथ का बध है। इसमें करुण रस की निष्पत्ति हुई है। 'वन-वैभव' में पाण्डवों की कथा है। इसका पूर्व अंश करुण है और अंतिम वीर। सैरंध्री और त्रिपथगा की कथा-वस्तु महाभारत से ही ली गई है। द्वापर की कथावस्तु का आधार श्रीमद्भागवत है और इसकी शैली 'यशोधरा' की शैली से साम्य रखती है।

(iii) रामकथा सम्बन्धी—इस कोटि की रचनाओं में पंचवटी और साकेत हैं। पंचवटी एक खण्ड-काव्य है। 'पंचवटी' में ही हमें गुप्तजी के प्रौढ़ व्यक्तित्व का दर्शन होता है। इसमें राम के आदर्श कुटुम्ब का जो चित्र अंकित है, वह बड़ा ही चित्ताकर्षक है। हमारे यहाँ जो प्रचलित कथा है उसमें कुछ इस प्रकार के परिवर्तन किए गये हैं जो चरित्र को विकसित एवं कथा को नवीन दृष्टि से प्रस्तुत करने में सहायक हैं। इसमें प्रकृति का सुन्दर, आह्लादक एवं प्रसादपूर्ण चित्र खींचा गया है। पंचवटी की कथा का आरंभ इन्हीं पंक्तियों से होता है—

चारु चन्द्र की चंचल किरणें खेल रही हैं जल-थल में।
स्वेत वसन-सा बिछा हुआ है अवनि और अंबरतल में।
पुलक प्रकट करती है धरती हरित तृणों की नोकों से।
मानों झूम रहे हैं तरु भी मन्द पवन के झोंकों से।

इसके साथ-साथ इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि गुप्तजी ने कारुणिक परिस्थितियों के बीच हास-परिहास का भी संतुलन किया है। 'साकेत' भी एक राम-काव्य है। इसी पुस्तक में गुप्तजी की प्रतिभा का पूर्ण विकास हुआ है। इसमें लक्ष्मण और उर्मिला को प्रधानता दी गई है, परन्तु उनका जीवन राम पर ही अवलम्बित है। इन दोनों पुस्तकों का हिन्दी-साहित्य में बहुत मान है। वास्तव में गुप्तजी का यश इन्हीं पुस्तकों पर निर्भर है।

(iv) बौद्धकालीन—इस कोटि की रचनाओं में यशोधरा और अनघ का स्थान है। यशोधरा मिश्रित शैली में रचित और अनघ पद्यबद्ध रूपक है। यशोधरा में एक विरह-विधुरा की कथा है। इसमें नारी-जीवन की चिर-युगीन कथा अंकित है। यथा—

अबला जीवन, हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

'अनघ' बौद्धकालीन जातक-कथा का रूपान्तर मात्र है। इसमें भगवान बुद्ध के पूर्व-अवतारों में से एक महान चरित्र अंकित है।

(v) सिक्ख और अन्य ऐतिहासिक घटना-सम्बन्धी—इस कोटि की रचनाओं में गुरुकुल, तेगबहादुर, पत्रावली, पलासी का युद्ध आदि हैं।

(vi) पौराणिक रचनाएँ—चन्द्रहास, तिलोत्तमा, शकुन्तला, और नहुप आदि पौराणिक कथाओं से सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकें हैं। इनमें से प्रथम दो रूपक हैं, शेष खण्डकाव्य।

इनके अतिरिक्त, गुप्तजी ने कुछ फुटकर रचनाओं का भी सृजन किया है, जिनमें झंकार प्रमुख हैं। इसकी कुछ कविताओं पर 'नीरव क्रान्ति' (छायावाद) का प्रभाव पड़ा है।

काल-क्रमानुसार गुप्तजी की काव्य-धारा का जैसे-जैसे विकास हुआ है, उसे हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—(क) सन् १६०६ से लेकर १६२५ तक और (ख) सन् १६२५ से लेकर अबतक। १६०६ से १६२५ तक की रचनाओं में 'रंग में भग' से लेकर 'अनघ' तक है। इस कोटि की रचनाओं में वर्णनात्मकता अधिक है। यही कारण है कि इस अवधि की रचनाओं का शिलान्यास ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर हुआ है। इस काल की रचनाओं में अनुभूति का अभाव है। ठीक इसके दूसरे काल में अनुभूति की प्रधानता है। इस काल का प्रारम्भ 'पंचवटी' से होता है। अस्तु, दूसरे काल की रचनाओं में 'हृदय का वेग' अधिक है। 'पूर्वार्द्ध' में उनके भाव बौद्धिक स्तर पर नहीं पहुँचे हैं, इसलिए उनमें हृदय को छूने की शक्ति तो है, हृदय को मथने और उसे स्थायी रूप देने की शक्ति नहीं है। उत्तरार्द्ध में इस अभाव की पूर्त्ति हो जाती है और कवि केवल कवि ही नहीं, महाकवि के रूप में हमारे सामने आता है। राष्ट्रीय विचारों की दृष्टि से 'अनघ' की रचना का विशेष महत्त्व है। इस गीति नाट्य की रचना उस समय हुई थी जब महात्मा गाधी के सत्याग्रह-सम्बन्धी विचारों की पहली विजय हुई थी। इसकी गहरी छाप गुप्तजी पर पड़ी और उन्होंने अनघ के रूप में महात्मा जी का चित्र उपस्थित किया। 'अनघ' के पूर्व उनका राष्ट्रीय दृष्टिकोण कुछ संकुचित था, पर अनघ में उसका विकास हो गया और वह कहने लगे—

न तन-सेवा, न मन-सेवा, न जीवन और धन-सेवा।
मुझे है इष्ट जन-सेवा, सदा सच्ची भुवन-सेवा॥

अनघ के बाद हम गुप्तजी का यही स्वर उनकी अन्य रचनाओं में भी पाते हैं। वह एकदेशीय नहीं, सर्वदेशीय हैं। अनघ और पंचवटी के बाद उन्होंने अपने कथानकों के बौद्धिक तत्त्व पर युगवाणी का नहीं, युग-युग की वाणी का चित्र उपस्थित किया है। वह एक युग के नहीं, कई युग के—भूत, वर्तमान और भविष्य के—महाकवि हो गये हैं।'

गुप्तजी खड़ी बोली के कवि हैं। उनके काव्य में तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। कहीं-कहीं तद्भव शब्द भी आए हैं। भाषा की दृष्टि से गुप्तजी विशुद्धतावादी हैं, अतः उर्दू-फारसी का प्रयोग ये कतई नहीं करते हैं। इनकी भाषा संस्कृत के भण्डार से ही शब्द चुनती है। तत्सम शब्दों का कुछ प्रयोग देखिये—

भाषा-शैली

(१)—री लेखनी ? हृत्पत्र पर लिखना तुझे है यह कथा।
हक्कालिमा में डूबकर तैयार होकर सर्वथा॥
(२)—दुस्तर क्या है उसे विश्व में प्राप्त जिसे प्रभु का प्रणिधान।
पार किया मकरालय मैंने उसे एक लघु गोष्पद मान॥

कहीं-कहीं संस्कृत-गर्भित भाषा भी दृष्टिगोचर होती है, देखिये—

काले और विशाल बाल बिखरे कल्लोल के कारण।
फूलों के सम फेन-जाल जिसमें शोभा किये धारण।
माला और दुकूल भी ललित हैं होके जलांदोलित।
आपद्ग्रस्त तथापि मंजुल-मुखी, रत्नावली शोभित।

इनकी भाषा व्याकरण के बंधनों में निबद्ध है और उनमें सामासिक पदावली का नितान्त अभाव है। कहीं-कहीं इनकी भाषा में शब्दों के लचर प्रयोग भी मिलते हैं। भरके, झींमना, छाँटना, अफर, धड़ाम आदि प्रान्तीय शब्द भी हैं। वास्तव में ऐसे शब्दों के प्रयोग से इनकी भाषा में एक बल आ गया है, लेकिन इनका यह मतलब नहीं है कि सभी स्थलों पर प्रान्तीय शब्दों के प्रयोग से भाषा में शक्ति आ गई है। इनकी काव्य-भाषा में कुछेक स्थलों

पर हम प्रान्तीय क्रिया-रूप भी पाते हैं। कीजो, दीजो, लीजो आदि में साहित्यिक सौन्दर्य नहीं है, वरन् इनमें पडिताऊपन है। इनके काव्य सुलझे हुए हैं जिनके अन्वय में कोई कठिनाई नहीं। गुप्तजी ने मुहावरों और लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है। जहाँ-कहीं भी उन्होंने इनका रूप बदल दिया है वहाँ भाषा का सौन्दर्य बिगड़ गया है। गुप्तजी की भाषा में पालिश (Polish) नहीं है और तुक की अधिकता है जिसके कारण खड़खड़ाहट बहुत है। उनकी भाषा में माधुर्य गुण भी है, यथा—

चकाचौध-सी लगी देखकर प्रखर ज्योति की वह ज्वाला।
निस्संकोच खड़ी थी सम्मुख एक हास्यवदनी बाला॥
थी अत्यन्त अतृप्त वासना दीर्घ दृगों से छलक रही।
कमलों की मकरन्द मधुरिमा मानों छवि से छलक रही॥ (पंचवटी)

गुप्तजी ने अपने हृदय के भावों की अभिव्यक्ति के लिए अनेक शैलियों का आश्रय लिया है। वे अपने काव्य-क्षेत्र में प्रबन्धकार हैं, गीतिकार हैं और नाटककार भी हैं। अतएव हम उनकी शैली भी विभिन्न रूपों में देखते हैं—

(क) प्रबन्धात्मक इतिवृत्तिमय शैली :—गुप्तजी ने विशेषतया इसी शैली को अपनाया है। साकेत, जयद्रथ-वध, रंग में भंग, नहुष, सिद्धराज, विपथगा आदि में यही शैली है। यह शैली दो तरह की है—खण्ड-प्रबन्ध और महाप्रबन्ध। महाप्रबन्ध के रूप में सिर्फ साकेत है और शेष खण्ड-प्रबन्ध के रूप में। इसकी सफलता के लिए मार्मिक स्थलों की पहचान कलाकार में होना आवश्यक है और गुप्तजी में यह गुण है। इसीलिए उन्हे इस शैली मे अधिक सफलता मिली है।

(ख) विवरण शैली :—भारत-भारती, हिन्दू आदि।

(ग) आत्मोद्गार-शैली :—द्वापर।

(घ) गीतिनाट्य-शैली :—अनघ।

(ङ) गीति-शैली :—झंकार।

(च) मिश्र शैली :—इसमें नाटक, गीत, प्रबन्ध, पद्य और गद्य—सभी का मिश्रण रहता है और इस प्रकार की कृतियों में यशोधरा है।

इस संबंध में डा० सत्येन्द्र ने लिखा है कि 'इन सभी शैलियों में कवि को समान रूप से सफलता नहीं मिली। गीति और गीतिनाट्य शैली में उसे निश्चय ही अबतक सबसे कम सफलता मिली है।' खैर, जो भी हो, इस प्रकार उनका शैलीगत दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक रहा है।

सुतरां, इतना कह लेने के बाद हम यह कह सकते हैं कि गुप्तजी सिर्फ द्विवेदी-युग के ही कवि नहीं, वरन् युग-युग के कवि हैं। भविष्य में उनसे और भी आशाएं हैं।

गीत २—अब जो प्रियतम को पाऊँ।

शब्दार्थ और व्याख्या

अब जो प्रियतम को ''' '''कह तो हा हा खाऊँ ? (पृ० २३७)

शब्दार्थ—चरणों की रज = पाँवों की धूलि। रमाऊँ = लगाऊँ। अवधि = समय। अपने को आप मिटाकर = अपना अस्तित्व खोकर। उषा-सी = प्रातःकाल सी। श्रान्त = शान्त, थके। सुरभि-समान = सुगन्धि की तरह। अनल = आग। प्रबल = बहुत। घट = घड़ा।

प्रसंग—प्रस्तुत गीत श्री मैथिली शरण गुप्त रचित 'साकेत' नामक महाकाव्य से लिया गया है। यह गीत उर्मिला ने गाया है। उर्मिला के पति लक्ष्मण चले गए हैं, अब वापस आयेंगे, यह उसे मालूम नहीं है। वह अपने पति के वियोग में रो रही है। इसमें उर्मिला के प्रिय दर्शन का औत्सुक्य व्यंजित हुआ है।

व्याख्या—विरहिणी उर्मिला प्रियदर्शन की इच्छा प्रकट करती हुई कहती है कि अब यदि वह अपने प्रियतम को प्राप्त कर ले तो उसकी एकमात्र कामना यह है कि वह उनकी चरण धूलि को अपने आप में लगा ले। यदि यह संभव हो कि वह स्वयं समय बन सके तो उर्मिला स्वयं अवधि बनकर अपने आपको मिटाने के लिए तैयार है और इस प्रकार वह उन्हें वापस ले आयेगी। आगे फिर वह कहती है कि उसने उषा के समान कान्ति, प्रफुल्लता और जागृति लेकर संसार में प्रवेश किया था, तो क्या सन्ध्या की-सी उदासी लेकर वह

यहाँ से चली जाय ? वह तो चाहती है कि उसके प्रियतम मन्द पवन की तरह आयें और वह (उर्मिला) पवन में सुगन्ध के समान धीरे से प्रिय में लीन हो जाय।

उर्मिला विरह-विदग्ध नायिका है और वह प्रियदर्शन को उत्सुक है। एक ओर उसमें मिलने की आकाक्षा है तो दूसरी वियोग की जलन, जिसके फलस्वरूप वह रुदन और गान की सीमान्त रेखा पर खड़ी हो गई है। वह पति के वियोग में रोना चाहती है और प्रियमिलन की आशा मे गाना भी चाहती है परन्तु वियोग की तीव्रता इतनी प्रवल है कि रोए विना गीत-स्वर निकलना ही नहीं चाहता है।

पुनः उर्मिला कहती है कि उसका हृदय तो वियोग की अग्नि का आश्रय-स्थल है और इधर आँखों में पानी भरा है! वाष्प के लिए आग और पानी दोनों उपकरण मौजूद हैं लेकिन उस भाफ के जोर से उसका शरीर रूपी वर्तन कहीं फूट न जाय! अधिक वाष्प के बन्द रहने से वर्तन फूट ही जाता है।

आलोचना—इस गीत के संबंध में डा० कन्हैयालाल सहल ने लिखा है कि विरहिणी किस प्रकार प्रिय-दर्शन की इच्छा प्रकट करती है, वह नीचे के गीत में पढ़िये—

अब जो प्रियतम को पाऊँ ···· ·· जाकर उनको लाऊँ।

—काव्य में सर्वत्र तार्किक बुद्धि का आश्रय लेने से सम्यक् रसास्वादन नहीं हो सकता। उर्मिला स्वयं अवधि बन कर अपने आपको मिटाने के लिए तैयार है। यदि कोई तर्क का सहारा लेकर यह कहने लगे कि जब उर्मिला अवधि बनकर अपने आपको मिटा देगी तब फिर प्रिय से मिलेगी क्या खाक! तो उस तार्किक की तर्क-बुद्धि पर कोई आक्षेप नहीं करेगा, किन्तु तर्क और काव्य का अनुशीलन दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। हेत्वाभास के कारण किसी शुष्क तार्किक को चाहे इन पंक्तियों में आनन्द न मिले, इनको असत्य कहकर चाहे वह खिल्ली उड़ावे, किन्तु कोई भी सहृदय पाठक इस रसात्मक उक्ति से आनन्द उठाये विना नहीं रह सकता। काव्य में हेत्वाभास भी आनन्द का कारण हो जाता है। ऊपर की पंक्तियों (प्रथम चार पंक्तियो) में प्रियदर्शन का

औत्सुक्य व्यंजित हुआ है। उर्मिला कहती है—उषा के समान कांति, प्रफुल्लता और जागृति लेकर मैंने संसार में प्रवेश किया था, क्या संध्या की-सी उदासी लेकर मैं यहाँ से जाऊँ ? मैं तो चाहती हूँ कि मेरे प्रियतम मन्द पवन की तरह आवें और मैं पवन में सुगन्ध के समान धीरे से प्रिय में लीन हो जाऊँ।

निम्नलिखित पंक्तियों में अभिव्यंजना का वैचित्र्य स्पष्ट देखा जा सकता है—

मेरा रोदन मचल रहा है, कहता है कुछ गाऊँ।
उधर गान कहता है, रोना आवे तो मैं आऊँ॥

हार्दिक दुःख शब्दों द्वारा व्यक्त होना चाहता है, किन्तु उधर शब्द कहते हैं कि जब तक दुःख पूर्णतः प्रकट नहीं होगा, हम नहीं निकलेंगे। कहने का तात्पर्य्य यह है कि हृदय के द्रवीभूत होने पर ही सच्ची कविता फूटती है।

'मचल रहा है' लाक्षणिक प्रयोग है। बच्चा जैसे किसी चीज के लिए मचल उठता है, उसी तरह यहाँ भी दुःख का आवेग अभिव्यक्ति के लिए तड़प रहा है। 'रोदन' का यहाँ पर मानवीकरण हुआ है; ऐसा लगता है जैसे रोदन उर्मिला का कोई हठी शिशु हो जो किसी वस्तु के लिए मचल उठा है। रोदन हठ करता है कि मुझे गान चाहिए; उधर गान भी कितना सहेतुक उत्तर देता है—'रोदन आवे तो मैं आऊँ' (नहीं तो आये मेरी बला)। यहाँ पर गान का भी मानवीकरण ही समझिए। उक्त पंक्तियों में दो बच्चों के शिशु-सुलभ व्यवहार की प्रतीति-सी भी हो रही है। बच्चे भी तो इसी प्रकार हठ किया करते हैं; 'वह जब नहीं आता तो मैं ही क्यों आऊँ ? मुझे ही क्या पड़ी है ?' शिशुओं की इस सामान्य तर्क पद्धति से कौन ऐसा विज्ञ पाठक है जो अपरिचित है ? तो फिर 'रोदन' और 'गान' क्या उर्मिला के दो सफल हठी शिशु हैं ?

पुराकाल में आदि कवि का रोदन जब मचल उठा था, तब अनायास ही उनका संगीत निम्नलिखित छन्द के रूप में मुखरित हो उठा था—

मां निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काम मोहितम्॥

महाकवि कालिदास के शब्दों में कवि का शोक ही श्लोक वन गया था 'श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः'। इसी तथ्य को हिन्दी के स्वनामधन्य कवि श्री सुमित्रानन्दन पंत ने निम्नलिखित पंक्तियों में जड़ दिया है—

वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान॥

करुण-रस को ही एकमात्र रस माननेवाले भवभूति तथा अत्यन्त विषाद-पूर्ण भावों में ही मधुरतम संगीत की सत्ता स्वीकार करनेवाले अंग्रेजी के महाकवि शेली * ने भी प्रकारान्तर से वही बात कही थी जो ऊपर की पंक्तियों में गुप्तजी द्वारा कही गई है। इसी तरह का एक सुंदर गीत 'यशोधरा' में भी है जिसकी कुछ पक्तियाँ यहाँ दी जाती है—

रुदन का हँसना ही तो गान।
गा गाकर रोती है मेरी हृत्तन्त्री की तान॥
मीड़ मसक है कसक तुम्हारी है और गमक है हूक।
चातक की हुत-हृदय-हूति जो सो कोइल की फूक॥
राग है सब मूर्च्छित आह्वान।
रुदन का हँसना ही तो गान॥

उर्मिला कहती है कि मेरा हृदय तो वियोगाग्नि का आश्रय-स्थल है और इधर आँखों में पानी भरा है। वाष्प के लिए आग और पानी दोनों उपकरण मौजूद हैं, किन्तु उस भाफ के जोर से मेरा शरीर रूपी बर्तन कहीं फूट न जाय! अधिक वाष्प के बन्द रहने से बर्तन फूट ही जाता है। (साकेत के नवम् सर्ग का काव्यवैभव)

कुणाल-गीत

तत्व-तल से निकलता ……देखलो यह रहट चलता।

शब्दार्थ—तत्व = मुख्य पदार्थ यथा जल। तल = गहराई। वृषभ-वाहन = बैल जिसकी सवारी है, शंकर। मुण्डमाली = मुण्डों की माला

* They learn in suffering what they teach us in song.—
Shelly.

धारण करनेवाले शंकर। प्रकट-प्रलयंकर=प्रत्यक्ष रूप से प्रलय करनेवाला। हर=शिवजी। शष्प=वाष्प, भाप। तल=जमीन के अन्दर से।

प्रसंग—प्रस्तुत कविता डा० मैथिलीशरण गुप्त की काव्य पुस्तक 'कुणालगीत' से ली गई है। अशोक-पुत्र कुणाल अंधा हो गया है। वह अपनी पत्नी के साथ गाँव की ओर जाता है। मार्ग में रहट को शिव समझकर कंचनमाला भयभीत हो उठती है, पर कुणाल उसे रहट का स्वरूप बतला कर संतोष प्रदान करता है।

भावार्थ—कुएँ से पानी खींचनेवाले रहट को देखकर परम मंगलकारी भगवान शिव के रूप और गुण आभास का उसपर आरोप करते हुए कवि उसकी प्रशंसा करता है—देख लो यह रहट चल रहा है, और जमीन के अन्दर से जल (तत्व) निकल रहा है। किसी को सम्बोधित करते हुए कवि कहता है, इसे देखकर चकराई हुई हिरनी की भाँति आश्चर्य में मत पड़ो; इसे देखने के लिए इसके पास जाओ; इससे डरने की कोई बात नहीं है। रहट बैलों पर रखा है और उसमें बाल्टियों की माला लटकी हुई है, अतएव उसे देखकर शंकर के रूप का तुम्हें भ्रम न होना चाहिए कि कहीं बैल की सवारीवाला तथा मुण्डों की माला धारण करनेवाला यह हर रूप तो नहीं है। वह तो भगवान (विश्वमङ्गलकारी) शंकर का शुद्ध मंगलमय रूप है, यह शंकर का प्रलय करनेवाला रूप नहीं है। उसके रहने की जगह जल है, वह श्मशान में हर (शंकर) की तरह नहीं रहता है। संसार को इससे लाभ होता है और वह इससे सुखी होता है। अतः इस चलते हुए रहट को देखो।

हर जटा की घन घटा ··· ··वह रहट चलता।

शब्दार्थ—हर जटा=शिवजी की जटा। घन-घटा=घने समूह। मर्मर=पत्तों के हिलने की आवाज। विधि=ब्रह्मा। सुर-सरित=आकाश में बहनेवाली गंगा। धन्वन्तरि=देवताओं के वैद्य।

भावार्थ—रहट के चलने से घर्र-घर्र की आवाज होती है तथा उनके द्वारा जो जल निकलता है, उसे लक्षित करके कवि कहता है—इस रहट की घर्र-घर्र की आवाज शिव के घने जटा-समूह की घरघराहट नहीं है। इस रहट की

चर्र-चर्र भरी आवाज को मीठी-मीठी मर-मर ध्वनि से अधिक क्या कहूँ। यह रहट तो मानों विष्णु या ब्रह्मा का रूप है क्योंकि जिस प्रकार विष्णु के चरणों से या ब्रह्माजी के कमंडल से गंगाजी निकलती हैं उसी प्रकार रहट से निरन्तर झरनेवाला पानी गंगाजल के ही समान निर्मल, स्वच्छ और गुणकारी है। रहट की घरियों (बाल्टियों) में पानी भरकर नीचे से ऊपर आता है इसे देखकर ऐसा मालूम पड़ता है मानों साक्षात् धन्वन्तरि अमृत के घड़े भर कर लगातार ला रहे हैं, जिससे मानव समाज की कठिनाइयाँ और व्याकुलता दूर हो। देखो! रहट इसी रूप में ही मानों चल रहा है।

यंत्र है यह, पर नहीं ··· यह रहट चलता।

शब्दार्थ—उपपाप = बुराई। सहज = स्वाभाविक। काल = अकाल। अभिशाप = श्राप। पालक = सबका पालन करनेवाला।

भावार्थ—यह रहट भी एक प्रकार का यंत्र है, मशीन है, परन्तु इसमें मशीन युग के कोई पाप या बुराइयाँ नहीं हैं। इस रहट में नैसर्गिक (प्राकृतिक) शीतलता (ठंढक) भरी हुई है अतएव इसमें किसी प्रकार की गर्मी या जलाने की शक्ति कैसे रह सकती है। इस रहट के पानी के बहाव में मानों अकाल का श्राप डूब कर बह जाता है अर्थात् रहट के जल से सिंचाई होने पर अकाल पड़ ही नहीं सकता। रहट की प्रखर जलधारा में अकाल मानों स्वयं ही अपने को खोजता हुआ सा दिखाई पड़ता है। अकाल से सर्वथा अभाव में मानव जीव का पोषण करनेवाला अन्न पालित और पोषित हो क्रमशः बढ़ता है। इससे देखो, यह रहट चल रहा है।

धन्य है तू अयि यंत्र-घटिके ·····यह रहट चलता।

शब्दार्थ—यंत्र-घटिके = रहट। रीती गई = खाली हो गई। आवागमन = आने और जाने की। नियत = निश्चित, भाग्य। कुशलता = कारीगरी।

भावार्थ—हे रहट! तू धन्य है। तेरी अधिक प्रशंसा क्या करूँ। तू एक साथ ही सब बाल्टियों का जल उड़ेल कर खाली होकर नीचे कुएँ में जाता है; परन्तु तू नीचे से पानी भर कर ही लौटता है। अरे! यह तो बता कि तू ने जीव के आवागमन अर्थात् जीवन-मृत्यु तथा पुनर्जन्म की तरकीब कहाँ

पाई। (जिस प्रकार जीव अपने जीवनकाल में सारा जीवन-रस ससार में उड़ेल कर मृत्यु के अंधकूप में जाता है तथा वहाँ से मानों दूसरे जन्म के लिए जीवन-रस फिर लेकर नया जन्म लेता है उसी प्रकार रहट भी पानी उड़ेल कर फिर कुएँ से पानी भरता है।) यद्यपि तू निश्चित रूप से एक सिलसिले से बंधा हुआ है फिर भी तू मानव के लिए मुक्ति (जल के रूप में कष्ट और अभावों से छुटकारा) खरीद कर ले आता है। अतएव तेरी कारीगरी को धन्य है। देखो रहट चल रहा है।

आलोचनात्मक प्रश्नोत्तर

प्रश्न १—पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय और श्री मैथिली शरण गुप्त की कविताओं की तुलना कीजिए।

उत्तर—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और श्री मैथिली शरण गुप्त दोनों हिन्दी के महान कवि हैं। दोनों द्विवेदी-युग के कवि हैं, लेकिन हरिऔधजी आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के खेमे के बाहर खड़े रहे हैं। हरिऔधजी ने अपनी आँखों से तीन युग देखे हैं, वे हैं—भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग और वर्तमान युग। भारतेन्दु-युग में बाबा सुमेरु सिंह से प्रभावित होकर उन्होंने ब्रजभाषा को अपनाया, द्विवेदी-युग में खड़ी बोली में अपना काव्य-चमत्कार प्रदर्शित किया, लेकिन ब्रजभाषा के लिए जो ममत्व था, उसका परित्याग नहीं किया। वर्त्तमान युग में यों तो उनकी काव्य-प्रतिभा अधिकांश द्विवेदीकालीन रही, लेकिन हिन्दी को उन्होंने अपनी फुटकर रचनाओं के रूप में योग दान दिया और इस प्रकार वे अपने तीन-युगों में समान रूप से हिन्दी कविता की अभिवृद्धि करते रहे।

मैथिलीशरण गुप्त आधुनिक युग के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं और उन्हें काव्य प्रेरणा अपने पिता जी से मिली। उनके पिता ब्रजभाषा में काव्य-रचना करते थे परन्तु गुप्तजी ने ब्रजभाषा को काव्य-भाषा के रूप में नहीं अपनाया। उनके काव्य-जीवन का प्रभात-काल द्विवेदी-युग का प्रभात काल था। इसीलिए द्विवेदी-युग के प्रभाव से उन्होंने खड़ी बोली में काव्य-रचना

आरंभ की। अतएव उन्होंने अपनी आखों के सामने दो युगों को देखा, वे हैं—द्विवेदी-युग और वर्त्तमान-युग। गुप्तजी द्विवेदी युग से विशेषतया प्रभावित रहे, क्योंकि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ही उन्हें प्रकाश में लाने-वाले थे। गुप्तजी द्विवेदी जी को अपना काव्य-गुरु मानते थे और उनसे बराबर शिक्षा लिया करते थे। इसी युग में गुप्तजी को विशेष प्रसिद्धि मिली। हरिऔधजी भी द्विवेदी-युग से उतने ही प्रभावित हैं जितने गुप्तजी; लेकिन हरिऔधजी पर रीतिकालीन परम्पराओं का विशेष प्रभाव है। गुप्तजी रीतिकालीन परम्पराओं के प्रभाव से बिल्कुल मुक्त और विशुद्ध रूप से द्विवेदीकालीन कवि हैं।

धार्मिक क्षेत्र में दोनों के सिद्धान्त भिन्न हैं। हरिऔध का सिद्धान्त विशेष रूप से व्यापक है, वे मानवता के रूप में अवतारवाद को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार मानवता का चरम-विकास ही ईश्वरत्व की प्राप्ति है। यही उनका अवतारवाद है। वे ईश्वर को साकार नहीं मानते, इसीलिए 'प्रियप्रवास' महाकाव्य में श्रीकृष्ण को महापुरुष के रूप में अंकित किया है। इसी धारणा के कारण उनमें सामाजिक चेतना का विकास हुआ है और विश्व-प्रेम की उद्भावना हुई है। उनकी इसी भावना के प्रतिनिधि बनकर आए हैं—राधा और कृष्ण। मैथिलीशरण गुप्त रामोपासक वैष्णव हैं। यही कारण है कि उन्हें पौराणिक अवतारवाद में पूर्ण विश्वास है। वे साकार राम के अनन्य भक्त हैं। जो 'रमा है सब में राम' वही निर्गुण से सगुण-साकार बनकर अपनी भक्त-वत्सलता का परिचय देता है। उसका उद्देश्य है—

पथ दिखाने के लिए संसार को,
दूर करने के लिए भू-भार को।

—उनकी यह भक्ति भावना उन्हें भक्तिकालीन कवियों के बीच लाकर बैठा देती है, लेकिन हरिऔध की विचारधारा पर संतों की वाणी का प्रभाव है। मैथिलीशरणजी की रचनाएँ राम के जीवनादर्शों से ओत-प्रोत हैं। गुप्तजी ने जातीय एवं धार्मिक भावनाओं के साथ-साथ राष्ट्रीय भावनाओं का भी सम्मिश्रण किया है। लेकिन वे भक्त कवि नहीं, वरन् मुख्यतया राष्ट्रकवि

है। हरिऔध समाजिक प्रवृत्तियों के कवि हैं। इसीलिए हरिऔध का रूप एक सुधारक एव उपदेशक का रूप है। दोनों महाकवि हिन्दू होने के नाते अपनी जातीय समस्याओं से पूर्णतया परिचित हैं और उनके प्रति उदार हैं। उनका उद्देश्य ही उनके काव्यकर्म की मुख्य प्रेरणा है।

हरिऔध की प्रतिभा का विकास गद्य और पद्य, दोनों में हुआ है; परन्तु गुप्तजी की प्रतिभा गद्य की ओर उन्मुख नहीं हुई है। आलोचना भी गुप्तजी का विषय नहीं, वे केवल कविमात्र हैं। हरिऔधजी अपनी कृतियों में विशेषतया सामाजिक हैं, लेकिन गुप्तजी राष्ट्रीय कवि हैं। नवीन धारा से, काव्य के नवीन वादों से गुप्तजी हरिऔध की अपेक्षा अधिक प्रभावित हैं। इन दिनों मैथिलीशरण गुप्त छायावादी कवितायें भी लिखने लगे हैं, पर हरिऔध के साथ ऐसी बात लागू नहीं होती है। हरिऔध ने सबसे पहले-पहले प्रकृति को विस्तार से स्थान दिया, परन्तु इनका प्रकृति-वर्णन प्राचीनता को लिए हुए है। लेकिन गुप्तजी प्रकृति के गायक नहीं हैं, उन्होंने नवीन शैली में प्रकृति को अपनाया है।

कला के क्षेत्र में भी दोनों में अन्तर है। हरिऔधजी आचार्य हैं, परन्तु गुप्तजी के साथ यह बात नहीं। हरिऔधजी रस, अलकार, छंद आदि शास्त्रों के गहन अध्येता थे और उन्होंने कला-पक्ष पर भी विशेष ध्यान दिया। हरिऔधजी मुहावरों के प्रयोग में उस्ताद थे, परन्तु गुप्तजी को मुहावरों पर अधिकार नहीं है। हरिऔधजी ने संस्कृत के छंदों को बहुत अपनाया, परन्तु गुप्तजी ने हिन्दी के छंदों को। गुप्तजी गीत लिखने में भी प्रवीण हैं, परन्तु हरिऔध कभी गीतकार नहीं रहे। अतएव इन सब दृष्टियों से हम देखते हैं कि गुप्तजी, हरिऔधजी से एक कदम आगे हैं।

रामनरेश त्रिपाठी

हिन्दी साहित्य-मंदिर के वयोवृद्ध पुजारी श्री रामनरेश त्रिपाठी सुप्रसिद्ध कवि, सफल संपादक, कुशल नाटककार और सिद्धहस्त कहानी-लेखक हैं।

उनका जन्म सन् १८८९ में जिला जौनपुर के अन्तर्गत कोइरीपुर नामक ग्राम के एक ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। इनके पिता का नाम प० रामदत्त त्रिपाठी था, वे बड़े भगवद्भक्त और रामायण-प्रेमी थे। अपने पिता से ही त्रिपाठीजी को रामायण पढ़ने का शौक हुआ था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा स्थानीय पाठशाला में शुरू हुई और वहीं से अपर प्राइमरी पास करने के बाद वे जौनपुर अंग्रेजी पढ़ने गए। आर्थिक सकट के कारण ही उन्होंने नवीं कक्षा से पढना छोड़ दिया और घरवालों को सूचना दिए विना ही वे कलकत्ते भाग गए। वहाँ जाकर उन्होंने बंगला और अंग्रेजी का ज्ञान प्राप्त कर लिया। वहाँ की जलवायु त्रिपाठीजी के स्वास्थ्य के अनुकूल न थी जिसके कारण वे हमेशा बीमार रहने लगे। कुछ ही दिनों में उन्हे सग्रहणी रोग का शिकार वनना पड़ा। इससे उनका स्वास्थ्य दिन-ब-दिन गिरने लगा। अतएव एक मित्र की सलाह से वे कलकत्ता छोड़कर मारवाड़ चले आए और वहाँ जाकर वे शेखावटी के फतहपुर नामक गाँव में ठहरे। वहाँ की जलवायु से उनका स्वास्थ्य ठीक हो गया। इसके उपरान्त वे घर वापस चले आए, परन्तु यहाँ उस रोग ने फिर उन्हें अपना शिकार बनाया। फलतः वे फिर मारवाड़ चले आये जहाँ मित्रों की सहायता से उन्होंने एक पुस्तकालय खोल लिया जिसमें संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी की पुस्तकों का अच्छा संग्रह था। इससे उन्हें अध्ययन करने की सुविधा मिली और उसका उन्होंने पूरा-पूरा लाभ उठाया। कुछ ही समय में उन्होंने गुजराती का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। सन् १९१५ ई० में उनके पिता की मृत्यु हो गई और वे घर लौट आए। दो वर्षों तक गाव में रहकर वे प्रयाग आ गए। यहाँ आकर वे राष्ट्रीय एव साहित्यिक कार्यों में लग गए। उस समय देश में राष्ट्रीय आन्दोलन छिड़ा हुआ था और त्रिपाठीजी भी इसमें कूद पड़े, जिसके फलस्वरूप उन्हें डेढ़ वर्षों के लिए जेल की हवा खानी पड़ी। इसके बाद उन्होंने सन् १९२४ में 'हिन्दी मंदिर' की स्थापना की और सन् १९३२ में एक प्रेस भी खोला। इसके अतिरिक्त वे बहुत दिनों तक साहित्य-सम्मेलन के प्रचार मत्री भी रहे एव इस पद का पूरा उत्तरदायित्व भी उन्होंने निभाया और हिन्दी

जीवन-परिचय

के प्रचारार्थ सराहनीय कार्य किया। उन्होंने कई पत्रों का सम्पादन भी किया है जिनमें मुख्य हैं—कवि कौमुदी, उद्योग, बानर आदि। इन दिनों वे घर पर ही रह रहे हैं।

श्री रामनरेश त्रिपाठीजी विशेषतया एक कवि हैं, परन्तु उन्होंने साहित्य के अनेक क्षेत्रों में अपनी लेखनी की प्रतिभा के प्रकाश को विकीर्ण किया है। उन्होंने कविता के अतिरिक्त, गद्य और समालोचनाएँ काफी लिखी हैं।

रचनाएँ

तुलसीदास और उनकी समालोचना सम्बन्धी उनका आलोचनात्मक ग्रन्थ सम्मान की दृष्टि से देखा जा सकता है। उन्होने 'ग्राम गीत' का संकलन और सम्पादन भी किया है जिससे उनकी अथक परिश्रमशीलता का परिचय मिलता है। ग्राम गीतों के संकलन में उन्होंने भारत के सभी प्रान्तों का भ्रमण किया है। उनकी 'कविता कौमुदी' में हिन्दी, संस्कृत, उर्दू और बंगला के कवियों की कविताओं का सुन्दर संग्रह है। उनकी स्फुट रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में भी निकलती रही हैं। निम्नलिखित रचनाएँ उनकी बहुमुखी प्रतिभा के द्योतक हैं—

काव्य—मिलन, पथिक, स्वप्न (खण्ड काव्य) और मानसी।

नाटक—अजनबी, जयन्त, पेखन, प्रेमलोक आदि।

जीवनी—अशोक, चन्द्रगुप्त, महात्मा बुद्ध, आल्हा आदि।

आलोचना और टीका—तुलसीदास और उनकी कविता, हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, ग्राम-साहित्य, कविता कौमुदी; रामचरितमानस की टीका, सुकवि कौमुदी, घाघ और भाण्डारी।

बालसाहित्य और अन्य—स्वप्न, तरकस, चिन्तामणि, कौन जानता है, शिवाबावनी, सोहर, बाल-कथा कहानी, गुपचुप कहानी, मोहनमाला, बताओ तो जाने, बानर-संगीत, हसू की हिम्मत, नेता बुझौवल, बुद्धि-विनोद, पेखन, मोतीचूर के लड्डू, हिन्दी पत्रशिक्षक, हिन्दी प्राइमर, हिन्दी ज्ञानोदय, कन्या शिक्षावली आदि। इसके अतिरिक्त उन्होंने कई छोटी-छोटी पुस्तकें और समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में लेख और कहानियाँ लिखी हैं।

त्रिपाठीजी की रचनाओं की तालिका देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे एक बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार हैं जिसके कारण लोग उन्हे श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं।

हिन्दी के वयोवृद्ध कवियों में श्री रामनरेश त्रिपाठी का महत्वपूर्ण स्थान है। उनकी गणना द्विवेदो युग के कवियो में की जाती है और इसीलिए उनका बहुत मान है। त्रिपाठीजी एक स्वदेश भक्त कवि हैं और स्वदेश भक्ति और देश प्रेम को ही उन्होंने काव्य का विषय बनाया है। इसी विशिष्टता के कारण उनका अत्यधिक महत्व है। वे राष्ट्र के समक्ष संसार की सभी वस्तुओं को तुच्छ समझते हैं और यही कारण है कि उनका कविता का मूल स्वर है राष्ट्रीयता। इस भावना को अभिव्यक्त करने के लिए वे एक कथा का आश्रय ग्रहण करते हैं। उनके काव्य की कथा न तो पौराणिक ही होती है और न ऐतिहासिक ही, प्रत्युत् वह स्वच्छन्द काल्पनिक कथा रहती है। इस कोटि के काव्य लिखने में उन्हें अत्यधिक सफलता मिली है। देश भक्ति और राष्ट्रीयता ही उनकी कविता की मूल वाणी है। उनकी काव्य-रचना के पीछे एकमात्र उद्देश्य छिपा है, राष्ट्र के नवयुवयों को प्रेरणा देना। यही कारण है कि उनकी कविता में सामयिक भावनाओं का विशेष रूप से अंकन हो पाया है और उनकी कविता में जीवन की विविधता के दर्शन नहीं होते हैं। देश भक्ति में प्रेमतत्व का मिश्रण कर त्रिपाठीजी ने अपने काव्य में माधुर्य ला दिया है। उनके किसी भी काव्य को लें, उसमें एक अलौकिक माधुर्य मिलता है। इतना होने के बावजूद भी उनके काव्य में लोक-कल्याण की भावना समन्वित है। उन्होंने अपने खण्ड-काव्यों में स्वच्छन्तावाद का अनुकरण किया है और मानव-सेवा एवं देश-सेवा को ही सबसे बड़ा कर्त्तव्य बतलाया है। 'पथिक' शीर्षक खण्ड काव्य में साधु द्वारा व्यक्त उपदेश कर्मठता का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है—

त्रिपाठीजी की काव्य-साधना

वह सनेह की मूर्ति दयामयि माता-तुल्य मही है।
उसके प्रति कर्त्तव्य तुम्हारा क्या कुछ शेष नहीं है?

मार्ग पतित असहाय किसी मानव का भार उठाके
पीठ पवित्र हुई क्या सुख से, उसे सदन पहुँचा के ॥

तीनों खण्ड काव्यों में त्रिपाठीजी ने एक ही आदर्श का अंकन किया है। देशप्रेम और मानवता के प्रति कर्त्तव्य पालन के उपदेश का एक उदाहरण और लीजिए—

जिसपर गिर कर उदर दरी से तुमने जन्म लिया है।
जिसका खाकर अन्न सुवासन-नीर समीर पिया है ॥
वह स्नेह की मूर्ति दयामयि माता तुल्य मही है।
उसके प्रति कर्त्तव्य तुम्हारा क्या कुछ शेष नहीं है ॥

कवि ने स्वय देशप्रेम में हाथ बँटाया है जिसके लिए उन्हें जेल-यात्रा भी करनी पड़ी है। उन्होंने राष्ट्र-प्रेम को मानवता की चरम कसौटी माना है—

देशप्रेम वह पुण्य क्षेत्र है, अमल असीम त्याग से विलसित।
आत्मा के विकास से जिसमें, मनुष्यता होती है विकसित ॥

कवि ने यह बतलाया है कि संसार एक परीक्षा-स्थल है जहां मनुष्य जीवन-संघर्षों से ऊबकर अपने कर्त्तव्यमार्ग से हट जाता है, लेकिन जो बुद्धिमान् होते हैं वे साहस के साथ अपने उद्देश्य में लगे रहते हैं—

यह संसार मनुष्य के लिए एक परीक्षा-स्थल है।
दुःख है प्रश्न कठोर, देखकर होती बुद्धि विकल है ॥
किन्तु स्वात्म बल-विज्ञ सत्पुरुष ठीक पहुँच अटकल से।
हल करते हैं प्रश्न सहज में अविरल मेधाबल से ॥

त्रिपाठीजी ने लोक-कल्याण-भावना की योजना अपनी विविध रचनाओं के आधार पर की है। देशप्रेम के साथ-साथ सच्चे मित्र का सहयोग जीवन का सौभाग्य है जिससे कितने ही कठिन कर्त्तव्य सरल हो उठते हैं। कवि ने मित्र की ओर संकेत करते हुए लिखा है—

विषम संकट के दिन देख के, सुहृद जो करता न सहायता।
अधम सो करता अपवित्र है, सुभग मित्र सदाशय नाम को ॥

त्रिपाठीजी गाँधीवादी सिद्धांतों से भी पूर्णतया प्रभावित हैं। सत्य और अहिंसा को उन्होंने अमोघ अस्त्र माना है जिसके आगे सबल अत्याचारी भी घुटने टेक देता है। उनके सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति सभी काव्यों में हो पायी है। इसके अतिरिक्त त्रिपाठीजी प्रकृति के भी कवि हैं। देश के विभिन्न प्रदेशों की यात्रा की स्पष्ट छाप उनकी कविता में मिलती है। प्रभात वर्णन देखिए—

राग-रथी, रवि-राग-पथी, अविराग-विनोद बसेरा,
प्रकृति भवन के सब विभवों से सुन्दर, सरस सवेरा।
एक दिवस अति मुदित उदधि के बीचि-निचुम्बित तीरे
सुख की भाँति मिला प्राची से आकर धीरे-धीरे।

प्रातः का पूर्व दिशा से मिलन पथिक और उसकी पत्नी के मिलन की ओर संकेत करता है। यहाँ पर मूर्त्त के साथ अमूर्त्त की तुलना अत्यन्त सुन्दर ढंग से की गई है। पुन. रात्रि का वर्णन देखिए, जो अत्यन्त ही आकर्षक हुआ है—

मध्यनिशा निर्मल, निरभ्र दिशा विराम-विहीना।
विलसित था अम्बर के उर पर अद्भुत एक नगीना॥

चमकते नगीने के सदृश चन्द्रमा की कल्पना वस्तुतः कल्पना की चरम पराकाष्ठा है। कवि ने यत्रतत्र विशुद्ध प्रकृति का भी सुन्दर वर्णन किया है, कुछ उदाहरण लीजिए—

कहीं श्याम चट्टान कहीं दर्पण सा उज्ज्वल सर है।
कहीं हरे तृण खेत, कहीं गिरि-स्रोत प्रखर है॥ ...
गेहूँ, चने, मटर जौ के हैं खेत खडे लहराते।

कहीं 'कोकिल का आलाप पपीहे की विरहाकुल वाणी' है तो कहीं 'फूल की सेज से' पथिक का मन प्रसन्न होता है।

जगह-जगह कवि ने प्रकृति पर मानव-भावनाओं का आरोप किया है, क्योंकि सुन्दरता में लिपटी प्रकृति भी 'मन के दुःख को दूर करने में असमर्थ है। ऐसा जान पड़ता है कि कवि ने परम्परा से आती हुई प्रकृति-वर्णन की रीति का आश्रय लिया है फिर भी यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि कवि ने जगह-

जगह प्रकृति-वर्णन में कल्पना और अनुभूति का मिश्रण किया है। सूक्ष्म से सूक्ष्म दृश्यों पर कवि की दृष्टि पड़ी है और यत्रतत्र विस्तृत रूप में उनका वर्णन भी हुआ है। कवि ने प्रकृति को चेतन-सत्ता के रूप में भी चित्रित किया है—

जब गम्भीरतम अर्द्ध निशा में जग को ढँक लेता है,
अन्तरिक्ष की छत पर तारों को छिटका देता है।
सस्मित वदन जगत का स्वामी मृदुगति से आता है,
तट पर खड़ा गगन-गंगा के मधुर गीत गाता है।

अप्रस्तुत विधान के लिए प्रकृति का प्रयोग करना पुराने एवं आधुनिक कवियों का प्रिय विषय रहा है। त्रिपाठीजी भी इस पथ के पथिक हैं। पथिक-पत्नी के सौंदर्य का वर्णन इस बात की पुष्टि करता है।

उसी समय कमनीय एक स्वर्गीय किरण-सी वामा।
कवि के स्वप्न-समान, विश्व के विस्मय सी अभिरामा।
सिंधु गोद में लय से पहले तरंगिता सरिता सी।
आकर चकित हुई तट पर प्रियतम दर्शन की प्यासी।

यहाँ पथिक स्त्री के सुन्दर शरीर की उपमा स्वप्न, स्वर्गीय किरण एवं नदी से की गई है। इस तरह हम देखते हैं कि प्रकृति के स्वरूपों पर त्रिपाठीजी का अटल अनुराग है एव प्रकृति-अंकन में उन्हे पर्याप्त सफलता मिली है। सच तो यह है कि 'इनका दृष्टिकोण अन्य कवियों से अधिक व्यापक है। इनकी कविता देशप्रेम की भावनाओं से ओतप्रोत तथा मानव-हृदय को जाग्रत करनेवाली है।' इसकी रचनाओं में हमें स्वदेश-प्रेम, राष्ट्रीयता, प्रकृति-वर्णन, भ्रातृत्व एवं अन्य उदात्त तथा उपदेशात्मक बातें अत्यन्त परिष्कृत एवं सरल रूप में मिलती हैं।

श्रीरामनरेश त्रिपाठीजी की काव्य-भाषा शुद्ध खड़ी बोली है। यों तो उनका आविर्भाव आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के युग में हुआ था, पर वे उनके खेमे के बाहर के कवियों में हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि उन पर तत्कालीन युग का प्रभाव पड़ा ही नहीं।

भाषा-शैली

उस युग की कविता की सबसे बड़ी विशेषता है सादगी जो त्रिपाठीजी में विद्यमान

है। उनकी भाषा परिमार्जित एवं सुव्यवस्थित है। संस्कृतगर्भित होते हुए भी उनकी कविता में ओज, माधुर्य एवं प्रसाद गुण का आधिक्य है।

ओज गुण—

हे जन्म भूमि ! हे देश ! प्रेमधन मेरे।
मैं यह जीवन-पुष्प चढ़ाता हूँ, चरणों पर तेरे।

माधुर्य गुण -

चारो ओर तुषार धवल पर्वत चुपचाप खड़ा है।
प्रकृति मुकुट-सा एक सरोवर उसके मध्य जड़ा है॥

प्रसाद गुण—

कल्याणमय कर कृपा खोल दो, मेरे विमल विवेक विलोचन।
मेरे जीवन में ऋषियों का तप भर दो भव भीति विमोचन॥
आर्यों के आदर्श मार्ग पर हो मेरा प्रयत्न अवलम्बित।
मेरे वहिर्जगत में मेरा अन्तर्जीवन हो प्रतिबिम्बित॥

उनकी कविता में दुरुहता नहीं है प्रत्युत् स्पष्टता एव् प्रवाह है, एक उदाहरण लीजिए—

मिलन अंत है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है।
विरह प्रेम की जाग्रत गति है और सुषुप्ति मिलन है।

लेकिन काव्य में उपदेशात्मक प्रवृत्ति का माधुर्य है। शब्दों के सुन्दर प्रयोग और व्याकरण के औचित्य ने उनकी भाषा को सरस एव सुवोध वना दिया है। वे किसी भी मूल्य पर व्याकरण की छोटी-सी भूल भी पसन्द नहीं करते हैं। यहाँ तक कि वे भाषा में कारकों की विभक्तियों को भी छोड़ने के पक्षपाती नहीं हैं। उनकी काव्य-शैली में प्रवाह एवं गतिशीलता है। उनकी उपदेशात्मक एव वर्णनात्मक शैली के लिए संस्कृतगर्भित भाषा उपयुक्त है। उनका वर्णन-शैली अत्यन्त प्रशस्त है। उनकी गंभीर एव भाव-प्रवण उक्तियाँ रचना की प्रेषणीयता तथा उसके सौन्दर्य को अनिवार्य रूप से बढ़ा देती है। मानव के कर्त्तव्य पर विचार करते हुए जहाँ वे भावुक हो उठे हैं, वहाँ उनकी भाषा में पर्याप्त ओज आ गया है और वह अत्यन्त वलवती हो

गई है। साथ ही ऐसे स्थलों पर उनकी रचना अत्यन्त प्रौढ़ और सुन्दर है। इनकी कविता में अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग विशेष रूप से हुआ है। अपनी भाषा तथा नवीन शैली के कारण उनका स्थान हिन्दी-साहित्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

देश-सुषमा

प्रसंग—प्रस्तुत कविता पं० रामनरेश त्रिपाठी कृत 'पथिक' शीर्षक खण्ड-काव्य के तृतीय सर्ग से उद्धृत की गई है। एक पथिक है जिसका विवाह हो चुका है। वह संसार को स्वार्थ, कपट, अनाचार, अत्याचार, मद, मात्सर्य आदि से पूर्ण पाता है और अपनी पत्नी को छोड़कर चला जाता है। उसकी पत्नी किंकर्त्तव्य-विमूढ, व्याकुल और चेष्टारहित उसे देखती रह जाती है। पथिक को एक साधु से भेंट हुई। साधु ने उसे कर्ममय संसार का गूढ़ रहस्य बतलाया। साधु के उपदेशों का उस पर काफी प्रभाव पड़ा। साधु के उपदेश पथिक के मन में तुरन्त अंकुरित पल्लवित एवं पुष्पित हुए। उसने अपना शेष जीवन देश सेवा में अर्पण करने का दृढ़ निश्चय किया। सेवा कार्य करने के पूर्व देश के लोगों के कष्टों का मूल कारण जानने और अनुभव प्राप्त करने के लिए देश का भ्रमण किया। उसने भ्रमण करते हुए देखा कि देश में सर्वत्र प्रकृति का अनन्त सौन्दर्य भरा हुआ है, फिर भी यहाँ के निवासी किसी निगूढ़ चिन्ता में निमग्न दिखाई देते हैं।

इस काव्यखण्ड में कवि ने देश के प्राकृतिक सौन्दर्य का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है।

शब्दार्थ और व्याख्या

[१] छूता हुआ गाँव की सीमा ··· ···मे है आनन्द उजाला ॥

शब्दार्थ—अविराम = बिना ठहरे हुए। निरन्तर = हमेशा। कल-कल = मधुर। अनति दूर = थोड़े दूर। गिरिमाला = पर्वतों की श्रेणियाँ।

भावार्थ—कवि ने दक्षिण भारत की यात्रा की थी और उस यात्रा के सिलसिले में उन्होंने प्राकृतिक सौन्दर्य का दर्शन किया था, उसी को प्रस्तुत कविता में लिपिबद्ध किया है। दक्षिण भारत के गाँवों की

शोभा का वर्णन करते हुए त्रिपाठीजी कहते हैं कि ग्राम की सीमा का स्पर्श करता हुआ अत्यन्त स्वच्छ जल से पूर्ण नाला लगातार मधुर ध्वनि के साथ प्रवाहित होता है। उसके अत्यन्त निकट ही हरी-हरी घास और पौधों से भरी पर्वत-श्रेणी दिखाई देती है, लेकिन ऐसा मालूम होता है कि लोगों के मन में इन सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों से किसी प्रकार का आनन्द या उत्साह उत्पन्न नहीं होता।

[२] कहीं श्याम चट्टान, कहीं ·······खड़े ज्यों सुप्त नकार इशारे ॥

शब्दार्थ—दर्पण = आइना। सर = सरोवर। तृण = घास। गिरि-स्रोत = निर्झर। प्रखर = तेज। तार-भार = नक्षत्रों का भार। सुप्त = शान्त।

भावार्थ—ग्राम-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि कहीं काले-काले शिलाखण्ड और कहीं आईने के समान स्वच्छ और प्रकाशमान सरोवर हैं। किसी स्थान पर हरी घास से पूर्ण खेत हैं तो कहीं तेज धारवाले पहाड़ी झरने हैं। कहीं ऊँचे-ऊँचे नारियल और ताड़ के वृक्ष रसपूर्ण फलों का भार लेकर आकाश के स्तंभों के समान खड़े हैं। उनके हिलते पत्ते ऐसे दीखते हैं मानों वे वृक्ष अपने रस के लोभी रसिकों से कहते हैं कि तुम हमारा रस या फल नहीं पा सकोगे।

[३] घेर रही है जिसे पल्लवित लता······· ···लिए हुई सुखदाई ॥

शब्दार्थ—पल्लवित = पत्तों वाली। छाया-शयित = जिसमें छाया सो रही हो। कुंचित = टेढ़ा-मेढ़ा। पथ = रास्ता। अचल = पर्वत।

भावार्थ—कवि कहता है कि वह टेढ़ा-मेढ़ा पहाड़ी मार्ग जिस पर कोमल पत्तों वाली लताओं और सुगन्धित झाड़ियों की घनी छाया फैली हुई है और सर्वश्रेष्ठ मनुष्य के उच्च मन की तरह दिखाई देनेवाली पर्वत की ऊँचाई भी कुछ समय के लिए किसी को सुखी बनाती नहीं दीखती।

[४] ऊँचे से झरने झरते हैं··· ·· सकते हैं जी के ज्वर को ॥

शब्दार्थ—धार = धारा, प्रवाह। धवल = निर्मल, सफेद। परम = बहुत। समन्वित = भरा हुआ, युक्त। शिला = चट्टान। जी के ज्वर को = मन की अशान्ति को।

भावार्थ—कवि कहता है कि कहीं पर्वत के उपर सफेद और ठंढे पानी वाले प्रवाह प्रवाहित होते हैं। यहाँ अत्यन्त सुख और शान्ति से भरा आनन्द स्थिर होकर निवास करता है। यहाँ प्रवाह के पास किसी जगह पत्थर पर बैठकर लोग अपने हृदय के दुखदर्द को भूलकर शान्ति प्राप्त कर सकते हैं।

[५] वार-वार वक-पंक्ति, गमन ....सर की छटा निराली ॥

शब्दार्थ—वक-पंक्ति = बगुलों की कतार। क्षितिज = वह स्थान जहाँ आकाश और पृथ्वी मिले हुए से दीखते हैं। वारिज = कमल। छवि = सौन्दर्य। छटा = शोभा।

भावार्थ—कवि कहता है कि कहीं दूर क्षितिज पर धुँए के रंग के और काले मेघ फले हैं, उन मेघों के नीचे से सफेद रँगवाले बगुलों की कतारें बार-बार आती-जाती हैं तो ऐसा जान पड़ता है मानों मेघ सफेद फूलों की वर्षा करते हों। जहाँ तक नजर जाती है, धान के हरे खेत हवा से तरंगित दीखते हैं। उस सरोवर की शोभा भी अपूर्व है जो अपने कमल रूपी नेत्र खोलकर आकाश का सौन्दर्य देख रहा है।

अलंकार—इसमें उत्प्रेक्षा अलंकार है।

[६] कदली वन से हरी धरा को ....कुछ न विषाद मिटाते ॥

शब्दार्थ—कदली-वन = केले के बाग। धरा = पृथ्वी। अघाती = तृप्त होती। जलन = अशान्ति। विषाद = शोक।

भावार्थ—कवि कहता है कि केले के बागों से भरी हरी भूमि को देखकर आँखों को तृप्ति नहीं होती (आँखें उसे और भी देखना चाहती हैं)। आश्चर्य है कि ग्रामीणों के मन के दुःख ये सब क्यों दूर नहीं करती हैं? गेहूँ, मटर और जौ के खेत खड़े लहराते हैं। पर न मालूम इन्हे देखने पर भी ग्रामीणों के मन की पीड़ा क्यों नहीं मिटती।

[७] निम्व कदम्व अम्व इमली ...... श्रम का अनुभव मन में ॥

शब्दार्थ = निम्व = नीम। अंब = आम। निरातप = धूपरहित, ठंडा। लोक-शोक = सासारिक दुःख। विशद = विस्तृत, सुंदर। काया = शरीर। मेड़ = बाँध, आड़। अमल = स्वच्छ। श्रम = मिहनत।

भावार्थ—कवि कहता है कि नीम, कदम्ब, आम, इमली आदि के वृक्षों की घनी ठंडी छाया का आनन्द प्राप्तकर शरीर संसार के दुःखों को भूल जाता है। बाग की सुंदर मेड़ पर स्वच्छ और मृदु वायु में (सुखप्रद खुली हवा में) आँखें मूँदें बैठकर किसान मन में थकावट का ही अनुभव क्यों करता है ?

[८] कोकिल का आलाप, पपीहे ....मन का कष्ट भुलातीं ॥

शब्दार्थ—आलाप = तान। पपीहा = चातक। निरातीं=कमौनी।

भावार्थ—कहीं कोयल की मीठी कूक, कहीं चातक की वियोग दुःख भरी पुकार, कहीं सुग्गे-मैनों का झगड़ा और कहीं बुलबुल की प्रेम कहानियाँ सुनायी पड़ती हैं। खेतों में युवतियाँ प्रेम के मधुर गीत गाती हुई कमौनी का काम करती हैं। क्या ये सब थोड़ी देर के लिए भी किसी के मन से कष्टों को नहीं भुला सकती ? (इन्हे देखकर लोग अपने कष्ट भूलने की कोशिश क्यों नहीं करते ?)

[९] विमलोदक पुष्कर में विकसे ....को निज हर्ष जताते ॥

शब्दार्थ—विमलोदक = स्वच्छ जल। पुष्कर=सरोवर। सुमन=फूल। द्रुम = वृक्ष। सलिल-दर्पण=जल रूपी आईना। प्रसून = फूल।

भावार्थ—कवि कहता है कि स्वच्छ जल वाले सरोवर में रंग-बिरंगे फूल खिले हैं। सरोवर के चारों ओर बेलों से लिपटे हुए वृक्ष खड़े हैं। वे सरोवर के जल रूपी आईने में अपना सौन्दर्य देखकर आनन्द से भर जाते हैं और सरोवर को अपने खिले हुए पुष्पों को भेंट-स्वरूप देकर कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

[१०] सुंदर सर है, लहर मनोरथ- ... .. मकरन्द मोद में भूले ॥

शब्दार्थ—सर=सरोवर, तालाब। मनोरथ=मन की कामना। तट=किनारा। कंदुक = गेंद। अलि = भ्रमर। मकरन्द = फूलों का रस। मोद = आनन्द।

भावार्थ—सरोवर अत्यन्त मनोहर है। उसमें मन की इच्छाओं की तरह लहरें उत्पन्न होती और क्षण भर बाद फिर विलीन हो जाती है। उसके किनारे पर विशाल कदम्ब वृक्ष की ठंडी छाया फैली हुई है। खुशबूदार, सफेद और

गेंद के आकार के फल पेड़ से लटक रहे हैं। भ्रमर मकरन्द पान से आनन्दोन्मत्त होकर गूंज रहे हैं।

[११] वंजुल मंजुल सदा सुसज्जित ······वीणा है सुखकारी ॥

शब्दार्थ—वजुल=अशोक वृक्ष। मजुल=सुन्दर। सुसज्जित = अलंकृत। मज्जित = स्नान किया हुआ। छदन = पत्ता। बिसर = समूह। बकुल = मौलसिरी। मुकुल = कली। संकुल = पूर्ण, भरा। नभचर = पक्षी। महकना = सुगन्धित होना।

भावार्थ—उसके आसपास मार्ग पर सुन्दर अशोक वृक्ष हैं, जो ओस की बूंदों से भींगे पत्तों से अलंकृत होकर और भी सुन्दर दीखते हैं। मौलसिरी के वृक्ष कलियों से भरे हैं। भ्रमर मधु के लोभ में उनके चारों ओर गुंजार करते हैं। पक्षी कल-कल ध्वनि करते हैं। फुलवारी परिमल फैलाती है। ऐसा मालूम होता है मानों फूलों की सेज बिछी हो और वीणा बज रही हो।

[१२] नालों का संयोग, साँझ ··· आकर क्षण एक जुड़ाते ॥

शब्दार्थ—संयोग = मेल। कगारे = ऊँचे किनारे, टीले। बीहड़ = एकान्त, जनरहित स्थान। सौरभ = सुगन्धित। ताप-तप्त = दुःख पीड़ित। जुड़ाना = शान्त होना।

भावार्थ—सन्ध्या का समय है। कहीं पर कई नाले मिले हुए हैं, कहीं घने जंगल हैं, कहीं बड़ी-बड़ी गुफाएं हैं, कहीं ऊँची-नीची जमीनें हैं, कहीं ऊँचे टीले हैं और कहीं एकान्त प्रदेश हैं। वन के फूल बार-बार हवा में अपनी सुगन्धि फैला देते हैं। दुःख-पीड़ित लोग ऐसे सुन्दर स्थानों पर आकर कुछ समय के लिए शान्ति क्यों नहीं प्राप्त कर लेते।

[१३] संध्या समय चतुर्दिक् से ··· ···प्रतिदिवस बनाते ॥

शब्दार्थ—चतुर्दिक = चारो दिशा। हर्ष निनाद = आनन्द की ध्वनि। वाद्य-यंत्र = बाजा। पादप = वृक्ष। प्रतिदिवस = प्रत्येक दिन।

भावार्थ—सन्ध्या समय चारों ओर (दिशाओं) से विभिन्न रंग और आकार वाले पक्षी झुण्ड बनाकर आनन्द से कलरव करते हुए आते हैं। वृक्ष के कोमल पत्तों पर बैठकर मनोहर गान सुनाते हैं। जब वृक्ष पर विभिन्न पक्षी विभिन्न

ध्वनियों के साथ गाते हैं तब वृक्ष विचित्र स्वर से गानेवाला एक अद्भुत बाजा (वाद्य) सा जान पड़ता है।

[१४] प्रात:काल ममत्व-हीन वे·······क्यों न सीख कुछ जाते ॥

शब्दार्थ—ममत्व = अपनापन, प्रेम। अनित्य = क्षणिक, अस्थिर। रोचक = सुन्दर, रुचिकर।

भावार्थ—रात्रि में जो पक्षी वृक्ष पर विश्राम करते हैं वे (पक्षी) प्रात:काल होने पर पारस्परिक प्रेम को छोड़कर कहीं के कहीं उड़ जाते हैं। इस प्रकार वे संसार के मेल-मिलाप की अस्थिरता का रुचिकर प्रबोध (सान्त्वना) देते हैं। इन सब को देखने से लोगों के मन में अच्छे भाव क्यों नहीं भर जाते? और लोग प्रकृति की पाठशाला में आकर क्यों नहीं कुछ उपदेश ग्रहण करते?

[१५] अति निस्तब्ध निशीथ·······यह नहीं एक अवसर है ॥

शब्दार्थ—अति = बहुत। निस्तब्ध = शान्त। निशीथ = रात। तमावृत = अंधकारपूर्ण। मौन = चुप। प्रकृति-कुल = सभी प्रकृतियाँ। नित = सब दिन। नीरव = मौन। उदयोन्मुख = उदय होनेवाला। हिमकर = चन्द्रमा। शोक = दु:ख।

भावार्थ—अंधकारपूर्ण निश्चेष्ट रात्रि के समय समस्त प्रकृति नीरवता में मग्न थी। शान्त आकाश में नक्षत्र मौन होकर सर्वदा रह रहकर चमकते रहते हैं। दिशाएँ निद्रा-मग्न होती हैं। सुगन्धित वायु बहती है। चन्द्रमा उदय होना चाहता है। क्या ऐसा सुखकर समय लोगों के कष्ट भुलाने के काम में नहीं आ सकता?

[१६] चारों ओर तुषार-धवल·······दृग, मन, प्राण जुड़ाते।

शब्दार्थ—तुषार धवल = हिम के गिरने से सफेद बना हुआ। मुकुर = आईना। शिला = चट्टान। दृग = नेत्र। जुड़ाते = तृप्त होते।

भावार्थ—चारो ओर हिमाच्छादित सफेद पर्वत मौन खड़े हैं। उसके बीच में प्रकृति के आईने की तरह एक स्वच्छ सरोवर है। उसमें एक सुन्दर

पत्थर है। इस स्थान पर थोड़ी देर बैठने से किसकी आँखें, मन और प्राण सुख नहीं पा सकते।

[१७] लीची, श्रीफल, सेव, आम ······न लोग सुख पाते॥

शब्दार्थ—श्रीफल = बेल, नारियल। दाख = द्राक्ष, मनक्का। वेदाना = काबुली अनार। आकृति = स्वरूप। अयाचित = बिना माँगे ही। दिव्य = भव्य, सुन्दर।

भावार्थ—यहाँ अनेक प्रकार के सुन्दर और मधुर स्वादवाले लीची, बेल, नारियल, सेव, आम, बादाम, द्राक्ष, वेदाना आदि रसपूर्ण फल हैं। ये सब ईश्वर की अद्भुत सृष्टि के अजीब दृश्य दिखाते हैं। ऐसी स्वर्गीय और बिना माँगे मिलनेवाली ईश्वर की दया पाकर लोग सुखी क्यों नहीं होते?

[१८] गिरि, मैदान, नगर निर्जन······क्यों आयीं, क्यों जातीं?

शब्दार्थ—गिरि = पर्वत। माना = अच्छा लगना। कुटिल = टेढ़ा। मृदुल = कोमल। तरल = हिलता-डुलता, चंचल।

भावार्थ—पर्वतों, मैदानों, नगरों और एकान्त प्रदेशों में कहीं सीधी और कहीं टेढी होकर हिलती-डुलती अनेक रूप दिखाती हुई सब जगह एक-सी मनोहर लगनेवाली ये नदियाँ समय के समान अविराम गति से आगे बढ़ती जा रही हैं। पता नहीं कि ये कहाँ से निकली हैं, कहाँ जा रही हैं और इनका आना-जाना किसलिए हो रहा है?

[१९] इन्हे देखकर क्यों न लोग ······जहाँ दृष्टि में आते॥

शब्दार्थ—हरते हैं = मिटाते हैं। फोग = माड़वाड़ देश का एक पौधा।

भावार्थ—इस काव्य संदर्भ में त्रिपाठी जी ने मरुभूमि का वर्णन करते हुए कहा है कि इनको देखकर लोग आश्चर्य-चकित क्यों नहीं होते और अपने मन की व्यथा को क्यों नहीं मिटाते? यहाँ बहुत-सी लताएँ और अनेक प्रकार की घासें हैं जिनमें फोग तो बहुत आदर पाता है (माड़वाड़ के निवासी फोग के फूल का रायता बहुत पसन्द करते हैं) यहाँ जिधर दृष्टि दौड़ाइए उधर रेत के टीले ही नजर आते हैं। फिर भी ऐसे स्थान के दृश्य को देखकर लोग प्रसन्न क्यों नहीं होते?

[२०] मधुर मतीरे जहाँ कलेजे ......बुन्द झड़ते हैं ॥

शब्दार्थ—मतीरा = तरबूज। तपन = जलन। गाधि-पुत्र = विश्वामित्र। **मरूँट** = एक तरह का रेगिस्तानी काँटेदार पौधा।

भावार्थ—आगे चलकर कवि कहता है कि यहाँ पर मीठे तरबूजे के फल मन का संताप (हृदय की जलन) दूर करते हैं। यहाँ के ऊँट और मरूँट नामक कंटीले पौधे नई सृष्टि की रचना करनेवाले विश्वामित्र का स्मरण दिलाते हैं। यहाँ पर प्रतिदिन मृग-मरीचिका के दर्शन होते हैं जो मिथ्या जल का प्रलोभन दिखाकर बटोहियों को भुलावे में डालती हैं। यहाँ (मारवाड़ में) श्रावण और भाद्रपद के मासों में ही स्वल्प वर्षा होती है।

[२१] कोमल पथ है, दिशा शान्त ...हर्ष विमोहित जन हैं !

शब्दार्थ—भूण = गडरी (कुँए से पानी खींचने का साधन)।

भावार्थ—यहाँ पर सुन्दर रास्ते हैं और दिशायें शान्त हैं। वायु स्वच्छ एवं सुखप्रद हैं। कुँए से जल खींचते समय गडरी से मधुर शब्द होता है। मोरों के नृत्य का दृश्य भी अत्यन्त ही आकर्षक है। ऐसी अनेक विचित्रताओं से पूर्ण प्रकृति का सौन्दर्य देखकर लोग आनन्दमग्न क्यों नहीं होते ? यह समझ में नहीं आता।

विशेष द्रष्टव्य—कुछ विद्वानों ने भूण शब्द का अर्थ बतलाया है—'एक प्रकार की भेंड़ पालनेवाली मनुष्य जाति', जिसके अनुसार अर्थ होता है—'कहीं गड़ेरी के (भेड़ पालनेवाले) भेड़ चराते हुए मस्ती से गान आदि का दृश्य बड़ा ही सुन्दर है।'

[२२] पंकज, रम्भा, मदन, मल्लिका ... घर घर में फुलवारी ॥

शब्दार्थ—पकज = कमल। रम्भा = केला। मदन = धतूरा। मल्लिका= चमेली। पोस्त = अफीम का पौधा। मुकुल = कली। रक्तक = बधूक, दोपहरिया फूल। पिक = कोयल। किंशुक = ढाक, पलाश। नरगिस = प्याज की तरह का पौधा। मधुकर कुल = भ्रमर समूह।

भावार्थ—कवि कहता है कि कमल के समान पद, केले के समान जाँघें, धतूरे के सामान नाभि, मल्लिका के समान हास्य, पोस्त के समान रोमराजि,

गुलाब के कली के समान स्तनाग्र, बंधूक फूल के समान अधर, कुन्द कली के समान दाँत, कोयल के समान मधुर स्वर, पलाश (फूल) के समान नख-क्षत, नरगिस फूल के समान आँखें, भ्रमर के समान बाल, चम्पा के समान नाक, सिरीस फूल के समान मृदुलता—इस प्रकार विभिन्न फूलों के गुण, सौन्दर्य और सुगन्धि से युक्त स्त्रियाँ प्रत्येक घर में ऐसी दीखती हैं मानों घर-घर में फुलवारियाँ लगी हों।

सुमित्रानन्दन पंत

हिन्दी के युग-प्रवर्त्तक कवियों में पंत का अपना व्यक्तित्व है। उनका जन्म २० मई सन् १९०० में अल्मोड़े से ३२ मील उत्तर की ओर स्थित कौसानी ग्राम में हुआ। उनके पिता पं० गंगादत्त पंत कौसानी के ही गार्डन्स के मैनेजर थे और स्वतंत्र रूप से लकड़ी का भारी व्यापार करते थे। वे ख्यातिप्राप्त धनी व्यक्ति थे। पंत की माता का नाम श्रीमती सरस्वती देवी था और उनका देहान्त पंत के जन्म के आठ घंटे बाद हो गया। तब उनका लालन-पालन उनकी फूआ ने किया। उनके फूफा साधु हो गये थे, अतः वे हमेशा पंतजी के साथ रहा करती थीं। पंतजी के तीन भाई और चार बहनें थीं। इस समय सभी बहनों एवं एक भाई की मृत्यु हो चुकी है। उनके शेष दो भाई—हरदत्त पंत और देवीदत्त पंत—उनसे बड़े हैं। हरदत्त पंत पहले मेयो कालेज अजमेर में थे और फिर लखनऊ चले गए। कविता करने की प्रेरणा पंतजी को इन्हीं से मिली। देवीदत्त पंत ने कांग्रेस में काम किया, जेल भी गए। वे अल्मोड़े में एडवोकेट थे। आजकल दिल्ली में भारतीय संसद के सदस्य हैं।

जीवन वृत्त

जब पंतजी चार वर्ष के हुए तब उन्हें लकड़ी की तख्ती पर खल्ली रखाई गई। इसके बाद वे अल्मोड़ा के सरकारी हाईस्कूल में भर्ती हुए। उसके

पश्चात् सन १६१७ ई० में काशी के जयनारायण हाईस्कूल से प्रवेशिका परीक्षा पास की। बाद में वे इलाहाबाद आए और म्योर सेन्ट्रल कालेज में दाखिल हो गए। यहाँ प्रो० शिवाधार पाण्डेय के सम्पर्क में आने पर उनकी विकासोन्मुख प्रतिभा प्रकाश में आने लगी और इन्हीं के देखरेख में पंत ने अंग्रेजी के रोमान्टिक साहित्य का अध्ययन, मनन और चिंतन किया। सन् १६२२ ई० में पत को कालेज-जीवन समाप्त कर घर लौट आना पड़ा। यहाँ उन्होंने स्वतंत्र रूप से संस्कृत, बगला, अंग्रेजी आदि साहित्यकारों का अध्ययन आरंभ किया जिसके फलस्वरूप उनकी अलौकिक प्रतिभा को पर्याप्त बल मिला। सन् १६२६ से १६३० तक का समय पत के लिए दुर्दिन काल सिद्ध हुआ। इस बीच उनके भाई एव पिता का देहान्त हुआ और साथ ही साथ परिवार का सारा बोझ इन्हीं के कधे पर आ गया। सन् १६३१ से १६३४ तक वे कालाकाँकर के कुँवर सुरेश सिंह के साथ रहे। उन्होंने कुछ दिनों तक 'रूपात्र' मासिक पत्र का सम्पादन भी किया तथा उदयशंकर के प्रसिद्ध सवाक् चित्र 'कल्पना' को कलात्मक एव सफल बनाने में पूरा सहयोग दिया। इसके बाद वे लोकायन-सस्कृत-पीठ के निर्माण और संगठन में लगे। सम्प्रति उत्तर भारत में स्थित समस्त रेडियो स्टेशनों के कार्यक्रमों के निर्देशन एवं संचालन कार्य को वे संभाल रहे हैं।

पंतजी ने साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में रचनाएँ की हैं, किन्तु वे प्रधानतः कवि हैं और उनका कवि रूप प्रत्येक क्षेत्र में दिखाई देता है। उनके अनेक काव्य-ग्रंथ अब तक प्रकाश में आ चुके हैं। विद्यार्थी-जीवन से वे काव्य-रचना करते आ रहे हैं और अभी तक उनकी साहित्यिक चेतना जागरुक है। उनकी अबतक की रचनाएँ इस प्रकार हैं—

रचनाएँ

काव्यसंग्रह—वीणा, ग्रंथि, पल्लव, गुंजन, युगान्त, युगवाणी, ग्राम्या, स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि, युगान्तर, उत्तरा, मधुज्वाल, युगपथ, अतिमा, ।

नाटक—परी, क्रीड़ा, रानी, ज्योत्सना, रजतशिखर और शिल्पी।

उपन्यास—हार। निबन्ध-संग्रह—गद्यपथ।

कहानी संग्रह—पाँच कहानियाँ (१९३६)।

अनुवाद—उमर खैयाम की रुबाइयों का हिन्दी मे अनुवाद।

विश्व-साहित्य के महान साहित्यकारों के अन्तरंग और बहिरग जीवन पर वाह्य वातावरण का प्रभाव जरूर पड़ता है। यह सृष्टि का नियम है तो भला पंत कैसे बचे रह जाते! यह तो मालूम ही है कि पंत हिन्दी के सुकुमार कवि हैं और उनके कोमल हृदय पर वाह्य वातावरण का प्रभाव पड़ता रहा है जिसकी अभिव्यक्ति उनकी कविताओं में हुई है। वे कई बातों से अधिक प्रभावित हुए हैं, जिनकी चर्चा निम्नांकित पंक्तियों में की जाती है। (क) **प्राकृतिक सौन्दर्य**—कवि का जन्म प्रकृति की गोद में हुआ था। कवि का जन्म कूर्मांचल प्रदेश (अलमोड़ा, जिसे गाधीजी ने भारतवर्ष के स्विटरलैंड की संज्ञा प्रदान की थी) में हुआ था और वहीं के प्रकृति-निरीक्षण से उन्हें कविता करने की प्रेरणा मिली थी। पंत ने स्वयं 'आधुनिक कवि' के पर्य्यालोचन में यह स्वीकार किया है कि 'कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्मांचल प्रदेश को है।' (ख) **अध्ययन एवं अनुशीलन**—पंतजी का कवि चिन्तनशील एव अध्ययनप्रिय है। उन्होंने भारतीय दर्शन तथा उपनिषदों का भी अध्ययन किया है जिसका उल्लेख स्वयं कवि ने 'आधुनिक कवि' में किया है कि 'स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ के अध्ययन से, प्रकृति प्रेम के साथ ही, मेरे प्राकृतिक दर्शन के ज्ञान और विश्वास में भी अभिवृद्धि हुई।.....दर्शन-शास्त्र और उपनिषदों के अध्ययन ने मेरे रागतत्व में मंथन पैदा कर दिया और उसके प्रवाह की दिशा बदल दी।' इससे पंत का दर्शन दृढ़ और स्थिर हो गया। (ग) **राजनैतिक वातावरण का प्रभाव**—पंत पर राजनैतिक परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ा। एक ओर गाँधीवादी सिद्धान्तों का नारा गूँज रहा था तो दूसरी ओर समाजवादी सिद्धान्तों का। ऐसी परिस्थिति में पत ने दोनों के गुणों को एकत्र कर उसका समन्वित रूप काव्य में प्रदान किया। (घ) **रोमांटिक साहित्य का प्रभाव**—डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि 'जिन दिनों पंतजी प्रयाग विश्वविद्यालय में पढ रहे थे, वहाँ के अँग्रेजी वातावरण ने

पंतजी पर वाह्य-प्रभाव

उनको पश्चिमी कवियों की ओर आकृष्ट किया। अब पंतजी पर रोमांटिक कवि शेली, कीट्स और विक्टोरियन कवि टेनीसन का प्रभाव स्पष्ट रूप में पड़ा। उन पर सब से अधिक ऋण कविवर शेली का है—भारत के अन्य कवियों पर भी—जैसे—डा० टैगोर, श्रीमती सरोजिनी नायडू, श्रीमती महादेवी वर्मा आदि पर भी उसका प्रभाव सर्वाधिक है। क्योंकि उसका आदर्शवाद और रंगीन कल्पना भारतीय हृदय के अनुकूल है।

पन्त एक गतिशील कवि हैं। युग के अनुसार उनके विचार बदलते गए हैं। अतएव कवि को समझने के लिए उनके चार युगों का संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। (क) प्रथम युग [वीणा ग्रन्थिकाल]—'वीणा' को कवि ने 'दुधमुँहाँ प्रयास' और बाल-कल्पना कहा है। इन कविताओं में रवीन्द्रनाथ की छाया है और प्रकृति के सुन्दर रूपों की आह्लादमयी अनुभूतियों की यह एक सजीव प्रतिमा है। 'ग्रन्थि' में कवि के असफल प्रेम की गाथा है। यह उनके काव्य-जीवन का प्रथम चरण है। (ख) द्वितीय युग [पल्लव-गुंजन काल]—पल्लव का प्रकाशन ही छायावाद का जन्म है। यह उनकी एक प्रौढ़ रचना है, जिसमें प्रतिभा के उत्साह या साहस का तथा पुरानी काव्य-पद्धति के विरुद्ध प्रतिक्रिया का बहुत बढ़ा-चढ़ा प्रदर्शन है।

पंत की काव्य-साधना

इसके बाद 'गुञ्जन' का प्रकाशन होता है जो कि 'पल्लव' के पूर्व और बाद की रचनाओं की मध्यम कड़ी हैं। 'गुञ्जन' से उनका स्वर बदल जाता है। इसी में कवि प्रकृति से मानव की ओर आया है।

(ग) तृतीय युग—युगान्त, युगवाणी और ग्राम्या पन्थ के काव्य-जीवन का तीसरा युग प्रस्तुत करते हैं। इसमें गुञ्जन के विचारों का विकसित रूप देखते हैं। सौंदर्यवादी कवि से पन्त चिन्तक कवि हो गए हैं। इन रचनाओं में पन्त व्यक्ति से समाज की ओर आ गए हैं।

(घ) चतुर्थ युग—ग्राम्या के बाद की रचनाओं में हम पन्त के व्यक्तित्व का नवीनतम रूप देखते हैं। इनमें कवि के दार्शनिक विचारों का एक नवीन स्रोत फूट पड़ा है। बाद की रचनाओं में इसी आत्मिक शक्ति की चेतना में,

मानव के इसी आन्तरिक वास्तविक विकास में कवि के विश्वास का स्वर है।

ऊपर पन्त की प्रगति पर सापेक्षिक दृष्टि रखते हुए हमने जो कुछ कहा है, उसके आधार पर हम उनकी रचनाओं का निम्नलिखित ढंग से विश्लेषण करते हैं—

[i] प्रकृतिपरक रचनाएँ—कवि पंत की काव्य-प्रेरणा प्रकृति है। वे प्रकृति के उन्मुक्त गायक हैं। प्रकृति को पन्त ने जड़ नहीं, वरन् चेतन माना है। प्रकृति के कोमल रूप ने ही पन्त को अधिक लुभाया है। इसीलिए इनकी कविताओं में प्रकृति का वह उग्र रूप नहीं मिलता जो संघर्षप्रिय, निराशा और असंतोषवादी कवि को आज अधिक खींचता है।''''पन्तजी में वर्डसवर्थ के समान प्रकृति का कोमल-मृदुल, शान्त-सुन्दर स्वरूप देखेंगे, कोलरिज की प्रकृति का खूनी पन्ना नहीं।' पंत की प्रकृति सर्वदा नारी रूप में ही काव्य-मंच पर अवतरित हुई।

[ii] प्रणय-सम्बन्धी रचनाएँ—इस कोटि की रचना है—ग्रन्थि। इसमें कवि के अनुभूत असफल प्रेम की वास्तविक ग्रन्थि है। इसमें विप्रलम्भ-शृंगार को धार्मिक अभिव्यक्ति मिली है। जैसी प्रभाविष्णुता एवं सुकुमार भावों की व्यंजना इनकी कविताओं में हैं, वैसी आधुनिक कवियों की रचनाओं में कम ही है।

[iii] रहस्यमूलक रचनाएँ—पन्त की कविताओं में रहस्यानुभूति है पर वे अनुभूतियाँ स्वाभाविक पथ से गुजरी हैं, इसलिए वे साम्प्रदायिकता के कठघरे में में वन्द नहीं हैं। जिस प्रकार की रहस्य-भावना पन्त की रचनाओं में अभिव्यक्त है, उस तरह की भावना प्रत्येक सहृदय मानव के मन में उठ सकती है। इसके वाद की प्रामाणिकता के लिए 'मौन-निमत्रण' शीर्षक कविता की पंक्तियाँ पठनीय हैं।

[iv] दार्शनिक रचनाएँ—भारतीय दर्शन और उपनिषद् के अध्ययन ने पन्त को जीवन का कवि वना दिया। पहले वे प्रकृति के कोमल रूप को अधिक देखते थे पर अब वाद में हृदय के मर्म को देखने लगे। यथा—

मेरा मधुकर का-सा जीवन, कठिन कर्म है, कोमल है मन।

'पल्लव' के बाद ही कवि पर दैहिक और दैविक विपत्तियों का आक्रमण हुआ। इसी बीच कवि दर्शन और उपनिषद् के अध्ययन की ओर झुके तथा जीवन-रहस्यों के अनुसन्धान में प्रवृत्त हुए। इस प्रकार उनके कवि-जीवन की दिशा बदल गई।

कवि ने अपने जीवन के प्रति एक नवीन आशा-समन्वित दृष्टिकोण को लेकर ईश्वर, जीव, प्रकृति, मुक्ति आदि समस्याओं पर विचार किया। इसी समय उन पर प्राच्य और पाश्चात्य दर्शन का विशेष प्रभाव पड़ा परन्तु उनकी हार्दिकता को धक्का नहीं पहुँचा। उन्हें भौतिक जगत के आदर्शों में विश्वास न रह गया, इसलिए उन्होंने भारतीय आस्तिकता का आँचल दृढ़ता के साथ पकड़ा।

ईश्वर पर चिर विश्वास मुझे
सुन्दर विश्वासों से ही बनता रे सुखमय जीवन,
ज्यों सहज-सहज साँसों से चलता उर का मृदु स्पंदन।

कवि को ईश्वर पर विश्वास तो है ही, परन्तु उसने प्रकृति एवं जीव की सत्ता को भी चिरंतन माना है।

(v) सामाजिक आदर्श समन्वित रचनाएँ—पंत आस्तिक भी हैं और आदर्शवादी भी। वे सांसारिक बंधन चाहते हैं, उन्हे मुक्ति की आकांक्षा नहीं है। उन्हे अपने जीवन से ही नहीं संसार से प्रेम है। उन्हे अपने आत्मा की सत्ता पर अचल विश्वास है। उनकी आन्तरिक अभिलाषा है कि मानव सच्चे अर्थों में मानव हो जाय। मानव का हृदय ऐसा हो जिसमें संकीर्णता का नामोनिशान न रहे। उनकी दृष्टि में सच्चा मानव वही है जो प्रत्येक देश के मानव को अपना समझे। यही पन्त का सामाजिक आदर्श है। पन्त मानव को राष्ट्रीय मानव के रूप में कतई देखना नहीं चाहते वरन् चाहते हैं कि वह अन्तराष्ट्रीय मानव रहे। पन्त का यही सपना है और वे सच्चे अर्थ में स्वप्नदर्शी भी हैं—

मेरा स्वर होगा जग का स्वर, मेरे विचार जग का विचार।
मेरे मानव का स्वर्गलोक उतरेगा भू पर नई बार॥

पन्त की दृष्टि में जो आदर्श हैं, उनमें एक विकास की शृंखला है और वे पूर्णरूपेण स्पष्ट एवं सुलझे हुए है। 'युगवाणी' में कवि के अनुसार विचार-धाराओं की पञ्चगङ्गा वही है—

(क) भौतिकवाद और आध्यात्मवाद का समन्वय जिससे मनुष्य की चेतना का पथ प्रशस्त बन सके। (ख) समाज में प्रचलित जीवन की मान्यताओं का पर्यालोचन एवं नवीन संस्कृति के उपकरणों का सग्रह। (ग) पिछले युग के उन मृत आदर्शों और जीर्ण रूढ़ियों की तीव्र भर्त्सना जो आज मानव के विकास में बाधक हो रही हैं। (घ) मार्क्सवाद तथा फ्रायड के प्राणि-शास्त्रीय मनोदर्शन का युग की विचारधारा पर प्रभाव, जन-समाज का पुनः सगठन एवं दलित लोक-समुदाय का जीर्णोद्धार। (ङ) बहिर्जगत् के साथ अन्त-र्जीवन के संगठन की आवश्यकता, आत्म-भावना का विकास तथा नारीजागरण।

पन्त द्वारा इंगित विचारों एव कविताओं के द्वारा यह स्पष्ट हो जाता हैं कि पन्त ने अपने व्यक्तिवाद के साथ-साथ समाजवाद को भी महत्त्व दिया है। सचमुच देखा जाय तो हम पाते हैं कि निजी भावनाओं में सामाजिक आदर्श की सतह कायम है।

[vi] ग्राम्य-जीवन-सम्बन्धित रचनाएँ—इस कोटि की रचनाओं का अनुपम संग्रह है—ग्राम्या। इसमें उन्होंने ग्राम्य समाज का चारु चित्र उतारा है क्योंकि ग्राम ही भारतीय समाज का जीवनाधार है। इसी बात को ध्यान में रखकर कवि ने भारतीय ग्राम के वर्त्तमान तथा आदर्श स्वरूप की अभिव्यंजना की है। इसमें वास्तविक ग्रामीण संस्कृति की रूपरेखा प्रस्तुत हुई है। पन्तजी के ग्राम-दर्शन में बौद्धिक सहानुभूति की भाषा अधिक है और निमग्नता नाममात्र।

भाषा-शैली

पन्त की दृष्टि में भाषा ससार का नादमय चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है—यह विश्व की हृद्तंत्री की झंकार है जिसके स्वर में वह अभि-व्यक्ति पाता है। पंत की भाषा में तत्समता, लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता, चित्रमयता, संगीतात्मकता एवं अलंकृति है। पंत की

भाषा में तत्समता के साथ-साथ संगीतात्मकता भी है जिसके पढ़ने से ऐसा मालूम पड़ता है कि एक वेगवती सरिता बह रही हो ; यथा—

जग के सुख-दुःख पाप-ताप, तृष्णा ज्वाला से हीन,
जरा-जन्म भय मरण-शून्य यौवनमयि, नित्य नवीन;
अतल-विश्व-शोभा-वारिधि में, मज्जित जीवन मीन,
तुम अदृश्य, अस्पृश्य अप्सरी, निज सुख में तल्लीन।

छायावादी कविताओं में लाक्षणिकता एवं प्रतीकात्मकता का होना निहायत जरूरी है क्योंकि छायावाद की शैलीगत विशेषताओं में यह एक विशेष गुण है। लाक्षणिक वैचित्र्य का एक उदाहरण लीजिये—'छाया उन्मन-उन्मन गुंजन'—इसमें 'उन्मन गुंजन' में लक्षणा है, क्योंकि गुन्जन उन्मन नहीं हो सकता, गुन्जन करने वाला जीव भले उन्मन हो। 'उन्मन गुञ्जन' का अर्थ विशेषण-विशेष्य-सम्बन्ध के आधार पर लक्षण द्वारा उन्मन भौंरों का गुञ्जन लिया जायगा। अतः विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध से लक्षणा हुई।

प्रतीक-विधान के सम्बन्ध में कहना यह है कि 'छायावाद के कवि मानव-हृदय की प्रस्तुत भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए साम्य के आधार पर अप्रस्तुत प्रतीकों का उपयोग करते हैं। ये प्रतीक प्रकृति के क्षेत्र से चुने हुये होने के कारण इन्द्रियगम्य होते हैं और अमूर्त्त भावनाओं की प्रतीति करने में बहुत दूर तक सहायक हुए हैं।' निम्नलिखित चरणों में देखिये—

आँखों की खिड़की से उड़-उड़,
आते ये आते मधुर-विहग।

—इसमें 'विहग' मधुर भावों का प्रतीक है।

पन्तजी की भाषा चित्र-भाषा है और उनके शब्द-चित्र अत्यन्त सुन्दर होते हैं। इसका एक उदाहरण देखिये—

अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात!
विकम्पित मृदु-उर, पुलकित गात,
सशंकित ज्योत्स्ना—सी चुपचाप
जड़ित पद, नमित-पलक-दृग-पात
पास जब आ न सकोगी, प्राण!

पन्त की कविताओं में शब्द-संयम है। उनकी कविताओं में एक भी शब्द व्यर्थ नहीं रहता, वरन् वे इस कोशिश में रहते हैं कि कम से कम शब्दों में अधिक भाव-व्यंजना रहे। अतएव उनका शब्द अध्ययन भी कौशलपूर्ण एवं सोद्देश्य होता है। इसके साथ साथ वे व्याकरण से अधिक भाव-व्यञ्जना को महत्व देते हैं। यही कारण है कि भाव-स्वर साम्य के लिये गर्जन, प्रात, मधु, बात, सौरभ आदि शब्दों का प्रयोग स्त्रीलिंग में किया है। इतना ही नहीं कहीं कहीं पन्त अंग्रेजी ढङ्ग पर शब्दों का प्रयोग किया करते हैं, जो अर्थव्यञ्जना की दृष्टि से अत्यन्त मार्मिक होते हैं। जैसे—

प्रिय प्रिय विषाद यह अपना,
प्रिय प्रिय, आह्लाद रे अपना।

इसमें 'प्रिय प्रियाऽह्लाद' से 'प्रियप्रिय आह्लाद' में आह्लाद की प्रेषणीयता अधिक है। कहीं-कहीं व्रजभाषा के चहुँदिशि, दई, दीठ, काजर, फारसी के लगर, पर, चीज, नादान और अंग्रेजी के 'रूम' इत्यादि शब्द आए हैं। पंत की भाषा में कुछ शब्दों के विचित्र प्रयोग देखने को मिलते हैं, जैसे मनोज (बापू के अर्थ में), अधून आदि। 'भावों को मूर्त रूप देने के लिए कवि ने नए शब्दों को भी गढ़ा है और चित्रगौरव के अनुरूप पर्यायवाची शब्दों के भिन्न-भिन्न प्रयोग किए हैं। इस प्रकार के शब्द हैं— प्रहसित, विहसित, स्मित, फून्कार, पुराचीन आदि। सच तो यह है कि चित्रमयता, शब्दों की ध्वन्यात्मकता, भावों के लिए उनकी स्थानापन्नता, पंत की भाषा-सौष्ठव की बहुत बड़ी विशेषता है।

पंतजी हिन्दी काव्य के अनमोल कलाकार हैं, वे मुख्यतः दृश्यमान जगत् के कलाकार हैं। इनके काव्य का प्रथम स्वरूप प्राकृतिक सौन्दर्य में ही मिलता है, बाद वे जीवन-सौन्दर्य के कलाकार हैं। पंत की रहस्यवादिता भी अत्यन्त सरल एव सरस है। न तो ये कबीर आदि कवियों के समान साम्प्रदायिक हैं, न अन्य आधुनिक रहस्यवादियों की तरह अव्यक्ताकाश के गगनचारी ही हैं। इनकी रहस्यवादी-भावना सुस्पष्ट एवं मनमोहक हैं। अतएव हम कह सकते हैं कि पंतजी हिन्दी साहित्य की एक महान विभूति हैं।

जागरण - गान

ग्रहण करो ... 'चेतन का संघर्षण।

शब्दार्थ—नवयौवन = नवयुवकों। चेतना = बुद्धि। चेतन = आत्मा।

भावार्थ—'जागरण गान' से उद्‌धृत इन पंक्तियों मे पंत ने यौवन का आवाहन किया है। कवि युवकों को सम्बोधित कर उन्हे एक बार फिर असि धारा व्रत ग्रहण करने का आदेश देता है अर्थात् कवि चाहता है कि भारत के नौजवान तलवार की धार पर चलने में समर्थ हो सकें, कठिन-से-कठिन काम कर सकें और अपनी निष्ठा से सदैव अविचल रहे। आज पृथ्वी की चेतना में अर्थात् संसार भर के चेतन मनुष्यों में—उनके हृदय में—फिर से घोर आन्दोलन छिड़ा हुआ है। आज व्यक्ति-व्यक्ति की चेतना में मंथन है, आज जन-जन का मन नवीन विचारों से आन्दोलित है। कवि कहता है कि यह भारतवर्ष तो युग-युग से रणक्षेत्र के रूप में रहा है, प्रत्येक युग में यहाँ वीर पैदा हुए हैं और आज भी भारत की वीर-भावना चिर नवीन है। आज फिर संघर्ष की घड़ी आयी हुई है, जड़ और चेतन के बीच घोर संघर्ष छिड़ा है। आज जड़-बुद्धि के मनुष्यों से चेतन-प्रबुद्ध मानवों का संघर्षण है।

विशेष टिप्पणी—(क) असिधारा-व्रत—'असि' का अर्थ है तलवार। 'असिधारा-व्रत' का शाब्दिक अर्थ है तलवार की धार पर चलने का व्रत अर्थात् ऐसा व्रत जिसके निर्वाह में प्राणों की बाजी लगानी पड़े (जिसका निर्वाह आसान नहीं है), आज के युग में नौजवानों को वीर-व्रत ग्रहण करने के लिए आह्वान किया जा रहा है। वीर-व्रत का निर्वाह अत्यन्त कठिन और व्यक्ति की विशेष क्षमता का द्योतक है।

(ख) धरा-चेतन—इसका शाब्दिक अर्थ हुआ पृथ्वी की चेतना; यह अभिधा अर्थ है, किन्तु धरती जड़ है और उसकी चेतना नहीं हो सकती, इसलिए अभिधा असंगत है। अतएव अभिधार्थ से संबंध रखनेवाला एक दूसरा अर्थ ग्रहण किया जायगा जिसे हम लक्ष्यार्थ कहते हैं, वह है धरती के मनुष्यों की चेतना। अभिधार्थ और लक्ष्यार्थ में आधार-आधेय लक्षणा है।

(ग) जड़ चेतन—जड़ का अर्थ है जड़-बुद्धिवाला मनुष्य जिसकी बुद्धि

पदार्थ (Matter) तक सीमित है और चेतन का अर्थ है—जो पदार्थ के परे चेतना को देख सकते हैं, इसलिए जो स्वार्थ और ममत्व से ऊपर उठ चुके हैं। जड़ और चेतन भौतिकवादी-पाश्चात्य और आध्यात्मवादी-प्राच्य के प्रतीक भी माने जा सकते हैं।

युग युग के अधि शृंग ...... परीक्षा का क्षण

शब्दार्थ—अधि=ऊँची। शृंग=चोटी। मानस=मन, हृदय।

भावार्थ—यह युग सांस्कृतिक क्रान्ति का युग है। पुरानी संस्थाएँ, पुराने विश्वास, पुराने आदर्श, जीवन की पुरानी रीति-नीति ये सब कुछ ढह रहे हैं और मनुष्य के मानस-लोक में भूचाल-सा आ गया है; विचारों (Ideas) में भारी उलट-फेर हो रहा है, नये विचार जरा-जीर्ण (पुराने) विचारों का स्थान ले रहे हैं। बहुत ऊँचे आदर्श भी उसी प्रकार टूट टूट कर गिर रहे हैं जैसे आकाश से तारे अर्थात् जात-पात, धर्म-समुदाय, कर्म फलवाद और जन्मान्तरवाद में विश्वास आदि पुराने आदर्श समाप्त हो रहे हैं और अब देश के वीर नौजवानों को उनके स्थानों पर नये आदर्शों की स्थापना करनी हैं। देवताओं और दानवों ने एक वार समुद्र मंथन किया था जिससे अमृत निकला। आज फिर उसी प्रकार की परीक्षा की वेला आ गई है और यह परीक्षा मनुष्यों की है। आज फिर क्षुब्ध मन-रूपी समुद्रों का मंथन करना है।

क्या न करोगे तुम ...... जन भू का जीवन ?

शब्दार्थ—आरोहण=सवार होना। विसर्जन=परित्याग।

भावार्थ—नौजवानों से कवि पूछता है—क्या देश के नौजवान विजली और अणु-शक्ति के अश्वों पर सवारी नहीं करेंगे? विज्ञान के इस युग में दुनियाँ विजली रूपी घोड़े पर चढ़कर तेजी से प्रगति पथ पर दौड़ रही थी और आज तो अणु शक्ति के आविष्कार ने प्रगति के लिए उससे भी तीव्र वाहन (सवारी) प्रदान किया। कवि पूछता है कि क्या विज्ञान के इन वरदानों का उपयोग भारत की मानवता नहीं करेगी? भारत ही अणु शक्ति के संहार-कारी प्रभाव को रोकने में समर्थ है। क्या भारत के नौजवान इस महान कार्य के लिए आगे कदम नहीं बढ़ायेंगे? क्या वे महानाश युद्धजनित संहार की वाढ़

में मनुष्यता की संस्कृति के फूलों को बह जाने देंगे? आज इस बूढ़ी धरती पर भयानक धुआँ छा गया है। महानाश की आग जल रही है।

आज दुनियाँ के लोग नैराश्य और ग्लानि की दशा में हैं, इन्होंने अणु के दानव को स्वयं पैदा किया है और यह दानव अब उन्हें ही खा जाना चाहता है। अब यह नौजवानों का कर्त्तव्य है कि दुनियाँ के बीच विचारों का संगठन पैदा करें और संसार भर के लोगों का जीवन मानवीय गुणों से युक्त बनाएँ और पाशविकता को दूर करें।

उठे जूझने विश्व ⋯⋯जगता गुंजन !

शब्दार्थ—दुर्धर = प्रचड, जिसे पकड़ना कठिन हो। बलाहक = मेघ, बादल।

भावार्थ—आज विश्व युद्ध में जनचेतना के दो शिखर टकराने को उठे हैं अर्थात् एक ओर लोकतत्रामत्क अमेरिका और पूंजीवाद देश हैं और दूसरी ओर साम्यवादी रूस और चीन—इन दोनों की लोक चेतनाएँ टकरा रही हैं। आज दुनियाँ इस टकराहट से रुग्ण हो गई है, उसके हृदय में भीषण हलाहल (जहर) भर गया है। दुनियाँ में इस फैले हुए विष को दूर करना भारत के लिए ही सभव है। भारत अमृत-मेघ है (भारत ऐसा देश है जहाँ मेघ अमृत की वर्षा करते हैं।) क्या विश्व के प्राणों में आज भारत संजीवन संचार न करेगा? हे वीर नौजवानों! तुम पृथ्वी भर के मनुष्यों के कल्याण के लिए व्रती बनो जिससे भारत की युग-युग की साधना सार्थक हो जाय। आज एक नई सभ्यता का सृजन करो। आज नये युग के मनुष्य के बाहुओं में जड़-चेतन दोनों प्रकार के उपादान बाँध दो अर्थात् भौतिकवाद और आध्यात्मवाद में समन्वय उपस्थित करो। आज मनुष्य के अदर एक नई चेतना का विकास हो जो मानव के नवीन मूल्य और मान की प्रतिष्ठा करे। आज जो चारो ओर विनाश का ताण्डव हो रहा है, इसमें नवीन सृजन का मूल छिपा है। आज जो प्राचीन मान्यताएँ ढह रही हैं, प्राचीन सभ्यता मिट रही है, वह इसलिए कि संसार नवीन का रूप ग्रहण कर रहा है। आज विचारों के मेघ-गर्जन के बीच युग-परिवर्तन-रूपी निर्झर आसमान से उतर रहा है अर्थात् युग परिवर्तन

रूपी वर्षा हो रही है, ऐसी वर्षा जो बिजली की चमक से दीप्त है। आज मनुष्य के उपचेतन स्तरों में एक नवीन गुंजन आ रहा है, एक नयी आवाज पैदा हो रही है, आज मनुष्य के संस्कार एक नये साँचे में ढल रहे हैं, आज मनुष्य के गहनतम स्तरों में नई प्रवृत्तियाँ रूप धारण कर रही हैं।

जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज'

पं० जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' का जन्म रामपुर डीह ग्राम (भागलपुर) में २४ जनवरी, १९०४ ई० को हुआ था। बचपन से ही द्विजजी भावुक थे और उनकी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर हुई। बाद को वे स्कूल में पढ़े। स्कूली शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद वे बनारस गये, वहीं से एम० ए० की डिग्री अँग्रेजी और हिन्दी दोनों में ली। इसके बाद पहले वे राजेन्द्र कालेज के हिन्दी विभाग के अध्यापक रहे। सन् १९४५ में सच्चिदानन्द कालेज औरङ्गाबाद के प्रिंसिपल हुए और सम्प्रति पूर्णियाँ कालेज के प्रिंसिपल हैं।

जीवन-परिचय और उनकी रचनाएँ

द्विजजी का व्यक्तित्व अपना है और कोई भी उनसे टक्कर नहीं ले सकता है। वे विहार के सर्वश्रेष्ठ वक्ताओं में एक हैं। द्विज ने अधिक नहीं लिखा है, परन्तु उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उनकी निम्नलिखित रचनाएँ हैं—

काव्य—अनुभूति और अन्तर्ध्वनि।

कहानी-संग्रह—किसलय, मालिका, मृदुदल, मधुमयी।

रेखा-चित्र—रेखा-चित्र, जीवन देवता की वाणी।

आलोचना—प्रेमचन्द की उपन्यास-कला।

द्विज अपने जीवन के पहले प्रभात से ही संवेदनशील कवि रहे हैं जिसका समुचित विकास प्रौढ़ावस्था में हुआ। वे वेदना के गायक हैं, उनके काव्य का

मूल स्तर है करुणा। इनकी करुणा उधार ली हुई नहीं, वरन् स्वानुभूतिपूर्ण है। वेदना ही उनके जीवन का सर्वस्व है। 'उनकी वेदना जीवन की शुद्ध वेदना नहीं, वल्कि उसमें जीवन के विलास का आकर्षण है। अपने विरह दुःख को हृदय के भीतर पालनेवाली पतिप्राणा नारी की तरह वे अपनी वेदना को आध्यात्मिक आवरण देकर सुख की साँस लेते हैं। उनकी वेदना जीवन की शाश्वत भावना है और किसी भी आकांक्षा की पूर्ति से उसका शमन नहीं हो सकता—

द्विज की काव्य-साधना

अमर वेदना ही हो मेरे
सकल सुखों का मीठा सार।

अपनी वेदना को अमरता का विशेषण देकर अपनी काव्य-साधना के साथ-साथ उन्होंने उसे आत्मसाधना का भी विषय बना लिया है। द्विज की वेदना कविता में आत्मप्रवञ्चना के रूप में नहीं देखी जा सकती। वेदना या पीड़ा ही उनका मूल काव्याद्रव है और उसके स्मृति-स्पर्श से ही उन्हे काव्य-प्रेरणा मिलती है।

साहित्य-साधना के क्षेत्र में द्विज व्यक्तिवाद की प्रधानता का समर्थन करते हैं और इसी कारण वास्तव में वैयक्तिक अनुभूतियों के साधारणीकरण की आवश्यकता नहीं समझते। वास्तव में वैयक्तिक अनुभूतियों के होने से ही कविता सफल नहीं कही जा सकती है। सच तो यह है कि वे अनुभूतियाँ शाश्वत हों और पाठकों के हृदय को स्पर्श करने वाली हों, तभी वह शुद्ध-काव्य हो सकता है। यह बात 'द्विज' में हैं।

कवि का पालन-पोषण आभ्यन्तरिक एवं बाह्य परिस्थितियों की करुण विषमता के बीच हुआ है। इसीलिए वह 'जीवन' को 'रुदन-ज्वार का घर' मानता है। वह करुण सत्य का कायल है, न कि किसी प्रकार की वास्तविकता का अनुभव करनेवाला। आज का जीवन और जगत सुख का भूखा है, प्रेम का प्यासा है। चारों ओर निराशाओं, असफलताओं का दारुण साम्राज्य फैला हुआ है। हृदय इनके घेरे से न तो बाहर निकल सकता और न ही विलाप कर सकता है।

आज चारों ओर आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, मिलन-विच्छेद, सफलता-असफलता आदि के भीषण द्वन्द्व चल रहे हैं और प्रत्येक वर्ग का पूर्व पक्ष पराजित होता जा रहा है, उत्तर पक्ष को विजय मिलती जा रही है। सुतरां यह स्पष्ट है कि 'समाज के किसी अङ्ग का यथार्थ चित्र वे उपस्थित नहीं करते, वरन् समाज की विषम परिस्थितियों से उनके हृदय को जो ठेस लगी है, जो वेदना जगी है, उसी की अभिव्यंजना उनकी कविताओं के उपादान हैं। समाज के संघर्ष और कोलाहल की अपेक्षा अपने-आप पर उनकी प्रतिक्रिया करना ही इन्हे अधिक प्रिय है।' यथा—

मर मर कर जीना न पड़े माँ ग्लानि-गरल पीना न पड़े !
शीर्ण हृदय-अंचल को प्रतिपल रो-रो कर सीना न पड़े !
अरमानों की प्यास बुझाऊँ ताप तरल पीकर कैसे ?
ढोता चलूँ भार साँसों का जीवन बिन जी कर कैसे ?

· ·

जिऊँ, तुम्हें देखूँ जब हँसते प्रमुदित प्यार विलोकूँ मैं ;
जब न किसी से डरकर उमड़े आँसू अपने रोकूँ मैं ?

वास्तव में कवि के अन्तस् में जो प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई है, उसी की भावाभिव्यक्ति में वह तल्लीन है। उसके हृदय में जो व्यथा उमड़ी है, उसीकी अभिव्यक्ति में लीन है, इसीलिए उसे बाह्य वस्तुओं के अंकन का मौका कम मिलता है। अगर आलम्बन और उद्दीपन विभाव के रूप में अंतस्-व्यथा के 'कारण-रूप विकल-विश्व की भी कुछ झाँकी मिल जाती तो 'द्विज' का काव्य और भी अधिक सप्राण हो जाता। फिर भी, कार्य से कारण की कुछ व्यंजना तो हो ही जाती है। और 'द्विज' का करुण प्रेम जहाँ मर्मोद्‌गार के रूप में फूट रहा है, वहाँ केवल उस प्रेम के परम पुनीत रूप से ही हम परिचय नहीं प्राप्त करते पर परोक्ष रूप से प्रेमपात्र के व्यक्तित्व का साक्षात् भी अपनी अन्तर्दृष्टि द्वारा करते हैं। पर प्रेमपात्र परोक्ष नहीं है। वह अरूप काव्य अनन्त सत्ता नहीं है, जैसा कि कहा जा चुका है। प्रेम का आलम्बन लौकिक नहीं है, प्रेम में वासना की मांसल गंध नहीं, बल्कि हृदय का एकान्त

समर्पण और करुण आत्मीयता है। प्रेम की उच्चतम अभिव्यक्ति और पवित्रतम प्रतिक्रिया के दर्शन 'द्विज' की कविता में हम पाते हैं। इस स्थिति तक पहुँचने में कई सोपानों का उल्लघन कवि को करना होता है। कवि की वेदना वाह्य अभावों द्वारा जनित नहीं, वरन् आभ्यन्तरिक है, जो वैयक्तिक स्वार्थ-सीमा में बँधी हुई नहीं ... 'वह व्यक्ति को केवल उसकी अपनी ही व्यथा का अनुभव नहीं कराती और की व्यथा में भी रुलाती है।' ['अनुभूति' की भूमिका से]

यह जो कवि-वेदना है उसका जन्म प्रेम से होता है। इसका वेग जब प्रबल हो उठता है तब यह वेदना सकल संसार में व्याप्त हो जाती है। कवि के शब्दों में 'प्रेम पीड़ा की मीठी चोट खाये बिना आध्यात्मिक सङ्गीत की सृष्टि नहीं कर सकता। जिसके अन्तस्वर में प्रेम की निगूढ़ वेदना का क्रन्दन छिपा रहता है, वही कवि है।....कविता प्रेम की तरह

तपी नीरव जगती के मूक
तपस्वी की पावन अनुभूति,
है—विदग्ध हृदय की विभूति ?'

यही कारण है कि द्विज के समस्त काव्य में लौकिक प्रेम भावना के होते हुए भी अलौकिक पवित्रता का समन्वय पाते हैं। इनकी जो प्रेम-भावना है उसके मूल तत्व हैं—सहृदयता, वेदना-प्रियता, आत्मोत्सर्ग आदि। इसके समर्थन के लिए निम्नांकित सन्दर्भ एक प्रबल प्रमाण है—

विकल रुदन मेरे अधीर यौवन का शान्त, किये जाओ,
चूम प्रकम्पित इन अधरों को मधु का दान दिये जाओ।

भावना और अनुभूति 'द्विज' के काव्य में है पर कल्पना का उत्कर्ष नहीं। कल्पनारहित होने के कारण इनकी कविता छायावादी कविता से भिन्न है। यही कारण है कि इनके काव्य में चित्रात्मकता का अभाव है।

वेदना को ही इनकी रचनाओं में प्रश्रय मिला है। इसके दूसरे पक्ष को नहीं। अतएव काव्य का विषय-क्षेत्र संकुचित है। वेदनाप्रिय होने के हेतु ही वह "अभाव" को त्यागना नहीं चहता। उसे कोई दुःख नहीं क्योंकि;

मिटाकर ही अपना अस्तित्व
मिला करता है खोया प्यार ।

यही कारण है कि अभाव उसका जीवन-स्पदन है, उसका सब कुछ है और इसलिए 'अमर अभाव' की पूजा करता है—

साधना की वेदी पर बैठ,
पूजने दो यह अमर अभाव ।

इस सम्बन्ध में श्री लक्ष्मी नारायण सुधांशु ने लिखा है कि 'अभाव की पूजा तथा अपनी वेदना की विकृति में विशेष अनुरक्त रहने के कारण द्विज प्रकृति के भाव की पूजा करने में समर्थ न हो सके। जगत में अभाव कुछ नहीं; भाव की सत्ता सर्वत्र पायी जाती है। दार्शनिक बाध की तरह अभाव भाव की सत्ता के विनाश का द्योतक नहीं हो सकता। जीवन की अपूर्णता जिस सीमा तक सत्य है, अभाव भी उसी सीमा तक सत्य माना जा सकता है, किन्तु जब जीवन अपनी सारी अपूर्णताओं को रखते हुए भी जीवन ही रहता है तब भाव अपने अभाव की स्थिति के रूप में भी भाव क्यों न बना रहे। द्विज अपने सुख-दुःख की अपेक्षा रखकर ही प्रकृति का वर्णन करनेवाले कवि हैं, प्रकृति को मुख्य आलम्बन के रूप में ग्रहण कर चलनेवाले कवि नहीं। जीवन की सङ्गति के अनुरूप ही प्रकृति के उपर अपने सुख-दुःख को आरोपित करने की प्रवृत्ति प्रायः हिन्दी कवियों को रही है। ऐसे कवियों की वेदना का क्षेत्र भी रति-भाव के अन्तर्गत रहता आया है! द्विज करुणा के कवि हैं और इसी कारण विरही या विरहिणी की तरह प्रकृति को भी केवल विरह-क्लान्त रूप में ही देखने की आवश्यकता समझते हैं। उनकी करुणा में वैयक्तिक जीवन को प्रधान स्थान प्राप्त है। उसमें न तो अखण्ड मानवता के लिये स्थान है और न प्रकृति को ही अपनी सारी विभूतियों के साथ अँटने की जगह। संस्कृत के कवि भवभूति ने काव्य में करुणा को महत्त्व दिया उसके भीतर उन्होंने प्रकृति को भी अपनी सीमा में प्रतिष्ठा दी, किन्तु द्विज की कविता-प्रवृत्ति में विषाद इतना घनीभूत है कि वह अपनी छाया के अतिरिक्त जगत् में कोई दूसरी सत्ता नहीं देख सकता। उनकी सारी रचनाओं में दो-चार स्थलों पर आयास

या अनायास भाव से प्रकृति के वर्णन हैं। यहाँ प्रकृति को अपने स्वतन्त्र रूप की मर्यादा नहीं मिली है, अपने हृदय की पूर्व प्रतिष्ठित वेदना की प्रवलता व्यंजित करने के लिए द्विज ने प्रकृति के विहँसे स्वरूप में भी उपहास का ही अवसाद पाया है—

नभ के इन हँसते तारों का छिपा हुआ उपहास,
फेंक रहा मुझ निराधार को ग्लानि-अनल के पास।
नियत का कैसा निठुर विधान!
ढूँढने चलूँ कहाँ परित्रान?

शायद उनके जीवन में कभी प्रकृति को भी स्थान प्राप्त था, पर अब उनका जीवन-उपवन उजड़ गया है और उपवन के उजड़ने के बाद ही काव्य-देवता ने उसमें प्रवेश किया—

कलियों का यौवन बीता, अलियों के भाग विलाये!
मेरे उजड़े उपवन में तब हो तुम हँसते आये!

कवि के जीवन में जब तक प्रकृति शृंगार करती थी तब तक उनका कवित्व मौन था। प्रकृति का शृंगार हटते ही उनके जीवन में विषादमय उस परम तत्व में अपनी प्रतिष्ठा प्राप्त की। प्रकृति के उस पुराने आचार्य ने भी कवि के जीवन में कोई राग उत्पन्न नहीं किया, प्रत्युत् उससे उनको मादक सम्वेदना ही मिली—

किसकी यह छवि, किसका सिंगार।
मिल रहा पुनः किस मधुऋतु का

'द्विज के विषाद में वैयक्तिकता का अधिक समन्वय रहने के कारण सूफियों की-सी विरह-वेदना की एकनिष्ठता तो आ गई है, परन्तु एकनिष्ठता का निर्वाह करते हुए जीवन के विविध रसात्मक पक्षों की ओर उनकी दृष्टि नहीं गई। उनकी झोली छोटी है, वैभव का अधिक भार उठा सकने की उसमें समर्थता नहीं। प्रकाश की भीख माँगते उनको अंधकार ही मिलता है, किन्तु माँगने की आकांक्षा तो दूर नहीं होती। अपनी अनुभूति तथा अन्तर्ध्वनि को आत्म-साधना के अनुरूप अभिव्यक्त कर सकने की कवि में यथेष्ट क्षमता है। विषाद तत्व को अपनी काव्य-साधना का विषय बनाकर करुणा का इतना वैभव

बिखेरनेवाला हिन्दी में कोई दूसरा कवि नहीं। द्विज अपनी सीमा में एक बहुत ही मार्मिक कवि हैं।'

द्विज छायावाद युग के कवि हैं। अतएव उन पर उस युग की सामान्य प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ना जरूरी है। वे खड़ी बोली के कवि हैं और उनकी

द्विज की भाषा-शैली

रचनाओं में तत्सम् शब्दों की प्रधानता है, यथा—विह्वल, यातना, स्वप्न, अश्रु, क्लेश, सृजन, मुक्ति, उच्छ्वास। लेकिन कोमलता, सुकुमारता एवं भोलेपन को लाने के लिए कवि ने कहीं-कहीं तत्सम् के स्थान पर तद्भव शब्दों का प्रयोग किया है, जैसे—सिंगार, राज, नैन, नेह, हिय, हुलास, साँझ, विहान। 'श' को 'स', 'ण' को 'न' और 'क्ष' को 'छ' के रूप में भी लिखा। इस सम्बन्ध में कवि ने स्वयं काफी लिखा है, परन्तु इस प्रकार के दोषों को बचाया जाय तो बहुत अच्छा है। भाषा के स्वाभाविक स्वरूप को विकृत करना श्रेयस्कर नहीं। उर्दू के शब्द भी इनकी कविताओं में आए हैं जैसे—तस्वीर, दिल, मस्तानी, दीवानी, बला आदि। इस प्रकार के शब्दों से कवि ने काव्य-चरणों में रवानी लायी है, यह कोई विशेष दोष नहीं है। इनकी कविताओं में सूक्तियों की भरमार है—

१. जीवन रुदन-ज्वार का घर है।
२. दंभ, द्वेष, अविचार, अनय ने
शान्ति और सुख, स्वप्न बनाया।

युग्म शब्दों का भी प्रयोग काफी तौर से हुआ है—रीति-नीति, न्याय-नीति प्रीति-रीति; आशा-अभिलाषा आदि। इसके अतिरिक्त इसमें छायावाद की शैलीगत विशेषताओं का भी समन्वय हुआ है और वे हैं प्रतीक योजना एवं लाक्षणिक वैचित्र्य। प्रतीक-योजना का उदाहरण देखिये—

अब मेरे नभ में तारे! (नभ—जीवन)

लाक्षणिक वचित्र्य का उदाहरण देखिये—

अश्रु-यज्ञ की धूम घटा से
हाहाकार मचा अम्बर में

हिय है हहर रहा धरणी का,
भय प्रकम्प भीषण भूधर में !

रचना-विधान की दृष्टि से इनकी रचनायें गीतिकाव्य की सरणि में आती हैं क्योंकि इसमें आत्मनिष्ठ भावनाओं का प्राबल्य है। इनकी कविताओं में हम छन्दों की विविधता भी पाते हैं। इनकी रचनाओं में भाव-पक्ष प्रबल है और कला-पक्ष शिथिल है।

अभाव की पूजा

भावार्थ—प्रस्तुत कविता में कवि ने अपने अभाव की चर्चा की है। संसार में जब आत्मा शरीर धारण करती है तब उसका परमात्मा से वियोग हो जाता है। वह प्रकृति की सीमाओं के भीतर बध जाती है। अपने अज्ञान को दूर करने के लिए आत्माएँ ससार में लिप्त होती हैं, ज्ञानसीमा बढ़ाती हैं और उत्सुकतापूर्वक अधिक से अधिक वैभव बढ़ाने की चेष्टा करती है। कवि इस स्थिति को नहीं चाहता है। वह अपने अभाव को—कमी को—भूलना नहीं चाहता है। अभाव की उपासना में उसे शान्ति प्राप्त होती है और अभिमान भागता है। चाह और लोभ के परिणाम बड़े भीषण होते हैं। कवि उनका सामना करना नहीं चाहता है। परमात्मा ने परम आनन्द से विरत कर जब आत्मा को संसार में भेजा है तब संसार में उलझने की अपेक्षा अपने प्रकृत स्वरूप में रहना ही आत्मा के लिए श्रेयष्कर है। अभाव वाली स्थिति में पड़ा मनुष्य अविलम्ब परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। परन्तु अपने अभाव को नष्ट करने के लिए जो हाथ पैर पटक कर माया एकत्र करने लगेगा वह परमात्मा से निश्चय ही दूर हो जायगा। अतः अभाव की उपासना में दुःख भी मिले, तो उसे सहना चाहिए क्योंकि उसमें शान्ति मिलती है। इसी भावना से अनुप्राणित कवि स्वय अभाव को प्यार कर रहा है।

जीवन के पहले प्रभात ···· दारुण ज्योति पसार।

शब्दार्थ—पहले प्रभात=जन्मकाल। व्यथित हो=दुःखी हो कर। दारुण ज्योति=कष्टप्रद, चमक-दमक। पसार=फैलाकर। करुणा-नीर=करुणा का जल, आँसू।

भावार्थ—कवि अभाव की प्रथम अनुभूति को लक्षित कर परमात्मा को सम्बोधित करता हुआ कहता है—हे प्रिय! जीवन की आरंभिक दशा (जन्मकाल) में ही मुझको तुमसे वह वस्तु भेंट के रूप में मिली जिसे तुम अभाव वैभव का अनिस्तत्व—कहते हो। इस अभाव को दूर करने के लिए तुम अत्यन्त दुखी और व्याकुल होकर आँखों से आँसू बहाते हुए मेरे चारो ओर वैभव की कष्टदायिनी चमक-दमक फैलाते घूम रहे हो।

ज्योति वह दारुण है ......मुझसे इतना प्यार।

भावार्थ—कवि कहता है—हे देव! वैभव की तड़क-भड़क निश्चित रूप से कष्टप्रद है। मैं तो सदैव अभाव के अंधकार में रहने के लिए ही मानो बना हूँ। मुझे दुःख में डूब कर ही सुख मिलता है। मैं इसे त्याग कर किस सुख को प्राप्त करने की आकांक्षा करूँ। मैं कभी भी किसी सुख का प्यार अथवा उसकी उपासना का निर्वाह नहीं कर सकता।

वासना में विष है ......प्रश्रय, मधुर दुलार।

शब्दार्थ—संताप = दुःख। प्रश्रय = आश्रय।

भावार्थ—कवि कहता है कि वासनाओं में जहर भरा हुआ है, लालसा में जलन है, सुख में दुःख का अंश मिला हुआ है। इन सब की साधना करके मैं किस तरह पुण्य का सचय कर सकूँगा? इनकी साधना में पुण्य के स्थान में पाप की उपलब्धि होगी और पाप की मात्रा इतनी अधिक हो जायगी कि वे-केवल मुझमें ही सीमित न रहकर शेष सृष्टि मे व्याप्त हो जायँगी? विश्व की अभावजन्य वेदना को मुझसे बढ़कर आश्रय देनेवाला और उनसे प्यार करनेवाला उस अवस्था में भला कौन रहेगा? अतएव सुख की आराधना की अपेक्षा अभाव की पूजा ही मेरे लिए श्रेष्ठ है।

विरति पथ है कोलाहल ......मेरा सूना संसार।

शब्दार्थ—विरति-पथ = वैराग्य का मार्ग। कोलाहल हीन = शान्त प्रलोभन = लालच।

भावार्थ—कवि कहता है कि वैराग्य का मार्ग सर्वथा शान्त है। इसलिए मुझे इसी मार्ग पर चुपचाप चलने दो। मेरे साथ में चाहे कुछ दुर्बलताएँ भी रहे, लेकिन मुझे वैभव और सुख के प्रति लालच की अनुभूति न हो क्योंकि वह तो मानों शाप है। मुझे तो मेरी यह अभावपूर्ण सूनी दुनियाँ ही बहुत अच्छी लगती है।

जन्म भर तप ......साधना का न करो संहार।

शब्दार्थ—चाव = इच्छा। साधना = तपस्या। सहार = नाश।

भावार्थ—कवि कहता है कि मुझे आजीवन तपस्या करने के पश्चात् अभाव मिला है। मेरे जीवन का सर्वश्रेष्ठ सुख इसी में है। इसको प्राप्त कर लेने पर मुझे अब कोई दूसरी वस्तु पाने की अभिलाषा नहीं है। मेरे सामने मिथ्या वैभव का आकर्षक स्वरूप दिखाकर मेरी अभाव की एकान्त उपासना को नष्ट न करो।

लिए जो हलचल ·· इनकी भीड़ अपार।

भावार्थ—कवि कहता है कि मेरे सामने अपने साथ वैभव की जो हलचलों को लेकर आए हो उसे मैं अपने शरीर रूपी छोटे से घर में कैसे ठहरा सकूँगा? मुझको वैभव के प्रलोभन लूट लेंगे और मेरा आत्मिक सुख-सन्तोष नष्ट हो जायगा। इसलिए वैभव के इन उपकरणों के समूह को उठाकर ले जाओ। 'मुझे इनकी कोई जरूरत नहीं है'।

दाह अति शीतल है· ·अब तो बनकर छार।

भावार्थ—कवि कहता है कि अभाव की जलन या वेदना बड़ी शान्ति-दायिनी एव शीतल है। इसमें असाधारण अग्नि के समान लपटें नहीं उठतीं। इसलिए अभाव की अग्नि को शान्त करन के लिए आप करुणा के बादलों को न बरसाइए क्योंकि उनको कोई जरूरत नहीं है। मैं अभाव की जलन में चुपचाप बहुत जल चुका, अब तो साधारण धूलि के रूप में पड़ा हुआ हूँ।

विकल-विह्वल थी जब ......क्यों बरबस यों ढार।

शब्दार्थ—विकल-विह्वल = आकुल और बेचैन। मधुधार = प्रणय की भावना। उपक्रम = तैयारी। हो हत-चेत = बेसुध होकर।

भावार्थ—कवि कहता है कि जब प्रेम की भावना से आकुलता और बेचैनी थी तब मैंने उसका तृप्ति पूर्वक आस्वादन किया। किन्तु, अब फिर प्रेम के उस नशे की ओर मुझे ले जाने की तैयारी न करो। मैं उधर जाने पर फिर बेसुध और वेहोश होकर बह जाऊँगा, अतएव तुम क्यों जबरदस्ती प्रेम की इस प्रकार वर्षा कर रहे हो।

जगाओ अब न हिये की ···· निहारूँ जिनसे यह शृंगार।

शब्दार्थ—हिय = हृदय। हुलास = प्रसन्नता। निहारूँ = देखूँ।

भावार्थ—कवि कहता है कि मेरे हृदय में प्रेम की भावना को जाग्रत न करो, और अभिलाषाओं की तृष्णा को उद्दीप्त न करो। मुझे इस सूनेपन (एकान्तता) में ही सतोप, सुख, संयम, प्रसन्नता और उल्लास का अनुभव होता है। मेरे पास अब वह दृष्टि ही नहीं रही जिससे कि मैं वैभव की यह सजावट देखूँ और उसकी आराधना करूँ।

करो विचलित मत मुझको····· इसी में भरा तुम्हारा प्यार।

शब्दार्थ—विचलित = चंचल। चाव = उत्कट अभिलाषा।

भावार्थ—अन्तिम पंक्तियों में कवि कहता है—हे देव! वैभव की कुछ वस्तुएँ देने की उत्कट अभिलाषा का प्रदर्शन कर मुझे विचलित न करें। मुझे साधना की वेदी पर बैठकर अभाव की अमर भावना की उपासना करने दें। अभाव की इस अमर उपासना मे ही मुझे तुम्हारा अस्तित्व, अपना स्वरूप, और तुम्हारा प्यार अनुभूत होता है।

सुभद्रा कुमारी चौहान

सुभद्रा कुमारी चौहान हिन्दी-साहित्य की अप्रतिम सेविका थीं। जो कुछ लिखा, उसे निरी भावना, कल्पना और उपदेश नहीं बनाया। उनकी साहित्य-साधना जीवन में सत्य उतरती गई और उनके शब्द उनके कार्यों के यथार्थ प्रतीक बनते गए।

श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान का जन्म संवत् १९६१ में नाग पंचमी के दिन प्रयाग के निहालपुर मुहल्ले में हुआ था। उनके पिता ठाकुर रामनाथ सिंह जाति के वैश्य-क्षत्रिय थे। वे सुशिक्षित एवं शिक्षा-प्रेमी थे। उन्हे दो पुत्र और चार पुत्रियाँ थीं। सुभद्राजी से दो बहिनें बड़ी थीं और एक छोटी। उनके भाई ठाकुर राजबहादुर सिंह मध्यभारत के अजयगढ़ राज्य में सेशन्स जज थे। उनके दूसरे भाई ठाकुर रामप्रसादजी पहले सब-इन्सपेक्टर ऑफ पुलिस थे, लेकिन असहयोग-आन्दोलन का उनपर विशेष प्रभाव पड़ा, जिसके फलस्वरूप उन्होंने त्याग-पत्र दे दिया और व्यापार करना शुरू किया। उनकी प्रारंभिक शिक्षा प्रयाग स्थित क्रास्थवेट गर्ल्स कालेज में हुई। बाल्यावस्था में ही उनका विवाह खण्डवा के श्री लक्ष्मण सिंह चौहान के साथ सम्पन्न हो गया। ठाकुर साहब के उन्नत एवं स्वतत्र विचारों के कारण ही विवाहोपरान्त भी सुभद्राजी का अध्ययन क्रम चलता रहा। असहयोग-आन्दोलन में उन्होंने पढ़ना छोड़ दिया और राष्ट्रीय कार्य-क्षेत्र में आ गईं।

जीवन-परिचय

सुभद्राजी के हृदय में बहुत छोटी अवस्था से ही काव्यमय भाव भरे थे। जब और बच्चे खेल में लगे रहते तो वे टूटी-फूटी कविता में ही अपनी सहेलियों से कुछ उत्तर-प्रति-उत्तर करती थीं। कहीं भी उनकी दृष्टि किसी कविता पर पड़ जाती थी तो वे उसे चाव से पढती थीं और कठस्थ कर लिया करती थीं। उन्होंने बचपन में जो कवितायें लिखी थीं, उसकी कुछ पंक्तियाँ देखिये—

(१) तुम्हें बिना तड़पत सब लोगा।
तुम तो हो इस देश के गोगा॥

(२) भूमि जले जैसे हो आगी।
छिपै सभी घर भीतर भागी॥

गर्मी से व्याकुल नर-नारी।
जहँ बैठहि तहँ सींचहि बारी॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य लिखने की आदत उन्हे बचपन में लग गई थी जो आजीवन नहीं छूटी। शुरू में उनकी कवितायें 'भारत भगिनी', 'मर्यादा' आदि में प्रकाशित होती थीं। बाद में तो उनकी कवितायें हिन्दी के पत्रों में धड़ल्ले के साथ प्रकाशित होती रहीं और दिन-ब-दिन उनकी ख्याति फैलती गई।

ऊपर हम इस बात की चर्चा कर आये हैं कि सुभद्रा ने असहयोग-आन्दोलन के अवसर पर अपनी पढ़ाई स्थगित कर दी और तब से उन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता के संग्राम में सक्रिय भाग लेना आरम्भ कर दिया, क्योंकि उनके हृदय में देश-प्रेम अत्यन्त विशिष्ट स्थान रखता था। जिस वर्ष सुभद्राजी ने अपनी पढ़ाई स्थगित कर दी, उसी वर्ष उनके पति ने वकालत की परीक्षा पास की, लेकिन वकालत न करने को फैसला किया। उन दिनों ठाकुर लक्ष्मण सिंह जबलपुर चले गये और पं० माखनलाल चतुर्वेदी के साथ 'कर्मवीर' के सम्पादन एवं असहयोग-आन्दोलन में योग देने लगे। सुभद्राजी भी अपने पति के साथ जबलपुर में जाकर रहने लगी और राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेने लगी। उन्हीं दिनों, जब वे सत्रह वर्ष की थीं, राष्ट्रीय झण्डा सत्याग्रह के संबंध में गिरफ्तार हुई थीं। इसके बाद वह नागपुर में गिरफ्तार हुईं जिसके कारण उन्हें देश की प्रथम असहयोगिनी का गौरव मिला। 'प्रान्त की राजनीति और साहित्य-चेतना में सुभद्राजी का जीवन प्रगति के लम्बे पथ पर आनेवाली पीढ़ी के लिए मील का पत्थर बना। साहित्य में यह गौरव सुभद्राजी को ही प्राप्त है कि 'झासी की रानी' लिखकर एक ही दिन में देशव्यापी ख्याति प्राप्त की। सुभद्राजी सच्चे अर्थों में मानव थीं और यही विशेषता है उनकी साहित्य-साधना की और राजनैतिक जीवन की। उनके हर रूप में, हर कार्य में, हर बोल में मानवीयता थी। जीवन के अंतिम वर्षों में तो उनका जीवन मातृत्व का साकार रूप ही बन गया था। मुर्गी के बच्चों को बचाने की आतुरता में उन्होंने सं० २००४ की वसंत पंचमी को अपने प्राण ही दे दिये। मोटर-दुर्घटना और मृत्यु ''' '' मृत्यु का कितना लचर बहाना! आज सुभद्रा नहीं हैं; पर वे अपने पीछे एक प्रेरणा छोड़ गई हैं।

सुभद्राजी की काव्य-साधना के प्रमुख आधार उनकी भावुकता, शृंगार-प्रियता, देश-प्रेम और उत्साह आदि भावनाएँ हैं। उनमें निर्धनों एव उपेक्षितों के प्रति पर्याप्त संवेदनशीलता थी। इन्हीं विशिष्टताओं ने उनमें काव्य-रचना की प्रेरणा दी और उन्हीं की अभिव्यक्ति उनकी रचनाओं में हुई है। वे बचपन से ही कविता लिखती थीं। 'कर्मवीर' उनकी रचनाओं का प्रथम प्रकाशन-द्वार रहा है। उसके उपरान्त उनकी प्रतिभा-किरणे सारे हिन्दी-जगत् में फैल गयी। उनकी समस्त रचनाएँ पारिवारिक जीवन की लिपिबद्ध अनुभूतियाँ हैं। 'पहले उन्होंने देश के नवयुवकों को 'राखी' बाधी, परन्तु बाद में वात्सल्य-भावना से ओत-प्रोत होकर नारी-मनोविज्ञान की स्वाभाविक गतिशीलता में सलग्न हुई।' उनकी रचनाओं को हम निम्न वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

सुभद्राजी की रचनाएँ

(क) कविता-संग्रह—मुकुल और त्रिधारा। 'मुकुल' में उनकी ३६ कविताओं का संग्रह है और इसी पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की ओर से पाँच सा रुपये का सेक्सरिया पुरस्कार प्रदान किया गया था। 'त्रिधारा' में स्वरचित कविताओं के साथ ही प० माखनलाल चतुर्वेदी की 'भारतीय आत्मा' और केशव प्रसाद पाठक की कविताएँ भी सग्रहीत हैं।

(ख) कहानी संग्रह—बिखरे मोती और सीधे-साधे चित्र। सीधे-साधे चित्र' में उनकी नवीनतम कहानियाँ संग्रहीत हैं।

(ग) शिशु-साहित्य—सभा का खेल और झाँसी की रानी।

(घ) सम्पादित—विवेचनात्मक गद्य-विहार।

श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान प्रणय, परिवार एवं देश की कवियित्री हैं। किसी ने ठीक ही लिखा है—'स्वर्गीय श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान के नामोच्चार के साथ ही हमारे कानों में सहज ही 'खूब लड़ी मर्दानी, वह तो झांसी वाली रानी थी', के ओज-स्फूर्त स्वर, 'वीरों का कैसा हो बसत' का तेजस्वी उद्‌बोधन, 'बहन आज फूली समाती न मन में' की आत्मोल्लास-पूर्ण वाणी, और 'माँ

सुभद्राजी की काव्य-साधना

ओ ! कहकर बुला रही थी, मिट्टी खाकर आई थी' के ममता भरे मृदुबोल गूँज उठते हैं। सुभद्रा जी हिन्दी वाङ्मय के सुरम्य उद्यान की कोकिला ही नहीं, वे अपने युग की पराधीन, उत्पीड़ित जनता के सहज मानव अधिकारों को प्राप्त करने के उन्मद और अमिट संकल्प की ओजस्वी वाणी तथा उन अधिकारों का अदम्य, अप्रतिहत जयघोष भी हैं। सुभद्राजी के साहित्य में उनके युग की आत्मा, अपनी सम्पूर्ण प्रखरता, प्रोज्वलता और उदारता के साथ प्रकट हुई है। कहा जाता है कि युग और उसकी परिस्थितियाँ साहित्य का निर्माण करती हैं। उनका साहित्य, अपने युग का प्रतिबिम्ब है, परिचायक है। साथ ही साहित्य एक ऐसे युग का आवर्तक, ऐसी परिस्थितियों का श्रष्टा भी होता है जो उसकी कल्पना, आदर्श और आकांक्षाओं में प्रच्छन्न रूप से मूर्त्त रहती हैं। यह बातें सुभद्रा जी के साहित्य के विषय में पूर्ण सार्थकता के साथ चरितार्थ होती है। सुभद्रा जी ने भारती के मन्दिर में 'स्वांतः सुखाय' या केवल 'कला कला के लिए' की भावनाओं से अभिभूत होकर प्रवेश नहीं किया। उनका पूरा साहित्य न कोरा वाग्विलास है और न आत्मविलास। उनके सम्पूर्ण साहित्य में एक सापेक्षता है, संकल्प है, आदर्श और उनके अपने मूल्य हैं। उनके शब्दों में—

जरा यह लेखनियाँ उठ पड़े,
मातृभूमि को गौरव से मढ़े।
करोड़ों क्रान्तिकारिणी मूर्ति,
पलों में निर्ममता से बढ़े॥

तथा यह कि—

जननी के दुःख की घड़ियाँ कटें,
सजा दें पूजा का साहित्य।

और—

हमारी प्रतिभा साध्वी रहे
देश के चरणों पर ही चढ़े।

'सर्वविदित है कि सुभद्राजी का जीवन राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए उत्सर्जित, उत्सर्गमय जीवन की यशोधवल कथा है। आंगन में बालकों के साथ मनोविनोद करती हुई माँ के रूप में, भाई की वलिष्ट जा पर राखी बाधती हुई बहिन के रूप में, वसन्तोत्सव मनाने के लिए अपने कंत का आह्वान करती हुई कांता के रूप में—हम सुभद्रा जी को कभी उन्मुक्त भाव से आनन्द निमग्ना के रूप में नहीं देख पाते। सुभद्रा जी को नारी को जैसे एक क्षण के लिए भी यह विस्मृत नहीं होता कि उसका देश पराधीनता की वेड़ियों में जकड़ा हुआ है और वह हर उल्लास और उत्सव के अवसर पर भी, बच्चों से, भाई से, कंत से और इस तरह राष्ट्र के समस्त पुरुषवर्ग से—राष्ट्र की माताओं, बहनों और प्रेयसियों की ओर से—माँ की वेड़ियाँ तोड़ने का संकल्प वरदान स्वरूप माँग बैठती हैं। हिन्दी वाङ्मय को सुभद्रा जी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं मूल्यवान योगदान उनका बाल-साहित्य है। हम हिन्दी भाषी आज चाहे जितने गर्व से इस बात का उद्घोष करें कि अकेले सूरदास ने हिन्दी साहित्य को वात्सल्य रस के अपूर्व योगदान से इतना अधिक समृद्ध किया है कि हिन्दी साहित्य विश्व के किसी भी सभ्य देश के समुन्नत साहित्य से हेय या रंक नहीं है तथापि आधुनिक हिन्दी साहित्य में वात्सल्य रस जिस प्रकार अछूता-सा और उपेक्षित है, वह खेदजनक ही नहीं, चिन्ताकारी और लज्जाजनक है। इस कथन में किंचित अतिशयोक्ति नहीं कि साहित्य क्षेत्र में सुभद्रा जी के अवतरण के साथ ही बाल साहित्य का यथार्थ और यशस्वी प्रवर्तन हुआ और उनकी अंतिम साँसों के साथ वह जैसे अनाथ-सा हो गया है। इस कथन का तात्पर्य्य यह कदापि नहीं कि इस दिशा में कुछ लिखा ही नहीं गया है, किन्तु जिस स्वाभाविकता, सजीवता और मनोग्राही रोचकता के साथ बालचरित्र का चित्रण सुभद्राजी की यशस्वी लेखनी से हुआ है, वैसा अन्यत्र लक्षित नहीं होता। यह स्वाभाविक ही है। सुभद्राजी माँ थीं और उन्होंने अपने जीवन की प्रत्यक्ष और यथार्थ अनुभूतियों को भावुकता और कल्पना के माध्यम से इतनी मार्मिकता के साथ अंकित किया है कि हम स्वयं उनके बड़े-छोटे 'जिज्जी', 'मुन्ना' के साथ आंगन में उतर आते हैं।

सुभद्राजी के वालसाहित्य में, इस दिशा में प्रणीत अन्य सामयिक साहित्य की अपेक्षा, एक विशिष्टता है, अनूठापन है। इसका प्रमुख कारण है—उनके विषय और प्रसग निर्धारण की मौलिकता, काव्य-प्रसंग में प्राणवान वातावरण की सृष्टि करने की अद्भुत क्षमता, वालकों के लिए सहज स्वभाव और सुवोध, मधुर भाषा। लेखन-शैली ही लेखक का व्यक्तित्व है और सुभद्राजी के सम्पूर्ण साहित्य में उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप है। सर्वप्रथम सुभद्रा जी के वाल-साहित्य का पाठक के मन पर जो तात्कालिक और प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है, उसका कारण सुभद्राजी द्वारा स्वाभाविक, नित्य जीवन के प्रसंगों का चयन करना तथा वाल नायक-नायिकाओं के सहज-सरस जीवन को उतने ही सहज स्वाभाविक, अलंकृत रूप से अंकित कर देना है। सुभद्राजी के प्रसंग सर्वत्र बड़े स्वाभाविक और अकृत्रिम हैं। वे प्रसग रोचक और हृदय-ग्राही हैं क्योंकि वे गढ़े नहीं गए, वास्तविक जीवन की झांकी वनकर आये हैं। अतः वालक और वयस्क पाठक, दोनों ही का उसके भाव और वातावरण के साथ आशु तादात्म्य स्थापित हो जाता है। सुभद्राजी की दूसरी विशिष्टता है, वाल चरित्र के चित्रण में अपूर्व कुशलता। वालचरित्र की अद्भुत अन्तर्भेदिनी दृष्टि उन्हे प्राप्त है और माँ होने के कारण वाल मनोवृत्तियों का गहन अध्ययन और सूक्ष्म विश्लेषण भी। सुभद्राजी के वालसाहित्य में प्रवाह-शीलता, प्रभावकारिता और प्राणवानता वालचरित्र के इस चित्रण की अपूर्व कुशलता के कारण ही है।' * इसके कुछ उदाहरण देखने योग्य हैं—

(१) वनिये की दूकान पर अम्मा आये हैं पतंग इतने।
एक नहीं, दो नहीं, सुनो माँ उतने तारे हैं जितने ॥

(२) घर में बैठी-बैठी जाने क्या करती रहती दिन रात।
आओ चलकर बाहर देखो, उड़ती है पतंग कितनी ॥

(३) यह मेरी गोदी की शोभा सुख सुहाग की है लाली।
शाही शान भिखारिन की है, मनोकामना मतवाली ॥

---

* श्री रघुनाथ प्रसाद तिवारी

दीपशिखा है अंधकार की घनी घटा की उजियाली।
ऊषा है यह कमल भृंग की है पतझड की हरियाली॥

\+ + + + +

परिचय पूछ रहे हो मुझ से—कैसे परिचय दूं इसका?
वही जान सकता है इसको माता का दिल है जिसका!

(४) पाया मैंने बचपन फिर से, बचपन बेटी बन आया,
उसकी मंजुल मूर्ति देखकर मुझमें नवजीवन आया।
जिसे संजोती थी बरसों से अब जाकर उसको पाया॥
भाग गया था मुझे छोड़कर बस बचपन फिर से आया।

—इस प्रकार हम देखते हैं कि सुभद्राजी में मातृत्व-भावना पूर्णरूप से समन्वित है। उनमें माता का हृदय है। वह कभी परानुभूति, कल्पित भावानुभूति को लेकर नहीं चली हैं, उनकी समस्त अनुभूति अपनी है।

सुभद्राजी की कविता का दूसरा विषय है—दाम्पत्य भाव। उनकी पहली अनुभूतियाँ सरस दाम्पत्य-प्रेम से प्राप्त हुई हैं। इन अनुभूतियों को उन्होंने अपनी कविताओं में अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से अभिव्यक्त किया है जिसे पढ़कर या सुनकर मानव उसमें अपने प्राणों की धड़कन सुनने लगता है। फिर वही अनुभूति सार्वजनिक हो जाती है। 'चलते समय' कविता में उनके नारी हृदय की व्यंजना का अनुमान इन पक्तियों से लगाइए—

मैं सदा रूठती ही आयी, प्रिय! तुम्हें न मैंने पहचाना।
वह मान बाण-सा चुभता है, अब देख तुम्हारा यह जाना॥

\+ + + + +

'तो मुझे पूछते हो जाऊँ?' मैं क्या जवाब दूं तुम्हीं कहो।
जा—कहते रुकती है जबान, किस मुंह से तुमको कहूँ 'रहो'॥

'भाव की सरल और सहज सुन्दरता ही इनकी सरलता है। सच्ची अनुभूतियों में एक प्रकार की विद्युद्धारा (Electric Current) रहती है जो जन-जन

के मन को स्पर्श करके उसे मधुर और मार्मिक आघातों (Shocks) से आन्दोलित कर देती है। दाम्पत्य प्रेम के मधुर मोहक मुहूर्तों को कवियित्री ने सहज-सरस भाव से अमर कर दिया है।' इसकी अभिव्यक्ति निम्नांकित पंक्तियों में हुई है—

हुई प्रेम विह्वल मैं उनके चरणों पर बलिहार गई।
बदले में प्रिय का चुम्बन पा जीत गई या हार गई॥
उस शाबासी से, कृतज्ञता से, तस्वीर खिंचाने से।
हुई खुशी से मैं पागल-सी प्रिय का चुम्बन पाने से॥

प्रियतम से की गई मनुहार भी कितनी संवेदनशील है इसकी भी एक झाकी देखिये—

बहुत दिनों तक हुई प्रतीक्षा अब रूखा व्यवहार न हो।
अजी, बोल तो लिया करो तुम, चाहे मुझ पर प्यार न हो॥
जरा जरा-सी बातों पर मत रूठो मेरे अभिमानी।
लो, प्रसन्न हो जाओ—गलती मैंने अपनी ही मानी॥

भारतीय नारी का आदर्श आत्मसमर्पण में ही है। सुभद्राजी की कविता में यह आत्मसमर्पण बड़े ही दैन्य भाव से प्रकट हुआ है—

पूजा और पुजापा प्रभुवर, इसी पुजारिन को समझो।
दान दक्षिणा और निछावर, इसी भिखारिन को समझो॥
मैं उन्मत्त प्रेम की प्यासी, हृदय दिखाने आयी हूँ।
जो कुछ है बस पास यही है, इसे चढाने आयी हूँ॥

समय के परिवर्तन के साथ सुभद्राजी का दाम्पत्य प्रेम राष्ट्र-प्रेम में परिवर्तित हो चला और कवियित्री 'परिस्थिति के आग्रह से राष्ट्रीयता के गहरे रंग में रंग गई।' इस क्षेत्र में भी उनकी स्वानुभूति ही व्यक्त हुई है। उन्होंने अपने राजनीतिक जीवन में जो कुछ भी अनुभव किया उसे छन्दों में बाँध दिया जिसके कारण उनकी कविताएँ अन्तस्तल तक पहुँच कर अत्यन्त ही गहरा प्रभाव डालती है। राष्ट्र-प्रेम से सम्बन्ध रखनेवाली कविताओं की आत्मा में

सत्य और सुंदर तो हम देखते ही हैं, लेकिन उनकी अभिव्यक्ति में जैसा चाहिए, ओज की वहार भी अच्छी देखने में आती है—

विजयिनी माँ के वीर सुपुत्र पाप से असहयोग लें ठान।
गुंजा डालें स्वराज्य की तान और सब हो जावें वलिदान॥
सबल पुरुष यदि भीरु वनें तो हमको दे वरदान सखी!
अबलाएँ उठ पड़े देश में करें युद्ध घमसान सखी॥
पंद्रह कोटि असहयोगिनियाँ दहला दें ब्रह्मांड सखी।
भारत-लक्ष्मी लौटाने को रच दें लंका कांड सखी॥

'विदा' शीर्षक कविता में सत्याग्रही प्रिय की विदा का अत्यन्त मार्मिक प्रसंग है। जब हमारा देश गुलाम था तब भारतीयों को जो यातनाएँ सहनी पड़ी, उसका वास्तविक चित्र देखिये—

हाथ काँपता, हृदय धड़कता है मेरी भारी आवाज,
अब भी चौंकाता है जालियाँवाले का गोलन्दाज।
वहने कई सिसक्ती हैं हाँ, सिसक न उनकी मिट पाई।
लाज गँवाई, गाली पाई, तिस पर भी गोली खाई!

आगे की पंक्तियों में करुण रस की सुंदर व्यंजना हुई है—

कोमल वालक मरे जहाँ गोली खा-खा कर,
कलियाँ उनके लिए चढ़ाना थोड़ी लाकर,
आशाओं से भरे हृदय भी खिन्न हुए हैं—
अपने प्रिय परिवार-देश से भिन्न हुए हैं—
कुछ कलियाँ अधखिली वहाँ इसलिए चढ़ाना,
करके उनकी याद अश्रु के ओस बहाना,
आओ प्रिय ऋतुराज! किंतु धीरे से आना,
यह है शोकस्थान, यहाँ मत शोर मचाना!

राष्ट्रीय आन्दोलन ने अनेक व्यक्तियों के प्राणों में एक अलौकिक शक्ति भर दी जिसके फलस्वरूप 'सियार' 'शेर' वन गए, 'अवलायें' 'सवलायें' कहलाने

लगीं। भारतीय नारीत्व की हुंकार कवियित्री के मुख से इस प्रकार मुखरित हुई—

सबलपुरुष यदि भीरु बने तो हमको दे वरदान सखी।
अबलाएँ उठ पड़ें देश में करें युद्ध घमसान सखी।

आन्दोलन की सफलता के लिए कवियित्री 'विजया' से आत्मिक-बल की याचना करती हुई कहती हैं—

दो विजये, वह आत्मिक बल दो, वह हुंकार मचाने दो,
अपनी निर्बल आवाजों से दुनियाँ को दहलाने दो!
जय स्वतंत्रिणी भारत माँ, यों कह कर मुकुट लगाने दो।
हमें नहीं इस भूमण्डल को माँ पर बलि-बलि जाने दो।

वस्तुतः कवियित्री के मानस का वह स्वप्न आज सत्य हो गया है। 'झाँसी की रानी' उनकी सर्वोत्कृष्ट कविता है। वह कविता अत्यन्त लोकप्रिय है और 'झाँसी की रानी' की चर्चा होते ही प्रायः सभी लोगों के मुँह से अनायास ये पंक्तियाँ फूट पड़ती हैं—

बुंदेले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी॥

पं० गणेश प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—'हम देखते हैं कि किसी महान व्यक्तित्व का आश्रय लेकर जो कविता खड़ी होती है, वह 'क्लासिक' (स्थायी साहित्य की वस्तु) हो जाती है, पर शर्त यह है कि कविता भी उस व्यक्ति के अनुरूप ही होनी चाहिए। हम कह सकते हैं कि 'तुलसी' और 'सूर' यदि 'राम' और 'कृष्ण' के स्थान पर किसी साधारण आश्रयदाता के संबंध में काव्य-रचना करते—जैसा देव, मतिराम आदि ने किया था—तो उनकी कविता को और उनको कविता-क्षेत्र में इतना ऊँचा स्थान प्राप्त न होता। इसी प्रकार शिवाजी के समान उन्नत और लोकप्रिय वीर भूषण के काव्य को चिरस्थायी बनाने में सहायक हुआ। ठीक यही बात सुभद्राजी की कविता और रानी लक्ष्मीबाई के व्यक्तित्व के संबंध में कही जा सकती है। एक वीर रमणी के प्रति एक स्त्री-

कवि के उद्‌गार होने के कारण ही इस कविता में एक विशेष आकर्षण और जिन्दादिली आ गई है, जो कि शायद किसी पुरुष कवि के काव्य में नहीं आ सकती।'

सुभद्रा की कविताओं में माखनलाल चतुर्वेदी के समान कुछ राष्ट्रीय प्रतीक भी हैं। राखी और हथकड़ी, मोहनदास (गाधी) और मोहन (कृष्ण), सुभद्रा और सुभद्रा (कवियित्री) उनकी कविताओं में एकाकार हो गए हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

(क) भैया कृष्ण ! भेजती हूँ मैं अपनी राखी तुमको आज !

(ख) डर है कहीं न मार्शल-ला का फिर से पड जाये घेरा।
ऐसे समय द्रौपदी जैसा कृष्ण सहारा है तेरा।

(ग) यदि हाँ, तो यह लो मेरी इस राखी को स्वीकार करो।
आकर भैया बहिन 'सुभद्रा' के कष्टों का भार हरो।

राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत कविताओं में 'मेरी कविता', 'जालियाँवाला बाग में वसंत', 'विजयी मयर', 'झाँसी की रानी' आदि विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं।

डा० सुधीन्द्र ने ठीक ही लिखा है कि 'प्रेम, देश-भक्ति और वात्सल्य की यह त्रिवेणी कवियित्री की अक्षय काव्यनिधि है। गाँधी युग के महाक्रान्ति के साधक स्वदेश की नारी जाति की कोमलता और करुणा, पौरुषेय और ओजस्विनी भावनाओं का सबल और सफल प्रतिनिधित्व उन्होंने किया है। प्रेमदीवानी मीरा से लेकर महादेवी तक हिन्दी कवियित्रियों में स्वर्गीय सुभद्रा कुमारी चौहान का स्थान अमिट और अप्रतिद्वंद्वित है।'

श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान ने बहुत थोड़ा लिखा, परन्तु जो कुछ लिखा वह उन्हे अमर करने के लिए पर्याप्त है। उनकी अनेक कविताएँ सर्वसाधारण की जिह्वा पर विद्यमान है क्योंकि उसकी भाषा सरल एवं प्रचलित खड़ी बोली है। उनकी भाषा में सरलता, व्यवहारिकता एवं अलकारहीनता ही सबसे बड़ी विशेषता है। उनकी खड़ी

भाषा-शैली

बोली में उर्दू तथा फ़ारसी के प्रचलित शब्द ही व्यवहृत हुए हैं, यथा—गुमान, गुज़रो, जवान, दाग, हाल, सवाल, नासमझी, तदबीर, शाबासी, तस्वीर, मंजिल, शायद, परवाह, मौत, आबाद आदि। आवेग और प्रवाह-पूर्ण भाव-धारा के कारण उनकी भाषा में किसी प्रकार की कृत्रिमता एवं अवरोध नहीं है। उनकी कविता-कामिनी आधुनिक युग की नारी की तरह ही यद्यदि प्रसाधन-विहीन है, परन्तु उसमें आवेग और ओज पर्याप्त है। उनकी वर्णन शैली में सादगी है, कहीं भी वक्रता नहीं है इसलिए हम कह सकते हैं कि उनकी कोई अपनी विशेष शैली नहीं है। उनकी राष्ट्रीय कविताओं का वेग, प्रवाह और संवेदनशीलता अत्यन्त उच्च कोटि की है। उनकी सभी रचनाओं में प्रसाद गुण प्रचुर मात्रा में है, कहीं भी जटिलता एवं उलझन नहीं है। उन्होंने किसी वाद की शैली का अनुकरण नहीं किया है। निम्न पंक्तियों से उनकी भाषा, शैली एवं भाव तथा आदर्श सम्बन्धी विचारों की एक सच्ची झाँकी मिलती है—

सूखी सी अधखिली कली है, परिमल नहीं पराग नहीं।
किन्तु कुटिल भौंरों के चुम्बन का है इस पर दाग नहीं॥

हम यह कह चुके हैं कि उनकी कविता में खड़ी बोली का मिश्रित रूप है जिसमें सरलता एवं व्यावहारिकता है—

फौरन फौज भेज दुर्ग पर अपना झण्डा फहराया,
लावारिस का वारिस बनकर ब्रिटिश राज्य झाँसी आया।

अब हम एक उदाहरण पेश करते हैं जिसकी पंक्तियों में भाषा की गति एवं भावना की निविड़ता दर्शनीय है—

वीणा बज-सी पड़ी खुल गए नेत्र और कुछ आया ध्यान।
मुड़ने की थी देर मिल गया उत्सव का प्यारा सामान॥
जिसको तुतला-तुतला करके शुरू किया था पहली बार।
जिस प्यारी भाषा में हमको प्राप्त हुआ है माँ का प्यार॥
जिस हिन्दूजन की गरीबिनी हिन्दी प्यारी हिन्दी का।
प्यारे भारतवर्ष कृष्ण की उस वीणा कालिन्दी का॥

ओजपूर्ण वर्णन-शैली का नमूना लीजिये—

सिंहासन हिल उठे राजवंशों ने भृकुटी तानी थी।
बूढ़े भारत में भी आयी फिर से नई जवानी थी॥
गुमी हुई आजादी की कीमत सब ने पहचानी थी।
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी॥

सुभद्राजी ने अलकारों को ठूँस-ठूँस कर काव्य में भरने का प्रयास नहीं किया है। सरल भाव तथा अर्थों को व्यक्त करना ही उनकी काव्य प्रतिभा है। छन्दों के प्रयोग में भी वह व्यावहारिकतावादी हैं और उन्होंने सीधे सादे छंदों को अपनाया है। उनकी कविताए तुकान्त हैं तथा उनका तुक बहुत दृढ़ और आकर्षक है। प्रायः अंतिम शब्द और अक्षर दोनों ही की ध्वनि का तुक बहुत अच्छा और गठा हुआ होता है। इसका यह अर्थ नहीं की उनकी कविताओं में दोष नहीं है। कहीं-कहीं उन्होंने पदपूर्ति के लिए असमर्थ एवं अनगढ़ शब्दों का प्रयोग किया है और कहीं-कहीं उर्दू के शब्दों के खटकने वाले प्रयोग भी। कविताओं में यत्रतत्र मात्रा-भग का दोष भी है फिर भी उनकी साहित्य-साधना महत्वपूर्ण एवं आदरणीय हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सुभद्राजी की रचनाएँ हिन्दी साहित्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। वह एक उच्चकोटि की कवियित्री ही नहीं प्रत्युत् कहानी लेखिका भी हैं। उनकी लेखनी से जो भी साहित्य निकला है, वह अपनी विशिष्टताओं के कारण अत्यन्त लोकप्रिय है। उनकी कविता की हर पक्ति में मानव हृदय का स्पन्दन भरा पड़ा है। उसमें रक्त-प्रवाही नाड़ियों में रक्त को प्रवाहित करने की अद्भुत क्षमता हैं। उन्होने जो कुछ भी लिखा है वह अनुभूति के माध्यम से लिखा हुआ है न कि चमत्कार प्रदर्शन के हेतु। यह बिल्कुल सच है कि भौतिक रूप से सुभद्राजी इस ससार में नहीं हैं, परन्तु अपनी रचनाओं के कारण वह अजर, अमर और अविनाशी हैं। हिन्दी की कवियित्रियों में उनका विशिष्ट स्थान है।

उपसंहार

ठुकरा दो या प्यार करो

देव तुम्हारे कई उपासक ··· ···पूजा करने को आई।

शब्दार्थ—उपासक=पूजा करनेवाले। कई रंग की=विभिन्न प्रकार के।

भावार्थ—प्रस्तुत पंक्तियों में कवियित्री श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान ने अपने हृदय की भावनाओं को अभिव्यक्त किया है। इसमें उसका कार्पण्य अभिव्यक्त हुआ है। वह अपने ईष्टदेव से कहती है—हे देव। तुम्हारे अनेक उपासक हैं, उनकी संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती है। वे तुम्हारी आराधना, तुम्हारी पूजा अनेक प्रकार से करते हैं। वे तुम पर चढ़ाने के लिए अनेक कीमती वस्तुएँ लाते हैं। वे तुम्हारे मन्दिर में साजबाज एवं धूमधाम से प्रवेश कर पूजा करते हैं और फिर तुम्हारे चरणों पर मोती और मणि जैसे अनमोल भेंट अर्पित करते हैं। परन्तु, मैं अत्यन्त निर्धन हूँ और अपने साथ कोई भी वस्तु लेकर नहीं आयी हूँ। मेरे पास तुम्हारे चरणों पर अर्पित करने को कोई वस्तु नहीं है। फिर भी साहस बटोर कर तुम्हारे मन्दिर में पूजा करने को आ गई हूँ।

धूप दीप नैवेद्य नहीं है···· ···नाथ! चली आयी।

शब्दार्थ—नवेद्य=भोग लगाने की सामग्री। माधुर्य=मिठास। चातुर्य=चतुराई। विधि=पद्धति, तरीका।

भावार्थ—कवियित्री अपने आराध्यदेव से कहती है कि मैं एक दरिद्र उपासिका हूँ। मैं तो आप के मन्दिर में साहस बटोर कर चली आयी हूँ। मेरे पास न तो धूप, दीप और भोग लगाने की सामग्री ही है और न धूमधाम, साजबाज के साथ शृंगार करने के ही साधन हैं। इतना ही नहीं, मेरे पास तो फूलों की एक माला भी नहीं है जिसे आप के गले में डाल सकूँ। मैं आपका कीर्तन करने में बिल्कुल असमर्थ हूँ क्योंकि मेरे स्वर में मिठास का नितान्त अभाव है और अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए वचन में जो चातुर्य होता है, उसका नितान्त अभाव है। पूजा के समय में लोग दान-दक्षिणा देते हैं पर मेरे पास तो उसके लिए भी कुछ नहीं है। इसके अतिरिक्त आपकी पूजा किस

प्रकार की जाती है, वह भी मैं नहीं जानती। अतएव फिर भी हिम्मत कर आपके मन्दिर में चली आयी।

पूजा और पुजापा प्रभुवर····ठुकरा दो या प्यार करो।

शब्दार्थ—पुजावा = पूजा की सामग्री। उन्मत्त = पागल। अर्पित है = चढ़ाया है।

भावार्थ—अपनी दीनता को अभिव्यक्त करती हुई कवियित्री कहती है—हे देव! मैं पूजा करने के लिए मन्दिर में आ तो गई अवश्य, परन्तु मेरे पास कुछ नहीं है। पूजा करने के लिए पूजा की सामग्री की आवश्यकता होती है, अतएव आप मुझ जैसी दरिद्रा उपासिका को ही पूजा एव उसकी सामग्री समझ लें क्योंकि मेरे पास कुछ भी नहीं है। मैं तो आपके प्रेम की प्यासी हूँ और अपना प्रेमपूर्ण हृदय हो आपको अर्पित करने के लिए चली आयी हूँ। हृदय के सिवा मेरे पास और कुछ भी नहीं है। मैं इस हृदय को ही आपके चरणों पर चढ़ाती हूँ, यदि आपकी इच्छा हो तो उसे अपने पास रख लें। यह आपकी ही वस्तु है, जिसे मैं दे रही हूँ। आप चाहें तो इसे स्वीकार भी कर सकते हैं और ठुकरा भी सकते हैं।

रामधारी सिंह 'दिनकर'

क्रांतिदर्शी कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' का जन्म मुंगेर जिलान्तर्गत सिमरिया घाट में सन् १६०८ में हुआ। सिमरिया गाँव गगा नदी के किनारे, मोकामा घाट के उत्तर में, स्थित है। दिनकर की प्रारम्भिक शिक्षा ग्राम की पाठशाला में हुई। उन्होंने मैट्रिक तक मोकामा हाई स्कूल में पढा। सन् १६३२ में पटना विश्व-विद्यालय से बी०ए० की परीक्षा, इतिहास में आनर्स के साथ पास की। हिन्दी से उनका प्रेम बचपन से ही था और टूटे-फूटे शब्दों में कविताएँ लिख लिया करते थे। उनकी काव्य-साधना का आरंभ सन १६३० से होता है। बी०ए० परीक्षा पास करने के बाद

जीवन-वृत्त

शायद बरबीघा हाई स्कूल में कुछ वर्षों तक हेडमास्टर रहे। तदनन्तर वे सब-रजिस्ट्रार के पद पर नियुक्त किये गए। सन् १९३५ में उनकी सर्व-प्रथम रचना प्रकाशित हुई 'हुंकार'। इसी काव्य-पुस्तक ने उन्हे लोकप्रिय कवि बनाया। सन् १९३५ में वे बिहार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के तेरहवें अधिवेशन के कवि-सम्मेलन के अवसर पर सभापति चुने गए। द्वितीय महायुद्धकाल में वे प्रचार-विभाग में एक विशेष अधिकारी के पद पर नियुक्त किये गए और उस समय उनका काम रह गया था—सरकार को नीति का प्रचार कविता के माध्यम से करना। सन् १९४७ में भारत स्वतंत्र हुआ और बाद में कॉंग्रेस सरकार ने उनकी प्रतिभा एवं रुचि के अनुकूल भार उन पर सौंपा। वे हिन्दी के अध्यापक बनाकर मुजफ्फरपुर-स्थित लंगट सिंह कॉलेज में भेज दिए गए और आजकल वे भारत-सरकार द्वारा निर्वाचित संसद-सदस्य हैं।

व्यक्तित्व

'एक छः फीट लम्बा नौजवान, रंग गोरा, शरीर भरा हुआ, कानों की लम्बाई ध्यान खींचनेवाली, आँखों की ज्योति न तो शीतल और न कुपित—मानों उन्होंने संसार से समझौता कर लिया हो—ठीक वैसे ही, जैसे पन्तजी के वेश में उनके केश प्रधान हैं। स्वभाव और आकार दोनों में क्षत्रियत्व की झाँकी, मित्रों के मिलते ही जिनकी आकृति पर नैसर्गिक मुस्कान खिल आती है, आँखें चमकने लगती हैं, शैशव-सा सरल, यौवन-सा मस्त, ऐसी निष्कपटता के वास-स्थान जो कभी-कभी दोष भी बन जायँ—यह हैं दिनकरजी, हमारे साहित्य में अपने ढंग के एक ही कवि; जिन्होंने राष्ट्रीयता, शौर्य्य और सामूहिक दुःखानुभूति को साहित्य में स्थापित करके निष्प्राण और अशक्त कही जानेवाली हिन्दी कविता में जीवन डाला है। उनसे मिलनेवालों को जो बात सर्वप्रथम आकर्षित करती है, वह है उनकी सरलता और निरहंकारिता। उनमें सरलता की मात्रा इतनी अधिक है कि वे केवल मनुष्य के विचारों का ही आदर नहीं करते, प्रत्युत् कभी-कभी उसकी झक (Prejudice) को भी उसी के दृष्टिकोण से समझने लगते हैं। इस मनुष्य (दिनकर) का हृदय कितना उज्ज्वल, कितना पवित्र एवं कितना विशाल है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि जिस कवि को

लोग प्रतिद्वन्द्वी समझते हैं, उसके स्वागत में भी सबसे प्रमुख स्थान उन्हीं का होता है। कुछ साल पहले 'बच्चन' और 'दिनकर' को लेकर साहित्यिकों ने एक तूफान खड़ा कर रखा था; किन्तु जिस दिन 'विशाल भारत' के सम्पादकीय स्तभ में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'दिनकर' के पत्र का यह वाक्य उद्धृत किया—He (Bachchan) is the harbinger of still better sentiments in our literature.—उस दिन लोगों के सामने की बदली फट गई और सभी ने देखा कि ऐसे निंद्य आन्दोलन की उन्हे खबर भी नहीं थी। परिचित-अपरिचित सभी कवि, साहित्यिक और कलाकार के गुणों की दाद देने में वह मुक्त प्रेम का परिचय देते हैं। निराला, द्विज, भगवती-चरण वर्मा और नवीन का आदर वह अग्रज की भाँति करते हैं। और नये नक्षत्रों की प्रशसा में भी उनकी पंक्तियों को गुनगुनाते रहना उनका स्वभाव है।' (श्री कामेश्वर शर्मा द्वारा लिखित 'दिनकर' निबन्ध से, जो शायद १९५० में प्रकाशित हुआ)।

दिनकर की अबतक प्रकाशित रचनाओं की तालिका इस प्रकार है--रेणुका, हुंकार, रसवन्ती, द्वन्द्वगीत, धूपछाँह, सामधेनी. कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी, दिल्लीनामा, नीलकुसुम, नीम के पत्ते, धूप और धुआँ, इतिहास के आँसू और बापू (काव्य) और मिट्टी की ओर, रेती के फूल, अर्धनारीश्वर, और हमारी सांस्कृतिक एकता भारत की सास्कृतिक कहानी। (आलोचनात्मक निबन्धों और भाषणों का संग्रह) मिर्च का मजा और पेटू पाँड़े (बाल-साहित्य)।

रचनाएँ

इनकी 'कुरुक्षेत्र' नामक कृति पर साहित्यकार-ससद् ने 'साहु-पुरस्कार' प्रदान किया। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने कुरुक्षेत्र पर द्विवेदी-स्वर्ण-पदक दिया और उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा भी कुरुक्षेत्र पुरस्कृत हुआ।

दिनकर की काव्य-साधना

दिनकर एक राष्ट्रीय कवि हैं। उनकी कविता हृदय के तारों को झंकृत कर देती है। उसमें भारतीय सस्कृति एव सभ्यता की आत्मा सिमटी हुई है जिसके प्रति कवि सवेदनशील है उसकी दलितावस्था को देखकर कवि के नयनकक्ष में बरसात उमड़ आती है। अतीतके दृश्य को वर्त्तमान में लाना कवि की तूलिका का

प्रभाव है। यों तो हिन्दी के अन्य कवियों ने भी अन्तर्वेदना को सजग बना का प्रयास किया है, परन्तु दिनकर द्वारा अङ्कित अन्तर्वेदना अत्यन्त मार्मिक एवं हृदयस्पर्शिनी है।

दिनकर के हृदय में अतीत के प्रति एक निश्चल प्रेम है, आस्था है। इसी से वे प्रेरित हैं जिसके कारण हम उनकी भावनाओं को आसानी के साथ तीन भागों में बाँट सकते हैं—

(क) ओजपूर्ण भावनाएँ—वीर रस से सराबोर। (ख) क्षोभपूर्ण भावनाएँ-करुण रस से परिप्लावित। (ग) वैराग्यपूर्ण भावनाएँ—शान्त रस से सिक्त और पलायनवादी प्रवृत्ति से सिंचित। शुरू से अन्त तक की रचनाओं में किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही ये भावनाएँ समाहित हैं। इनकी रचनाओं में ओज अधिक रहता है। 'हुंकार' तथा 'सामधेनी' को ओजपूर्ण कविताओं का अनूठा सङ्कलन कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इसका उदाहरण लीजिये—

क्रान्ति धात्रि! उठ, जाग अरे,! आडम्बर में आग लगा दे।
पतन, पाप, पाखण्ड जले, जग में एसी ज्वाला सुलगा दे॥

दिनकर को इतिहास से अधिक प्रेम है और इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि वे विद्यार्थी-जीवन में स्वयं इस विषय के अच्छे विद्यार्थी रह चुके हैं। ऐतिहासिक घटनाओं एवं महापुरुषों का भी अङ्कन इनकी कविताओं में मिलता है।

तू पूछ अवध से राम कहाँ? वृन्दा बोले घनश्याम कहाँ?
ओ मगध! कहाँ मेरे अशोक, वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ?
री कपिलवस्तु, कह बुद्धदेव के वे मंगल उपदेश कहाँ?
तिब्बत इरान जापान चीन तक गए हुए संदेश कहाँ?

दिनकर गांधीवादी विचारों से अनुप्राणित होकर गाँवों की ओर भी लौटे हैं, वहाँ उन्होंने बच्चों का दूध के लिए रोना, जमीन्दारों का अत्याचार करना आदि भी देखा है। दूध के लिए बच्चे मचलते हैं, पर उन्हें दूध नसीब नहीं—

कब्र-कब्र में अबुध बालकों की भूखी हड्डी रोती है।
दूध-दूध ! की कदम-कदम पर सारी रात सदा होती है।
दूध, दूध ! ओ वत्स ! मन्दिरों में बहरे पाषाण यहाँ हैं।

शोषक और शोषितों का वर्णन भी देखिए—

नीचे बिछी पृथ्वी, तना ऊपर वियत भगवान का।
पर इस मरे जग मे गरीबों का हितू कोई नही।
चढ़ती किसी की बूट पर पालिश किसी के खून की।
जीवित मरालों की चिता है सभ्यता की गोद मे।

—कवि की लेखनी से जो भी वर्णन हुआ है, वह सजीव एव सटीक है। आज के कुछेक आलोचकों ने दिनकर को भी वाद के कटघरे मे बाँधना चाहा, पर वह नहीं बँध सका। कुछ लोगों ने तो उसे प्रगतिवादी कवि कहा है, परन्तु वास्तव में वह सकुचित अर्थ रखनेवाले प्रगतिवाद के पिंजड़े में बन्द पक्षी नहीं। वह उन्मुक्त है, उसका प्रगतिवाद मास्को का मुँह नहीं जोहता, वरन् दिल्ली का मुहताज है।

प्रकृति की ओर दिनकर की दृष्टि गई है, पर पन्त की तरह नहीं। उसे प्रकृति के नित्य नवीन रूप के प्रति कोई अनुराग नहीं है। निरपेक्ष प्रकृति-दर्शन की प्रवृत्ति दिनकर में बहुत ही अल्पमात्रा में है। 'प्राकृतिक दृश्य-वर्णन के उपलक्ष्य से अपनी भावना को दूसरे क्षेत्र में अभिव्यक्त करने की जो एक काव्य-परिपाटी रही है, वही दिनकर का लक्ष्य है। प्रकृति के नाम पर दिनकर की लेखनी उठती है, पर उसमें उनका हृदय रमता नहीं, अतीत-दर्शन की लालसा से क्रमभग हो जाता है। 'वसन्त के नाम पर' 'बनफूलों की ओर' आदि रचनाओं में कवि की कल्पना सचेष्ट तथा एकनिष्ठ नहीं रह सकी है।

इस प्रकार दिनकर प्रकृति के साथ अपनी तन्मयता न दिखा सके। लेकिन देश के अतीत गौरव, उसके खँडहर, दीन-दुःखी, भूखे किसान-मजदूर, हरे-भरे धन-खेत, खलिहान, हरी-भरी दूब, गाँव के चौपाल आदि पर उनकी कवि-दृष्टि भिन्न-भिन्न रचनाओं के रूप में पहुँची है। दिनकर प्रगतिवादी नहीं, किन्तु स्वाभाविक रूप से एक प्रगतिशील कवि हैं।'

'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' के प्रकाशन ने दिनकर को प्रथम श्रेणी के कवियों में लाकर बिठा दिया है। 'कुरुक्षेत्र' युद्ध का प्रतीक है और युद्ध की यह मीमांसा उसके शाश्वत या नित्य स्वरूप को लक्ष्य करके ही की गई है। इसमें सात सर्ग हैं और इन सर्गों में अहिंसा-हिंसा का विश्लेषण किया गया है। इसमें एक चिरंतन सत्य की झाँकी दी गई है। इसी पर यह प्रबन्ध-काव्य लिखा गया है।

दिनकर की भाषा में विशेषतः तत्सम शब्दों का प्रयोग मिलता है और भावों की अभिव्यक्ति के लिए जो शब्द चुने गए हैं वे सर्वथा उपयुक्त और सजीव हैं। उनके शब्द भाषा को सबल बनाते हैं; क्योंकि वे विचारों के सच्चे वाहक और प्रतीक हैं। उनके शब्द एक चित्र खड़ा कर देते हैं, यथा—

भाषा-शैली

अधखिले पद पर मौन खड़ी तुम कौन प्राण के मेरी।
भींगने नहीं देती पग की अरुणिमा सुनील लहर मेरी।

ग्रामबाला का भोला चित्र देखिये—

माथे पर सेंदुर की छोटी दो बिन्दी चमचम-सी,
पिपनी पर आँसू की बूँदें मोती-सी, शबनम-सी।

एक उदाहरण देखिये, जिसमें ऐसे शब्द रखे गए हैं जो एक नगाड़े की ध्वनि उत्पन्न करते हैं—

सीमा पर बजनेवाले धौंसों की धुधकार नहीं।

कहीं-कहीं तुक के आग्रह ने उनकी कविता को त्रुटिपूर्ण बना दिया है। जैसे—

डिम डिम डमरु बजा निज कर में नाच तीसरी आँख तरेरे
ओर छोर तक सृष्टि भस्म हो चिता भूमि बन जाय अरेरे।

इसमें तरेरे और अरेरे शब्द फूहड़ मालूम पड़ते हैं। कुछ ग्राम्य-शब्दों को देखिये—

हेरती मर्म की आँखों से वह कपिलवस्तु-दिशि बेर-बेर

\+ + +

किधर होगा अम्बर में दृश्य देवता का रथ अब की बार ?

इस प्रकार के प्रयोग इनकी कविताओं में बहुत पाये जाते हैं। कुछ ऐसे शब्द भी इनकी कविताओं में स्थान पा गए हैं जो वास्तविक अर्थ को व्यजित करने में असमर्थ हैं। यथा :—

(१) हो गई शान्त धरणी सभीत,
फट-चिट हिल-डुल कर एक बार;
(२) जिला फिर पाप को टूटी धरा यदि जोड़ देंगे;
बनेगा जिस तरह उस सृष्टि को हम फोड़ देंगे।

कुछ ऐसे प्रचलित शब्दों का प्रयोग हुआ है जो कि रचना में कलात्मकता ला देते हैं। इसी मजु-माला के कारण वे हृदयग्राही एवं आकर्षक हो गये हैं—

गुदड़ियों में एक मुट्ठी हड्डियाँ मौत-सी, गम की मलीन लकीर सी।
कौम की तकदीर हैरत से भरी, देखती टुक-टुक खड़ी तस्वीर-सी।

\+ + +

यौवन की विनती-सी भोली, गुमसुम खड़ी शरम-सी।

—इन शब्दों के प्रयोग से भावाभिव्यक्ति मार्मिक हो गई है। दिनकर की भाषा में नाटकीयता भी है। इसके लिए संवाद का होना निहायत जरूरी है। पुरुष और प्रिया की वार्त्ता देखिये—

तुम अर्द्ध चेतना में बोली, मैं खोज थकी, तुम आ न सके।
लद गई कुसुम से डाल, किन्तु अबतक तुम हृदय लगा न सके।
सीखा यह निर्दय खेल कहाँ ? तुम तो न कभी थे निठुर पिया।
मैं चकित-भ्रमित कुछ कह न सका, मुख से निकले दो वर्ण पिया।

जो कविताएँ लम्बी होती हैं, उनमें एकरसता आने का भय रहता है, अतएव उससे छुटकारा पाने के लिए कुशल कवि छन्दों में परिवर्तन ला देते हैं।

इससे अभिनवता आ जाती है। भविष्य की आहट, दिल्ली और मास्को, कलिंग-विजय, मिथिला में शरत् आदि में भावों को हृदयग्राही एवं मर्मस्पर्शी बनाने के लिए छन्दों में परिवर्तन लाया गया है। किसी शब्द की पर्यायमूलक व्याख्या द्वारा भी शैली में उत्कर्ष लाया जाता है। इससे तिरस्कार, उत्कर्ष, अमर्ष आदि की व्यंजना की जाती है।' यथा—

(क) लाल कीच के कमल—विजय को जो पद से ठुकराती है।

(ख) खूँ बहाया जा रहा इन्सान का सींगवाले जानवर के प्यार में।
कौम की तकदीर फोड़ी जा रही मस्जिदों की ईंट की दीवार में।

दिनकर की कविता में से रूढ़ लक्षणा और शुद्धा लक्षणा का उदाहरण क्रमशः दिया जा रहा है—

(१) कह हृदय खोल चित्तौर यहाँ कितने दिन ज्वाल वसन्त हुआ।

(२) अबकी अगस्त की बारी है, पापों के पारावार! सजग;
दुनियाँ के वीरो, सावधान, दुनियाँ के पापी जार सजग।

छायावादी कवियों की तरह दिनकर ने भी प्रस्तुत की जगह अप्रस्तुत की सुन्दर योजना की है—

सुन्दरता जलती मरघट में मिटती यहाँ जवानी है।

विशेषण-विपर्यय का भी कुछेक उदाहरण देखिये—

(१) रानी, सब दिन गीली रही कथा है।

(२) मीठे सपने मँडराते हैं, मादक वेदना गरजती है।

कुछ प्रतीकों का भी दृष्टान्त देखिये—

(१) तितलियाँ प्रदीप जलाती हैं, शेखर की कविता गाती है।
[प्रसन्नवदना चपल बालाओं के लिए]

(२) जय हो भारत के नये खंग, जय तरुण देश के सेनानी।
[जयप्रकाश के लिए]

(३) हंसों के नीड लगे जलने, हंसों की गिरने लगी लाश।
[निर्दोष सुकुमार बच्चे]

दिनकर ने छन्दों में नवीनता लायी है। उपर्युक्त विश्लेषण के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुॅचते हैं कि दिनकर को भाषा और शैली पर अधिकार है। दिनकर की कविताओं में भावना की सच्चाई है जो साहित्य का मुख्य तत्त्व है। सुतरा, दिनकर का हिन्दी-कविता-साहित्य में एक विशिष्ट महत्त्व है। आज के युग में दिनकर का ही मैदान है।

धर्मराज-भीष्म-संवाद

प्रसंग— प्रस्तुत कविता श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर' विरचित 'कुरुक्षेत्र' के द्वितीय सर्ग से उद्धृत की गई है। इस प्रबन्ध में सात सर्ग हैं। प्रथम सर्ग में कवि ने युद्ध के कारणों एवं उसकी भयंकरता का अंकन किया है। उसने बतलाया है कि राजनीतिज्ञ अपने स्वार्थ के लिए मनुष्य को युद्ध करने के लिए प्रेरित करते हैं जिसके फलस्वरूप हानि ही होती है, लाभ नहीं। इसमें कवि ने युद्ध की भयंकरता एवं उसके दुष्परिणामों पर दृष्टिपात किया है। इसकी पुष्टि के लिए महाभारत की कथा का आधार लिया गया है।

महाभारत के युद्ध का अंत हो गया है। पाण्डवों की जीत हो गई है। राज्याभिषेक की तैयारियाँ हो रही है, लेकिन युधिष्ठिर के हृदय में शान्ति नहीं है। इस जीत को वे अपनी आध्यात्मिक हार मानते हैं। अतएव वे शर-शय्या पर पड़े भीष्म पितामह के निकट जाकर अपनी अन्तरात्मा के दुःख एवं द्वन्द्व को कहते हैं। वे उनसे जाकर कहते हैं कि यदि उन्हे यह मालूम होता कि युद्ध में इतनी खून खराबी होगी तो वे वन में जाकर भिक्षा-वृत्ति द्वारा अपना जीवन-निर्वाह कर लेते, लेकिन राज्यप्राप्ति के लिए इतनी विधवाओं और माताओं को न रुलाते। यह सोच उनका हृदय पश्चात्ताप से जला जा रहा है। वे अपने आप को इस पाप का भागी मानते हैं। यह सुन कर भीष्म उन्हे समझाते हुए कहते हैं कि इस युद्ध के कारण सिर्फ वे नहीं हैं, परन्तु उसके पीछे दूसरे भी कारण हैं और वे रहे हैं—दुर्योधन तथा अन्य राजाओं के अन्याय तथा अविचारों से मानव-समाज का संतप्त होना। युधिष्ठिर के जगल जाने से यह युद्ध तो रुका नहीं रहता प्रत्युत् वह कभी-न-कभी होता ही। जबतक मानव हृदय में ईर्ष्या,

द्वेष, स्वार्थ एवं अन्याय की भावनाएँ विद्यमान रहेंगी तब तक युद्ध होते रहेंगे इसी प्रकार के विचार प्रस्तुत संदर्भ में व्यक्त किये गये हैं।

शब्दार्थ और व्याख्या

[१] हाय ! पितामह, हार ... ...विलाप सुनाता है कौन ?

शब्दार्थ—पितामह = युधिष्ठिर के दादा, भीष्म। ध्वंस-अवशेष = ध्वंस के चिन्ह। सिर धुनता है = सिर पटकता है। भस्म राशि = चिता-भस्म के ढेर। विफल = असफल। पट = वस्त्र। रक्त-सरिता = खून की नदी। तीर = किनारा। नियति = भाग्य। गुनता = समझता। शव-दाह = मृत शरीर को जलाना। विलाप = रोना।

व्याख्या—प्रस्तुत पंक्तियाँ श्री दिनकर रचित 'धर्मराज-भीष्म-संवाद' शीर्षक से ली गई है। यह युधिष्ठिर की उक्ति है। उन्होंने महाभारत के युद्ध में विजय प्राप्त की है, पर उनके हृदय में शान्ति नहीं है। वे पश्चात्ताप की मूर्ति बने युद्ध के भीषण ह्रास और नर-संहार का कारण अपने को मानते है। वे इस विजय का अपनी आध्यात्मिक पराजय मानते हैं। यह सोच कर वे अत्यधिक व्यथित हो जाते हैं और शर-शय्या पर पड़े भीष्म पितामह के निकट जाकर अपनी अन्तरात्मा के कष्ट एवं द्वन्द्व को कहते हैं। वे अत्यन्त व्यग्र होकर कहते हैं कि हे पितामह ! यह महाभारत व्यर्थ ही हुआ। दुर्योधन तो इस संसार से कूच कर गया, पर मेरे लिए ह्रास और ध्वंस को छोड़ गया है। दुर्योधन की हार लौकिक है जिसके पीछे मेरी हार है। दुर्योधन का मृत शरीर भी जैसे मुझसे पूछ रहा है कि बोलो केवल तुम बच रहे हो। यह तुम्हारी विजय हुई या मेरी ?

युद्ध के कारण चारो ओर सर्वनाश के चिन्ह दिखाई पड़ रहे हैं। इन सर्वनाश के चिन्हों को देखकर मैं अपना सर धुनता (पटकता) हूँ। ऐसी परिस्थिति में यह मेरी विजय नहीं है। इस में तो मेरी पराजय हुई है। मैंने अपने संबंधियों का वध किया है और उन्हें मारकर व्यर्थ ही सुख की खोज कर रहा हूँ। मैंने उनका वध किया है और उनकी चिताओं की लपटों से ही मैं

अपने मुकुट, राज्यभोग का निर्माण कर रहा हूँ, जो अत्यन्त ही दाहक होगा। ऐसी स्थिति में मुझे सुख की प्राप्ति कैसे होगी। भाग्य ने क्या दिखाया है और आगे (भविष्य में) भी कौन जाने क्या देखना पड़ेगा। ठीक भी तो है, आज मैं मनुष्यों के खून की नदी के तट पर बैठा हूँ और अपने भाग्य की विडम्बना को देख रहा हूँ। सच तो यह है कि निज बन्धु-बान्धवों का जलना कौन देख सकता है और उत्तरा का करुण विलाप कौन सुन सकता है? अर्थात् मैं ही तो बन्धु-बान्धवों का जलना और उत्तरा का विलाप देख-सुन रहा हूँ। अतएव इस प्रकार मेरी विजय कैसे हुई?

[२] जिस दिन समर की ··· भाग जाऊँ वन में।

शब्दार्थ—समर = युद्ध। भुवन में = पृथ्वी में, संसार में। पै = पर। कण-कण में = समस्त संसार में।

व्याख्या—आगे चल कर युधिष्ठिर फिर भीष्म-पितामह से कहते हैं कि जिस दिन से युद्ध समाप्त हुआ है उस दिन से मेरे हृदय में एक दूसरे प्रकार की ज्वाला प्रज्वलित हो उठी है। मेरा हृदय चंचल हो उठा है। अब मैं देखता हूँ कि मैं स्वयं संसार के समक्ष मुँह दिखलाने के योग्य नहीं रहा। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि तुच्छ क्रूर एवं स्वार्थी को सारा संसार घृणा की दृष्टि से देखता है और मेरी आत्मा स्वयं मुझे धिक्कारती है। अब मुझमें इतनी शक्ति नहीं रही कि मैं मनुष्य को देख सकूँ। कहने का भाव यह है कि मनुष्य को देखते ही मेरी नजरें लज्जावश (संकोचवश) झुक जाती हैं। इन्हीं सब कारणों से मेरा मन चाहता है कि मैं वन में जाकर अकेले रहूँ।

अलंकार—इसमें विरोधाभास अलकार है।

[३] भीष्म ने देखा गगन की ओर ··· निर्वेद के आघात से?

शब्दार्थ—गगन की ओर = आकाश की ओर। मापने = नापते हुए। नर = मनुष्य। भाग = भाग्य। छोर = अंत, किनारा। तिमिर = अंधकार। साकार = मूर्तिमान। निर्वेद = वितिक्षा-भाव। आघात = चोट।

व्याख्या—भीष्म-पितामह ने युधिष्ठिर की बाते सुनी और उनके हृदय की पीड़ा को समझा। उनके पास सान्त्वना के शब्द न थे, वे अपनी इस असहायावस्था में आकाश की ओर देखने लग जाते हैं। भीष्म-पितामह की इस भंगिमा से ऐसा प्रतीत होता था मानों वे आकाश को देखकर युधिष्ठिर के हृदय के किनारे को नापने की चेष्टा कर रहे थे। आकाश की ओर दृष्टि गड़ाए ही भीष्मपितामह ने कहा कि हाय नियति! इस पर किसी का भी अधिकार नहीं है, किसी का नियंत्रण (वश) नहीं है। जिस प्रकार अन्धकार का ओर-छोर नहीं होता है उसी प्रकार मनुष्य का भाग्य भी अज्ञात होता है। मनुष्य के भाग्य में क्या लिखा है, कोई नहीं जानता और न कोई जान ही सकता है। युधिष्ठिर निष्ठावान एव आदर्शवादी हैं। वे धर्मराज कहलाते हैं। इसीलिए उनके हृदय में ग्लानि, खेद आदि के भाव जाग्रत हुए हैं जिसके फलस्वरूप वे नीचे झुके जा रहे हैं। उनके अन्तःकरण में सन्यास की भावना (तितिक्षा-भाव) जाग्रत हो उठी है। काश! सारी सृष्टि उनके इस पावन आदर्श को समझ पाती और उसका अनुकरण करती।

अलकार—इनमें उत्प्रेक्षा अलकार है।

[४] औ युधिष्ठिर से कहा ...... कुछ डालियों को तोड़ता।

शब्दार्थ—प्रलय का नाद = भयंकर आवाज। काल = विनाश। द्रुमों = वृक्षों। मूलोच्छेद = जड़ से उखाड़ना। सहस्रों = हजारों। क्षीणाधार = कमजोर आधार। रुग्ण = रोगी, सूखी। शावकों = पक्षियों के बच्चों। नीड़ = घोंसला। विहंग = पक्षी। वनस्थल = जंगल। निहत = टूटे हुए। गुल्म = लताएँ, कुंज आदि। शिराएँ = जड़ें। महीरुह = वृक्ष। अतल = गहराई। झंझावात = आँधी। शीश = सिर।

व्याख्या—भीष्म-पितामह फिर युधिष्ठिर से बोले—क्या तुमने कभी तूफान देखा है? तूफान भीषण शब्द करता हुआ वन को तोड़ता-झकझोरता हुआ आता है। वह कमजोर पौधों को तोड़-मरोडकर

पृथ्वी पर गिरा देता है। वह काल के समान आता है।* जिन वृक्षों का आधार कमजोर होता है, तूफान उनका मूलोच्छेद कर डालता है। तूफान के कारण वृक्षों की सूखी डालियाँ हड़हड़ा कर गिर जाती है, पक्षियों का घोसला भी टूटकर गिर पड़ता है। सारा जगल कमजोर सूखी डालियों, टूटे हुए फूलों की पंखुड़ियों एवं पक्षियों के बच्चों के शव से भर जाता है। परन्तु जिन वृक्षों की जड़ें पृथ्वी के अदर काफी गड़ी हैं, वे तूफान के बीच भी वैसे ही खड़े हैं। भयकर तूफान आने पर उन वृक्षों का कुछ भी नहीं बिगड़ता है, प्रत्युत् उसके सर पर से ही वह निकल जाता है, हाँ उसकी वजह कुछ डालियाँ और कुछ पत्तें ही गिर कर रह जाते हैं।

[५] किन्तु, इसके बाद जो ··· ··सहज अनिवार्य है।

शब्दार्थ—विभव = ऐश्वर्य, सौन्दर्य। वैधव्य = टूट-फूट। क्लान्त = कुम्हलाया हुआ। स्तब्ध = शान्त। मौनाकाश = तूफान के बाद का शान्त वायुमण्डल। विमर्ष = विवेचन। प्रभजन = आँधी। विस्फोट = फटना। निदाघ = गर्मी।

व्याख्या—भीष्म-पितामह युधिष्ठिर को आँधी का दृष्टान्त देकर कहते हैं कि तूफान के बाद शेष वृक्ष के पत्ते सर झुकाए खड़े होते हैं। वन वैभव के नष्ट हो जाने के फलस्वरूप शोकाकुल पृथ्वी अपने मन में यह सोचती है कि आखिर प्रकृति व्यर्थ में इतना नष्ट करने को तूफान क्यो भेजती है? सच तो यह है कि वृक्ष इस तथ्य से बिल्कुल परिचित नहीं हैं कि प्रकृति का प्रत्येक कार्य एक बंधे हुए नियम के अनुसार होता है, उसके द्वारा जो भी कार्य होते हैं वे व्यर्थ या अचानक नहीं होते। हम उनके कार्यों के मर्म को अच्छी तरह नहीं समझ सकते हैं। कार्य और कारण से संबधित यहाँ सभी घटनाएँ घटती हैं। प्रकृति अदृश्य सत्ता के नियन्त्रण पर कार्य करती है, वह अपनी इच्छा से कोई भी कार्य नहीं करती है। भीष्म-पितामह इस तूफान का वैज्ञानिक कारण बतलाते हुए कहते हैं कि गर्मी के मौसम में प्रकृति के प्राणों में एक जलन भर गई थी

* There is lull before storms.

वही समय पाकर फूट निकली है जिसका होना अति आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं हो पाता है तो वह अस्वाभाविक है।

संभावित व्यापक प्रश्नोत्तर

[गद्य-भाग]

१—पं० प्रतापनारायण मिश्र ने 'आप' शीर्षक निबन्ध में अपना कौन-सा विचार प्रकट किया है। (निबन्ध का साराश पढे, पृ० २८-३०)

२—पं० प्रतापनारायण मिश्र ने 'आप' शब्द का प्रयोग किस अर्थ में किया है ? इसका उत्तर पठित निबन्ध के आधार पर लिखिए।

उत्तर—पं० प्रतापनारायण मिश्र ने बतलाया है कि 'आप' शब्द न तो अरबी का है, न फारसी का और न अंग्रेजी का, बल्कि यह हिन्दी भाषा का शब्द है। व्याकरण के नियमों के अनुसार 'आप' शब्द 'मैं' और 'तू' की तरह सर्वनाम है। मैं उत्तम पुरुष सर्वनाम है और उसका प्रयोग नम्रता प्रकट करने के लिए होता है। ठीक उसी प्रकार 'तू' शब्द मध्यम पुरुष को तुच्छता या प्रीति सूचित करने के अर्थ कुत्ते के सबोधन की नकल है। इसी तरह 'आप' भी हिन्दी का शब्द है और सर्वनाम है। इसका प्रयोग आदर प्रदर्शित करने के अर्थ में होता है। यह शब्द सस्कृत के 'आप्त' शब्द का अपभ्रंश है। संस्कृत में उसे 'आप्त' कहा जाता है जो सर्वथा माननीय अर्थ में प्रयुक्त होता है। न्याय शास्त्र में बतलाया गया है कि जो विद्या, बुद्धि, सत्यवादिता और गुणों से पूर्ण है, उसे आप्त कहते हैं। हिन्दी भाषा में आप्त शब्द सब की जिह्वा पर ठीक नहीं बैठ पाता है, इसलिए उसे सरल बनाकर 'आप' बना दिया गया है। यह एक आदर-सूचक शब्द है जो मध्यम पुरुष तथा अन्य पुरुष के

अत्यन्त आदर-द्योतन करने में काम आता है, पर कभी-कभी उत्तम पुरुष में निश्चयात्मक बोधक के रूप में होता है।

३—हिन्दी साहित्य के इतिहास में द्विवेदी-युग का महत्व किन विशेषताओं के कारण है? आचार्य द्विवेदीजी के कर्तृत्व पर प्रकाश डालते हुए यह सिद्ध कीजिये कि वे एक युग-प्रवर्तक साहित्य-कार थे।

उत्तर—भक्तिकाल तथा रीतिकाल से चली आती हुई ब्रजभाषा अवधी की काव्य-परम्परा भारतेन्दु के समय तक सर्वसाधारण के लिए आकर्षणहीन और नए विचारों को प्रकट करने में अक्षम सिद्ध हो चुकी थी। इसीसे भारतेन्दु ने खड़ी बोली के गद्य को संवारा-सुधारा और उसमें नाटक, निबन्ध आदि की रचना करके हिन्दी साहित्य की धारा को एक नया मोड़ प्रदान किया। साहित्य में भक्ति अथवा शृंगार का स्थान स्वजाति एवं स्वदेश प्रेम लेने लगे और खड़ी-बोली के गद्य के अभिनव रूप में हिन्दी का व्यापक प्रसार होने लगा। लेकिन उस समय साहित्य के स्वरूप-संगठन, वाक्य-विन्यास, व्याकरण की शुद्धता, विराम-चिन्हों के प्रयोग, भाषा की एकरूपता और शैलीगत विशेषताओं की ओर साहित्यिकों का सूक्ष्मतापूर्वक ध्यान नहीं जा सका। इससे खड़ीबोली को वह दृढ़ता एवं ठोसपन न प्राप्त हो सका जो एक राष्ट्रभाषा के लिए आवश्यक ।

आधुनिक हिन्दी का वास्तविक उत्थानकाल सामान्यतः संवत् १६५० से आरभ होता है। इस उत्थानकाल को साहित्य के इतिहास में द्विवेदी युग (द्वितीय उत्थानकाल) कहा गया है। इस काल का आरंभ आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के 'सरस्वती' का सम्पादन-भार सन् १६०३ मे सम्हालते ही होता है। इसीसे इस युग का नाम आचार्य द्विवेदी के नाम पर पड़ा।

'सरस्वती' का सम्पादन-भार सम्हालते ही आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी गद्य की अव्यवस्था और अशुद्धता को दूर करना आरंभ किया। उनकी लेखनी से हिन्दी गद्य की भाषा परिमार्जित एव परिष्कृत होने लगी। उन्होंने भाषा को काँट-छाँट कर सुसंस्कृत बनाया, व्याकरण के नियमों की प्रतिष्ठा की,

सैकड़ों नवीन लेखकों को प्रोत्साहन दिया और पाश्चात्य सभ्यता के प्रेमी सैकड़ों नवयुवकों को अंग्रेजों की ओर से हटाकर हिन्दी की ओर आकर्पित किया। हिन्दी साहित्य के अनेक वर्त्तमान सुप्रसिद्ध लेखक और कवि 'सरस्वती' की गोद में ही पलकर बड़े हुए। उन्होंने द्विवेदीजी से ही साहित्य की प्रथम दीक्षा ग्रहण की थी।

इस प्रकार द्विवेदीजी 'सरस्वती' पत्रिका में अपने हाथ से लिखे लेखों के रूप में हिन्दी-गद्य का विशुद्ध रूप आदर्शवत् प्रस्तुत करते थे। अन्य लेखकों की रचनाओं का संशोधन एवं परिमार्जन कर उनका पथ-प्रदर्शन करते तथा उनकी सामान्य कोटि की रचनाओं को अपनी कलम के जादू से चमत्कृत रूप में प्रकाशित कर उन्हे प्रोत्साहित करते थे। उनके निबन्ध केवल साहित्यिक विषयों पर न होकर समाज एवं राष्ट्र के लिए उपयोगी विविध विषयों पर होते थे जिससे हिन्दी गद्य का शब्द-भाण्डार बढ़ा और उसकी व्यापकता बढ़ी। उन्होंने आलोचना की प्राचीन एवं अर्वाचीन शैलियों का समन्वय करके एक नई आलोचनात्मक पद्धति का आविष्कार किया, और कई आलोचनात्मक पुस्तकें लिखीं।

भारतेन्दु ने खड़ीबोली में गद्य के स्वरूप को ही सँवारा-सुधारा था, किन्तु वे काव्य के लिए ब्रजभाषा का ही प्रयोग करते थे। राष्ट्रभाषा के पद पर वही भाषा आसीन हो सकती है जिसका गद्य एवं पद्य साहित्य समान रूप से विकसित तथा समुन्नत हो। द्विवेदीजी ने इसी बात को ध्यान में रखकर खड़ीबोली में पद्य-रचना को भी व्यापक रूप से अपनाया। यद्यपि वह अधिकाशत: इतिवृत्तात्मक ही थी, फिर भी विषयों की नवीनता, छन्दों की नवीनता और भाषा की शुद्धता की दृष्टि से उस युग की कविता-युग-विधायिनी काव्य-रचना मानी जायगी। यह द्विवेदीजी के ही भगीरथ-प्रयत्नों का फल है कि एक ओर इसमें जहाँ प्रेमचद जैसे उपन्यासकार, प्रसाद जैसे नाटककार, आचार्य शुक्ल जैसे उद्भट आलोचक एव निबधकार हुए वहाँ दूसरी ओर खड़ीबोली के काव्यक्षेत्र में मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध',

प्रसाद, पंत और निराला जैसे महाकवि हुए। द्विवेदीजी से प्रेरणा एवं पथ-प्रदर्शन प्राप्त कर इन महापुरुषों ने हिन्दी-साहित्य की जो महान सेवाएँ कीं उसी के परिणाम-स्वरूप आज हिन्दी राष्ट्रभाषा का गौरवपूर्ण पद प्राप्त कर सकी। यथार्थ मे आचार्य द्विवेदी एक युग-प्रवर्त्तक साहित्यकार थे।

४—"सामाजिक मस्तिष्क अपने पोषण के लिए जो भाव सामग्री निकालकर समाज को सौंपता है उसके संचित भंडार का नाम साहित्य है। अतः किसी जाति के साहित्य को हम उस जाति की सामाजिक शक्ति या उसका सभ्यता-निर्देशक कह सकते हैं"—इस कथन को अपने पठित निबंध 'समाज और साहित्य' के आधार पर सिद्ध कीजिए।

उत्तर—उपर्युक्त कथन डा० श्यामसुन्दर दास लिखित 'समाज और साहित्य' शीर्षक से उद्धृत किया गया है। अपने इस कथन के द्वारा विद्वान लेखक ने साहित्य की परिभाषा दी है और उसे एक ऐसा दर्पण-माना है जिसमें सभ्यता का प्रतिबिम्ब देख सकते हैं। साहित्य में मानव जीवन के हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, राग-विराग, आकर्षण-विकर्षण आदि की विवेचना रहती है। इसमें मानव के हृदय की भावनाओं एव अनुभूतियों का मूर्त्त रूप खड़ा रहता है। मानव एक सामाजिक जीव है और उस पर जिन सामाजिक समस्याओं, विचारों एवं भावनाओं का प्रभाव पड़ता है, वह साहित्य में अभिव्यक्त होता है। जैसे-जैसे उसकी समस्याओं और भावनाओं का परिवर्तन होता है वैसे-वैसे साहित्य भी बदलता जाता है। सृष्टि के आरंभ में मनुष्य असभ्य एव जगली था और सभी आरभिक जीव समान थे। परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे मनुष्य सभ्यावस्था को प्राप्त करता गया। मनुष्य के सभ्यावस्था तक पहुँचने में जितने भी परिवर्तन हुए सब नियमित एव शृंखलाबद्ध हैं। इसके पश्चात् मनुष्य सभ्य होने लगे। जब मनुष्य अपनी सुख-शान्ति के साथ-साथ दूसरों की सुख-शान्ति एवं उनके अधिकारों को समझने लगें तो उसी अवस्था को हम सभ्यावस्था कहते हैं। मस्तिष्क-शक्ति के विकास के बिना सभ्यावस्था की प्राप्ति

बिल्कुल असंभव है। मनुष्य जाति की सभ्यता और मस्तिष्क दोनों का साथ-साथ विकास हुआ है। एक के अभाव में दूसरा एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता है दोनों का संबंध अटूट है। फिर मस्तिष्क-विकास में साहित्य का बहुत बड़ा हाथ रहा है, उसके विकास में साहित्य का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव-सभ्यता के विकास में साहित्य ने बहुत बड़ी सहायता पहुँचायी है।

यह सिद्ध हो चुका है कि मस्तिष्क के विकास एवं वृद्धि का मुख्य साधन साहित्य है जिसके कहने का तात्पर्य यह है कि समाज अपने मस्तिष्क की पुष्टि के लिए भावरूपी भोजन ग्रहण करता है। जिस प्रकार भोजन से शरीर की पुष्टि होती है उसी प्रकार भाव से मस्तिष्क की पुष्टि होती है। समाज के इसी सुरक्षित भाव-भण्डार और ज्ञान-कोष का नाम साहित्य है; इसी भाव समूह के संग्रह की संज्ञा साहित्य है। साहित्य के समस्त उपादान जीवन से उपलब्ध होते हैं और हमारे जीवन व्यापारों से ही इसकी पुष्टि होती है। अतएव जब जीवन से साहित्य का इतना गहरा संबंध है तब हमें यह समझने में कुछ भी कठिनाई नहीं हो सकती कि किसी जाति का साहित्य उसकी सामाजिक दशा और उसकी सभ्यता का द्योतक है। साहित्य का आश्रय लेकर ही हम यह पता लगा सकते हैं कि अमुक जाति ने कितनी उन्नति की है और उसकी सभ्यता किस सीमा तक पहुँच चुकी है। अतएव साहित्य एक प्रकार से सभ्यता-निर्देशक है।

५—डा० श्यामसुंदर दास ने 'समाज और साहित्य' शीर्षक निबंध में कौन-कौन-से विचार व्यक्त किये हैं। उनका विवेचन कीजिए।
(उत्तर के लिए 'समाज और साहित्य' शीर्षक निबन्ध पढ़ें)

६—'साहित्य केवल समाज का प्रतिबिम्ब ही नहीं, बल्कि उसका विधायक भी है।' इसकी पुष्टि कीजिए।

उत्तर—प्रस्तुत पंक्तियाँ डा० श्यामसुंदर दास लिखित 'समाज और साहित्य' शीर्षक निबन्ध से ली गई हैं जिसमें यह निर्देश किया गया है कि साहित्य समाज का दर्पण है। वह एक दर्पण है जिसमें हम समाज में

होनेवाली घटनाओं का साकार रूप पाते हैं। साहित्य ही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा सभी मानव एक धागे में बँधे रहते हैं, उसी के सहारे समाज की नीति-धारा विकसित होती है। जिस प्रकार का साहित्य होगा उसी प्रकार की मानव की मनोवृत्तियाँ होगी। कोई जाति कितनी उन्नति कर सकी है यह उसके साहित्य के पर्यवेक्षण से पता लग जाता है।

यह कटु सत्य है कि प्रत्येक देश के मनुष्य के विचारों पर उस देश की जलवायु, प्राकृतिक अवस्था आदि का प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। इसलिए हम शीतप्रधान देशों के लोगों को परिश्रमी एव सासारिक वैभव की ओर उन्मुख पाते हैं। यही कारण है कि भारतवर्ष के निवासी धार्मिक विचारों एवं प्रकृति के रमणीय क्रीड़ा-क्षेत्र की ओर लग रहे हैं जिसके फलस्वरूप भारत का साहित्य धार्मिक विचारों और शृंगार-रस के काव्यों से पूर्ण है। सारे कथन का तात्पर्य यह है कि सभ्यता के विकास में साहित्य का बहुत बड़ा हाथ रहता है, क्योंकि वह एक प्रेरक शक्ति है जिससे मानव के सामाजिक जीवन में अनेक प्रकार के उलट-फेर होते हैं। साहित्य का प्रभाव अत्यन्त व्यापक है, वह समाज की गति को बदल देता हैं। इतिहास इसका साक्षी है। पाश्चात्य देशों में जो पुनर्जागरण हुआ, फ्रास में जो राज्यक्रान्ति हुई और इटली में जो पुनरुत्थान हुआ उसका सारा श्रेय साहित्य को ही है। भारत के सामाजिक जीवन पर भी साहित्य का प्रभाव है। यहाँ के निवासी अधिकतर धर्म की ओर उन्मुख रहे हैं, इसीलिए यहाँ का साहित्य धर्म-प्रधान रहा है। जब-जब देश में अनीति और अव्यवस्था हुई, तब-तब साहित्य ने ऐसे महापुरुषों को जन्म दिया जिन्होंने नए विचारों एवं नई संस्थाओं की सृष्टि कर हमारे सामाजिक जीवन को कूपमंडूकता से निकाला और विकास का पथ विस्तृत किया है। अतः मानव जीवन की सामाजिक गति मे साहित्य का स्थान बड़े गौरव का है।

७—पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा ने 'विजयानंद दूबे की चिट्ठी' में धर्म के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये हैं, उन्हें व्यक्त कीजिये।

('विजयानंद दूबे की चिट्ठी' का सारांश पढ़ें)

८—देवतावाजी का क्या तात्पर्य है? पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा ने किस प्रकार के उपासकों को देवतावाज बतलाया है? संक्षेप मे लिखिए।

उत्तर—पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने बहु-देवी-देवता-पूजन को 'देवताबाजी' की संज्ञा से विभूषित किया है और विनोदपूर्ण चुटकी लेते हुए कहा है कि जिस प्रकार कुछ मनुष्यों को कबूतरबाजी, वटेरबाजी आदि की आदत होती है, उसी प्रकार इसे (लेखक के शब्दों में) 'देवतावाजी' कह सकते हैं। कबूतरबाजी, वटेरबाजी, पतगबाजी आदि मनुष्य के लिए मनोरंजन का एक साधन है, उसमे वे अपने मन को बहलाते हैं। इसी प्रकार कुछ हिन्दू मजा लूटने के उद्देश्य से देवी-देवताओं की पूजा, सेवा या दर्शन करते हैं। वस्तुतः ऐसे लोगों को जिस किसी देवी-देवता के मन्दिर में जाने से आनन्द की उपलब्धि नहीं होती है, उस देवी या देवता को अपवित्र समझ त्याज्य मानते हैं। उस देवी या देवता को अपने समान से त्याज्य मानते हैं। कहने का मतलब यह है कि वे लोग इस प्रकार देवी या देवता का अनादर करते हैं, तिरस्कार करते हैं, जिसके फलस्वरूप वे उनके मन्दिर में घी का एक चिराग भी नहीं जलाते हैं। सच तो यह है कि ऐसे हिन्दू भाइयों को जिसे देवी या देवता के मन्दिर में मजा मिलता है, उसकी पूजा करते हैं और उसके गुणों का वर्णन करने में नहीं अघाते हैं।

ऐसे देवतावाजों के लिए श्रावण और भादो का महीना बड़े आनन्द का है। श्रावण के हर एक सोमवार को वे व्रत रखते हैं और उस दिन किसी ईश्वर-विशेष के मन्दिर में जाकर एकत्र होते हैं। इसलिए ऐसे लोगों का आनन्द रविवार से ही शुरू होता है। अपने कथन की पुष्टि के लिए अनुभवी 'कौशिक' जी ने अपने एक जाने-पहचाने सज्जन का उदाहरण पेश किया है, जिनका कहना है कि एक दिन मास खाने का मजा तीन दिन तक रहता है। ठीक यही दशा अधिकतर ऐसे व्रत रखनेवालों की होती है। वे रविवार से ही प्लानिंग (योजना) बनाते हैं कि दूसरे दिन उन्हें क्या खाना चाहिए। ऐसे लोग व्रत के उद्देश्य एवं कर्त्तव्य को भूलकर सिर्फ खाने की चिन्ता किया करते

है। शिवजी के भक्तों की बात और भी निराली है। सोमवार के दिन उनके मन्दिर में भग खूब गहरी छनती है। उसके कुछ देर बाद पूजा-पाठ होता है। ऐसे लोगो के लिए व्रत और उपवास का अर्थ है अजीर्ण हो जाना। इनलोगों का समय हा-हा, हूहू-हूहू में बीत जाता है। कुछ लोग नौटंकी का स्वांग भी देखते हैं और कुछ भक्त भगवान को प्रसन्न रखने के लिए नौटकी का स्वांग भी रचते हैं। जो लोग पूजा कम करते हैं, भग छानते हैं, नौटकी देखने में समय व्यतीत करते हैं, वे मूर्ख एव अशिक्षित समाज में शिव के अनन्य भक्त माने जाते हैं। ये लोग दस मिनट से अधिक देर तक शिव के मन्दिर में नहीं बैठते हैं, लेकिन बाहर आकर खूब लम्बी-चौड़ी डींग हॉकते हैं। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि इन देवताबाजों के आराध्यदेव हरएक सोमवार को बदलते रहते हैं।

श्रावण मास में झूलों और झाँकियों का प्रबन्ध रहता है और इस अवसर पर अनेक मन्दिरों में रास, थियेटर एवं नौटंकी का आयोजन रहता है, जिसमें काफी भक्तगण इकट्ठे होते हैं। इन मन्दिरों में धर्म के नाम पर नौटंकी के ऐसे-ऐसे अश्लील स्वाग रचे जाते हैं कि शर्म से सर झुक जाता है। रासमडली में दस पद्रह मिनट 'द्वै द्वै गोपी विच विच माधो' का नाच और 'ता थेई' करके राजा-रानी बनकर खड़े हो जाते हैं और 'प्यारी तेरे इश्क में हुआ हाल बेहाल' के साथ नगाड़ों की 'कड़कड़ धम' का समा बाध देते हैं। जब कोई इसकी आलोचना करता है तो ऐसे 'देवताबाज भक्त' उसे नास्तिक, आर्य-समाजी, विधर्मी आदि कहना शुरू कर देते हैं।

९—प्रो० सद्गुरुशरण अवस्थी ने लिखा है कि 'मनुष्य के उत्थान-पतन का मनोवैज्ञानिक और सजीव चित्र आप जिस मार्मिक शैली से व्यंजित करते है, इसकी झाकी विद्यार्थियो को इस कहानी में यथेष्ट मात्रा मे मिलती है।' क्या यह कथन 'सोहाग का शव' शीर्षक कहानी के साथ चरितार्थ होता है, लिखिये। ('सोहाग का शव' की आलोचना पढ़े, पृ० १३६-१४५।)

१०—सुभद्रा का चरित्रांकन कीजिए।

उत्तर—सुभद्रा एक ग्रामीण नवयुवक केशव की पत्नी है। वह एक साधारण हिन्दू-परिवार की लड़की है और उसका विवाह ऐसे युवक से हुआ है जिस पर आधुनिक युग की सामाजिक एवं वैवाहिक क्रान्तियों का प्रभाव नहीं पड़ा है। उसका विवाह प्राचीन प्रथा के अनुसार हुआ है और इसी रीति-रिवाज के बीच उसका दाम्पत्य प्रेम प्रस्फुटित होकर विकसित हुआ है। दोनों के लिए दाम्पत्य जीवन सुखप्रद है, पर यह जीवन अधिक दिनों तक स्थिर नहीं रहता है। एक वर्ष के अन्दर ही उसे वियोग की घड़ियाँ बिताने की स्थिति आ जाती है। सारा परिवार उसके पति की विलायत-यात्रा का विरोध करता है परन्तु, अपने पति के कल्याण को दृष्टि में रखकर विलायत जाने के लिए प्रोत्साहित करती है। उसके हृदय में जो महत्वाकांक्षा है वह सिर्फ अपने पति के लिए ही। जिस प्रकार मन्दिर का पुजारी अपने देवता को सोने के मन्दिर में प्रतिष्ठित करने को उद्यत रहता है, रत्नजटित सिंहासन पर सजाना चाहता है और स्वर्ग से फूल लाकर उसके चरणों पर न्योछावर करना चाहता है, उसी प्रकार अपने पति को भी वह सफलता के उस सिंहासन पर प्रतिष्ठित देखना चाहती है जहाँ कोई जल्दी न पहुँच सके। जिस प्रकार सच्चा पुजारी देवता को अपने लिए नहीं सजाता-सँवारता है उसी प्रकार सुभद्रा भी अपने लिए कुछ भी नहीं चाहती है, क्योंकि वह भारतीय ललनाओं का एक प्रतीक (Symbol) है। उसकी महत्वाकांक्षा अपने प्रति नहीं, बल्कि अपने पति के प्रति थी। इसीलिए तो वह सोचती है—'जिस वियोग का अन्त जीवन की सारी विभूतियाँ अपने साथ लायगा, वह वास्तव में तपस्या है। तपस्या के बिना तो वरदान नहीं मिलता।' इससे यह स्पष्ट होता है कि वह एक पतिव्रता, विवेकशील एव त्यागकुशल नारी है।

सुभद्रा व्यवहार-कुशल भी है। विदा होने के समय केशव अपने प्रेम को अटल बतलाता है तब वह मजाक कर बैठती है—'देखना विलायती मिसों के जाल में न फँस जाना।' यह उक्ति उसकी हास्य-प्रवृत्ति को सूचित करती है। उसके जाने के बाद उसे वियोग की घड़ियाँ गिननी पड़ती है। उसे अपने पति

के वियोग में न दिन में शान्ति है और न रात में नींद। वह सिर्फ अपने पति के पत्रों को पढ़कर शान्ति का अनुभव किया करती है परन्तु, यह सिलसिला छः महीनों तक ही रह पाता है। बाद में पत्र आना बन्द हो जाता है। इससे वह अधीर हो उठी। उसके हृदय में पति के प्रति अविचल अनुराग है, पत्र न आने के कारण वह चिंतित हो उठती है। घरवालों के विरोध के बावजूद भी वह विलायत चली आती है और अपने पति से दूर रहने लगती है क्योंकि साथ रहने से केशव की पढ़ाई में बाधा पहुँचती।

लंदन में हम सुभद्रा के स्वावलम्बी जीवन का दर्शन करते हैं। वह अपनी जीविका के निर्वाह के लिए दो महिलाओं को भारतीय संगीत और हिन्दी भाषा सिखाती है तथा शेष समय में भारतीय महिलाओं के कपड़े सीने का काम करती है। इन सब कामों से उसे जो आमदनी होती है, उसी से अपना काम चलाती है।

एक दिन वह अपने पति को एक कामिनी के (उर्मिला) प्रेमजाल में फँसा देख लेती है परन्तु कुछ नहीं कहती है क्योंकि वह विवेकशील नारी है। उसे यह भी पता चल जाता है कि केशव उससे विवाह करने जा रहा है, तब उसका हृदय क्रोध से जल उठता है। अपने पति के इस निष्ठुर व्यवहार को सोचकर वह व्यग्र हो उठती है और उससे बदला लेने की बात सोच लेती है। उन दोनों के बीच कभी कोई ऐसी बात नहीं हुई कि जिसे उसका दुःख होता। उसे केशव का यह व्यवहार एक हत्यारे के समान मालूम पड़ता है जो हँस-हँस कर प्राण ले लेता है। दोनों के बीच सिर्फ विवाह ही नहीं हुआ है, प्रत्युत् उन दोनों के बीच प्रेम-वृक्ष भी उत्पन्न हो चुका है। केशव के द्वारा प्रेमरूपी वृक्ष का बीजारोपण हुआ और सुभद्रा ने उस वृक्ष को अपने रक्त से सींच कर, पाल-पोसकर पल्लवित एवं पुष्पित होने के लायक बना दिया, अब केशव उस वृक्ष को सर्वदा के लिए नष्ट कर देना चाह रहा है; परन्तु सुभद्रा के हृदय के चकनाचूर हुए बिना प्रेम वृक्ष का उखड़ना असंभव है। केशव और उर्मिला का विवाह आर्य मन्दिर में हो रहा है। वहाँ वह प्रतिकार की भावना से जाकर एक खम्भे की आड़ में खड़ी हो जाती है, परन्तु आज के केशव और तीन वर्ष

पहले के केशव में काफी वैषम्य पाती है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि यह उसी रूप और नाम का कोई दूसरा मनुष्य है। आज के केशव में हृदय को आकृष्ट करनेवाली कोई शक्ति नहीं थी, इसलिए सुभद्रा को ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ पर बैठे हुए युवकों में और उसमें कोई अंतर नहीं है। उसके हृदय में ईर्ष्या की अग्नि जो जल रही है, वह शान्त हो जाती है। वह आयी तो बदला लेने के उद्देश्य से परन्तु आज वही केशव उसे एक अपरिचित व्यक्ति-सा लग रहा है जिसके फलस्वरूप सुभद्रा को उससे विरक्ति हो जाती है। सच तो यह है कि विरक्ति में हिंसा से भी बढ़कर क्रूरता रहती है। सुभद्रा के हिंसात्मक विचारों का मूल कारण उसकी ममता थी, परन्तु अब उपेक्षा-भाव के कारण उसकी ममता खत्म हो जाती है। उसके हृदय में केशव के लिए किसी भी प्रकार का मोह नहीं रहा, अब वही उसके लिए पराया बन गया है। वह अपने त्याग के द्वारा भारतीय पत्नीत्व की गरिमा का निर्वाह करती है। अंत में अपना सारा आभूषण उर्मिला को दे देती है और स्वयं शान्त एवं गंभीर बनी रहती है।

अंत में केशव अपनी भूल पर पश्चात्ताप करता है क्योंकि सुभद्रा का इंगलैण्ड आना ही उसके पातिव्रत्य को सूचित करता है। उसके इस त्याग को देखकर केशव चौंक पड़ता है। अब उसे ऐसा प्रतीत होता है कि सुभद्रा के लिए उसका हृदय खाली है। उसके स्थान को उर्मिला ग्रहण नहीं कर सकती है। उर्मिला के प्रति जो प्रेमभाव है वह वास्तव में एक तृष्णा है जो उसके लावण्य एवं सौन्दर्य के कारण उत्पन्न हुआ है। जिस प्रकार एक मनुष्य बहुत से स्वादपूर्ण पदार्थों को देखकर ललच उठता है, पर खा नहीं सकता है; ठीक वही हालत केशव की है। सुभद्रा के हृदय में त्याग की भावना है परन्तु उर्मिला एक विलासिनी रमणी है। वह त्याग करने में बिल्कुल लाचार है। अंत में केशव अपने अपराधों के लिए क्षमा-प्रार्थना करने जाता है; परन्तु सुभद्रा अपने सुहाग का प्रतीक सिन्दूर, पीली साड़ी तथा केशव का चित्र उर्मिला के लिए छोड़कर कहीं चली जाती है—इस आग्रह के साथ कि वह उन्हें टेम्स नदी में विसर्जित कर दे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सुभद्रा का जीवन भारतीय नारी का प्रतीक है। एक आदर्श भारतीय नारी में जो-जो गुण समाहित हैं, वे उसमें पूर्णतया

पाये जाते हैं। सुभद्रा एक पतिव्रता सहिष्णु नारी है। इसमें उसका अत्यन्त ही मार्मिक चित्र अंकित हुआ है।

११—"प्रेमचन्द ने इस कहानी (सोहाग का शव) में नारी-जीवन का मार्मिक चित्र अंकित किया है"—क्या आप इस कथन से सहमत हैं? युक्ति-संगत उत्तर लिखे।

उत्तर—बड़ों का वड़प्पन उपेक्षित नारियों की ओर सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि डालकर एवं उनकी विशेषताओं का दिग्दर्शन कराकर समाज में उन्हें महत्वपूर्ण स्थान दिलाने में है। प्रेमचन्द का व्यक्तित्व भी कुछ इसी प्रकार का है। काव्य में नारी का चरित्र विशेषतया दो रूपों में प्रस्फुटित हुआ है—देवी या कामिनी के रूप में। भक्तकालीन कवियों ने नारी में दैवी गुणों का ही आरोप कर उसे मानव पहुँच के बाहर कर दिया और रीतिकालीन कवियों ने उसके सौंदर्य का अतिरंजित चित्र प्रस्तुत कर उसे भोग और वासना की वस्तु बना दिया। नारी की सहज सुलभ ममता, त्याग, प्रेम और त्यागपूर्ण जीवन उपेक्षित ही रहे। मैथिलीशरण और प्रेमचंद ही ऐसे कलाकार हैं जिनका ध्यान इस ओर गया और वे अपनी रचनाओं मे नारी-हृदय की अनुपम विभूतियों का चित्रण करने लगे। गुप्तजी की 'यशोधरा' में नारी जीवन का मार्मिक प्रत्यक्षीकरण करानेवाली ये पंक्तियाँ अमर हैं—

अबला जीवन हाय, तुम्हारी यही कहानी —
आँचल में है दूध और और आँखों में पानी।

'साकेत' में उपेक्षिता 'उर्मिला' सौर 'यशोदा' में गोपा का चरित्रांकन कर उन्होंने नारी-जीवन के प्रति अपनी उदार भावना का यथेष्ट परिचय दिया है। और प्रेमचद ने भी अपने उपन्यासों और कहानियों में नारी-हृदय की भावनाओं को पूर्ण अभिव्यक्ति दी है।

'सोहाग का शव' एक चरित्र-प्रधान कहानी है जिसकी नायिका सुभद्रा है। उसके हृदय मे महत्वाकांक्षा है, पर उसमे पति का सुख समन्वित है। पतिव्रता नारी में जो-जो गुण होना चाहिए, वह उसमें पूर्णतया विद्यमान है। यही कारण है कि हम उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। सुभद्रा का चरित्र इस

ढंग से प्रस्तुत किया गया है कि भारतीय रमणियों का आदर्श प्रेम, त्याग और सहिष्णुता साकार हो उठता है। इस बात का साक्षी हमारा इतिहास भी है। उसके चरित्र के द्वारा प्रेमचन्द ने कुछ समस्याएं प्रस्तुत कर उनका समाधान करने का भी प्रयत्न किया है।

कहानीकार प्रेमचन्द एक भारतीय हैं और साथ-साथ भारतीयता के पोषक भी। वे अपनी कहानियों मे ऐसे आदर्श प्रस्तुत करने के पक्ष में थे कि जिसका अनुकरण कर समाज उन्नति के शिखर पर चढ सके। इस कहानी में प्रेमचद ने युग-युग की कहानी को परिस्थितियों के माध्यम से उपस्थित किया है। आज से नहीं, जमाने मे भारत में स्त्रियाँ पुरुषों की दासी रही हैं और उन्हे सर्वदा दुःख उठाना पडा है। इसी सिलसिले में प्रेमचद ने पाश्चात्य सभ्यता के खोखलेपन को भी अंकित किया है ताकि आधुनिक समाज सचेत हो जाय।

भारत पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव पड़ा है जिसके कारण हमारी सस्कृति दूषित हो चली है। हमारे देश के नवयुवक और नवयुवतियाँ पाश्चात्य सभ्यता का अंधानुकरण करते हैं जिसका परिणाम अच्छा नहीं होता है। लोग भारतीय आदर्श को भूल जाते हैं और वाह्याडम्बर में लग जाते हैं। इसीलिए हमें आजीवन दुःख का वोझ ढोना पड़ता है।

लेकिन इसके बीच भी कुछ ऐसे भी हैं जिन्होंने भारतीय आदर्श की रक्षा की है। इस कोटि के पात्रों में सुभद्रा का नाम सगर्व लिया जा सकता है। वह पत्नी का एकमात्र कर्तव्य मानती है—पति-सेवा और त्याग, जिसकी वह एक साक्षात् प्रतिमा है।

सच तो यह है कि प्रेमचन्द ने सुभद्रा के माध्यम से नारी-जीवन की मार्मिक कहानी कही है जो साहित्य के इतिहास में अधिक दिनों तक स्मरणीय रहेगी।

१२—अपने पठित निवन्ध के आधार पर राष्ट्रभाषा की आवश्यकता और उसके स्वरूप पर प्रकाश डालिये। ('राष्ट्रभाषा का स्वरूप' शीर्षक निबंध का साराश पढें, पृष्ठ १७०-१७३)

१३ — राहुल सांस्कृत्यायन के अनुसार घुमक्कड़ी का क्या महत्व है? उसपर प्रकाश डालिये। ('धर्म और घुमक्कड़ी' निबंध का सारांश पढ़ें, पृ० २१३-२१७)।

१४—राहुल सांस्कृत्यायन ने प्रथम श्रेणी के घुमक्कड़ों की कौन-कौन सी विशेषताएँ बतलायी हैं? उसे संक्षेप में लिखिए। (निबंध का सारांश पढ़ें;)।

१५—महादेवी के शब्द-चित्रों की विशेषताएँ बतलाइये। (निबंध की समीक्षा पढ़ें)

१६—राष्ट्रभाषा गद्य पद्य-संग्रह के पाठ्य-क्रम में निर्धारित कहानियों का तुलनात्मक विवेचन करते हुए प्रत्येक कहानी की साहित्यिक विशेषताओं का दिग्दर्शन कराइए।

उत्तर—राष्ट्रभाषा गद्य-पद्य-संग्रह के पाठ्य क्रम में निर्धारित दो कहानियाँ हैं—'सोहाग का शव' और 'बदलू'। साहित्य के एक ही अंग के अन्तर्गत होने पर भी इन दोनों की अपनी-अपनी वर्गगत और शैलीगत विशेषताएँ हैं।

समष्टि रूप में कहानियों के मुख्यत: चार वर्ग हैं—चरित्र प्रधान, वातावरण प्रधान, कथानक-प्रधान और कार्य-प्रधान। जिस कहानी में पात्र अथवा चरित्र अन्य पक्षों की अपेक्षा अधिक प्रधान होते हैं, उसे चरित्र-प्रधान कहानी कहते हैं। जिस कहानी में वातावरण और प्रसंग की प्रधानता होती है, उसे वातावरण प्रधान कहानी कहा जाता है। इसी प्रकार जिन कहानियों में चरित्रों और प्रसंगों के बीच का संबंध, चरित्रों और प्रसंगों से अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं, उन्हे कथा-प्रधान कहानी कहते हैं। कार्य-प्रधान कहानियों में कार्य की प्रधानता होती है। जासूसी, तिलस्मी आदि रहस्यपूर्ण कहानियों को इसी वर्ग के अन्तर्गत मानना चाहिए। प्रसाद, प्रेमचंद, सुदर्शन आदि की अनेक कहानियों में वातावरण और चरित्र, दोनों का सुन्दर सामंजस्य है। कला की दृष्टि से चरित्र-प्रधान और वातावरण प्रधान कहानियों का ही विशेष महत्व है। कथानक अथवा कार्य प्रधान कहानियाँ निम्न-श्रेणी की मानी जाती हैं।

शैली-भेद की दृष्टि से भी कहानियों के कई भेद हैं। प्रमुख भेद ये हैं—वर्णनात्मक शैली, संलापात्मक शैली, आत्मचरित्रात्मक शैली और पत्रात्मक

शली। हिन्दी की अधिकांश कहानियाँ प्रथम दो शैलियों में हैं। पत्रात्मक शैली के इने-गिने नमूने ढूंढने से मिलेंगे।

'सोहाग का शव' कहानी के लेखक हैं मुंशी प्रेमचन्द। यह उनकी सुप्रसिद्ध चरित्र-प्रधान कहानी है। चरित्र-प्रधान कहानियों में लेखक का मुख्य उद्देश्य उसी मानव-चरित्र का सुन्दर चित्रण होता है। प्रेमचद की अधिकांश कहानियाँ चरित्र-प्रधान होती हैं। इस कहानी का नायक है केशव और नायिका है सुभद्रा। आरंभ में कहानीकार ने दोनों के सुखमय दाम्पत्य जीवन का अंकन किया है। बाद में कथा की धारा बदल जाती है। सुभद्रा का चरित्र अत्यन्त सुन्दर उतरा है। वह भारतीय ललनाओं का एक प्रतीक है। उसमें एक आदर्श नारी के सभी गुण विद्यमान हैं। वह त्याग की मूर्ति है। इस चरित्र-प्रधान कहानी में प्रेमचन्द ने सुभद्रा का चरित्र बड़ी सुन्दरता, स्वाभाविकता एवं यथार्थता के साथ चित्रित किया है।

'बदलू' शीर्षक कहानी शब्द-चित्रों में प्रस्तुत एक चरित्र-प्रधान कहानी है। इसका उद्देश्य है बदलू और उसकी पत्नी रधिया के चरित्र का चित्रण। बदलू एक ग्रामीण कुम्हार है, उसका हृदय निष्कपट है, कहीं किसी प्रकार का ढोंग नहीं है। रधिया का चरित्र प्रेम, कर्त्तव्यपरायणता और आत्मत्याग का प्रतीक है।

चरित्र-प्रधान कहानियों में प्रायः मुख्य चरित्र में आकस्मिक परिवतन भी प्रस्तुत कर दिए जाते हैं जिससे उस नायक की जीवन धारा में नया मोड़ आ जाता है। इस कहानी में भी नायक बदलू के जीवन में एक सरस्वती के चित्र के द्वारा नया मोड़ चित्रित किया गया है। जब वह कलावंत बन गया तो उसकी पत्नी इस संसार से चल बसी जिससे उसका हृदय खाली हो गया। इसमें संदेह नहीं कि बदलू के चरित्र में अधिक उतार-चढ़ाव या मोड़-घुमाव नहीं है, और उसका अधिकांश जीवन-चरित्र एकरस है, फिर भी उसके इस एकरसात्मक जीवन में उसके चारित्रिक गुणों को इस सफलता के साथ लेखिका ने उभार कर चित्रित किया है कि कहानी में चरित्र-नायक बदलू के प्रति पाठकों की सहानुभूति स्थायी हो जाती है। यथार्थ में बदलू का चरित्र इतना

हृदयग्राही और मार्मिक है कि लेखिका उसकी जीवन-कथा समाप्त करके भी अपनी महत्त्वपूर्ण आत्मीयता उससे हटा नहीं पाती। इस कहानी की शैली वर्णनात्मक है। लेखिका ने शब्द-चित्रों के द्वारा 'बदलू' के अंदर और बाहर की तस्वीर-सी खींच दी है। इनकी भाषा में प्राजलता के साथ-साथ अर्थ गाभीर्य कूट कूट कर भरा हुआ है। निस्सदेह चरित्राकन एव भाषा-शैली की दृष्टि से यह कहानी भी बड़ी ही आकर्षक एव प्रभावोत्पादक है।

हिन्दी राष्ट्रभाषा के निर्धारित पाठ्यक्रम में ये ही दो कहानियाँ हैं। रचना की दृष्टि से यद्यपि दोनों ही वर्णनात्मक हैं, किन्तु भाषा-शैली की विभिन्नता दोनों में है। 'सोहाग का शव' शीर्षक कहानी यद्यपि ग्रामीण जीवन से संबंधित है, फिर भी उसके चित्रण में नागरिकता का ही प्राधान्य है। ग्रामीण जीवन की सहज-सरल झाकी उसमें हमें नहीं मिलती है। लेखक एक मनोवैज्ञानिक की भाँति अपने ग्रामीण पात्र की चारित्रिक विशेषताओं का विश्लेषण एव निदर्शन करता हुआ पाया जाता है। 'बदलू' में चारित्रिक विशेषताओं का निदर्शन जिस कलात्मक भाषा-शैली मे हुआ है इसका सम्यक् बोध एवं रसास्वादन सामान्य कोटि के पाठकों के लिए सभव नहीं है, भले ही विद्वान् कलाप्रेमी इसके अन्तर्गत शब्दों के लाक्षणिक प्रयोग तथा वस्तुओं और भावों के चित्रमय विधान के लिए लेखिका की सराहना कितनी अधिक क्यों न करें।

१७—पाठ्य पुस्तक में निर्धारित निवन्धों का वर्गीकरण हिन्दी मे प्रचलित निवन्ध रूपों एवं शैलियों के आधार पर करते हुए उनकी तुलनात्मक विशेषताओं का निर्देश कीजिये।

उत्तर—हिन्दी की खड़ीबोली के गद्य में निवन्ध-लेखन का प्रयास आधुनिकतम माना जाता है। इस दिशा में सर्वप्रथम प्रयास प० बालकृष्ण भट्ट ने किया। तत्पश्चात् 'सरस्वती' के प्रकाशन-काल से निबंध-लेखन की धारावाहिक परम्परा ही चल पड़ी। प्रारम्भ में प० बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, जगमोहन ठाकुर, बालमुकुन्द गुप्त, चद्रधर शर्मा 'गुलेरी' आदि ने बड़े उत्साह से विविध विषयों पर निबन्ध लिखकर भावात्मक, विचारात्मक,

कथात्मक, व्यंग्यात्मक आदि विभिन्न निबन्ध शैलियों का सूत्रपात किया। फिर आगे चलकर पं० रामचन्द्र शुक्ल, रायकृष्णदास, श्यामसुन्दर दास, गुलाबराय, हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि ने निबधों के चिंतनात्मक, गीतात्मक एवं हास्यात्मक रूपों की सृष्टि की। समष्टिरूप में हम यह कह सकते हैं कि साधारणतः हिन्दी के निबन्धों को पांच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) कथात्मक या आख्यानात्मक (Narrative) (२) वर्णनात्मक (Descriptive) (३) चिन्तनात्मक (Reflective) (४) गीतात्मक (Lyrical) (५) व्यंग्यात्मक (Satirical)। कथात्मक निबन्ध स्वप्नों की कथा के रूप में, आत्मचरित्रों के रूप में या कहानी-शैली के रूप में दिखाई पड़े। वर्णनात्मक निबंध प्राकृतिक स्थानों या दृश्यों के वर्णन के रूप में मिलते हैं। चिंतनात्मक लेख हिंदी में बहुसख्यक हैं। गीतात्मक निबन्ध चरम भाव-प्रधान होते हैं। इन्हे गद्य-काव्य कहा जाता है। रायकृष्णदास, वियोगी हरि, माखनलाल चतुर्वेदी आदि ने ऐसे निबध लिखे हैं। इन्हें भी भाव और विचार की दृष्टि से तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—(१) भावात्मक (२) विचारात्मक (३) उभयात्मक। जिनमें भाव और विचार तिल-तंडुल के समान मिले रहते हैं उन्हे उभयात्मक कहते हैं। व्यंग्यात्मक निबन्धों में किसी समस्या, किसी व्यक्ति या किसी वस्तु को लेकर प्रशंसा के रूप में निन्दा या निन्दा के रूप में प्रशसा की जाती है। इनमें शब्दों की लाक्षणिक शक्ति का तथा व्याजस्तुति या व्याजनिन्दा अलकारों का विशेष रूप से आश्रय लिया जाता है। ऐसे निबन्ध विशेष रोचक एव प्रभावोत्पादक होते हैं।

निबन्ध के इन विविध रूपों के आधार पर इनके प्रकाशन की विविध शैलियाँ भी प्रचलित हुई, जैसे—सबल विचारात्मक शैली, सबल भावात्मक शैली, शुष्क शैली, अलंकारपूर्ण शैली, प्रसादपूर्ण शैली, प्रयत्नपूर्ण शैली, मनोवैज्ञानिक शैली, चित्रात्मक शैली, काव्यात्मक शैली तथा व्यंग्यात्मक शैली। प्रस्तुत पाठ्य-पुस्तक के कुल बारह निर्धारित पाठों में दो कहानियाँ हैं और एक एकाकी।

निर्धारित पाठ्य-निबन्धों में अधिकतर निबन्ध विचारात्मक या चिन्तनात्मक हैं। इसमें निम्नलिखित निबन्ध संग्रहीत हैं—आप, समाज और साहित्य, विजयानन्द दूबे की चिट्ठी, राष्ट्रभाषा का स्वरूप, धर्म और घुमक्कडी, नींव की ईंट, आत्मकथा, वसत आ गया है और शुष्को वृत्तः। विचारात्मक निवन्धों म लेखक किसी समस्या पर स्वाध्याय-प्राप्त विचारों को व्यक्त करता है। चिन्तनात्मक निबन्धों में लेखक किसी समस्या या प्रसग पर आत्म-चिन्तन द्वारा प्राप्त विचारों को प्रकट करता है। आप, समाज और साहित्य, राष्ट्रभाषा का स्वरूप, नींव की ईंट और वसत आ गया है विचारात्मक निबध है। धर्म और घुमक्कड़ी एक चिन्तनात्मक निबन्ध है, 'आत्मकथा' एक संस्मरण है और 'शुष्को वृत्तः' एक व्यक्तिगत निबन्ध है। इसके निर्धारित निबधो की विशेषताएँ 'निबधों की आलोचना' शीर्षक निबंध में बतला दी गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गद्य-संग्रह के निर्धारित पाठों में निबन्धों के लगभग चार प्रचलित रूप एव शैलियाँ हैं, परन्तु विचारात्मक निबन्धों की सख्या अधिक है। इसके प्रायः सभी निबन्ध अपनी स्वतत्र विशेषताएँ लिए हुए हैं और रचना-शैली की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

[पद्य-भाग]

१८—हिन्दी कविता के विकास पर एक निबन्ध लिखिए।

उत्तर—'हिन्दी कविता का विकास' शीर्षक निबन्ध पढ़ें।

१६—कबीरदास की काव्यगत विशेषताएँ बतलाइये।

उत्तर—कबीर की काव्यसाधना पढ़ें।

२०—सूरदास की भक्ति-पद्धति पर एक छोटा-सा निबन्ध लिखें।

उत्तर—'सूर की भक्ति पद्धति' पढ़े।

२१—सूरदास के विनय के पदों के बारे मे जो जानते हैं, उसे संक्षेप मे लिखें।

उत्तर—सूरदास के विनय के पदों को पढ़े।

२२—सूर की भाषा-शैली पर एक निबंध लिखे।

उत्तर—सूर की भाषा-शैली पढ़ें।

२३—'सूर सर तुलसी ससी उडुगन केशवदास' इस उक्ति से आप कहाँ तक सहमत हैं? या 'सूर सूर तुलसी ससी' इस वचन के औचित्य पर विचार कीजिये। (B. U. 1953 A.)

उत्तर—सूर और तुलसी, दोनों ही हमारे साहित्याकाश के सूर्य और चंद्र हैं। दोनों ही समकालीन थे। यदि एक ने कृष्ण-भक्ति-शाखा को पल्लवित किया, तो दूसरे ने राम-भक्ति-शाखा को परिपुष्ट किया। साहित्यक्षेत्र में जो काव्य-मन्दाकिनी इन दोनों के समय में प्रभावित हुई, उसका रसास्वादन करने से अनेक प्राणियों को शान्ति प्राप्त हुई। परन्तु दोनों का काव्यक्षेत्र भिन्न है। तुलसी ने रामचरितमानस-जैसे महाकाव्य को लिखकर अमरपद प्राप्त किया। रामचरितमानस प्रबधकाव्य है, परन्तु सूर की अमर कृति 'सूरसागर' उनके फुटकर गीतों का संग्रह है।

तुलसी ने अपने समय की लगभग समस्त प्रचलित काव्य-पद्धतियों को अपनाया, परन्तु सूर की कविता गेय पदों में ही उपलब्ध है। भाषा की दृष्टि से भी तुलसी का क्षेत्र अधिक विस्तृत है। उन्होंने व्रजभाषा तथा अवधी, दोनों पर समान अधिकार प्रदर्शित किया, परन्तु सूर ने केवल व्रजभाषा को ही अपनाया जो उनके विषय के अनुकूल ही है। दोनों की भाषा शुद्ध तथा प्राजल है, परन्तु तुलसी ने संस्कृत का पुट देकर अपनी भाषा को अत्यन्त परिष्कृत तथा परिमार्जित बना दिया है। सूर ने शृंगार तथा वात्सल्य रसों में अद्वितीय सफलता प्राप्त की, परन्तु तुलसी ने लगभग सभी रसों पर अपना अधिकार दिखाया है। अलंकारों की दृष्टि से दोनों एक दूसरे से बढ़े-चढ़े हैं।

यहाँ तक तो कलापक्ष का विवेचन किया गया, परन्तु भावों की तीव्रता तथा व्यापकता का महत्व कला से अधिक है। इस सबंध में यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि तुलसीदास ने सूरदास की अपेक्षा अपने आराध्य-देव के ईश्वरत्व पर अधिक जोर दिया है। कारण यह है कि तुलसीदास ने दास्य-भाव से प्रेरित होकर कविता की है। राम के ईश्वरत्व पर उनका ध्यान

सदैव रहता था और भक्ति के आवेश में आकर इस प्रकार के भाव उनके मुख से बार-बार निकल पड़ते थे। सूरदास कृष्ण को ईश्वर मानते थे, परन्तु उनकी उपासना सखा-भाव की थी। अतएव इस भावतल्लीनता में वे उनके ईश्वरत्व का ध्यान भूल जाते थे।

दोनों भक्तों की तल्लीनता पूरी थी, पर वह अलग-अलग भावों से थी। इस भाव-तल्लीनता में दोनों कवियों ने श्रीराम तथा श्रीकृष्ण का जो रूप अंकित किया है, वह रस से पूर्णतः आप्लावित है। सूर ने श्रीकृष्ण का आधार लेकर बाल-प्रकृति का जो सूक्ष्म निदर्शन किया है, वह संभवतः संसार के किसी साहित्य में नहीं मिलता। शृंगार के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग—के वर्णन करने में भी सूर ने अद्वितीय सफलता प्राप्त की है। उसमें माधुर्य कूट-कूट कर भरा है। परन्तु सूर का क्षेत्र यहीं तक सीमित है। इन्होंने जीवन की विभिन्न दशाओं का विवेचन अपनी कविता में नहीं किया है। तुलसी ने अपने मानस में न केवल बाल-प्रकृति और शृंगार रस की ही अभिव्यक्ति की है, प्रत्युत् उन्होंने जीवन के एक व्यापक क्षेत्र को लेकर उसके अनेक अङ्गों पर सफलता-पूर्वक प्रकाश डाला है। उसमें उन्होंने राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अवस्थाओं का भली-भाँति विवेचन किया है। इस प्रकार 'मानस' किसी सम्प्रदाय-विशेष की सम्पत्ति न रहकर समस्त मानव-समाज का अमूल्य रत्न बन गया है।

वास्तव में वही महाकवि है जो काल के अन्य समस्त गुणों के साथ-ही-साथ मानव-जीवन की विस्तृत विवेचना कर सके। जब हम इस प्रकार सूर और तुलसी की रचनाओं पर दृष्टिपात करते हैं तो तुलसी को सूर से उच्च ठहराते हैं, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि सूर ने अपने सीमित क्षेत्र में तुलसी से अधिक सफलता प्राप्त की है।

केशवदास को सूर तथा तुलसी के साथ रखना अधिक उपयुक्त नहीं प्रतीत होता है। केशव वास्तव में आचार्यत्व के पीछे इतनी बुरी तरह पड़े कि वे काव्य की आत्मा—रस—को अनेक अवसरों पर तिलाजलि दे बैठे। ऐसे स्थलों पर उनकी कविता छन्दों के तिलस्म में हमको चक्कर में डालकर

आश्चर्यान्वित तो कर सकती है, परन्तु हमारे हृदय को स्पर्श नहीं कर सकती। सरस काव्य के दृष्टिकोण से केशव की कविता निम्न कोटि की ठहरती है।

हिन्दी-साहित्य में विहारी का स्थान केशव से ऊँचा है, क्योंकि विहारी में सरसता के साथ-ही-साथ जीवन की विस्तृत विवेचना है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी कवि ने अनुप्रास के फेर में पड़कर सूर को सूर कह दिया है और मात्रा-पूर्ति के लिए केशव को जोड़ दिया। वास्तव में हिंदी-साहित्य में तुलसी का स्थान प्रथम, सूर का दूसरा और केशव का पाँचवाँ है।

२४—सूर और तुलसी की कविताओं की तुलना कीजिए और बतलाइए कि दोनों की कविताओं में से किसकी कविताओं का प्रचार अधिक हुआ है और क्यों?

उत्तर—इस प्रश्न के प्रथम खण्ड के उत्तर के लिए गत प्रश्नोत्तर के पहले, दूसरे और तीसरे पैराग्राफ को देखिए।

व्यापकता की दृष्टि से तुलसी ने श्रीराम-चरित्र का आश्रय लेकर जीवन की अनेक परिस्थितियों तक अपनी पहुँच दिखलाई है। सूरदास के कृष्ण-चरित्र में इतनी व्यापकता नहीं। इस दृष्टि से तुलसी सूर से ऊँचे उठ जाते हैं। परन्तु अपने क्षेत्र में सूर ने अद्वितीय सफलता प्राप्त की है। बाल-प्रकृति का जो सूक्ष्म निदर्शन सूर ने दिखाया है, वह संभवतः संसार के किसी साहित्य में नहीं मिलता। शृंगार के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग—के वर्णन करने में भी सूर तुलसी से बहुत बढ़े-चढ़े हैं। मधुरता भी सूर में तुलसी से अधिक है।

सूर के पद माधुर्य रस से आप्लावित तथा गीतिकाव्य के समस्त गुणों से सम्पन्न होने के कारण रसिक जनों तथा गायनाचार्यों के मन को तो लुभा सके, परन्तु जीवन के संकीर्ण क्षेत्र से सम्बन्ध रखने के कारण वे सब प्रकार के मनुष्यों की रुचि के अनुकूल न हो सके। इसके विपरीत तुलसी ने अपने रामचरितमानस में जीवन के लगभग सभी अंगों पर प्रकाश डाला है। गृहस्थ-जीवन-सम्बन्धी विभिन्न बातों का जैसा सुंदर निदर्शन हमें रामचरितमानस में मिलता है, वैसा हिंदी-साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है।

भाई-भाई, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, राजा-प्रजा, माता पुत्र आदि के सम्बन्धों का जैसा सूक्ष्म विवेचन तुलसी ने किया है, वैसा हिन्दी का और कोई कवि नहीं कर सका। इस प्रकार रामचरितमानस जन-साधारण को, उसके दैनिक जीवन का विवेचन करने के कारण, अत्यन्त प्रिय है। यही नहीं, विद्वानों के लिए भी रामचरितमानस एक अथाह भण्डार है। जैसा तुलसीदास ने प्रारम्भ में लिखा है, वास्तव में रामायण नाना पुराण-निगमागम का निचोड़ है। इस अथाह सागर में जितनी गहराई तक प्रवेश किया जाय, उतने ही अमूल्य रत्न प्राप्त हो सकते हैं। यही कारण है कि रामायण जन-साधारण की प्रिय होने के साथ-साथ विद्वानों के लिए भी रत्नकोष है। परन्तु इससे सूर की महत्ता कम नहीं हो सकती। यद्यपि तुलसी की कविताओं का सूर से अधिक प्रचार हुआ है, तथापि सूर के प्रशंसकों की संख्या भी कम नहीं है। हम सूर और तुलसी, दोनों को ही अपने साहित्य की आत्मा मान सकते हैं।

२५—'सूरदास ने वाल्य-भावों की सुन्दर-स्वाभाविक व्यंजना की हैं।' पठित अंश के आधार पर इस कथन की पुष्टि कीजिये। (P. U. 1951 A) या—

२६—वात्सल्य रस की निष्पत्ति में सूर की कविताएं सफलता के शीर्ष पर आसीन हैं। विवेचना कीजिये।

उत्तर—सूरदासजी मुख्यत: शृंगार और वात्सल्य के कवि हैं। पारिवारिक और सामाजिक जीवन के बीच हम सूर के बालकृष्ण को थोड़ा-बहुत देखते हैं। कृष्ण के केवल बाल-चरित्र का प्रभाव नन्द, यशोदा आदि परिवार के लोगों और पडोसियों पर दिखाई देता है। सूर का केवल बाल-लीला-वर्णन ही पारिवारिक जीवन से सम्बद्ध है। इस 'बाल-लीला-वर्णन' का 'सूर-साहित्य' में एक विशिष्ट स्थान है। वस्तुत: भगवान के बालरूप का वर्णन वल्लभ-सम्प्रदाय के भक्त कवियों का बहुत ही प्रिय विषय रहा है। सूर-साहित्य में यह अंश इतना महत्त्वपूर्ण है कि यदि इसे वहाँ से अलग कर दिया जाय तो सूरदास की कविताओं का महत्त्व ही लुप्त हो जायगा। 'बाल-लीला-वर्णन'

और 'भ्रमरगीत' सूर-साहित्य के प्राण हैं और इसी के आधार पर सूर की ख्याति अवलंबित है। 'कृष्ण-केलि' के पदों में बालकों की प्रकृति का जितना सूक्ष्म पर्यवेक्षण (Microscopic observation), उनकी लीलाओं की जितनी मधुर अभिव्यक्ति और उनके सौन्दर्य का जितना आकर्षक चित्र उपस्थित किया गया है, वह हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय है। सूरदास के सभी वर्णन बहुत सप्राण, कोमल तथा मधुर हैं, और उनका कृष्ण का बाल-चित्रण साहित्य में एक अमर निधि है। वात्सल्य रस का जैसा मनोमुग्धकारी वर्णन सूर ने किया है, वैसा हिन्दी, संस्कृत या अन्य भाषाओं में भी कम मिलता है। कालिदास का वात्सल्य-रस पर केवल एक पद मिलता है, वह भी सूर के किसी उत्कृष्ट पद की समता नहीं कर सकता है। अंग्रेजी साहित्य में तो इसका अभाव सा ही है। कहीं-कहीं अवश्य इस विषय पर कोई काव्य दृष्टि-गोचर हो जाता है, पर जितनी मार्मिक और विशद व्याख्या सूर में मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। होमर ने एक स्थान पर 'ओडेसी' नामक काव्य में थोड़ा-सा वर्णन किया है। वात्सल्य रस में तो संसार का कोई भी कवि सूर की समता नहीं कर सकता, यह निर्विवाद है। उन्होंने मनोविज्ञान के साथ अभिव्यक्ति का अनुभूतिमय आधार लेकर जिस साहित्य की सृष्टि की है, वह अमर है। उनकी कवि दृष्टि बहुत ही मर्मभेदी थी। उनका प्रत्येक वर्णन उनकी भावनाओं की अनुभूति की सच्चाई से अपने में निहित है। लांग फेलो (Long fellow) ने शिशु का गुणगान अवश्य किया है। उसने एक स्थल पर इस प्रकार लिखा है—

'You are better than ballads,
That ever were sung or said;
For ye are the living poems;
And all the rest are deads."

डा० रामकुमार वर्मा एम० ए० के शब्दों में हम कह सकते हैं कि "सूरदास की कविता मे महत्त्व की एक बात और है। उसमें हम विश्व-व्यापी राग सुनते हैं। वह राग मनुष्य-हृदय का सूक्ष्म उद्गार है। उसी

राग में मानव-जाति की सभी वृत्तियाँ अन्तर्हित हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि उनकी कविता में मनुष्य के सुख-दुःख का तार सदैव हिला करता है। उनकी कविता मनुष्य-जाति के स्वरों में हँसती और उसी के स्वरों में रोती है। बालकृष्ण के शैशव में, श्रीकृष्ण के मचलने में, माँ यशोदा के दुलार में हम विश्व-व्यापी माता-पुत्र का प्रेम देखते हैं—

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायो।
मोसों कहत मोल को लीनो, तू जसुमति कब जायो॥
कहा कहौं एहि रिस के मारे, खेलन हौं नहिं जातु।
पुनि पुनि कहत कौन है माता, को है तुमरो तातु॥

इन्हीं विश्व-व्यापी वृत्तियों के कारण सूर का काव्य विश्व-काव्य की श्रेणी में आ जाता है।

सूरदास के कहने की शैली भी बहुत ही सुन्दर है। जो बात वे कहते हैं, वह इतनी कलात्मक ढंग से कि उसके आगे कहने को कुछ भी नहीं रह जाता? जो कुछ कहते हैं, वही कहने की इति है।

बाल-लीला-वर्णन में सूरदास की प्रतिभा पूर्णतया व्यक्त हुई है। कृष्ण-जन्म की आनन्द-बधाई के उपरान्त ही बाललीला का आरंभ हो जाता है। जितने विस्तृत, मार्मिक और विशद रूप में सूर ने बाल्य-जीवन का चित्रण किया है, उतने विस्तृत रूप में और किसी कवि ने नहीं किया। शैशवावस्था से लेकर प्रौढ़ावस्था तक के क्रम से लगे हुए न जाने कितने चित्र मौजूद हैं। उनमें केवल बाहरी रूपों और चेष्टाओं का ही विशद और सूक्ष्म वर्णन नहीं है, वरन् कवि ने कृष्ण के अन्तःप्रकृति में प्रवेश कर बाल्य-भावों की सुन्दर, स्वाभाविक एव मार्मिक व्यजना की है। देखिए :—

जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलराय मल्हावै जोइ सोइ कछु गावै।

कितना स्वाभाविक मातृत्व प्रेम का प्रवाह है। माँ की यह इच्छा है कि उसका लाल शीघ्र सो जाय।

उधर वाल कृष्ण का भी कितना मनोरम चित्रण है। देखिये :—

कर पग गहि अँगुठा मुख मेलत ।
प्रभु पौढ़े पालने अकेले हरखि-हरखि अपने रंग खेलत ॥
शिव सोचत विधि बुद्धि विचारत बट वाढ्यो सागर जल झेलत ।
बिडरि चलै घन प्रलय जानि कै दिगपति दिग देतौ न सकेलत ॥
मुनि भयभीत भये भव के पित शेष सकुचि सहसौ फन फेलत ।
उन ब्रजवासिन वात न जानी समुझै सूर सकर पगु पेलत ।

बालकों को यह स्वाभाविक आदत होती है कि वे प्रसन्नता के समय अपने हाथ से पैर का अँगूठा पकड़कर मुँह मे डालने लगते हैं। यही मानो उनके बढ़ने का व्यायाम हो। सचमुच सूरदास ने शिशु और वाल-जीवन की प्रत्येक भावना का गभीर अध्ययन किया है। उन्होंने इस परिस्थिति का चित्रण बड़ी ही कुशलता और स्वाभाविकता से उपस्थित किया है। इसमें बच्चों की प्रकृति का सुन्दर वर्णन है। बच्चों को गोद में लेकर उन्हे दुलारना मानव-वात्सल्य का एक अंग है। माता की स्वभावत. इच्छा रहती है कि उसका प्यारा पुत्र शीघ्र ही बड़ा हो जाय। बड़े होने पर घुटने के वल चलने की इच्छा होती है। घुटने के वल चलने लगता है तो खड़े होने, वोलने, क्रीड़ा-कौतुक करने की अभिलाषा वढ़ती जाती है। यह अभिलाषा शनै· शनैः व्यग्रता, उत्सुकता एवं अधीरता में परिणत हो जाती है। उत्तरोत्तर उनका विकास आगे के पदों में होता जाता है। सागर की लहरों के समान एक लालसा शात नहीं हो पाती है और उसके पहले ही दूसरी लालसा उसका स्थान ग्रहण कर लेती है—

जसुमति मन अभिलाष करै ।
कब मेरो लाल घुटरुवन रेंगो कब धरनी पग द्वैक धरै ॥
कब द्वै दंत दूध के देखौं कब तुतरे-मुख वैन झरै ।
कब नंदहि कहि बाबा बोले कब जननी कहि मोहि ररै ॥
कब मेरो अँचरा गहि मोहन जोइ सोइ कहि मोसों झगरै ।
कब धौं तनक-तनक कछु खैहैं अपने कर सौं मुखहिं भरै ॥

कितनी ममता है। ऐसे लीलाकारी कौतुकी श्याम को भला कौन नहीं चाहेगा ? माता-पिता के तो वे प्राणधन थे ही। जिस परब्रह्म के लिए शिव, ब्रह्मा आदि भी लालायित रहते हैं, वह आज यशोदा की गोद की शोभा बढा रहे हैं। अब श्याम घुटनों के बल चलकर कभी इधर जाते, कभी उधर ; कभी नन्द की गोद में, कभी यशोदा के अंचल में। फर्श पर उनका प्रतिबिंब दिखाई दे रहा है। वे भेद तो समझते नहीं, क्या है ? उसे हो पकड़ने दौड़ते हैं। कुछ-कुछ बोलने लगे हैं, पर स्पष्टरूप से बोली नहीं निकलती है। कुछ बोलना चाहते हैं, पर कुछ निकल जाता है।

बाल-विनोद खरो जिय भावत।
मुख प्रतिबिम्ब पकरिबे कारण हुलसि घुँटरुवन धावत॥
छिनक मॉझ त्रिभुवन की लीला शिशुता मॉह दुरावत।
शब्द एक बोलत चाहत है प्रगट वचन नहिं आवत॥
कमल नैन माखन मॉगत हैं ग्वालनि सैन बतावत।
सूर स्याम सुसनेह मनोहर जसुमति प्रीति बढ़ावत॥

जब घुटनों के सहारे चलने लगे, तो हाथ-मुँह में धूल लपेट लेते हैं और उसी में चलते हुए दिखाई देते हैं—

हौं बलि जाउँ छबीले लाल की।
धूसरि धूरि घुटरुवन रेंगनि ; बोलनि वचन रसाल की॥

बालकों के स्वाभाविक भावों की व्यंजना में सूर ने कितने ही पदों की रचना की है। कृष्ण बार-बार अपनी चोटी टटोलते हैं ; पर वह बढ़ती हुई दिखाई नहीं देती। वे दूसरे बालकों की बड़ी चोटी देखते हैं, तो उनका मन खिन्न हो उठता है। देखिए 'स्पर्द्धा' का भाव, जो बालकों में स्वाभाविक होता है, इन वाक्यों में किस प्रकार से व्यंजित हो रहा है—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पियत भइ यह अजहूँ है छोटी॥
तू जो कहति 'बल' की बेनी ज्यों ह्वै हैं लाँबी मोटी॥

अब श्याम मम्मा, दद्दा कहना भी अच्छी तरह सीख चुके हैं। इसी से ये—

कहन लगे मोहन मैया मैया।
पिता नन्द सों बाबा-बाबा अरु हलधर सों भैया॥

अब तो श्याम बड़े हो गये हैं और उन्होंने चन्द्रमा को देखकर मचलना भी आरम्भ कर दिया है। यहाँ पर सूर ने बालक कृष्ण और माँ यशोदा के हृदय की भावनाओं को इतने सर्वजनीन रूप (Universal Manner) से प्रस्तुत किया है कि वे चिरंतन और सत्य हो गये हैं। यहाँ यशोदा के मातृत्व का चित्रण देखिए—

अरुझो री मेरे बाल गोविन्दा।
अपने कर गहि गगन बतावत खेलन को माँगै चन्दा॥

अब श्रीकृष्ण चन्द्रकला के सदृश बढ़ने लगते हैं और वे अपने भोलेपन के कारण हठी बन जाते हैं। यह स्वाभाविक भी है—

चन्द खिलौना लैहौं मैया, मैं तो चन्द खिलौना लैहौं।
धौरी को पय पान न करिहौं, बेनी सिर न गुहैहौं॥

श्रीकृष्ण अपने बाल्यकाल से ही चंचल थे। बलदेव उन्हें चिढ़ाया करते थे और ये चिढ़ जाते थे। यहाँ पर सूर ने सरलता के साथ सरसता का समन्वय किया है

खेलन अब मेरी जात बलैया!
जबहि मोहिं देखत लरिकन संग तबहिं खिझत बलभैया॥
मो सों कहत पूत वसुदेव को देवकी तेरी मैया।
मोल लियो कछु दै वसुदेव को करि करि जतन बढ़ैया॥

बाल-चेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भंडार और कहीं नहीं है, जितना बड़ा सूरसागर में है। हार-जीत के खेल में बालकों के 'क्षोभ' के कैसे स्वाभाविक वचन सूर ने रखे है—

खेलन में को काको गोसैयाँ।
हरि हारे, जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ॥

जाँति-पाँति हम तें कछु बढ़ि नहिं, न बसत तुम्हरी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातें अधिक तुम्हारे है कछु गैयाँ॥
रुहठि करै तासों को खेलैं रहे पौढ़ि जहँ तहँ सब गोइयाँ।
सूरदास प्रभु खेलोइ चाहत रावे देत करि नंद दोहैयाँ॥

श्याम किशोरावस्था को प्राप्त हो रहे हैं। अब श्याम गाय चराने के लिए वन जाते हैं। आज वे गाय चराने के लिए नहीं जाना चाहते हैं। इसी पर वे अपनी माता यशोदा से कहते हैं—

मैया मेरी, मैं नहीं माखन खायो।
भोर भए गैयन के पीछे मधुवन मोहि पठायो॥

सूर ने कृष्ण को माखन-चोरी का वर्णन भी किया है और वह वर्णन बहुत ही सुन्दर, मार्मिक और विशद हुआ है। कृष्ण गाय चराना ही पसन्द करते हैं, माँ यशोदा ने न जाने कितनी वार मना किया, परन्तु वे न माने और गाय चराने के लिए वन में चले गए और सध्या समय लौटे, तो उनका सूखा मुख देखकर यशोदा ने उनको गोद में उठा लिया। यशोदा पूछने लगी—कान्हा, तू मेरे लिए भी कुछ लाया है? यह पूछ नहीं पायी कि शीघ्र ही ममतावश श्याम से माखन-रोटी खाने को पूछने लगी—

जसुमति दौरि लए हरि कनियाँ।
आज गयो मेरो गाय चरावनि हौ बलि गई निधनियाँ॥
मो कारण कछु आन्यो है बसि बन फल तोरि कन्हैया॥

भगवान के बालरूप का चकरी भौंरा खेलना भी बड़ा मनोहर है। कृष्ण भौंरा माँग रहे हैं—

दे मैया भवँरा चकडोरी।
गाइ लेहु आरे पर राखो, काहि मोल ले राखै कोरी॥
ले आये हँसि स्याम तुरत ही देखि रहे रंग-रंग बहु डोरी॥

इस प्रकार अनेक क्रीड़ा-कौतुकों में समय व्यतीत होता कुछ जान नहीं पड़ता। बाल-क्रीड़ा के सखा-सखी आगे चलकर यौवन-क्रीड़ा के सखा-सखी हो जाते हैं। केवल एक साथ रहते-रहते भी दो प्राणियों में स्वभावतः

प्रेम हो जाता है। कृष्ण एक तो बाल्यावस्था से ही गोपियों के बीच रहे, दूसरे, सुन्दरता में भी वे अद्वितीय थे। अतः गोपियों के प्रेम का क्रमशः विकास दो प्राकृतिक शक्तियों के प्रभाव से होने के कारण बहुत ही स्वाभाविक है। बाल-क्रीड़ा इस प्रकार क्रमशः यौवन-क्रीड़ा के रूप में परिणत होती गई है कि 'सन्धि का पता ही नहीं चलता। एक दिन की बात है कि श्याम चकरी-भौंरा खेल रहे थे, वहीं पर उन्हे प्रथम बार राधिका के दर्शन हो गए। वह नीली फरिया पहिने हुई थी। उसका गौर वर्ण था। उसे देखते ही कृष्ण प्रथम दृष्टि में ही मोहित हो गए। रूप का आकर्षण बाल्यावस्था से ही आरम्भ हो जाता है। राधा और कृष्ण के विशेष प्रेम की उत्पत्ति सूर ने रूप के आकर्षण के द्वारा ही कही है—

> खेलन हरि निकसे ब्रज ओरी।
> गए स्याम रवि-तनया के तट, अंग लसति चन्दन की खोरी॥
> औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल भाल दिए रोरी।
> सूर स्याम देखत ही रीझे, नैन-नैन मिलि परी ठगोरी॥

अब कृष्ण राधा से उसका परिचय पूछते हैं। दोनों का परस्पर वार्तालाप एवं कृष्ण का राधा को संग ले जाना बड़ा भला प्रतीत होता है—

> "पूछत स्याम कौन तू गोरी।
> कहाँ रहत काकी है बेटी नही कहूँ ब्रज खोरी"॥
> "काहे को हम ब्रजतन आवति खेलति रहति आपनी पौरी।
> सुनति रहति स्रवणनि नंद ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी॥
> "तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं? खेलन चलो संग मिलि जोरी।
> सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातन भुरइ राधिका भोरी॥"

अब अन्त में यह कहना है कि इन बाल-चेष्टाओं का काव्य-विधान में क्या स्थान है। वात्सल्य रस के अनुसार बालक कृष्ण आलंबन होंगे और नंद या यशोदा आश्रय। अतः ये चेष्टाएँ अनुभाव के अन्तर्गत हैं, पर आलंबनगत चेष्टाएँ उद्दीपन के भीतर ही आ सकती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि ऐसी चेष्टाओं का स्थान भाव-विधान के अन्तर्गत ही है।

अतः ग्राम्य वातावरण में लौकिक आचारों के निरूपण से बालक के जीवन में कितनी स्वाभाविकता और सरसता आ जाती है, यह सूरसागर के स्थलों से स्पष्ट है। जन्मोत्सव, छठी, बारही, नामकरण, अन्नप्राशन आदि अनेक लौकिक आचारों में जहाँ मनोवैज्ञानिक चित्रण की सामग्री मिलती है, वहाँ ग्राम्य वातावरण की स्वाभाविकता भी वर्णन को उत्कृष्ट बना देती है। ग्राम में दूध-दही का प्राचुर्य श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं को कितना प्रश्रय देता है। कवि का यही अमर काव्य है। बालक के सरल-से-सरल कार्य को वे बालक बनकर ही वर्णन करते हैं और अपार सौन्दर्य पाठकों के सम्मुख बिखेर देते हैं। हमारा अनुमान है कि सूर का बाल-रूप-वर्णन तुलसी के बाल-रूप वर्णन से कहीं अधिक स्वाभाविक और सुन्दर है। इसका कारण मुख्यतः यही है कि सूर को अपने मुक्तक पदों मे पुनरुक्ति पर ध्यान दिए बिना एक ही विषय को बार-बार कहने का अधिकार था। दूसरा कारण यह है कि सूर अपने नायक को उतना अधिक लोकोत्तर नहीं समझते थे जितना कि तुलसी। तुलसी स्वयं उड़कर अपने भगवान के पास बैठना चाहते थे, सूर अपने भगवान को ही पृथ्वी पर बुलाकर पास बिठा लेना चाहते थे। अतः इस तरह बाल्य तथा कैशोर काव्य के सभी तरह के संभव चित्रों को सूर ने अपनी कुशल लेखनी से चित्रित किया है, जो न केवल भारतीय साहित्य की, वरन् विश्व-साहित्य की अमर निधि है।

२७—सूर की कविताओं पर साम्प्रदायिकता की छाप है, किन्तु फिर भी उनकी कला मौलिक है। समीक्षा कीजिये ?

उत्तर—"सूर की विशेषताओं के इस संक्षिप्त दिग्दर्शन को समाप्त करने के पहले इतना और कह देने का जी चाहता है कि सूर में साम्प्रदायिकता की छाप तुलसी की अपेक्षा अधिक है। अष्टछाप में वे थे ही। उन्होंने अपनी अनन्य उपासना के अनुसार कृष्ण या हरि को छोड़ और देवताओं की स्तुति नहीं की है! ग्रन्थारम्भ में भी प्रथानुसार गणेश या स्वरस्वती को याद नहीं किया है" [रामचद्र शुक्ल : भ्रमरगीतसार]

सूरदास के आध्यात्मिक गुरु वल्लभाचार्य थे। इस सम्प्रदाय के लोग इन्हें अग्नि से उत्पन्न मानते हैं। भक्तमाल में इनके विषय में लिखा है कि ये विष्णुस्वामी के प्रमुख आचार्य और भक्त थे और गोलोक से वात्सल्य, निष्ठा और भक्ति का प्रचार करने के लिए अवतरित हुए थे। इन्होंने भगवान की मूर्त्ति की स्थापना कर भगवद्-भक्ति की ओर अपना एक नवीन मार्ग, जो कि पुष्टि-मार्ग कहलाता है, चलाया। इनका यह सेवा का मार्ग ऐसा था कि लोग स्वयं ही इनकी ओर आकर्षित हो जाते थे। इन्होंने भगवान के बाल-स्वरूप की ही विशेष भक्ति की है। इनका कहना था कि भक्त भगवान की जिस रूप से आराधना करता है, भगवान भी उसे उसी प्रकार परमपद पर अधिष्ठित करते हैं।

वल्लभाचार्य कृष्ण-भक्ति-शाखा के पुष्टि-मार्ग के प्रवर्तक थे। पुष्टि-मार्ग का आशय है ईश्वर का अनुग्रह। उनको भोग लगाना, खूब अच्छे अच्छे पदार्थ खिलाना और सेवा शुश्रूषा करना चाहिये और व्रत, उपासना, संयमादि करने की आवश्यकता नहीं। परन्तु इस सम्प्रदाय के ग्रन्थ देखने या विद्वानों से पूछने पर मालूम होता है कि ऐसा नहीं है। इस सम्प्रदाय के लोग व्रत-उपवासादि भी करते हैं। गीता को ये सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ मानते हैं और उसके सिद्धान्तों का पालन करते हैं, किन्तु उसके ज्ञान-मार्ग को, कर्म-मार्ग को नहीं। अतएव पुष्टि-मार्ग का आशय यह भी हो सकता है कि वह मार्ग, धर्म या सम्प्रदाय जिसमें ईश्वर के अनुग्रह का अधिक ध्यान रखा जाता है। यही बात इस सम्प्रदाय में भी देखने को मिलती है। ये व्रत, उपवास और तपस्या की अपेक्षा भगवदनुग्रह पर ही अधिक अवलंबित रहते हैं। जिस सम्प्रदाय ने सूर जैसे कवि को जन्म दिया, वह ऐसा हो नहीं सकता जैसा बाह्य रूप में हमें दिखाई देता है। वास्तव में सिद्धान्त देखने के लिए हमें समाज के चरित्र को नहीं, प्रत्युत उसके आचार्यों के द्वारा कथित मार्ग को देखना उचित है। इस दृष्टि से इस सम्प्रदाय के पुष्टि-मार्ग ने दुःखावृत जनता के लिए उस समय मलहम (Balm) का काम किया था।

"पुष्टि-मार्ग के अनुसार कृष्ण ही ब्रह्म हैं जो सत्, चित् और आनन्द-स्वरूप हैं। जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से जीव और जगत् निकलते हैं। ये उससे भिन्न नहीं है। अंतर इतना ही है कि जीव आनन्द को खोकर सत् और चित् को अशतः धारण किये रहता है। मुक्त होकर जीव आनन्दस्वरूप हो जाता है और कृष्ण के साथ चिरकाल तक एकाकर होकर रहता है। स्वर्गीय वृन्दावन ही, जहाँ राधा और कृष्ण चिरन्तन विहार करते हैं, भक्तों का आधार और लक्ष्य है।

—(हिन्दी भाषा और साहित्य)

अब यह देखना है कि सूर की कविताओं पर साम्प्रदायिकता की छाप होते हुए भी रचना मौलिक है। यह हम मानते हैं कि सूरदास साम्प्रदायिकता से ओत-प्रोत थे। अगर हम सूर के कृष्ण का सूक्ष्म अध्ययन करें तो हमको स्पष्ट विदित होगा कि सूर के कृष्ण विष्णु के अवतार थे। श्री वल्लभाचार्य के कृष्ण त्रिदेवों से परे की परम शक्ति थे। इस दृष्टि से भी सूर वल्लभ-सम्प्रदाय से भिन्न मार्ग पर चलते दीख पडते हैं। वल्लभाचार्य ने सूर को अष्टछाप का प्रधान कवि माना है; चूँकि वह उस समय के सर्वश्रेष्ठ गायक कवि थे। सूर को ऊँचा आसन अपनी प्रतिभा के कारण मिला, साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के ट्रेडमार्क (Trade Mark) की पुष्टि करने के निमित्त नहीं। नीचे के पद में सूर ने साम्प्रदायिकता का स्पष्ट रूप से विरोध किया है—

जो पै राम नाम धन धरतो।
टरतो नहीं जनम जनमान्तर कहा राज जम करतो॥
लेतो करि ब्योहार सवनि सों मूल गाँठ में परतो।
भजन प्रताप सदाई घृत मधु पावक परे न जरतो।
सुमिरन गोन वेद विधि बैठो विप्र-परोहन भरतो॥
सूर चलत बैकुंठ पेलि कै बीच कौन जो अरतो॥

हम यह मानते हैं कि सूरदास की कविताओं पर साम्प्रदायिकता की छापँ है, परन्तु भापा, शैली, छद और वाक्य-विन्यास मौलिक हैं। भावों की समता होने से किसी की रचना अलौकिक नहीं कहलाती। सूरदास की कला अपनी

है। नीचे के पद पर साम्प्रदायिकता की छाप है, परन्तु कला की दृष्टि से रचना अपना निजी स्थान रखती है—

हमैं नन्दनन्दन मोल लियो।
जम्र को फाँसि काटि मुकरायो अभय अजात कियो।
मूड़ मुड़ाय कंठ वनमाला चक्र के चिन्ह दियो।
माथे तिलक स्रवन तुलसी दल मेटेव अंग वियो॥
सब कोउ कहत गुलाम स्याम को सुनत सिरात हियो।

'मूड़ मुड़ाय कंठ वनमाला चक्र के चिन्ह दियो' में उनकी साम्प्रदायिकता निहित है।

दूसरा अभियोग सूर के विरुद्ध यह है कि उन्होंने दूसरे देवता की स्तुति नहीं की। इसके उत्तर में हमको यही कहना है कि उन्होंने राम के उज्वल चरित्र के सम्बन्ध में लिखा है। [1]सूरसागर में उनके कुछ छंद इतने उत्कृष्ट वन पड़े हैं कि उनकी तुलना में तुलसी भी कहीं-कहीं मात खा गए हैं। एक उदाहरण लीजिए। यहाँ पर सुमित्रा कौशल्या से कहती है—

कौशल्या सौं कहति सुमित्रा, जनि जननी दुख पावै।
लछिमन जनि हौं भई सपूती, राम काज जो आवै।
जीवै तौ सुख बिलसै जग में, कीरति लोकन गावै।

..

लोह गहैं लालच कर जिय कौ, औरो सुभट लजावै।

यह प्रसंग तब का है, जब हनुमान सजीवनी बूटी लेकर लौट रहे थे। उस समय भरत ने अपनी वाण शक्ति से हनुमान को गिरा दिया। इसके वारे में क्या वाल्मीकि और तुलसी, दोनों ने ही भरत और हनुमान का संवाद कराया है, परन्तु सूर ने तो उस मार्मिक स्थल पर कौशल्या और सुमित्रा को भी देखा है। जब उन माताओं ने अपने पुत्र लक्ष्मण के प्राण सकट का समाचार सुना, तब उनका कोमल हृदय व्याकुल हो उठा। तो भी सूर ने कलात्मक शैली का

१ नागरी-प्रचारणी सभा

पयोग कर जिस मर्य्यादा और लोक-कल्याण के भावों की रक्षा की है, वह हिन्दी-काव्य की अमूल्य निधि है। परन्तु इन सब सान्त्वनाओं के पश्चात् भी उन माताओं का आकुल हृदय नहीं भरता है और वे दोनों मातायें हनुमान को राम के पास सन्देश देने के लिए भेजती हैं—

इहिं पुर जन आवहिं मम वत्सल, बिनु लछिमन लघु भ्रात।
छोड्यो राज-काज, माता हित, तुम चरननि चित लाई।
ताहि विमुख जीवन धिक रघुपति, कहियौ कपि समुझाई।
\+ \+ \+
नातरु सूर सुमित्रा सुत पर, वारि अपनुपौ दीजै॥

उपर्युक्त पद्यांश को पढ़कर हम यह कह सकते हैं कि सूरदास के पद सम्प्रदायिकता से कैसे ओत-प्रोत हो सकते हैं? आचार्य श्री रामचन्द्र शुक्ल के कथनानुसार तुलसी की दृष्टि लोक-मगल और लोक-रक्षक पर समान रूप से है, परन्तु सूर केवल लोक-मगल के कवि थे। लेकिन हम दावे के साथ कह सकते हैं कि सूर का पद लोक-रक्षक का अत्यन्त उत्कृष्ट दृष्टान्त है।

जिस प्रकार तुलसी ने कृष्ण के चरित्र पर एक छोटी-सी पुस्तक की रचना की है, ठीक उसी प्रकार सूर ने भी राम के चरित्र पर यत्किंचित् प्रकाश डाला है। सूर ने अपने 'सूरसागर' में राम के अमूल्य पद भी दिए हैं। इसका एक उदाहरण लीजिए—

रघुकुल प्रगटे हैं रघुवीर।
देस देस से टीको आयो रतन कनक मनि हीर॥
घर घर मंगल होत बधाई गति पुरवासिनि भीर।
आनंद मगन भये सब डोलत कछू न सोव सरीर॥
मागध वंदी सूत लुटाए गो गयंद हय चीर।
देत असीस सूर चिरजीवो रामचन्द्र रनधीर॥

उपर्युक्त पद्यांश में राम-चरित्र का वर्णन हुआ है। यहाँ पर सूर का चित्रण बहुत ही सुन्दर और विशद हुआ है।

तुलसी ने अपने प्रबन्ध-काव्य में लिखा है कि मैंने काव्य-रचना स्वान्तः-सुख के लिए की है। उन्होंने संसार की प्रत्येक वस्तु को काव्य में स्थान दिया है, तो वे श्रीकृष्ण को क्यों अपने काव्य से विलग करते? उन्होंने समाज की प्रत्येक दशा का वर्णन किया है। तुलसी ने श्रीकृष्ण का गुणगान किया है कि साम्प्रदायिक भेद-भाव दूर हो जाय, कृष्ण में विशेष भक्ति-भाव होने के कारण नहीं। सूरदास संसार से विलग थे और आध्यात्मिक लोक में विचरण करते थे। सूर ने अन्य देवताओं की स्तुति नहीं की, इसलिए वे साम्प्रदायिक कवि नहीं हो सकते हैं। इसके लिए हमको सिद्ध करना होगा कि उन्होंने अमुक-अमुक देवताओं की निन्दा की है।

आचार्य शुक्लजी ने जो तीसरा प्रमाण दिया है, वह बहुत ही निर्बल है। उनका कथन है कि उन्होंने ग्रन्थारम्भ में गणेश या सरस्वती का गुणानुवाद नहीं किया है। इस दोष को हम स्वीकार नहीं कर सकते हैं। पहली बात तो यह है कि उन्होंने कोई पुस्तक नहीं लिखी है। वे तो सिर्फ भगवान के सम्मुख भक्ति के कारण पद गाया करते थे और यही उनका दैनिक जीवन था। बालचरित्र और विरह-वर्णन में सूरदास का सम्भवतः यह विचार नहीं था कि किसी ग्रन्थ का निर्माण कर रहे हैं। उनका प्रत्येक पद मुक्तक है, उन पदों मे प्रसंगानुकूल कोई सम्बन्ध नहीं है। कुछ समय पश्चात् कुछ भक्तों ने उनके पदों को लिपिबद्ध करना आरम्भ कर दिया। अत. ऐसी परिस्थिति में यह सोचना कि सूरदास किसी देवता की वन्दना, किसी प्रचलित परिपाटी के अनुसार करें, यह ठीक नहीं जंचता। ऐसी बात साम्प्रदायिकता के कारण नहीं हुई, बल्कि समयाभाव के कारण हुई। सूरदास ने शिष्टाचार के नाते भी यह नहीं कहा कि—

"कवि न होउँ नहिं चतुर कहाऊँ।"

या

"सत्य कहहु लिखि कागद कोरे।"

सूरदास ने जो कुछ भी कहा है, वह सच्चे हृदय से। इस दोषारोपण का एक दूसरा उत्तर यह भी हो सकता है कि सूरदास के पदों के संग्रहकर्त्ता ने गणेश या सरस्वती की वन्दना को संकलित नहीं किया होगा या यह भी कह सकते हैं

कि उनकी समस्त रचना भी हमारे अध्ययन के लिए उपलब्ध नहीं है, जिससे हम समझें। इसलिए उन पदों का लुप्त होना भी संभव है। जो कुछ भी हो, अन्त में यह कहना पड़ता है कि इन प्रार्थनाओं के अभाव में उन्हे साम्प्रदायिक कवि कहना हमारी सर्वथा भूल है।

अधिकाश लेखकों या प्रोफेसरों ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के कथन पर अच्छी तरह सोचने का कष्ट नहीं किया है और वे सर्वथा कह दिया करते हैं कि सूर की कविताओं पर साम्प्रदायिकता की छाप होते हुए भी उनकी कला मौलिक है। परन्तु यह कथन बहुत हद तक भ्रमात्मक है। अत: पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि सूर साम्प्रदायिक कवि नहीं थे।

२८—सूर और तुलसी की भक्ति के दृष्टिकोण में जो अन्तर है, उसकी विवेचना कीजिए। (P. U. 1949 S)

उत्तर—कहा जाता है कि सूरदास श्रीकृष्ण के अनन्य सखा उद्धव के अवतार थे। उनकी भक्ति सख्यभाव की भक्ति थी और तुलसी की भक्ति सेव्य-सेवक-भाव की। यह अत्यन्त भ्रान्त कथन है। सूर की विनयावली और तुलसी की विनयपत्रिका की तुलना कीजिए—यहाँ न सूर की भक्ति सख्यभाव की है और न उसमें उस संकोच का अभाव ही है जो तुलसी की रचनाओं में सर्वत्र विद्यमान है। सूर में जो कुछ सकोच का अभाव पाया जाता है, वह गृहीत विषय के कारण ही। उन्होंने वात्सल्य और शृंगार को ही अपने वर्णनों का विषय बनाया है। यदि उनमें संकोच होता तो उनके वर्णन इतने मर्मस्पर्शी, इतने स्वाभाविक नहीं बन पाते जितने वे बन सके हैं। विनय के वर्णनों में तुलसी और सूर की भक्ति में कोई अन्तर नहीं। विनय में सूर भी ऐसा ही कहते पाए जायँगे—"प्रभु! हौं सब पतितन को टीको।" अवसर आने पर तुलसी के सकोच का भी तिरोधान हो जाता है। सूर की तरह ही प्रेम-भाव में मग्न हो वे सामीप्य और घनिष्ठता का अनुभव करते हैं और शबरी आदि के उद्धार पर कहते हैं—"तारेहु का रही सगाई?"

सूर को खरा तथा स्पष्टवादी और तुलसी को सिफारिशी, खुशामदी या लल्लो-चप्पो करनेवाला कहना इन दोनों महाकवियों का अपमान करना है।

सूर को खरा शायद इसलिए कहा जाता है कि इन्होंने दो-चार स्थानों पर कृष्ण के कामों की निन्दा भी की है। यथा—

"सखी री ! स्याम कहा हित जानै !
सूरदास सर्वस जौ दीजै कारो कृतहि न मानै ॥'

यहाँ कृष्ण न तो वास्तव में खोटे कहे गए हैं, न कलूटे-कृतघ्न। यह विरहाकुल गोपी का वचन है जिससे कुछ विनोद-मिश्रित अमर्ष व्यजित होता है।

सूरदास अपने भाव में मग्न रहनेवाले हैं, अपने चारों ओर की परिस्थिति की आलोचना करनेवाले नहीं। तुलसीदासजी लोक की गति के सूक्ष्म निरीक्षक हैं। वे लोक के बीच उत्पन्न होनेवाली कुरीतियों—दुर्वृत्तियों को तीव्र दृष्टि से देखनेवाले हैं। सूर ने इन बातों की ओर ध्यान नहीं दिया है; वे अपने भाव-भजन और मन्दिर के नृत्य-गीत में ही लीन रहते हैं।

तुलसी की अपेक्षा सूर अधिक साम्प्रदायिक हैं। सूर ने कृष्ण या हरि को छोड़ कहीं भी अन्यान्य देवताओं की स्तुति नहीं की। ग्रन्थारम्भ में भी प्रथानुसार उन्होंने गणेश या सरस्वती को याद नहीं किया। पर तुलसीदास की वन्दना कितनी विस्तृत है यह 'मानस' और 'विनयपत्रिका' के पढ़नेवाले जानते हैं। "उनमें लोक-संग्रह का भाव पूरा-पूरा था। उनकी दृष्टि लोक-विस्तृत थी।...शिव और राम को एक दूसरे का उपासक बनाकर उन्होंने शैवों और वैष्णवों में भेद-बुद्धि रोकने का प्रयत्न किया था। पर सूरदासजी का इन सब बातों की ओर ध्यान नहीं था।"

तुलसी ने उपासना को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है। 'राम-भक्ति' ही इनका सर्वस्व है जिसके ऊपर संसार को भी ये निछावर कर सकते हैं 'राम-भक्ति' से विहीन अपने सगे को भी ये इस प्रकार तुच्छ बतलाते हैं—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
सो छाँडिए कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही ॥
तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषण बन्धु भरत महतारी ॥..

पर तुलसीदास ने कहीं भी कृष्ण के उपासकों की निन्दा नहीं की और न स्वयं कृष्ण को उपेक्ष्य माना। उन्होंने सूर की तरह कृष्ण-सम्बन्धी कई सुन्दर

भजन रचे। पर इतना तो मानना ही होगा कि उनके कृष्ण-सम्बन्धी काव्य में वह सरसता और सजीवता नहीं जो उनके रामचरित-सम्बन्धी काव्य में है। इसी तरह सूर ने राम की लीलाओं का गान किया है, पर उन लीलाओं में कवि की आत्मा रम नहीं पाती, कुछ-कुछ तटस्थ ही रहती है। सूर की प्रतिभा कृष्ण-भक्ति में ही अपना उत्कृष्ट और उज्ज्वल रूप प्रकट करती है, राम-भक्ति में नहीं।

सूरदास की भक्ति में लोक-संग्रह का भाव नहीं है। तुलसी का भाव अत्यन्त व्यापक है—वह मानव-जीवन के सभी व्यापारों तक पहुँचनेवाला है। सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने श्रीकृष्ण के शृंगारिक रूप के प्रत्यक्षीकरण द्वारा 'टेढ़ी सीधी निर्गुण वाणी की खिन्नता और शुष्कता को हटाकर जीवन की प्रफुल्लता का आभास तो दिया, पर भगवान के लोक संग्रहकारी रूप का प्रकाश करके धर्म के सौंदर्य का साक्षात्कार नहीं कराया। कृष्णोपासक भक्तों के सामने राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला ही रखी, भगवान की लोक-धर्म-स्थापना का मनोहर चित्रण नहीं किया। इससे असंस्कृत हृदयों में जाकर कृष्ण की शृंगारिक भावना ने विलासप्रियता का रूप धारण किया और समाज में केवल नाच-कूदकर जी बहलाने योग्य हुआ।

रामचरित के सौंदर्य द्वारा तुलसीदास ने जनता को लोकधर्म की ओर जो फिर से आकृष्ट किया, वह निष्फल नहीं हुआ। वैरागियों का सुधार चाहे उससे उतना न हुआ हो, पर परोक्ष में साधारण गृहस्थ जनता की प्रकृति का बहुत-कुछ संस्कार' हुआ। आज जो हम फिर झोपड़ों में बैठे किसानों को भरत के 'भायप भाव' पर, लक्ष्मण के त्याग पर, राम की पितृभक्ति पर पुलकित होते हुए पाते हैं, वह गोस्वामी तुलसीदास की ही कृपा से। व्यवहारिक जीवन धर्म-ज्योति से एक बार फिर जगमगा उठा—उसमें नई शक्ति का संचार हुआ। जो कुछ भी नहीं जानता, वह भी यह जानता है कि—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिनहिं बिलोकत पातक भारी॥

२६—हिन्दी-साहित्य मे तुलसीदास का क्या स्थान है?

उत्तर—हिन्दी साहित्य में तुलसीदास का वही स्थान है जो आकाश में सूर्य का और निपतित जाति में उद्धार-रज्जु का, आदर्श पुरुष का है। हिन्दी-साहित्याकाश को आलोकित और अनुप्राणित करनेवाले इस महाकवि की तुलना शायद ही किसी से की जा सकती है। सूरदास ही ऐसे महाकवि हैं जो तुलसी से कभी-कभी प्रतिस्पर्द्धा करते जान पड़ते हैं। लेकिन वस्तुत तुलसी की महत्ता अखडनीय है। जहाँ तुलसी की प्रतिभा सर्वतोमुखी है वहाँ सूर की एकागी और एकदेशीय। व्रजभाषा और अवधी, दोनों काव्य भाषाओं पर तुलसी का समान अधिकार है, पर सूर का केवल व्रजभाषा पर। सूर-सागर की पद्धति पर तुलसी ने गीतावली की रचना की; पर रामचरितमानस और कवितावली की शैली की सूर की कोई कृति नहीं। "इसके अतिरिक्त मनुष्य-जीवन की जितनी अधिक दशाएँ, जितनी अधिक वृत्तियाँ, तुलसी ने दिखाई हैं उतनी सूर ने नहीं। तुलसी ने अपने चरित्र-चित्रण द्वारा जैसे विविध प्रकार के ऊँचे आदर्श खड़े किये हैं, वैसे सूर ने नहीं। तुलसी की प्रतिभा सर्वतोमुखी है और सूर की एक-मुखी। लेकिन एक-मुखी होकर भी उसने अपनी दिशा में जितनी दूर तक दौड़ लगाई है उतनी दूर तक तुलसी ने भी नहीं; और किसी कवि की तो बात ही क्या! जिस क्षेत्र को सूर ने चुना है उसपर उनका अधिकार अपरिमित है, उसके वे सम्राट हैं।"

शृंगार रस ही सूर-सागर का वर्णनीय विषय है, समस्त ग्रन्थ शृंगार रस से आप्लावित है। इसका प्रेम-प्रवाह बड़ा ही मनोहर है, पर इसमें शृंगार रस के अभव्य और असंयम आवर्त्त—भँवर—भी विद्यमान हैं। तुलसीदास का आदर्श है—"सरल कवित कीरति विमल" और यही कारण है कि मर्यादा की मर्यादा उन्होंने सदा रखी और यह उनके महत्त्व का एक ज्वलन्त उदाहरण है। परमाराध्य राधिका और भगवान व्रजवल्लभ का परस्पर प्रथम सदर्शन जब हुआ, उस समय का वर्णन सूरदासजी ने इस प्रकार किया है—

चितै रही राधा हरि को मुख।
भृकुटी विकट विसाल नयनयुग देखत मनहिं भयो रतिपति दुख॥

उतहिं स्याम इक टक प्यारी छबि अंग अंग अवलोकत ।
रीझि रहे उत हरि इत राधा अरस परस दोउ नोकत ॥

गोस्वामीजी भगवान रामचन्द्र और सती-शिरोमणि जनकनन्दिनी के प्रथम संदर्शन का वर्णन करते हैं—

अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा । सियमुख ससि भए नयन चकोरा ॥
भए बिलोचन चारु अचंचल । मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल ॥
देखि सीय सोभा सुख पावा हृदय सराहत बचनु न आवा ॥
सुन्दरता कहँ सुन्दर करई । छबिगृह दीपसिखा जनु बरई ॥

रामचन्द्रजी की मर्यादाशीलता, धर्मपरायणता का यह कितना सुन्दर चित्र है ! इन चौपाइयों में 'सिय सोभा हिय बरनि प्रभु', 'बोले सुचि मन अनुज सन', 'सहज पुनीत मोर मन छोभा' इत्यादि वाक्य कितने भावव्यंजक और उनकी ध्वनि कितनी पावन है, इसका हम स्वयं अनुभव कर सकते हैं। इसके बाद सीता की लज्जाशीलता और मर्यादा-महत्ता का वर्णन है, और है उनकी महिमामयी मूर्ति का वर्णन। सूरदास ने राधिका की सुन्दरता का जो वर्णन किया है—

आज अति राधा नारि बनी

वह देखिए और फिर गोस्वामीजी का वर्णन सुनिए—

सिय-सोभा नहिं जाय बखानी

गोस्वामीजी ने सौंदर्य-वर्णन की पराकाष्ठा कर दी है, पर यह वर्णन कितना मर्यादित, कितना महत्त्वमय और कितना भावपूर्ण है। समस्त 'मानस' में मर्यादा के ऐसे अनेक मनोहर, चित्ताकर्षक और पवित्र आदर्श हैं। उच्च विचारमय गार्हस्थ्य-जीवन के ऐसे निदर्शन हैं जिनका आभास भी हिन्दी भाषा के अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलता। विद्यापति, जायसी, केशवदास आदि कवियों की रचना साधारण-आभामयी रजनी है, गोस्वामीजी की रचना उज्ज्वल आलोक-अलंकृता राका है। ये विशेषताएँ इनके (अन्य कवि) काव्यों में नहीं हैं जिनके कारण तुलसी के 'मानस' का महत्त्व है। कबीरदास धर्मोपदेशक हैं, सामाजिक उदात्त आदर्श और गार्हस्थ्य-जीवन के लोकोत्तर चरित्र इनकी रचनाओं के विषय नहीं

है। आज के कवियों में मैथिलीशरण गुप्त ने रामचरित को अपने काव्य का विषय बनाया, पर केशव की तरह ही गुप्तजी भी गोस्वामीजी के बहुत पीछे छूट गए हैं महाकवि नहीं बन पाए। राम के चरित्र में काव्य नहीं, कवि की प्रतिभा में काव्य निहित रहता है। तुलसी ने राम-चरित्र को अपनाकर अपने को कवि नहीं बनाया, वरन् उनकी प्रतिभा ही ऐसी है जिसके कारण वे कवि बन सके।

३०—'तुलसीदास भक्तिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।

उत्तर—भक्तिकाल में दो प्रकार के कवि हुए। जायसी, कबीर आदि कवियों ने भगवान के निर्गुण रूप की उपासना की और सूर तुलसी आदि कवियों ने सगुण रूप की। निर्गुण-ब्रह्म के उपासक कवियों की दो विभिन्न श्रेणियाँ हैं। जायसी ने प्रेम के शुद्ध मार्ग का अनुसरण किया और कबीर ने ज्ञानमार्ग का। कुतुबन, जायसी आदि प्रेम-कहानी के कवि हैं। अपनी कहानियों द्वारा इन्होंने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन-दशाओं को सामने रखा जिनका मनुष्य-मात्र के हृदय पर एक-सा प्रभाव दिखाई पड़ता है। इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियाँ हिन्दुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामजस्य दिखा दिया। कबीर हिन्दू और मुसलमान, दोनों प्रकार के संतों के सत्संग में रहते थे और आरम्भ से ही वे चाहते थे कि दोनों धर्मवाले आपस में दूध-पानी की तरह मिल जायँ। इसी विचार के वशीभूत होकर उन्होंने दोनों मतों से सम्बन्ध रखते हुए अपने सिद्धांतों का निरूपण किया। उनका रहस्यवाद एक ओर तो हिन्दुओं के अद्वैतवाद की गोद में खेलता है और दूसरी ओर मुसलमानों के सूफी सिद्धांत को स्पर्श करता है। अद्वैतवाद ही मानो रहस्यवाद का प्राण है। उनका दूसरा आधार है—मुसलमानों का सूफीमत। सूफीमत में प्रेम का अंश बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रेम ही कर्म है और प्रेम ही धर्म है। सूफीमत स्थान-स्थान पर प्रेम के आवरण से ढँका हुआ है। अद्वैतवाद में आत्मा और परमात्मा के एकीकरण होने में चिन्तन और माया का बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग है और सूफीमत में उसी

के लिए हृदय की चार अवस्थाओं और प्रेम का। कबीर ने अद्वैतवाद से माया और चिन्तन तथा सूफ़ीमत से प्रेम लेकर अपने रहस्यवाद की सृष्टि की है।

सूरदास ने कृष्णभक्ति-शाखा को अपनाया और तुलसी ने रामभक्ति-शाखा को। भक्तिकाल के इन दो शाखाओं के ये दो सर्वोत्कृष्ट कवि हुए। कबीर मूलतः धर्मोपदेशक हैं। उनकी कविता तुलसी की कविता के समक्ष निस्तेज और निष्प्राण-सी लगती है। उसमें भावों की गम्भीरता है और तीव्रता भी, पर वह हृदय को उस तरह अनुप्राणित नहीं करती जितनी तुलसी की कविता करती है। कबीर की अपरिमार्जित, संस्कारहीन भाषा कहीं-कहीं बेहद नीरस हो जाती है। अलंकारों और विभिन्न रसों का ज्ञान कबीर को नहीं था। भक्ति के जिस मार्ग का उन्होंने अनुसरण किया, वह भी साधारण जनता के लिए अगम्य और अबोध था। सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने श्रीकृष्ण के शृंगारिक रूप के प्रत्यक्षीकरण द्वारा 'टेढ़ी सीधी निर्गुन वानी' की खिन्नता और शुष्कता को हटाया। उन्होंने जीवन की प्रफुल्लता का आभास दिया। पर उन्होंने भगवान के लोकसंग्रहकारी रूप का प्रकाश करके धर्म के सौंदर्य का साक्षात्कार नहीं कराया। कृष्णोपासक भक्तों के सामने राधा-कृष्ण की प्रेमलीला ही रखी गई, भगवान की लोकधर्म-स्थापना का मनोहर चित्रण नहीं किया गया। रामचरित के सौंदर्य द्वारा तुलसी ने जनता को लोकधर्म की ओर आकृष्ट किया। इससे साधारण जनता की प्रवृत्ति का बहुत-कुछ संस्कार हुआ। आज जो हम फिर झोपड़ों में बैठे किसानों को भरत के "भायप भाव" पर, लक्ष्मण के त्याग पर, राम की पितृभक्ति पर पुलकित होते हुए पाते हैं, वह गोस्वामीजी की ही कृपा से। तुलसी की वाणी मनुष्य-जीवन की प्रत्येक दशा तक पहुँचनेवाली है, क्योंकि उसने रामचरित का आश्रय किया है। "रामचरित" जीवन की सब दशाओं की समष्टि है, इसका प्रमाण "रामाज्ञा प्रश्न" है जिससे लोग हर प्रकार की आनेवाली दशा के सम्बन्ध में प्रश्न करते और उत्तर निकालते हैं। जीवन की इतनी दशाओं का पूर्ण मार्मिकता के साथ जो चित्रण कर सका, वही सबसे अधिक भावुक और सबसे बड़ा कवि है ... ...।"

केशव को हृदय नहीं है। वह प्रबंध-पटुता भी उनमें नहीं जिससे कथानक का सम्बन्ध-निर्वाह होता है। उनकी "रामचन्द्रिका" फुटकर पदों के संग्रह-सी जान पड़ती है। बिहारी रीति-ग्रन्थों के सहारे जबरदस्ती जगह निकालकर दोहों के भीतर शृंगार रस के विभाव, अनुभाव और संचारी ही भरते रहे। तुलसी और सूर की जोड़ी अमर है, पर भाव और भाषा, दोनों ही दृष्टि से तुलसीदास का अधिकार-क्षेत्र अधिक विस्तृत है। "सूर-सागर" की पद्धति पर वैसी ही मनोहारिणी और सरस रचना तुलसी की गीतावली मौजूद है; पर रामचरितमानस और कवितावली की शैली की सूर की कोई कृति नहीं है। इसके अतिरिक्त मनुष्य-जीवन की जितनी अधिक दशाएँ, जितनी अधिक वृत्तियाँ, तुलसी ने दिखाई हैं, उतनी सूर ने नहीं। तुलसी ने अपने चरित्र-चित्रण द्वारा जैसे विविध प्रकार के ऊँचे आदर्श खड़े किये हैं, वैसे सूर ने नहीं ...।" किसी ने कहा है—

सूर सूर तुलसी ससी, उडुगण केसव दास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकाश॥

'सूर सूर' की चमक और 'तुलसी ससी' के अनुप्रास की लिप्सा से कवि ने यह बेमेल दोहा कहा है, नहीं तो इसकी रचना इस प्रकार होती—

तुलसी रवि सम सूर ससि, उडुगण केसव दास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकाश॥

तुलसीदास भक्तिकाल के ही कवियों में नहीं, अपितु हिन्दी के समस्त कवियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। मैं तो यह भी कहने में संकोच नहीं करता कि तुलसीदास विश्व के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं।

३१—हरिऔधजी की काव्यगत विशेषताओं पर प्रकाश डालिये।
(हरिऔध की काव्य-साधना पढ़ें)

३२—मैथिलीशरण गुप्त की साहित्यिक सेवाओं का परिचय देते हुए हिन्दी-साहित्य मे उनका स्थान निर्धारित कीजिए।

उत्तर—राम भक्त तथा साहित्यानुरागी परिवार में जन्म लेने के कारण श्री मैथिलीशरण गुप्तजी मे साहित्य रचना की प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव किशोरावस्था

में ही हो जाना स्वाभाविक था। माता-पिता की शिक्षा-दीक्षा तथा मुंशी अजमेरी की प्रेरणा के फलस्वरूप गुप्तजी पन्द्रह सोलह वर्ष की अवस्था से साधारण तुकबन्दियों के रूप में काव्य-रचना का अभ्यास करने लगे थे। उनकी आरंभिक रचनाएँ 'वैश्योपकारक' नामक कलकत्ते से प्रकाशित होनेवाले पत्र में निकलने लगी थीं। गुप्तजी की ऐसे ही एक 'हेमन्त' शीर्षक आरंभिक रचना ने आचार्य द्विवेदी का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया और तभी से गुप्तजी उनके सम्पर्क में आ गए। गुप्तजी की 'हेमन्त' शीर्षक कविता का उनके काव्य-जीवन में विशिष्ट स्थान है। इसीके द्वारा वे द्विवेदीजी के कृपा भाजन बनकर अपनी रचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजने लगे और वे आचार्य द्विवेदी की बड़ी कृपा के साथ उसमें प्रकाशित होने लगी।

गुप्तजी की सर्वप्रथम काव्य-पुस्तक 'रंग में भंग' सन् १६०८ में प्रकाशित हुई। तबसे अब तक इनकी लगभग चार दर्जन पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें खण्ड-काव्य, प्रबन्धकाव्य, मुक्तक काव्य आदि विविध ग्रंथ हैं। गुप्तजी की देशव्यापी ख्याति 'भारत-भारती' से हुई जो उन्होंने प्रथम सत्याग्रह आन्दोलन के आसपास लिखी थी। उसमें अभिव्यक्त उनकी राष्ट्रीय भावनाएँ देश के कोने-कोने में गूंजी। 'जयद्रथ बध' ने उनकी काव्य-प्रतिभा को प्रकाश में लाया। इसके बाद उनके साकेत, यशोधरा, द्वापर आदि ने उन्हें न केवल सफल प्रबन्ध काव्य-रचयिता ही सिद्ध कर दिया, अपितु वे आधुनिक युग के प्रतिनिधि कवि एव सर्वश्रेष्ठ कलाकारों में माने जाने लगे।

गुप्तजी ने अपनी रचनाओं में राष्ट्रीय भावनाओं के अंकन के साथ मजदूरों और किसानों की जीवन दशाओं का भी सफल चित्रण किया है। वे मानव-प्रकृति और मानवेतर प्रकृति के सफल गायक एवं राष्ट्र के उन्नायक हैं। उनकी रचनाओं में ग्रामीण जीवन एव ग्राम्य-सौन्दर्य पूर्णरूप में अभिव्यक्त है। वे गांधीवाद के प्रबल समर्थक हैं और गांधीवादी विचारधारा उनकी सभी रचनाओं में मिलती है। उनकी भाषा-शैली अत्यन्त सरल-सुबोध है। इसीसे उनकी रचनाएँ लोकप्रिय एव लोक-प्रचलित हैं। आलोचक श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने गुप्तजी के सबंध में ठीक ही लिखा है कि 'किसी माला में प्रथम मणि, उपवन में

प्रथम पुष्प, गगन में प्रथम नक्षत्र का जो महत्वपूर्ण स्थान हो सकता है, वही स्थान वर्त्तमान हिन्दी-साहित्य में गुप्तजी का है।'

३३—गुप्तजी की भाषा-शैली पर एक निबन्ध लिखिए। ('गुप्तजी की भाषा-शैली' शीर्षक निबंध पढ़ें।)

३४—हरिऔध के पावस-वर्णन का सारांश लिखें। (कविता का भावार्थ पढ़ें।)

३५—रामनरेश त्रिपाठी ने देश के सौन्दर्य का अत्यन्त ही सुन्दर वर्णन किया है, उसका सारांश लिखिए। ('देश-सुषमा' कविता का भावार्थ पढ़ें)

व्याकरण-संबंधी प्रश्नोत्तर

(क) सन्धि-विच्छेद

अनु + एषण = अन्वेषण। अति + आचार = अत्याचार। अहम् + कार = अहंकार। अतः + एव = अतएव। अन्तः + गत = अन्तर्गत। आशीः + वाद = आशीर्वाद। अन्य + अन्य + आश्रय = अन्योन्याश्रय। प्र + उत्साह = प्रोत्साह। ऋ + न = ऋण। प्र + मान = प्रमाण। निः + चिन्त = निश्चिन्त। तत् + लीन = तल्लीन। अहः + निश = अहर्निश। उदय + उन्मुख = उदयोन्मुख। उत् + अय = उदय। उत् + चारण = उच्चारण। उत् + ज्वल = उज्ज्वल। उत् + लेख = उल्लेख। उत् + हार = उद्धार। उत्कृष + त = उत्कृष्ट। उत् + मूलित = उन्मूलित। उत् + योग = उद्योग। वि + आयाम = व्यायाम। वि + अस्त = व्यस्त। वि + अवहार = व्यवहार। एक + एक = एकैक। श्रेयः + कर = श्रेयस्कर। उपदेश + अन्तः + गत = उपदेशान्तर्गत। सम + देह = सदेह। उप + आस्य = उपास्य। कुश + आसन = कुशासन। कपिल + ईश्वर = कपिलेश्वर। अभि + अस्त = अभ्यस्त। गिरि + इन्द्र = गिरीन्द्र। वि +

आपकता = व्यापकता। प्र + अर्थना = प्रार्थना। चतुः + दिक = चतुर्दिक। चन्द्र + उदय = चन्द्रोदय। चित् + मय = चिन्मय। सम् + तोष = संतोष। परि + आप्त = पर्याप्त। अन्तः + तल = अन्तस्तल। वि + नि + आस = विन्यास। अति + अन्त = अत्यन्त। अभि + आस = अभ्यास। उत् + तेजना = उत्तेजना। उत् + देश = उद्देश्य। अधि + अयन = अध्ययन। जीवन + अनुकूल = जीवनानुकूल। जानकी + इश = जानकीश। निः + ईक्षण = निरीक्षण। अधि + आय = अध्याय। परि + ईक्षा = परीक्षा। स्व + इच्छा = स्वेच्छा। दुः + अवस्था = दुरवस्था। उपरि + युक्त = उपर्युक्त। सम् + तप्त = संतप्त। तथा + इव = तथैव। परम + अर्थ = परमार्थ। महा + औषधि = महौषधि। अनु + अय = अन्वय। नि + ऊन = न्यून। पो + अन = पवन। नयन + अभिराम = नयनाभिराम। शस्त्र + अस्त्र = शस्त्रास्त्र। निः + भर = निर्भर। निः + विरोध = निर्विरोध। निः + सहाय = निस्सहाय। निः + अर्थक = निरर्थक। निः + सदेह = निस्सदेह। निः + फल = निष्फल। नौ + इक = नाविक। निः + उपाय = निरुपाय। निः + चल = निश्चल। निः + छल = निश्छल। नै + अक = नायक। निः + गुण = निर्गुण। निः + बल = निर्बल। निः + आधार = निराधार। निः + रव = नीरव। नदी + ईश = नदीश। नर + ईश = नरेश। ने + अन = नयन। पयः + द = पयोद। पौ + अक = पावक। प्रातः + काल = प्रातःकाल। प्र + आंगन = प्रांगण। प्र + हार = प्रहार। प्रति + आचरण = प्रत्याचरण। भौ + उक = भावुक। परम् + तु = परन्तु। परि + इक्षा = परीक्षा। वि + आपी = व्यापी। प्राक् = मुख = प्राङ्मुख। प्र + उत्साहन = प्रोत्साहन। तात् + आत्म्य = तादात्म्य। पृष् + थ = पृष्ठ। पर + अधीन = पराधीन। विमल + उदक = विमलोदक। विद्या + अर्थी = विद्यार्थी। वि + छेद = विच्छेद। विद्या + आलय = विद्यालय। विद्या + अभ्यास = विद्याभ्यास। मनः + गत मनोगत। मनः + ज = मनोज। मनः + हर = मनोहर। मनः + रथ = मनोरथ। महा + आशय = महाशय। महा + उदधि = महोदधि। यदि + अपि = यद्यपि। रत्न + आकर = रत्नाकर। राम + अयन = रामायण। एक + आकार

=एकाकार। लतिका + आलिङ्गित = लतिकालिङ्गित। यशः + दा = यशोदा। लघु + ऊर्मि = लघूर्मि। अन्तः + राष्ट्रीय = अन्तर्राष्ट्रीय। सम् + मुख = सम्मुख। तत् + मय = तन्मय। प्र + उज्वल = प्रोज्वल। उत् + नति = उन्नति। निः + अक्षर = निरक्षर। आधि + आत्मिक = आध्यात्मिक। प्रती + इत = प्रतीत। स्व + अर्थ = स्वार्थ। अभि + इष्ट = अभीष्ट। सम् + अर्पण = समर्पण। सम् + कृत = संस्कृत; सम् + गठन = संगठन। सत् + भावना = सद्भावना। सम् + देह = सन्देह। सत् + निहित = सन्निहित। सम् + सार = संसार। सत् + जन = सज्जन। सम् + कल्प = संकल्प। शम् + कर = शंकर। सु + अर्ग = स्वर्ग। सु + आगत = स्वागत। सदा + एव = सदैव। सम् + चय = संचय। हृदय + आनन्द = हृदयानन्द। भिद् + न = भिन्न। नश् + त = नष्ट। वात + आवरण = वातावरण। परम् + तु = परन्तु। अति + अधिक = अत्यधिक। वयः + वृद्ध = वयोवृद्ध।

(ख) कारकान्त प्रत्यय—'ने' और 'को'

१—कर्ता के 'ने' चिन्ह का प्रयोग—

जब वाक्य में क्रिया के लिंग, वचन और पुरुष कर्ता के अनुसार हों, तब 'ने' चिन्ह नहीं आता। प्रधान कर्ता प्रत्यय-रहित और अप्रधान कर्ता प्रत्यय-संयुक्त होता है। सकर्मक क्रियाओं के सामान्य भूत; आसन्न भूत; पूर्ण भूत और संदिग्ध भूत कालों में 'ने' प्रत्यय का प्रयोग होता है; जैसे—

(क) सामान्य भूत—राम ने रोटी खाई।

(ख) आसन्न भूत—राम ने रोटी खाई है।

(ग) पूर्ण भूत—राम ने रोटी खाई थी।

(घ) संदिग्ध भूत—राम ने रोटी खाई होगी।

यह प्रत्यय अकर्मक क्रिया के किसी भी काल में नहीं आता। सकर्मक क्रिया भी यदि वर्तमान तथा भविष्यत् काल में हो तो उसमें 'ने' प्रत्यय नहीं आता। मुस्कुरा देना, हँस देना, जाग डालना आदि थोड़ी-सी ऐसी अकर्मक संयुक्त क्रियाएँ हैं, जिनको कर्ता के साथ 'ने' विभक्ति का प्रयोग होता है; जैसे—

मुस्कुरा देना—सीता और लक्ष्मण की ओर देखकर रामचन्द्रजी ने मुस्कुरा दिया।

हँस देना—परशुराम की बातों पर लक्ष्मण ने हँस दिया।

जाग डालना—उसने रात भर जाग डाला।

पूर्णता-बोधक संयुक्त सकर्मक क्रिया में 'ने' चिन्ह का प्रयोग नहीं होता; जैसे—वह देख चुका था, वह पढ चुका है।

सजातीय कर्म लेने पर अकर्मक क्रियाओं में 'ने' चिन्ह का प्रयोग विकल्प से होता है; जैसे—उसने अच्छे खेल खेले हैं, सिपाहियों ने अच्छी तरह लड़ाइयाँ लड़ीं।

नहाना, छींकना, थूकना, खाँसना आदि अकर्मक क्रियाओं में 'ने' का प्रयोग होता है; जैसे उसने खूब मल-मलकर नहाया। उसने छींका। उस पाजी ने ही यहाँ थूका है।

जिस संयुक्त क्रिया के सभी खंड सकर्मक हों, उसके कर्ता के आगे सामान्य, आसन्न, पूर्ण और संदिग्ध भूत कालों में 'ने' चिन्ह आता है; जैसे—उन्होंने सारा शहर देख लिया, उन्होंने सब काम कर लिए, मैंने रुपए दे दिए थे। (खोद डालना, ले लेना, कर डालना, घेर देना आदि ऐसी ही क्रियाएँ हैं)।

२—'को' चिन्ह का प्रयोग—

'को' विभक्ति 'कर्म' में ही नहीं, कर्ता आदि अन्य कारकों में भी आती है; जैसे—

कर्म कारक में—लड़के भाई को देखते हैं। ('भाई' कर्म का०)

सम्प्रदान—अवध ने किशोर को कलम दी। ('किशोर' सम्प्रदान का०)

अधिकरण—वह तो रात को जायगा। ('रात' अधिकरण का०)

कर्ता—राम को पढ़ना है। ('राम' कर्ता का०)

'लड़के भाई को देखते हैं', 'मैं लड़की को देखता हूँ'—ऐसे वाक्यों में 'को' चिन्ह आता है। इन दोनों वाक्यों में क्रिया कर्तृ-प्रधान है, कर्तृवाच्य है। दोनों वाक्यों में कर्ताओं की प्रधानता है, इनके सामने कर्म गौण है।

इसी प्रकार, सकर्मक के भाववाच्य में 'को' का प्रयोग है। 'लड़कों ने लड़की को देखा', 'लड़की ने लड़कों को देखा'—ऐसे सभी वाक्यों में 'को' विभक्ति आती है।

कभी-कभी 'लेकर' के साथ भी 'को' का प्रयोग होता है; जैसे—इस प्रश्न को लेकर दोनों झगड़ पड़े; वह मेरे जाने को लेकर उदास थे—इत्यादि।

[ग] समास

अपनी-अपनी विभक्ति छोड़कर एक से अधिक पदों के आपस में मिलकर संक्षिप्त होने को समास कहते हैं। उदाहरण—'प्रेमसागर' अर्थात् प्रेम का सागर। इस उदाहरण में प्रेम, सागर, इन दो शब्दों का परस्पर सम्बन्ध बतानेवाले 'का' प्रत्यय का लोप होने से 'प्रेमसागर' एक स्वतन्त्र शब्द बना है। इसी तरह 'गंगाजल' के 'गंगा' और 'जल' शब्दों का परस्पर सम्बन्ध बतानेवाले सम्बन्ध-सूचक 'का' अव्यय का लोप हो गया है और 'गंगाजल' एक स्वतन्त्र शब्द बन गया है।

समस्त पदों या सामासिक शब्दों को अलग-अलग करने की क्रिया को 'विग्रह' या 'व्यास' कहते हैं। 'रात-दिन' समस्त शब्द का विग्रह है 'रात और दिन'।

संधि में वर्णों का संयोग होता है और समास में पदों का। समास में संधि के नियमों का प्रयोग होता है, पर संधि में समास के नियमों का प्रयोग नहीं होता। संधि और समास में यही अन्तर है।

समस्त पदों की प्रधानता और अप्रधानता के आधार पर समास के चार भेद होते हैं—१ तत्पुरुष, २ द्वन्द्व, ३ अव्ययीभाव और ४ बहुव्रीहि। तत्पुरुष समास का एक और उपभेद कर्मधारय तथा कर्मधारय का उपभेद द्विगु है। इस प्रकार समास के छः भेद होते हैं—भेद-उपभेद मिलाकर।

१ तत्पुरुष

जिस समास में अन्तिम पद प्रधान हो वह 'तत्पुरुष' समास है। 'राजपुरुष' में प्रयोग की दृष्टि से 'पुरुष' प्रधान है। इसी तरह 'राज्यकन्या' में अंतिम पद

ही प्रधान है। राजमन्त्री, राजमंदिर, गंगाजल, पाठशाला, सत्याग्रह, मदमत्त आदि शब्दों में भी तत्पुरुष समास है।

तत्पुरुष समास के दो प्रधान भेद हैं—(अ) व्यधिकरण तत्पुरुष और (ब) समानाधिकरण तत्पुरुष या कर्मधारय।

(अ) **व्यधिकरण तत्पुरुष**—जिस तत्पुरुष समास के विग्रह में उसके पहले और दूसरे खंड में भिन्न-भिन्न विभक्तियाँ लगाई जाती हैं, उसे व्यधिकरण, तत्पुरुष कहते हैं; जैसे—हिमालय पर = हिम के आलय पर; राज-सभा में = राजा की सभा में; ऋण-ग्रस्त को = ऋण से ग्रस्त को।

व्यधिकरण तत्पुरुष के समस्तपद के पहले खंड में कर्त्ता को छोड़कर शेष कारकों की कोई एक विभक्ति आती है; और जिस कारक की विभक्ति आती है, उसी कारक के अनुसार तत्पुरुष समास का नाम होता है।

(ब) **समानाधिकरण तत्पुरुष या कर्मधारय**—जिस तत्पुरुष समास वाले शब्द के पहले और दूसरे खंड में विशेष्य-विशेषण या उपमान-उपमेय का सम्बन्ध हो, उसे समानाधिकरण तत्पुरुष या कर्मधारय कहते हैं।

(उपमान—उपमेय) कमलनयन = जिसकी आँखें कमल की पंखुड़ी की तरह बड़ी और सुन्दर हों, कमलवत् नयन; चन्द्रमुख = चन्द्र-सा मुख, चन्द्र की उपमा वाला है जो मुख; भव-सागर = भव-रूपी सागर; क्रोधाग्नि = क्रोध-रूपी अग्नि इत्यादि।

(विशेष्य-विशेषण) परमात्मा = परम है जो आत्मा; दीर्घाकार = दीर्घ है जो आकार में; महाराज = महान् है जो राजा; नीलगाय = नीली है जो गाय इत्यादि।

जिस कर्मधारय समास में पहले पद का दूसरे पद से सम्बन्ध बतानेवाला शब्द लुप्त रहता है, उसे 'मध्यमपदलोपी' समास कहते हैं; जैसे—पर्णकुटी (पर्ण-निर्मित कुटी), दही-बड़ा (दही मिश्रित बड़ा), गोबरगणेश, धर्मशाला, गुडम्बा इत्यादि।

(स) **द्विगु समास**—कर्मधारय समास में जब पहला पद विशेषण होते हुए भी संख्या-वाचक होता है, तब वह 'द्विगु' समास कहलाता है; जैसे, त्रिभु-

वन, सप्तलोक, अठन्नी, पचवटी, नवग्रह, दोपहर, चौमासा, सतसई, पंसेरी इत्यादि।

२. द्वन्द्व

जिस समास में सब खंड प्रधान हों और विग्रह करने पर जिसमें 'और' 'अथवा', 'या' आदि योजक लगें, वह 'द्वन्द्व' समास है। माँ-बाप, दाल-रोटी, रुपया पैसा, हाथ-पाँव, पाप-पुण्य, जात-कुजात आदि समस्त शब्दों में 'द्वन्द्व' समास है, इस समास की परिभाषा के अनुसार। 'माँ-बाप', 'दाल-रोटी' आदि में दोनों खंड प्रधान हैं और विग्रह करने पर इनमें उभयान्वयी अव्यय 'और' लगता है—माँ और बाप ; दाल और रोटी।

द्वन्द्व समास से बने समस्त पद बहुधा पुल्लिंग, बहुवचन होते हैं।

३. अव्ययीभाव

जिस समस्त पद का पहला भाग अव्यय होता है, वह अव्ययीभाव समास कहलाता है ; जैसे—प्रतिदिन, आजीवन, असम्भव, यथाशक्ति, अनुकरण, अनुकूल इत्यादि। 'भर' और 'मात्र' पहले और पीछे भी आते हैं ; जैसे—घरभर, रातभर, एक रुपया मात्र इत्यादि। 'यथा' (अनुसार), 'आ' (तक), 'प्रति' (प्रत्येक), 'वि' (विना) से बने हुए संस्कृत के अव्ययी भाव समास हिन्दी में खूब प्रचलित हैं ; जैसे—यथास्थान, आजन्म, प्रतिदिन, व्यर्थ इत्यादि। निडर, निधडक, भरपेट, अनजाने, हररोज, नाहक, बेकाम, बेखटक, हरदिन, हरघड़ी आदि हिन्दी और हिन्दी-उर्दू-मिश्रित अव्ययीभाव समास हैं।

४. बहुव्रीहि

जिस समस्त शब्द में कोई प्रधान न हो, बल्कि ऊपर से कोई दूसरा अर्थ आकर प्रधान हो जाय, वह 'बहुव्रीहि, समास है। 'पीताम्बर' का शब्दार्थ है पीला वस्त्र, पर 'पीताम्बर' अधिकतर एक निश्चित अर्थ में प्रयुक्त होता है, जो इसके पदों के अर्थ से बिल्कुल भिन्न है। 'पीताम्बर' विष्णु या कृष्ण को कहते हैं। इसी तरह चक्रपाणि (विष्णु), चन्द्रशेखर (महादेव), चतुर्भुज (विष्णु), दशानन (रावण), नीलकंठ (शिव) आदि समस्त शब्दों में बहुव्रीहि समास है।

(घ) विशेष्य-विशेषण

अर्थ = आर्थिक। अग्नि = आग्नेय। गुरु = गुरुता। कृपा = कृपालु, कृपावान। दया = दयालु, दयावान्। श्याम = श्यामल। ससार = सासारिक। मास = मांसल। पंक = पकिल। लज्जा = लज्जित। मूर्छा = मूर्छित। जाति = जातीय। शरीर = शारीरिक। मुख = मुखर, मौखिक। भाव = भावुक। जल = जलमय। हृदय = हार्दिक। क्रोध = क्रुद्ध, क्रोधी। विषय = विषयी। समुद्र = सामुद्रिक। संतोष = सतोषी। पडित = पाण्डित्य। स्वाद = स्वादिष्ट। चन्द्र = चाँदनी। मन = मनस्वी। विधि = वैध। वायु = वायव्य। निशा = नैश। ग्राम = ग्रामीण। वेद = वदिक। न्याय = नैयायिक। व्याकरण = वैयाकरण। अलंकार = आलकारिक। पल्लव = पल्लवित। रोमाच = रोमांचित। कंटक = कटकित। पतन = पतित। दान = दानी। धैर्य = धीर। रुद्र = रौद्र। जीवन = जीवित। उत्पीड़न = उत्पीड़ित। विरह = विरही। धूम = धूमिल। भीषणता = भीषण। मोद = मुदित। पराजय = पराजित। मधु = मधुर। फेन = फेनिल। परिवार = पारिवारिक। कुल = कुलीन। श्री = श्रीमान। कीर्ति = कीर्तिमान। आयु = आयुष्मान्। तेज = तेजस्वी। वन = वन्य। पुष्प = पुष्पित। अंकुर = अंकुरित। अन्त = अन्तिम। आदि = आदिम; ज्वाला = ज्वलित। अनय = अनयी। विचार = विचारवान। नेता = नेतृत्व। स्वर्ण = स्वर्णिम। इतिहास = इतिऐासिक। रक्त = रक्तिम। परलोक = पारलौकिक। शरद = शारदीय। विलायत = विलायती। शहर = शहरी, शहरू। गाँव = गँवई, गँवार। देहात = देहाती। हवा = हवादार। रंग—रंगीन। गोला = गोलादार। पहाड़ = पहाड़ी। कल्पना = काल्पनिक। मास = मासिक। वर्ष = वार्षिक। दिन + दैनिक। समय = सामयिक। वेद = वैदिक। कुसुम = कुसुमित। तरग = तरगित। वत्स = वत्सल। ईर्ष्या = ईर्ष्यालु। श्रद्धा = श्रद्धालु। उपज = उपजाउ। ठढ = ठढा। प्यार = प्यारा। प्यास = प्यासा। छवि = छवीला। लाड़ = लाड़ला। झगडा = झगडालू। साल = सालाना। रस = रसीला। धुंध = धुंधला। शौक = शौकीन।

खपरा = खपरैल। विश्वास = विश्वसनीय, विश्वासी, विश्वस्त। स्तुति = स्तुत्य। करुणा = कारुणिक। रूप = रूपवान। सुगन्ध = सुगन्धित। आराधना = आराध्य, आराधित। अपेक्षा = अपेक्षित। प्रमाण = प्रमाणिक। उपार्जन = उपार्जित। अभिषेक = अभिषिक्त। मूल = मौलिक। पश्चिम = पश्चिमीय। पूर्व = पूर्वीय। स्त्री = स्त्रैण। मृत्यु = मर्त्य, मृत। तिरस्कार = तिरस्कृत। निवासन = निर्वासित। केन्द्र = केन्द्रीय, केन्द्रित। पृथ्वी = पार्थिव। अमर = अमृत। आश्रय = आश्रित। साहित्य = साहित्यिक। समाज = सामाजिक। दर्शन = दार्शनिक। कुटुम्ब = कौटुम्बिक। प्रकृति = प्राकृतिक। निन्दा = निन्दित, निन्द्य। ज्ञान = ज्ञानवान्। राष्ट्र = राष्ट्रीय। संध्या = साध्य। सताप = सतत। दोष = दोषी, दूषित, दुष्ट। किताब = किताबी। डर = डरपोक। माया = मायावी। हँसी = हँसोड़। लाठी = लठैत। विगलन = विगलित। मिथ्या = मिथ्यावादी। समाधि = समाधिस्थ। निर्विकार = निर्विकल्प। आपत्ति = आपत्य। वंचना = वंचित। मनीषा = मनीषी। उन्मुक्ति = उन्मुक्त। उत्तप्त = उत्तप्त, उत्तरदित। विधान = विधायक। छद्म = छद्मी। दर्शन = दर्शित। दुर्गमता = दुर्गम। उग्र = उग्रतर। प्रवचना = प्रवंचित। समर्थ = समर्थनीय, समर्थक। उदारता = उदार। विरत = विरति। चमत्कार = चमत्कृत। मानस = मानसिक। अभिलेख = अभिलिखित। आचरण = आचरणीय, आचारित। स्थान = स्थानीय। अनुकूलता = अनुकूल। संकल्प = संकल्पित। संकलन = संकलित।